

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj.)

Students can retain library books only for two weeks at the most.

BORROWER'S No.	DUE DATE	SIGNATURE

महिमभट्ट



नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली-६

महिमभट्ट

संस्कृत-साहित्यशास्त्र में अनुमितिवाद के प्रवर्तक ध्वनि-विरोधी आचार्य
महिमभट्ट की कृति एवं काव्य सिद्धान्त का गवेषणात्मक अध्ययन

मूल्य : पचीस रुपये
प्रथम संस्करण : १९६८
आवरण : हरिपाल त्यागी

सरगुजाराज्य के भूतपूर्व राजपण्डित
ज्योतिष के प्रकाण्ड विद्वान
अपने पितृव्यचरण
स्वर्गीय प० श्री परशुराम जी चतुर्वेदी
की
श्रद्धाञ्जलि के रूप में

आधातुं व्युत्पत्तिं काव्यानुमिती सहृदयानाम् ।
'महिमभट्ट' कुर्वे नत्वा सत्त्वां परां वाचम् ॥१॥

इह सम्प्रतिपन्नित एव व्यक्तिविवेककृद्ब्रह्मो विवेचनं नः ।
नियतं यशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय ॥२॥

अन्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं श्रुवाणो नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम् ।
हासककारणगवेपण्या नवार्थतत्त्वावमर्शपरितोपसमीहया वा ॥३॥

भूमिका

भारतीय वाङ्मय के विकास के क्रम में एक समय ऐसा आया जब राष्ट्र का भूगर्भ प्रदेग काश्मीर विद्या और कला का केन्द्र हो गया था जहा प्रत्यभिज्ञा-दर्शन एवं साहित्य की शास्त्रीय-मीमांसा की मरिताएँ एक साथ ही उमड़ पड़ी थी। पतञ्जल सस्कृत भाषा के साहित्य की उद्भट, रुद्रट, आनन्दवर्णन, कुन्क, अभिनवगुप्त महिममट्ट एवं क्षेमेन्द्र जैसे भूगर्भ चिन्क प्राप्त हुए। इनमें भी आनन्दवर्णन से लेकर मम्मट तक का समय (ई० ८५०-ई० ११५०) काव्य की शास्त्रीय मीमांसा के चूडान्त विकास का निदर्शन है जिमने ध्वनि, वक्रोक्ति, सागरणीकरण एवं औचित्य नामक बडे ही महत्वपूर्ण काव्य-सिद्धान्तों को जन्म दिया। महिममट्ट का अनुमितिवाद भी इन्हीं में से एक है।

काश्मीरी आचार्य महिममट्ट के काव्यशास्त्रीय मतों का उल्लेख व्यक्ति-विवेककार के नाम से अनेकानेक ग्रंथों में पाकर विद्वज्जन पूर्णमन्दर्म के साथ उन्हें मूल रूप में पढ़ने के लिए समुत्सुक थे। किन्तु उन्नीसवीं शताब्दी के अन्त तक महिममट्ट की कृति 'व्यक्तिविवेक' की उपलब्धि का सौभाग्य प्राप्त नहीं हो सका था। मन् १६०७ में अनन्तशयनम् सस्कृत ग्रन्थमाला के अध्यक्ष श्री गणपति शास्त्री ने यह सूचना दी कि महिममट्ट का 'व्यक्तिविवेक' उपलब्ध हो गया है। उसी ग्रन्थमाला में उन्ने प्रकाशित होने से सस्कृत-जन-मानस हर्ष-विभोर हो उठा। अन्तर वही ग्रन्थ ख्यकृत 'व्याख्यान' एवं मधुसूदन शास्त्री कृत 'विवृति' नामक टीकाओं के साथ चौखम्बा सस्कृत सोरीज, काशी से भी १६२५ में प्रकाशित हुआ जिसमें वह अप्राप्य ग्रन्थ अब अध्ययनार्थ मुलभ हो गया है।

महिममट्ट काव्यानुमितिवादी आचार्य थे। इनके पूर्व श्री शकुलने रस की व्याख्या अनुमितिपरक की थी जिसके उद्धरण नाट्यशास्त्र की 'अभिनवभारती' टीका (पष्ठ अध्याय) तथा काव्य-प्रकाश (चतुर्थ उल्लास) में उपलब्ध होने हैं। रीति, व्यक्ति एवं औचित्य की तरह ही अनुमिति के द्वारा भी काव्य के विविध तत्वों की व्यञ्जना की प्रणाली अति प्राचीन रही है। आचार्य महिममट्ट उसी परम्परा के शिखर-मणि थे जिसकी महता भट्ट गोपाल के निम्न श्लोक से स्पष्ट

प्रतीत होती है —

रसामृतनदीमाने ध्वनिकारे महागुरौ ।

ग्रन्थमाया हि महिमा काव्य-भोष्ठी न मुञ्चति ॥

यो तो अनुमिति अनुमान प्रमाण से होने वाली यायार्थ्य प्रतीति है, किन्तु उसका क्षेत्र प्रामाण्य-ज्ञान तक ही सीमित नहीं है; न ही वह स्वभावोक्ति, वक्रोक्ति एव ध्वनि की तरह अभिव्यक्ति का एक प्रकार अथवा वृद्धि का विनास मात्र है; अपितु यदि यह कहा जाय कि प्राणिमात्र के जीवन में होने वाली प्रायः सभी अतीन्द्रिय प्रतीतिया अनुमान पर ही आश्रित होती हैं तो अतुक्ति न होगी। 'अनु = पश्चात्, मिति: = ज्ञानात्मक मानमनुमिति' की व्युत्पत्ति से प्रत्यक्ष के बाद होने वाली प्रत्येक प्रतीति सामान्य रूप से अनुमिति ही कही जायगी। यहां तक कि आप्तवाक्य की प्रामाणिकता की पुष्टि भी अनुमिति से ही सम्भव है। अधिक क्या कहा जाय, प्रत्यक्ष की प्रामाणिकता भी प्रायः अनुमिति से ही प्रेरित होती है, अन्यथा उसमें विकल्प सम्भव नहीं। अतः अनुमिति का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक एवं असीमित है। किसी एक वस्तु को देखकर या पाकर उससे जिस किसी भी प्रकार सम्बन्धित परोक्ष विषय का ज्ञान अनुमिति ही होता है। काव्य में भी विवक्षित अर्थ की प्रतीति के लिए शब्दों का प्रयोग होता है। शब्द एवं अर्थ में से किसी एक को निमित्त बनाकर अन्य अर्थ की प्रतीतिरूप चमत्कार की अनुभूति भी अनुमिति की प्रक्रिया का ही फल है। यह चमत्कार काव्य-सौन्दर्य से ही उत्पन्न होता है जिसकी अनुभूति शब्द एवं अर्थ के माध्यम से प्रत्येक सहृदय सामाजिक को होनी है। अन. शब्दार्थ रूपी एक वस्तु से चमत्कार या अर्थान्तर रूपी दूसरी वस्तु का बोधक होने से काव्य भी अनुमिति का ही विलास सिद्ध हो जाता है, चाहे वह अलङ्कार, रीति, वक्रोक्ति या अभिव्यक्ति किसी नाम से क्यों न कहा गया हो। आचार्य महिमभट्ट ने इसी का विवेचन अपनी वृत्ति 'व्यक्तिविवेक' में विशद रूप से किया है। व्यक्ति अर्थात् व्यंजना का सदसद्विवेचन ही उसका विवेक अर्थात् परीक्षण है। प्रतीयमानता या व्यंजनीयता अनुमिति का ही एक प्रकार है जहां ध्याप्ति-माधक प्रमाण के अभाव में भी परिपुष्ट हेतु के प्रयोग से साध्य की प्रतीति अनाधान हो जाती है। फलतः लक्षणा एवं व्यंजना अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। महिमभट्ट के काव्य-सिद्धान्त का यही निर्गलितार्थ है जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन उनके ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' के प्रथम एवं तृतीय दो उद्योतों में हुआ है।

ग्रन्थ का द्वितीय उद्योत काव्य-दोषों का मार्मिक विश्लेषण करता है जिसमें अनौचित्य की आधार-शिला पर भाषा एवं भावविषयक दोषों का विवेचन अत्यन्त

ही वैज्ञानिक रीति से हुआ है। यहाँ भी महिमभट्ट सर्वथा मौलिक सिद्ध हुए हैं। तथा पौनरुक्त्य, वाच्यावचन प्रभृति पाच दोषो एव उनके मूल में निहित समस्याओं के माय-माय अलकारों के प्रयोग में दोष की सम्भावनाओं का भी विवेचन किया है। इस प्रकरण के लिए स्वयं महिमभट्ट ने ठीक कहा है कि वह कवि-मार्ग पर आरोहण के इच्छुक आद्यतन तथा भावी शिक्षार्थियों के लिए एक शास्त्र है—

इदमद्यतनाना च भागिना चानुशासनम् ।

लेखनं कृतमस्माभि कविवर्त्मरक्षताम् ॥ २।१२६॥

इसमें कोई सन्देह नहीं कि 'व्यक्तिविवेक' में विवेचित महिमभट्ट की काव्य-विषयक मान्यताओं की पृष्ठभूमि में एक महती परम्परा है जिसमें व्याकरण, दर्शन तथा साहित्य—तीनों का सामंजस्य सन्निहित है। उसका ऊहापोह करते हुए महिमभट्ट के काव्य-निदानों के अनुसन्धानात्मक अध्ययन की महती आवश्यकता थी। आधुनिक युग में संस्कृत-अलकारशास्त्र के ऊपर काम करने वाले विद्वानों ने भी 'व्यक्तिविवेक' का महत्त्व समझा है तथा उसका निरूपण भी किया है। किन्तु इन सबकी सीमाएँ हैं। महिमभट्ट के ऊपर अनुसन्धानात्मक एक स्वतंत्र ग्रन्थ की आवश्यकता थी जिनमें उनका यथोचित मूल्यांकन किया गया हो। डॉ० ब्रजमोहन चनुर्वेदी की प्रकृत कृति 'महिमभट्ट' उसी कमी की पूर्ति है।

डॉ० चनुर्वेदी को मैं तब से जानता हूँ जब वे काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मेरे अन्नेवासी थे। महिमभट्ट के 'व्यक्तिविवेक' को ही अपने अनुसन्धान का विषय चुनकर उन्होंने बस्तुतः बड़े साहस का परिचय दिया। इसे साहस मैं इसलिए कहता हूँ कि 'व्यक्तिविवेक' जैसे दुरुह ग्रन्थ को केवल लगा लेना ही कम कठिन नहीं है, उसके अर्थ को समझकर उसका मूल्यांकन करना तो साहित्य के असाधारण विद्यार्थियों के लिए भी सरलतया सम्भव नहीं। जब राजानक स्यक प्रभृति आचार्यों ने इसे अतिगहन एवं 'कुशाग्रधिपणशोदनीय' कहा है तो उस छात्र के लिए जो अपने माहिरियक जीवन के अरण्योदय में है, इस पर अनुसन्धान कार्य करना साहस की ही बात है।

श्री ब्रजमोहन चनुर्वेदी मेरे उन थोड़े-से शिष्यों में से हैं जिनकी प्रतिभा की विलक्षणता का आभास उनके अध्ययन-काल में ही हम लोगों को होने लगा था। भविष्य में साहित्य के क्षेत्र में कुछ स्थायी मूल्य के अनुसन्धान कार्य सम्पन्न करने की आशा उनमें उसी समय हो गई थी। प्रकृत ग्रन्थ ने उसे ही सत्यापित किया है। इसके सात अध्यायों में काव्यशास्त्र के विवेचनीय प्रायः सभी तत्त्वों के विषय में महिमभट्ट की उपलब्धियों का तुलनात्मक एवं सागोराग विवेचन हुआ है। भरत के नाट्यशास्त्र से लेकर संस्कृत-अलकारशास्त्र पर उपलब्धमान आधुनिकतम

सामग्री का इसमें समुचित उपयोग किया गया है। युक्तियों एवं तर्कों से महिममट्ट के पक्ष का सहानुभूतिपूर्वक विवेचन इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है जिसका निर्वाह ग्रन्थकार ने बड़ी कुशलता एवं विद्वत्ता के साथ आद्योपान्त किया है। ग्रन्थ में प्रयुक्त भाषा एवं शैली ग्रन्थकर्ता की मर्मग्राहिणी प्रतिभा के परिचायक हैं जो प्रतिपाद्य विषय का सर्वथा अनुगमन करती हैं। फलतः विषय के बोध में कहीं भी व्याघात नहीं होता। गहन शास्त्रीय विषय का विवेचन होने पर भी प्रतिपादन की प्रणाली ग्रन्थ को पढ़ने की रचि पैदा करती है जो शुष्क शास्त्रीय-सिद्धान्त के विवेचक ग्रन्थों में प्रायः नहीं मिलती। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इस ग्रन्थ से साहित्य के क्षेत्र में डॉ० चतुर्वेदी के वैदुष्य की प्रतिष्ठा होगी तथा माहित्य-शास्त्र के छात्रों, अध्यापकों एवं शोध-कर्ताओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना के लिए मैं ग्रन्थकार को आशीर्वाद देता हूँ और आशा रखता हूँ कि वे अथान्त उत्साह से अनुसन्धान-कार्य में लगे रहेंगे तथा उपयोगी प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन करते रहेंगे। तथास्तु।

संचालक, अनुसन्धान सस्थान
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
ज्येष्ठ पूर्णिमा, स० २०२५

—वलदेव उपाध्याय

प्ररोचना

सम्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट का अपना एक विशेष स्थान है। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति व्यक्तित्वविवेक सस्कृत अलंकारशास्त्रके प्रथम कोटि के उन ग्रंथों में परिगणित है जिन्होंने परवर्ती काव्य एवं तद्विषयक शास्त्र दोनों को प्रभावित किया है। आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा प्रोद्भावित काव्य की समीक्षा के सिद्धान्त ध्वनि का स्पष्टन वर उसके आधारभूत तत्त्व व्यक्तित्व अर्थात् व्यञ्जना नामक नवकल्पित वृत्ति का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से प्रणीत इस ग्रन्थमें रस, भाव, गुणालंकार, ध्वनि-वञ्चोक्ति, औचित्यानीचित्य तथा शब्दार्थशक्ति प्रभृति साहित्यके प्राय सभी तत्त्वों का विवेचन समालोचनात्मक रीति से हुआ है। महिमभट्ट साहित्य के ऐसे विलक्षण आचार्य हुए हैं जिन्हें वाङ्मय की वेद, पुगण एवं शास्त्र प्रभृति प्राय सभी विधाएँ हस्तामलक थीं। फलतः निरवत, व्याकरण न्याय और मौसामाके सैद्धान्तिक विवेचनों से अतप्रोत इनका ग्रन्थ 'व्यक्तित्वविवेक' साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का निकष हो गया है। इससे परीक्षित होकर ध्वनि-सिद्धान्त का भी परिष्कार हुआ है। यही नहीं महिम के द्वारा व्याकरण एवं दर्शन के सिद्धान्तों की साथ मिलाकर ध्वनि का विवेचन करने से उसकी ऐसी अनेक महत्ताओं का प्रकाशन भी होता है जिनकी ओर विबुध व्यक्ति का भी ध्यान महमा नहीं जाता। इसीलिए विद्वान्मण्डली में 'व्यक्तित्वविवेक' का अवगाहन किए बिना साहित्य का शास्त्रीय बोध पूर्ण नहीं माना जाता।

व्यक्तित्वविवेककार सम्भवतः अपने विवेचन की गरिमा से भी परिचित थे इसीलिए उन्होंने यथाम्भव उसे सरल एवं सुबोध करने का प्रयास किया है। फिर भी उनकी कृति का सम्यक् अवगाहन साहित्य या किसी भी शास्त्रके सामान्य विद्यार्थीके वश की बात नहीं है। यही कारण है कि महिमभट्ट की इस अनुपम कृति का आधुनिक पद्धति से मूल्यांकन अब तक नहीं हो सका था। प्रकृत ग्रन्थ 'महिमभट्ट' मेरे शोध-प्रबन्ध 'द कान्ट्रीइयूशन ऑफ महिमभट्ट टु सस्कृत पोयेटिकम्' का ही एक महत्त्वपूर्ण अंश है। इसमें आचार्य-प्रवर महिमभट्ट के व्यक्तित्वगत जीवन, वैदुष्य तथा कार्यकाल का निरूपण करते हुए उनके काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन अत्यन्त विशद रूप से किया गया है। सस्कृत-साहित्यशास्त्र की उनकी देन का समीक्षात्मक मूल्यांकन करने में भरत-नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रसगयाधर तक के ग्रंथों में निहित विपुल सामग्री का यहाँ पूरा उपयोग हुआ है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी यह भली-भाँति जानना है कि मम्मट प्रभृति ध्वनिवादी प्राय सभी परवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महिमभट्ट के काव्यानुमिति सिद्धान्त का यथावसर खण्डन ही किया है। उसका सम्यक् अध्ययन कर विस्तारपूर्वक विवेचन का प्रधान अवतक नहीं के बराबर ही हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रणयन का मुख्य प्रयोजन व्यक्तित्वविवेककार के पक्ष का समर्थन करते हुए ध्वनि के स्पष्टन एवं उसके अनुमान

प्ररोचना

संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट का अपना एक विशेष स्थान है। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति व्यक्तिविवेक संस्कृत अलंकारशास्त्र के प्रथम काण्ड के उन प्रयोगों में परिगणित है जिन्होंने परवर्ती काव्य एवं तदवधिपत्रक शास्त्र दोनों का प्रभावित किया है। आचार्य आनन्दवर्षन के द्वारा प्रदत्तभावित काव्य की समीक्षा के सिद्धान्त ध्वनि का स्रष्टन वर उसने आधारभूत तत्त्व व्यक्तित्व अर्थात् व्यञ्जना नामक नववर्णित वृत्ति का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से प्रणीत इस ग्रन्थ में रस, भाव, गुणालंकार, ध्वनि वञ्चोचित, औचित्यानाचित्य तथा शब्दार्थशक्ति प्रभृति साहित्य के प्रायः सभी तत्त्वों का विवेचन समालोचनात्मक रीति से हुआ है। महिमभट्ट साहित्य के ऐसे बिलक्षण आचार्य हुए हैं जिन्हें वाङ्मय की वेद, पुराण एवं शास्त्र प्रभृति प्रायः सभी विधाएँ हस्तामलक थीं। फलतः निरवत, व्याकरण न्याय और मीमांसा के सैद्धान्तिक विवेचनों से ओतप्रोत इनका ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का निकष हो गया है। इससे परीक्षित होकर ध्वनि-सिद्धान्त का भी परिष्कार हुआ है। यही नहीं महिम के द्वारा व्याकरण एवं दर्शन के सिद्धान्तों को साथ मिलाकर ध्वनि का विवेचन करने से उसकी ऐसी अनेक महत्ताओं का प्रकाशन भी होता है जिनकी ओर विबुध व्यक्ति का भी ध्यान महत्ता नहीं जाता। इसलिए विद्वन्मण्डली में 'व्यक्तिविवेक' का अवगाहन किए बिना साहित्य का शास्त्रीय वाच्य पूर्ण नहीं माना जाता।

व्यक्तिविवेककार सम्भवतः अपने विवेचन की गरिमा में भी परिचित थे इसीलिए उन्होंने यथासम्भव उसे सरल एवं सुबोध करने का प्रयत्न किया है। फिर भी उनकी कृति का सम्यक् अवगाहन साहित्य या किसी भी शास्त्र के सामान्य विद्यार्थी के वश की बात नहीं है। यही कारण है कि महिमभट्ट की इस जनुपम कृति का आधुनिक पद्धति से मूल्यांकन ध्रुव तक नहीं हो सका था। प्रकृत ग्रन्थ 'महिमभट्ट' मेरे माघ-प्रबन्ध 'द काव्यीयुग ऑफ महिमभट्ट टु संस्कृत पापेटिवम' का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। इसमें आचार्य प्रवर महिमभट्ट के व्यक्तिगत जीवन, वैदुष्य तथा कार्यकाल का निरूपण करते हुए उनके काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन अत्यन्त विमल रूप से किया गया है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र का उनकी देन का समीक्षात्मक मूल्यांकन करने में भारत-नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रमणगणेश तक के ग्रन्थों में निहित विपुल सामग्री का यहाँ पूरा उपयोग हुआ है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी यह मूल्य-भूति जानता है कि महिमभट्ट प्रभृति ध्वनिवादी प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में महिमभट्ट के काव्यानुमिति सिद्धान्त का यथावसर स्रष्टन ही किया है। उसका सम्यक् अध्ययन कर विस्तारपूर्वक विवेचन का प्रयत्न अब तक नहीं के बराबर ही हुआ है। इस प्रयोग के प्रणयन का मुख्य प्रयोजन व्यक्तिविवेककार के पक्ष का समर्थन करते हुए ध्वनि के स्रष्टन एवं उसमें अनुमान

प्ररोचना

संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट का अपना एक विशेष स्थान है। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'व्यक्तिविवेक' संस्कृत अलंकारशास्त्र के प्रथम कोटि के उन ग्रंथों में परिगणित है जिन्होंने परवर्ती काव्य एवं तद्विषयक शास्त्र दोनों को प्रभावित किया है। आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा प्रोद्भावित काव्य की समीक्षा के सिद्धान्त ध्वनि का सफ़टन कर उसके आधारभूत तत्त्व व्यक्तियोग्यजनना नामक नवकल्पित वृत्ति का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से प्रणीत इस ग्रन्थ में रस, भाव, गुणालंकार, ध्वनि-वञ्चोक्ति, औचित्यानीचित्य तथा शब्दाद्यंशवित् प्रभृति साहित्य के प्रायः सभी तत्त्वों का विवेचन समालोचनात्मक रीति से हुआ है। महिमभट्ट साहित्य के ऐसे विलक्षण आचार्य हुए हैं जिन्हें बाह्यमय की वेद, पुराण एवं शास्त्र प्रभृति प्रायः सभी विधाएँ हस्तान्तक थीं। फलतः निरुचय, ध्याकरण, न्याय और मीमांसा के सैद्धान्तिक विवेचनों से ओतप्रोत इनका ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का निकष हो गया है। इससे परीक्षित होकर ध्वनि-सिद्धान्त का भी परिष्कार हुआ है। यही नहीं, महिम के द्वारा व्याकरण एवं दर्शन के सिद्धान्तों को साथ मिलाकर ध्वनि का विवेचन करने से उसकी ऐसी अनेक महत्ताओं का प्रकाशन भी होता है जिनकी ओर विबुध व्यक्ति का भी ध्यान महमा नहीं जाता। इसीलिए विद्वन्मण्डली में 'व्यक्तिविवेक' का अवगाहन किए बिना साहित्य का शास्त्रीय बोध पूर्ण नहीं माना जाता।

व्यक्तिविवेककार सम्भवतः अपने विवेचन की गरिमा से भी परिचित थे इसीलिए उन्होंने यथासम्भव उसे सरल एवं सुबोध करने का प्रयास किया है। फिर भी उनकी कृति का सम्यक् अवगाहन साहित्य या कला भी शास्त्र के सामान्य विद्यार्थी के वश की बात नहीं है। यही कारण है कि महिमभट्ट की इस अनुपम कृति का आधुनिक पद्धति से मूल्यांकन अब तक नहीं हो सका या। प्रकृत ग्रंथ 'महिमभट्ट' मेरे शोध-प्रबन्ध 'द काण्ट्रीडमूसा ऑफ महिमभट्ट टु संस्कृत पोयंटिवस' का ही एक महत्वपूर्ण अंग है। इसमें आचार्य-प्रवर महिमभट्ट के व्यक्तियुक्त जीवन, वैदुष्य तथा कार्यकाल का निरूपण करते हुए उनके काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन अत्यन्त विशद रूप से किया गया है। संस्कृत-साहित्यशास्त्र को उनकी देन का समीक्षारत्मक मूल्यांकन करने में भरत-नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रसगणधर तक के ग्रंथों में निहित विपुल सामग्री का यहाँ पूरा उपयोग हुआ है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी यह भली-भाँति जानता है कि मम्मट प्रभृति ध्वनिवादी प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महिमभट्ट के काव्यानुमिति सिद्धान्त का यथावसर सफ़टन ही किया है। उसका सम्यक् अध्ययन कर विस्तारपूर्वक विवेचन का प्रयास अब तक नहीं के बराबर ही हुआ है। इस ग्रंथ के प्रणयन का मुख्य प्रयोजन व्यक्तिविवेककार के पक्ष का समर्थन करते हुए ध्वनि के सफ़टन एवं उसके अनुमान

प्ररोचना

सम्भृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट का अपना एक विशेष स्थान है। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'व्यक्तिविवेक' सञ्चित अलंकारशास्त्र के प्रथम कोटि के उन ग्रंथों में परिगणित है जिन्होंने परवर्ती काव्य एवं तद्विषयक शास्त्र दोनों को प्रभावित किया है। आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा प्रोद्भावित काव्य की समीक्षा के सिद्धान्त ध्वनि का स्रष्टन कर उमके आधारभूत सत्त्व व्यक्तित्व अर्थात् व्यञ्जना नामक नदकल्पित वृत्ति का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से प्रणीत इस ग्रन्थमें रस, भाव, गुणालंकार, ध्वनि-वक्रोक्ति, औचित्यानांचित्य तथा शब्दार्थशक्ति प्रभृति साहित्यके प्रायः सभी तत्त्वों का विवेचन समालोचनारमक रीति से हुआ है। महिमभट्ट साहित्य के ऐसे विलक्षण आचार्य हुए हैं जिन्हें बाह्यमय की वेद, पुराण एवं शास्त्र प्रभृति प्रायः सभी विधाएँ हस्तामलक थीं। पलत निरवत, व्याकरण, ग्याय और मोमामा के सैद्धान्तिक विवेचनों से ओतप्रोत इनका ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का निकष हो गया है। इससे परीक्षित होकर ध्वनि-सिद्धान्त का भी परिष्कार हुआ है। यही नहीं, महिम के द्वारा व्याकरण एवं दर्शन के सिद्धान्तों को साथ मिलाकर ध्वनि का विवेचन करने से उसकी ऐसी अनेक महत्ताओं का प्रकाशन भी होता है जिनकी ओर विषुध व्यक्ति का भी ध्यान सहमा नहीं जाता। इसीलिए विद्वग्मण्डली में 'व्यक्तिविवेक' का अवगाहन किए बिना साहित्य का शास्त्रीय बोध पूर्ण नहीं माना जाता।

व्यक्तिविवेकवार सम्भवतः अपने विवेचन की गरिमा से भी परिचित थे इसीलिए उन्होंने यथामुभव उसे मरल एवं सुबोध करने का प्रयास किया है। फिर भी उनकी कृति का सम्यक् अवगाहन साहित्य या किसी भी शास्त्र के सामान्य विद्यार्थी के वश की बात नहीं है। यही कारण है कि महिमभट्ट की इस अनुपम कृति का आपुनिक पद्धति से मूल्यांकन भव तक नहीं हो सका था। प्रकृत ग्रन्थ 'महिमभट्ट' मेरे शोध-प्रबन्ध 'द कान्डीयूशन ऑफ महिमभट्ट टु सञ्चित पोपेटिवस' का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें आचार्य-प्रवर महिमभट्ट के व्यक्तित्वगत जीवन, वैदुष्य तथा कार्यकाल का निरूपण करते हुए उनके काव्य-सिद्धान्तों का विवेचन अत्यन्त विषद रूप से किया गया है। सञ्चित-साहित्यशास्त्र को उनकी देन का समीक्षारमक मूल्यांकन करने में भरत-नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रसगगाधर तक के ग्रंथों में निहित विपुल सामग्रियों का यहाँ पूरा उपयोग हुआ है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी यह भली-भाँति जानता है कि मम्मट प्रभृति ध्वनिवादी प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महिमभट्ट के काव्यानुमिति सिद्धान्त का यथावसर स्रष्टन ही किया है। उमका सम्यक् अध्ययन कर विस्तारपूर्वक विवेचन का प्रयास अब तक नहीं के बराबर ही हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रणयन का मूष्य प्रयोजन व्यक्तिविवेकवार के पक्ष का समर्थन करते हुए ध्वनि के स्रष्टन एवं उसके अनुमान

सामग्री का इसमें समुचित उपयोग किया गया है। मुक्तियो एवं तर्कों से महिममट्ट के पक्ष का सहानुभूतिपूर्वक विवेचन इस ग्रन्थ की अपनी विशेषता है जिसका निर्वाह ग्रन्थकार ने बड़ी कुशलता एवं विद्वत्ता के साथ आद्योपान्त किया है। ग्रन्थ में प्रयुक्त भाषा एक शैली ग्रन्थकर्ता की समग्राहिणी प्रतिभा के परिचायक है जो प्रतिपाद्य विषय का सर्वथा अनुगमन करती है। फलतः विषय के बोध में कहीं भी व्याघात नहीं होता। गहन साम्ब्रीय विषय का विवेचन होने पर भी प्रतिपादन की प्रणाली ग्रन्थ को पढ़ने की रुचि पैदा करती है जो शुष्क शास्त्रीय-मिद्धान्त के विवेचक ग्रन्थों में प्रायः नहीं मिलती। मुझे आशा ही नहीं, पूर्ण विश्वास है कि इन ग्रन्थ से साहित्य के क्षेत्र में डॉ० चतुर्वेदी के वैदुष्य की प्रतिष्ठा होगी तथा साहित्य-शास्त्र के छात्रों, अध्यापकों एवं सांघ-वर्ताओं के लिए यह ग्रन्थ अत्यन्त उपयोगी सिद्ध होगा। ऐसे प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना के लिए मैं ग्रन्थकार को आशीर्वाद देता हूँ और आशा रखता हूँ कि वे अश्रान्त उत्साह से अनुसन्धान-कार्य में लगे रहेंगे तथा उपयोगी प्रामाणिक ग्रन्थों का प्रणयन करते रहेंगे। तथास्तु।

सचालक, अनुसन्धान सस्थान
संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी
ज्येष्ठ पूर्णिमा, सं० २०२५

—वलदेव उपाध्याय

प्ररोचना

संस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट का अपना एक विशेष स्थान है। इनकी एकमात्र उपलब्ध कृति 'व्यक्तिविवेक' संस्कृत अलंकारशास्त्र के प्रथम बाँट के उन ग्रंथों में परिगणित है जिन्होंने परवर्ती काव्य एवं तद्विषयक शास्त्र दोनों को प्रभावित किया है। आचार्य आनन्दवदन के द्वारा प्रोदभावित काव्य की समीक्षा के सिद्धान्त ध्वनि का स्रष्टन कर उसके आधारभूत तत्त्व ध्वनित अर्थात् व्यञ्जना नामक नवकल्पित वृत्ति का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के उद्देश्य से प्रणीत इस ग्रन्थ में रस, भाव गुणालंकार, ध्वनि वन्नोदित, औचित्यानौचित्य तथा शब्दाव्ययित प्रभृति साहित्य के प्रायः सभी तत्त्वों का विवेचन समालोचनात्मक रीति से हुआ है। महिमभट्ट साहित्य के ऐसे विलक्षण आचार्य हुए हैं जिन्हें वाङ्मय की वेद, पुराण एवं शास्त्र प्रभृति प्रायः सभी विधाएँ हस्तामलक थीं। फलतः निरवत, व्याकरण न्याय और मोमासा के सैद्धान्तिक विवेचना से ओतप्रोत इनका ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा का निकष हो गया है। इससे परीक्षित होकर ध्वनि सिद्धान्त का भी परिष्कार हुआ है। यही नहीं महिम के द्वारा व्याकरण एवं दर्शन के सिद्धान्तों को साथ मिलाकर ध्वनि का विवेचन करने से उसकी ऐसी अनेक महत्ताओं का प्रकाशन भी होता है जिनकी ओर विबुध व्यक्ति का भी ध्यान सहसा नहीं जाता। इसीलिए विद्वन्मण्डली में 'व्यक्तिविवेक' का अवगाहन किए बिना साहित्य का शास्त्रीय बोध पूर्ण नहीं माना जाता।

'व्यक्तिविवेक'कार सम्भवतः अपने विवेचन की गरिमा से भी परिचित थे इसीलिए उन्होंने यथासम्भव उसे सरल एवं सुवाच्य करने का प्रयास किया है। फिर भी उनकी कृति का सम्यक् अवगाहन साहित्य या किसी भी शास्त्र के सामान्य विद्यार्थी के वश की बात नहीं है। यही कारण है कि महिमभट्ट की इस अनुपम कृति का आधुनिक पद्धति से मूल्यांकन शक्य तक नहीं हो सका था। प्रकृत ग्रन्थ महिमभट्ट के शोध प्रबन्धों का काट्टीव्यूषण आफ महिमभट्ट टु संस्कृत पोयेटिक्स का ही एक महत्त्वपूर्ण अंग है। इसमें आचार्य प्रवर महिमभट्ट के व्यक्तित्वगत जीवन, वैदुष्य तथा कार्यकाल का निरूपण करते हुए उनके काव्य सिद्धान्तों का विवेचन अत्यन्त विस्तार रूप से किया गया है। संस्कृत साहित्यशास्त्र का उनकी देन का समीक्षात्मक मूल्यांकन करने में भरत-नाट्यशास्त्र से लेकर पण्डितराज जगन्नाथ के रसगगाधर तक के ग्रन्थों में निहित विपुल सामग्री का यहाँ पूरा उपयोग हुआ है। साहित्य का प्रत्येक विद्यार्थी यह भली भाँति जानता है कि महिमभट्ट प्रभृति ध्वनिवादी प्रायः सभी परवर्ती आचार्यों ने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से महिमभट्ट के काव्यानुमिति सिद्धान्त का यथावसर स्रष्टन ही किया है। उसका सम्यक् अध्ययन कर विस्तारपूर्वक विवेचन का प्रयास अब तक नहीं के बराबर ही हुआ है। इस ग्रन्थ के प्रणयन का मुख्य प्रयोजन व्यक्तिविवेककार के पक्ष का समर्थन करते हुए ध्वनि के स्रष्टन एवं उसके अनुमान

में अन्तर्भाव की पुष्टि में प्रदत्त उनकी युक्तियों एवं तर्कों की ग्रंथों को खोलकर उन्हें स्पष्ट रूप से उपस्थित करना है। इसी सक्त्प की पूर्ति के लिए यह एक साहित्यिक अनुष्ठान किया गया है जिसमें उक्त उद्देश्य के आद्योपान्त निर्वाह से ही परम सन्तोष है। इसके युक्तायुक्त होने के सम्बन्ध में आचार्य महिमभट्ट की उक्ति को ही उद्धृत कर देना पर्याप्त होगा —

युक्तोऽयमात्मसद्गान्प्रति मे प्रयत्नो,
नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहर यत् ।
केचिज्ज्वलन्ति विक्कमन्त्यपरे निमीलग्नयन्ते,
यदभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥१॥२॥

इस प्रसंग में आगरा कालेज के ससृष्ट के भूतपूर्व अध्यक्ष पं० श्री बंलाशचन्द्रजी मिश्र का मैं अत्यन्त आभारी हूँ जिनके अगाध पाण्डित्य, नीर-क्षीरविवेकिनी प्रतिभा तथा अनिनिर्मल दार्शनिक बोध से सन्तुष्ट मानसिध्य ने ही मुझे यह दृष्टि प्रदान की जिससे 'व्यवित्त-विवेक' जैसे व्याकरण, दर्शन एवं भाषा सम्बन्धी गुणियों से परिपूर्ण ग्रन्थ के मर्मोद्घाटनमें मुझे कोई विरोध आयास नहीं हुआ। महिमभट्ट पर शोध करने की प्रेरणा के मूलस्रोत मेरे श्रेष्ठ्यगुरुवर प्रो० बलदेव जी उपाध्याय हैं जिनके वेद, पुराण, दर्शन एवं साहित्य विषयक ग्रंथ-रत्न निखिल भारतीय वाङ्मय के दिग्दिगन्त को आलोकित कर रहे हैं। भारतीय साहित्यशास्त्र के तो वे ख्यातनामा आधिकारिक विद्वान् हैं। उनके बंहुध्य का वरदहस्त मेरे ऊपर सर्वदा रहा है जो प्रकृत ग्रंथ की भूमिका के रूप में प्रस्फुटित हुआ है। उनके इस अहैतुक स्नेह-मन्मार के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ। वाराणसेय-ससृष्ट विश्वविद्यालय के साहित्य-विभाग के प्रथम अध्यक्ष विद्वद्वरेण्य पं० श्री मुकुन्दशास्त्री जी खिस्ते का पुण्य-स्मरण करना यहाँ मैं नहीं भूलूँगा जिनके प्रियशिष्य होने की योग्यता द्वाप वा प्रबुद्ध जिज्ञासुभाव ही था। उनके अगाध स्नेह का पात्र होने का सौभाग्य मुझे प्राप्त है। साहित्य के लक्षण-ग्रंथों में मेरी जो कुछ भी छोटी बहूत गति है वह इन्हीं का प्रसाद है। साहित्यिक समीक्षा के पीरस्त्य एवं पाश्चाय उभयविध सिद्धान्तों के मर्मज्ञ, साहित्यशास्त्र के क्षेत्र में मौलिक चिन्तक, सहृदय गिरोमणि डॉ० नगेन्द्र के हम (लेखक एवं प्रकाशक दोनों ही) हृदय से आभारी हैं जिनकी सत्प्रेरणा के फल-स्वरूप इस ग्रंथ के प्रकाशन का श्रेय 'नेशनल पब्लिशिंग हाउस' को ही प्राप्त हुआ है। साहित्य-दर्शन एवं तन्त्र के अज्ञातरहस्यज्ञ, बहुधुन विद्वान् तथा सात्त्विकता के साक्षात् विग्रह गुरु-बल्प पं० श्री कृष्णशंकर जी शुक्ल के प्रति कृतज्ञता ज्ञापन करना मैं अपना परमधर्म समझता हूँ जिनके बहुमूल्य सुझावों से प्रकृत ग्रंथ का बड़ा उपकार हुआ है।

अन्त में सौजन्यमूर्ति अपने प्रकाशक श्री कन्हैयालाल मलिक को धन्यवाद देना भी मैं अपना विरोध कर्तव्य समझता हूँ जिन्होंने विघ्न पर विघ्न होने पर भी बड़े धैर्य एवं लगन से इस ग्रंथ का सुन्दर प्रकाशन किया है। इनके अनिर्विकल मैं उन सबके प्रति कृतज्ञ हूँ जिनकी अनन्त शुभकामनाएँ इस ग्रंथ के प्रकाशन के साथ सलग्न हैं।

प्रायः प्रतिनिर्वचिन्धरमास्वादिदः प्रति ।

सूपकारत्रियेय मे साफल्यमुपवास्वति ॥

मंसृष्ट-विभाग

दिल्ली विश्वविद्यालय,
दिल्ली

—ब्रजमोहन चतुर्वेदी

विषयानुक्रमणिका

१ महिमभट्ट, उनका काल एवं कृतियाँ

प्रथम विमर्श	विषय प्रवेश	१-११
द्वितीय विमर्श	आचार्य महिमभट्ट	१२-२०
	(क) व्यक्तिगत परिचय	१२
	(ख) नाम एवं प्रसिद्धि	१३
	(ग) सफल आचार्य	१४
	(घ) बहुधुन विद्वान्	१८
	(ङ) नैयायिक, मीमांसक या वैयाकरण	२२
तृतीय विमर्श	महिमभट्ट का समय	२६-३७
	(क) पूर्ववर्ती सीमा	२६
	(ख) उत्तरवर्ती सीमा	३१
	(ग) महिमभट्ट और मम्मट	३२
	(घ) महिमभट्ट एवं अभिनवगुप्त	३५
	(ङ) निष्कर्ष	३७
चतुर्थ विमर्श	महिमभट्ट की कृतियाँ	३८-४४
	(क) प्रकाशान	३८
	(ख) नामकरण	३९
	(ग) स्वरूप एवं द्विवेद्य-विषय	४१
	(घ) ग्रन्थ-परिभाषा	४२
	(ङ) बंगुन्म्य	४४
पञ्चम विमर्श	व्यक्तिविवेक की टीकाएँ	४५-४६
	(क) व्याख्यान या व्यक्तिविवेक-व्याख्यान	४५
	(ख) ह्येक एव मत्र या मत्तुव	४७
	(ग) द्विवृत्ति या मधुमूदनी विवृत्ति	४८
	(घ) अनुवाद-हिन्दी-व्यक्तिविवेक	४९

२. काव्य की परिभाषा

प्रथम विमर्श	: काव्य प्रयोजन	५०-६०
	(अ) काव्य के सामान्य एवं विशिष्ट प्रयोजन	५१

(इ) महिमभट्ट का मत	५३
(उ) परवर्ती आचार्यों पर महिमभट्ट का प्रभाव	५५
(ऋ) उपसंहार	५६
द्वितीय विमर्श : वाक्यहेतु	६१-६६
(अ) प्रतिभा	६१
(इ) व्युत्पत्ति	६२
(उ) अभ्यास	६३
(ऋ) विविध आचार्यों के मत	६३
(ॠ) महिमभट्ट का मत	६५
तृतीय विमर्श : वाक्य-लक्षण	६७-७६
(अ) वाक्य के सामान्य लक्षण	६७
(इ) शब्दार्थोपम वाक्य-लक्षण	६८
(उ) शब्द-प्रधान वाक्य-लक्षण	७०
(ऋ) रसान्वित लक्षण एवं महिमभट्ट	७१
(ॠ) महिम के लक्षण वा परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव	७६
३. शब्द, अर्थ एवं उनकी शक्तियाँ	
प्रथम विमर्श : शब्दार्थ विवेचन	८०-८३
(क) शब्द के स्वरूप और उसके भेद-प्रभेद	८०
(ख) पदों का त्रिमासवत्त्व पक्ष	८२
(ग) वाच्य का लक्षण एवं स्वरूप	८७
(घ) अर्थ एवं उनके भेद-प्रभेद	८०
(ङ) वाच्यार्थ और वाच्यार्थ	८२
द्वितीय विमर्श : शब्दार्थ-सम्बन्ध	८४-१०२
(क) सकेतग्रह अथवा शब्दबोध का प्रकार	८४
(ख) शब्द-व्यवहार की अनुमानरूपता	८६
(ग) साध्यमायनभाव	१००
तृतीय विमर्श : शब्द-शक्ति	१०३-१२१
(क) शब्द की तीन शक्तियाँ—शक्ति, भक्ति एवं ध्यक्ति	१०३
(ख) अभिधा के अनिरिचन शब्द-व्यापार की मत्ता का खण्डन	१०४
(ग) अर्थ ही अर्थान्तर का विनिगमक	१०६
(घ) गुणवृत्ति लक्षणा की अनुमान में गतापेक्षा	१११
(ङ) आर्योच्च्यञ्जना की असम्भाव्यता एवं अनुमानरूपता	११५
४. अनुमेयार्थ की सिद्धि	
प्रथम विमर्श : तात्पर्यार्थ एवं अनुमेयार्थ	१२२-१२८
(क) विपन्नक्षण वाच्य की अनुमानरूपता का विधान	१२२

	(ख) दीर्घ दीर्घतर इपु-ध्यापार का उदाहरण	१२४
	(ग) तात्पर्य की वाच्यता का खण्डन	१२६
द्वितीय विमर्श	ध्वनि सिद्धान्त विमर्श	१२६ १५६
	(अ) ध्वनिमज्ञा की अनुपपन्नता	१२६
	(इ) ध्वनि-लक्षण विमर्श	१३२
	१ अय के उपमजनीहृतात्मत्वरूप विशेषण का विफल प्रयोग	१३३
	२ सन्द पद का अनावश्यक पाठ	१३५
	३ अर्थपद का अनिश्चित अभिप्राय	१३७
	४ तम् पद म पुल्लिङ्ग का अभिधान	१३७
	५ विकल्पार्थक वा का अमम्भव प्रयोग	१३८
	६ व्यञ्जन म द्विवचन की अनुपपत्ति	१३८
	७ व्यक्ति (व्यजना) की सिद्धि म दाप	१४१
	८ वाच्य विशेष पद का प्रयोग	१४१
	९ वाच्य-लक्षण म ध्वनिपद का व्यर्थ प्रयोग	१४२
	१० सूरिनि बहुवचन का निर्देश	१४३
	(उ) भक्ति एव ध्वनि की एकरूपता	१४५
	(श्रु) शब्द म व्यञ्जकत्व का निषेध तथा अर्थव्यञ्जकता की अनुमिति	१५०
तृतीय विमर्श	ध्वनिभेदों की अनुपपत्तिपूर्वक अनुमेयता	१६०-१७०
	(क) गुणीभूत-व्यग्य की अनुपपन्नता	१५०
	(ख) लक्षणा एव अभिधामूलक ध्वनिया की अनुपपत्ति	१६५
	(ग) ध्वनि के अन्तर्गत भेदों की अनुमेयता	१६८
चतुर्थ विमर्श	ध्वनि के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या	१७१-१८१
	(अ) वस्तु ध्वनि के उदाहरण की अनुमानरूपता	१७१
	(इ) अलकार-ध्वनि के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या	१७६
	(उ) रम-ध्वनि के उदाहरणों की अनुमितिपरक व्याख्या	१८०
पंचम विमर्श	वक्राक्ति सिद्धान्त एव उसकी समीक्षा	१८२-१८७
	(क) वाच्य म वक्राक्ति का उद्गम	१८२
	(ख) वक्राक्ति वाच्य-जीवित के रूप म	१८३
	(ग) वक्राक्ति और महिमभट्ट	१८४
	५ रस-निरूपण	
प्रथम विमर्श	रस का महत्व	१८८-१९०
	(क) आनन्द और रस	१८८
	(ख) वाच्यरस की महत्ता	१८९
द्वितीय विमर्श	वाच्य म रस की धारणा के श्रोत	१९१-१९५
	(क) उपनिषदा म रस का उद्गम	१९१

(ख) नन्दिकेश्वर रम के आद्य आचार्य	१६२
(ग) रम की दिव्य उत्पत्ति	१६२
(घ) लौकिक व्यञ्जन-रस से वाच्य-रस की धारणा की प्रेरणा	१६३
(ङ) निष्कर्ष	१६४
तृतीय विमर्श : रम तथा भाव	१६६-२०१
(क) रस का स्वरूप एवं लक्षण	१६६
(ख) भाव का स्वरूप, लक्षण एवं उसके भेद	१६८
(ग) रम एवं भावों का सम्बन्ध	२००
चतुर्थ विमर्श : रस-विषयक विविधवाद	२०२-२०८
(क) भट्ट लोल्लट का कृतिवाद	२०२
(ख) श्रीशकुन्त का अनुमितिवाद	२०५
(ग) भट्टनायक का भुक्तिवाद	२०६
(घ) अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद	२०७
(ङ) घनञ्जय का भावनावाद	२०८
पञ्चम विमर्श महिमभट्ट का रम-विवेचन	२०९-२२१
(क) रत्यादि एवं विभावादि की युगपत्प्रतीति का निराकरण	२०९
(ख) रस-ध्वनि की परार्थानुमानरूपता	२१२
(ग) विभावादि का स्वरूप-निरूपण	२१४
(घ) विभावादि से रत्यादि का परामर्श ही रसास्वाद	२१६
(ङ) रस की प्रतीति में सत्यासत्य का विचार अनुपादेय	२१९

६. अनौचित्य अर्थात् काव्य-दोष

प्रथम विमर्श : संस्कृत साहित्यशास्त्र में दोष-सिद्धान्त	२२२-२२९
(अ) भरत का नाट्यशास्त्र	२२२
(इ) भामह	२२३
(उ) दण्डी	२२५
(ऋ) वाचन	२२६
(ॠ) आनन्दवर्धन	२२८
द्वितीय विमर्श : महिमभट्ट का दोष-विवेचन	२३०-२५०
(क) दोष का सामान्य-लक्षण एवं स्वरूप	२३०
(ख) दोषों का विस्तृत विवेचन	२३१
१. विषेयाविमर्श दोष एवं उभय प्रोद्भूत समस्याएँ	२३२
(अ) नञ् ममाम के प्रसंग में प्रमज्य-प्रतिषेध का विधान	२३२
(इ) यतद् पदों के प्रयोग का विचार	२३५
(उ) ममामाममाम में विवक्षा की विधि	२३८
२. प्रक्रमभेद दोष तथा उसकी समस्याएँ	२४१

३	क्रमभेद दोष का स्वरूप एवं लक्षण	२४३
४	पौनरुक्त्य म दोषादोष विचार	२४४
५	वाच्यावचन दोष	२४७

(ग)	महिमभट्ट के दोषविवेचन की विशेषता	२५०
-----	----------------------------------	-----

तृतीय विमर्श	उत्तरवर्ती आचार्यों के दोषविवेचन पर महिमभट्ट का प्रभाव	२५१-२५४
(अ)	मम्मट	२५१
(इ)	विश्वनाथ कविराज	२५३

७	अलंकार निरूपण	२६८
---	---------------	-----

प्रथम विमर्श	अलंकार का लक्षण एवं स्वरूप	२५५-२६२
--------------	----------------------------	---------

द्वितीय विमर्श	अलंकारा के प्रयोगाप्रयोग का विवेक	२६३
----------------	-----------------------------------	-----

१	अलंकार-दोष	
(क)	उपमा एवं रूपकादि	२६३
(ख)	पुनरुक्ति एवं अनुप्रास	२६७
(ग)	शब्द श्लेष म पदकी आवृत्ति	२६८
(घ)	अप्रस्तुत प्रशंसा म प्रस्तुताप्रस्तुत की उक्ति का विधान	२७०
(ङ)	समासोक्ति एवं उत्प्रेक्षा	२७१

२	एक अलंकार के विषय म अन्य अलंकार का प्रयोग	२७२
---	---	-----

(क)	समासोक्ति के विषय म श्लेष का उपनिबन्धन	२७२
(ख)	श्लेष के विषय म उपमा	२७३
(ग)	रूपक के विषय म उपमा	२७३

तृतीय विमर्श	स्वभावोक्ति की अलंकारता	२७६
--------------	-------------------------	-----

(क)	भामह दण्डी एवं उद्भट	२७६
(ख)	रुद्रट का जाति विवेचन	२७७
(ग)	कुल्लक द्वारा स्वभावोक्ति की अलंकारता का सङ्गन	२७८
(घ)	महिमभट्ट द्वारा स्वभावोक्ति की अलंकारता का विधान	२७९
(ङ)	निष्कर्ष	२८१

८. उपसंहार

अन्तिम विमर्श	उपलक्ष्यार्थ	२८३-२९६
---------------	--------------	---------

१	काव्य-प्रयोजन	२८३
२	काव्यलक्षण	२८५
३	शब्दार्थमन्वन्ध, माध्यमाधनभाव	२८७
४	शब्द-शक्ति	२८९
५	रस-निष्पत्ति	२९१
६	दोष तथा गुण	२९४
७	अलंकार का स्वरूप	२९५

परिशिष्ट

१. व्यक्तित्वविवेक संग्रहकारिकाः;	२६६-३४२
(क) प्रथमो विमर्शः	२६६
(ख) द्वितीयो विमर्शः	३२०
(ग) तृतीयो विमर्शः	३३६
२. संप्रभावली	३४५-३४७
(क) सरहृत्-ग्रन्थ	३४५
(ख) हिन्दी-ग्रन्थ	३४७
(ग) अंग्ल-ग्रन्थ	३४७

शब्द-संकेत

१	अ० पु०	अग्निपुराण
२	च० वृ० मा०	अभिज्ञा वलि मानका
३	अ० भा०	अभिनव भार्गवी
४	च० म०	अकार मन्त्रम्ब
५	ई० प्र० वि	इश्वर प्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी
६	एका०	एकावली
७	क० क०	कवि कथाभरण
८	का० द०	कायादर्श
९	का० पु०	काव्यानुशासन
१०	का० प्र०	काव्य प्रकारा
११	का० मी०	काव्यमीमांसा
१२	का० ल०	काव्यालंकार
१३	का० मा० म०	काव्यालंकार मारुतप्रह
१४	का० मू० वृ०	काव्यालंकार मूलवृत्ति
१५	कु० न०	कुवलयानन्द
१६	च० लो०	चन्द्रालोक
१७	वि० मी०	चिनमीमांसा
१८	द० ह०	दशरूपक
१९	ध्व० लो०	ध्वन्यालोक
२०	ध्व० लो० लो०	ध्वन्यालोचन लोचन
२१	ना० टा०	नाट्य शास्त्र
२२	प्र० ह० य०	प्रताप ट्ट मत्तोभूषण
२३	र० न०	रमागधर
२४	व० जी०	वक्रोक्ति जीवित
२५	वा० प०	वाक्यरदीप
२६	व्य० वि०	व्यक्ति विवेक
२७	व्य० वि० वि०	व्यक्ति विवेक विवृति
२८	व्य० वि० व्या०	व्यक्ति विवेक व्याख्यान
२९	शृ० प्र०	शृंगार प्रकाश
३०	म० क०	सरस्वती कथाभरण
३१.	हृ० द०	हृदय दर्पण

प्रथम-विमर्श

विषय-प्रवेश

मनुष्य के वास्तविक नास्तिक्य के समान ही उनकी आलोकना या इतिहास की अन्तर्गत मनुष्य एवं परम सत्ता है। विद्वान्-पूर्व की विश्राम कृति नाट्यशास्त्र में लेखक परिचयनायक ज्ञानाय के अन्तर्गत की रचना के काल तक लगभग दो महत्त्वपूर्ण में मनुष्य के वास्तविक नास्तिक्य की मान्यता समीक्षा का जो विस्तार विकसित हुआ है उनके रूप गुण लक्षणा, रीति, वृत्ति प्रवृत्ति प्रवृत्ति अनेकानेक तत्वों एवं ध्वनि बर्णना, अनुमिति तथा योग्यता आदि विद्वान्नायक, जन्म दिया है। इन विद्वान्नायक के परिवेग में काव्यशास्त्र का विवेक नास्तिक्यशास्त्र के तन्त्र प्रवृत्ति में विविध प्रकार में हुआ है। विविध रूप में विवेकित होकर ये तन्त्र नास्तिक्य की मान्यता समीक्षा के इतिहास में एक महती परम्परा की मूर्ष्टि बनने हैं। इन परम्परा में जन्मे प्रवाह जो गति न करे भाव लिए हैं। प्रत्येक मोड़ पर कोई-न-कार दिग्गोप बाध मडा है जो किमी विमिष्ट तन्त्र जो ज्ञान अगुलानिर्देश करना है तथा उमी का विद्वान् विवेकित प्रवृत्ति कर उमी में अक्षय-शास्त्र के उद्भव प्राप्त मनी अन्य तत्वों को परम्परा के रूप में व्यन्धित करने का प्रयास किया है। इन प्रकार लक्षणा, गुण (रीति), ध्वनि, व्यञ्जि, अनुमिति एवं योग्यता नामक विद्वान्नायक का उद्भव एवं विकास इन परम्परा की देन है जिनमें अन्तर्गत-शास्त्र के इतिहास की मूर्ष्टि की है। उक्त विद्वान्नायक ही इन ऐतिहासिक परम्परा के प्राण हैं जिन्होंने विस्तार विकसित होते हुए इन जीवन प्रदान कर दिया है।

इन विद्वान्नायक के उद्भव का क्षेत्र एवं उसका परिवेग चन्दन व्यापक है जो मान्यता-मनरो में भी सम्बन्धित है। पर बीच रूप में दो प्रश्न इनकी प्रादुर्भूति के जनाधार काग्य हैं। इनमें एक यह है कि काव्य की आत्मनायाप्राप्त-तत्त्व क्या है? दूसरा तो उमी के सम्बन्धित है कि उन प्राण-तत्व या आत्म-तत्व की अनिश्चितता किन प्रकार होती है? काव्य का व्यन्धित-करा कर उनके गरीर एवं अंग प्रयोग के रूप में विविध तत्वों के विवेकन की प्रणाली उमी हो पुणनी है जिसका अन्तर्गत का इतिहास। आरम्भ में चतुर्विध रूप अन्तर्गत काव्य का सर्वत्र समता गया तथा मन्त्र और अर्थ को ही उनकी अनिश्चितता का नाशनायक प्रयोग। मानस, दण्डों एवं उद्भव में अन्तर्गतवादी जाचामें हैं। इनके पूर्व यद्यपि नांगण्ट अर्थान् मन्त्र के सुन्दर प्रयोग को ही अन्तर्गत का आधायक समता गया था, पर इन लोगों ने उनका लिये कर मन्त्र और अर्थ दोनों को बह श्रेय दिया।^१ यह प्रथम भाव था। दूसरे नोट पर कामन या रीतिवाद काया है जिनमें गुण को काव्य की आत्मना होने का विधान किया तथा रीति की उनकी अनिश्चितता या मूर्ष्टि का प्रकार बताया। कामन का कहना है कि काव्य-

१. सत्येशदुः सौम्यं नायंभृत्यतिरोद्गी। इत्यनिधेयालवारभेदातिट इय तु ना ॥
—मानसुः 'वास्तविकार'—१-१५।

काव्य चत्वार की सृष्टि सौन्दर्य से होनी है, अतः सौन्दर्य ही अलंकार है। पर उपमा, रूपक, दीपक आदि के रूप में नहीं अपितु भाषुयादिगुणों के रूप में। काव्य में सौन्दर्य की सृष्टि गुणों से होनी है जो काव्य के नित्य धर्म हैं। उपमा-रूपक आदि अलंकार तो गुणों द्वारा सृष्टि (कृत) काव्य-गोला की वृद्धि मात्र करते हैं, अतः वे बहिरंग हैं। दूसरे शब्दों में गुण अलंकार हैं जो अक्षररूप की प्रक्रिया के द्योतक हैं। अतः उनकी सृष्टि रीति के साथ अमिश्र रूप में होती है। बहने का आगम यह है कि अलंकरण के साधन (उपादान) मूल तत्त्व अलंकार काव्य की आत्मा या सर्वस्व इसलिए नहीं हो सकते कि वे बाह्य तत्त्व हैं। आत्मा तो कोई आभ्यन्तर तत्त्व होता है जो नित्य भी होना है और एक मात्र गुणों में ही वह योग्यता उपलब्ध होती है। इस प्रकार काव्य की आत्मा या सर्वस्व गुण है तथा उनकी अभिव्यक्ति अर्थात् सृष्टि का माध्यम रीति है जो अक्षररूप की प्रक्रिया अर्थात् व्यापार का बोध कराती है। इस प्रवाह की गति का तीव्र मोड़ है ध्वनि-मिद्धान्त, जो ध्वनि को काव्य की आत्मा और व्यञ्जना को उनकी अभिव्यक्ति या सृष्टि का प्रकार अर्थात् माध्यम मानता है। इसके उद्भावक आचार्य आनन्दवर्धन ने काव्यात्मा विषयक चिन्तन को आगे बढ़ाया है और व्यापार के काव्यात्मा होने के वास्तविक पक्ष को अस्वीकार करते हुए व्यापार्य व्यङ्ग्य के रूप में ध्वनि को काव्यात्मा होने का गौरव प्रदान किया है।

सम्पूर्ण साहित्यशास्त्र के इतिहास में ध्वनि-मिद्धान्त का उद्भव एक अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण घटना है। क्योंकि ध्वनि-मिद्धान्त ने काव्यात्मा के प्रश्न को अपने विवेचन का मुख्य विषय बना कर वाच्यमनोविषयों की अन्तर्दृष्टि को अलंकार एवं अलंकारिता (गुणात्मारोति) से हटाकर अक्षरार्थ की ओर धाकट किया। उनका कहना है कि न तो अलंकारों में काव्यात्मा होने की सम्भवा है और न अलंकारिता रूप गुणात्मारोति में। अलंकारों में अर्थचित्र एवं अर्थचित्र रूप काव्य के बाह्य तत्त्व हैं ही, अलंकारिता भी पदमघटनात्मक व्यापार रूप होने से काव्यात्मा पद की भागिनी नहीं हो सकती। शब्दार्थ के शरीरगत वैचित्र्य रूप अलंकार जब काव्यात्मा नहीं हो सकते तो मनवानमन रूप व्यापार क्या आत्मा होने में समर्थ हो सकती है? बल्कि नहीं। अतः काव्यात्मा तो वही तत्त्व हो सकता है जो गुणों का आश्रय एवं अलंकारों से अलंकार्य हो। और यह तत्त्व है ध्वनि जिसकी अभिव्यक्ति व्यञ्जना व्यापार से होती है।

ध्वनि तथा ध्वन्यता पदों का प्रयोग यद्यपि आनन्दवर्धन के सुदूर पूर्ववर्ती आचार्य रामह ने अपने 'वाक्यालंकार' में अनेक जगह किया है^१, किन्तु यह ध्वनि शब्द का प्रयोग मात्र है। उक्त व्यञ्जना या प्रतीकमान अर्थ की प्रतीति नहीं होती। ध्वनि के मिद्धान्त का उद्भव एक महत्त्वपूर्ण घटना इसलिए है कि यह तत्त्व की परम्परा में हट कर सर्वथा स्वतंत्र रूप में काव्य के मूलमूल प्रश्नों का विवेचन एवं उन्हीं के अनुसार विविध तत्त्वों के व्यवस्थापन का एक नूतन प्रयास है। आचार्य आनन्दवर्धन ने स्वयं ही ध्वनि को 'प्रसिद्ध प्रस्थान व्यतिरेकी' अर्थात् अब तक की मान्यताओं से सर्वथा भिन्न तथा 'अनुमोदितपूर्व' (जिसे अब तक किसी ने भी नहीं प्रकाशित किया है) कहा है।^२

१. भाग्य : वाक्यालंकार—२।० ६।७, १९, २८ ।

२. ध्वन्यता—२।० १।१ पर आलोच (कृति) ।

ध्वनि-मिद्धान्त की दूसरी मूर्तियों विवेचना ध्वनि-तत्त्व की व्यापकता है। गुण, अकार, रीति एवं रस जारि काव्य के प्रायः सभी सायाप्रक तत्त्वों का निर्विकेप इन्म निम्न उद्भावना के साथ हो जाता है वह अन्यत्र सूत्र्यन है। इनमें कोई मन्दे नहीं कि ध्वनि-मिद्धान्त गुण अकार जारि मिद्धान्तों की भाँति एकाङ्गी न हारर नवांगणों एवं मुख्यधर्मित है। यद्यपि यह आनन्दवर्धन की एक नयी उद्भावना है कि नो इतमकाव्य के उद्भावना तथा जामी ताम-सानु करने की असीम क्षमता है। तन्त्र ध्वनिज्ञान अपने विवेचन में पड़े पड़े इन 'महाविषय' करने हैं तं गुण अकार जारि काव्य के जस्य तत्त्वाः। ध्वनि वा अज्ञ मान्य है। इम सम्बन्ध में मयम विधि वा विज्ञान वा है वह यह कि रस की वहाँ ध्वनि मन्त्र के अज्ञ के रूप में ही व्यवस्थानित हुआ है जिसे सामे च-क-क काव्य की भाँति के रूप में स्यादी प्रविष्टा मिली। इन प्रकार तब तक प्रविष्टा प्रायः गुण, अकार रीति एवं रस जारि काव्य तत्त्व विष्टे प्रविष्ट प्रज्ञान का मजा प्रायः है। यदि या ओं वा काव्य के प्रायः तत्त्व मन्त्रे जते थे, ध्वनि तत्त्व की उद्भावना के साथ ही। इनके अज्ञ प्रयुक्त होने में गीत हा गये ओं ध्वनि जज्ञी रूप में मूर्त्यन बन गया।

ध्वनि मिद्धान्त की मयम बड़ी विवेचना है अज्ञाना नामक वृत्ति जिसे इन व्याकरण एवं दर्शन जारि शास्त्रों की जारि मन्त्रक विद्या दिवा, जिसे ध्वनि वाज्जय की नयी विद्या के आचार्यों की विवेचना का विषय बन गया। 'व्यञ्जना' आनन्दवर्धन की कथा नयी उद्भावना है जिसे जिए वह न केवल साहित्यशास्त्र जिनु मन्त्रों नामनी वाज्जय के इतिहास में एक जायत्वमान नक्षत्र के रूप में अमर हो गये हैं। व्यञ्जना वह तत्त्व है जिसे ऊपर नामनी साहित्यशास्त्र की श्रं है जो वह जस्य शास्त्रों के मयम अपनी मौलिकता एवं मूर्तियों के गौरव से अपना निर जैवा जिये हुए है। व्यञ्जना की मयमता इस जारि का पुष्कल प्रमाण है कि साहित्यशास्त्र अन्य शास्त्रों के उच्छिष्ट कामकलननाय नहीं है, अतिउ उनकी भी जिनत को अपनी परम्परा है, तथा तब-तबोत्प्रेर की प्रक्रिया में वाज्जय वृत्त की उन गाथा में नो जो फल लगे हैं उतका अपना एक विद्यता म्ना है जिनकी अपनी जस्य मयमव न्हा। यह वही व्यञ्जना वृत्ति है जिसे जारि जिये कर साहित्यशास्त्रों व्याकरण एवं दर्शन की परम्परा बननांता में अपने का विमुक्त मानते हैं। नामेन प्रनृति पुष्कर वैजयज्जना ने नो व्यञ्जना को स्विकार एवं उनकी परिष्कार कर साहित्यशास्त्रों का भी उनमर्ण होने के गौरव के मयम जिया है।

ध्वनि-मिद्धान्त की इसी व्यापकता एवं नवांगणता में जिनमर हाँकर जिनम-गुण, मन्त्र, हेनवद, विवेचनाय एवं पण्डितराज यानाय प्रनृति उच्च जारि के आचार्यों ने न केवल ध्वनि का मयम संत हो जिया जिनु मयम-मयम पर उजारी गई ध्वनि मिद्धान्त सम्बन्धी विप्रतिपत्तियों का निगमण करने हुए ध्वनि तत्त्व का विन्द रूप में विवेकन अपनी वृत्ति में किया है। फलतः ध्वनि का मन्त्र-साहित्यशास्त्र के इतिहास में एक महामान घन के रूप में प्रकाश जिया गया है। अनिनवगुणने, जामेन जस्य एवं तत्त्व के प्रकाश पण्डित तथा मयमनामा आचार्य थे, काव्यशास्त्र पर नो जनों लेखनी उजारी जो आनन्दवर्धन की मूर्तियों

कृति 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' नाम की टीका लिख कर उसे अमर बना दिया। उन्होंने आनन्द-वर्धन की ध्वनि की इस उद्भावना पर मुग्ध होकर उन्हें 'सहृदय-शिरोमणि' बहुरूपरुम्भारित किया। यही नहीं, 'भरत-नाट्यशास्त्र' की अपनी टीका 'अभिनव भारती' में भरत के रस के मूल की व्याख्या भी ध्वनि-विद्वान्त की मरणि पर ही करते हुए विभाषादि एवं स्थायी नाचों के व्यंग्यव्यञ्जकभाव सम्बन्ध से रस को व्यञ्जना-व्यापार का विषय व्यंग्य ही माना। ध्वनि की पचमुखी व्युत्पत्ति प्रदर्शित करते हुए उन्होंने उसकी पाँच प्रकार की व्याख्याएँ समुपस्थापित कीं। अभिनव के प्रशिष्य, साहित्यशास्त्र के घुरन्वर आचार्य मम्मट ने ध्वनि के सिद्धान्त को ही आधार-सिला बना कर 'काव्यप्रकाश' नाम के जित महनीय ग्रन्थरत्न की रचना की उसका स्थान ससृष्ट ही नहीं, विश्व के आलोचनाशास्त्र के इतिहास में अद्वितीय है। काव्यप्रकाश की शनाधिक टीकाएँ इन बात की प्रबल साक्षी हैं कि ध्वनि के सिद्धान्त एवं उन पर लिखा गया यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय एवं विद्वानों द्वारा समादृत है। वस्तुतः ध्वनि-विद्वान्त भारतीय साहित्यशास्त्र की एक अनुपम देन है।

इन पुरे ध्वनि-विद्वान्त को यदि एक शब्द में कहा जाय तो वह है 'व्यञ्जना-व्यापार'। अभिधा एवं लक्षणा नामक शब्द के दो व्यापार व्याकरण तथा मीमांसा प्रवृत्ति दर्शनशास्त्रों में मुद्रमिद्ध एवं प्रायेण भवंग्राह्य हैं। सकेत-ग्रह की सहायता से वाच्य की प्रतीति करानेवाला व्यापार अभिधा कहा जाता है। इने मुन्य-वृत्ति भी कहते हैं। अतएव वाच्यार्थ की 'मुत्पार्थ' सज्ञा भी है। वाक्य में शब्द के इन मुख्य अर्थ की प्रतीति में वाधा होने पर उनसे सम्बन्धित ही क्रिमो अन्य अर्थ की कल्पना प्रयोजन-विशेष-वश या परम्परा-प्राप्त प्रयोग (रुडि) के आधार पर करना ही लक्षणा है। अवान्तर व्यापार होने के कारण इमे अभिधा की अपेक्षा गौण माना गया है। अतएव इने गुणवृत्ति पद से भी कही-जही अभिहित किया गया है। व्यञ्जना-व्यापार लक्षणा से भी विच्छेदण है। इसमें अभिधा की तरह न तो सकेत-ग्रह की अपेक्षा होती है और न ही लक्षणा के समान मुख्यार्थवाच्य आदि तीन हेतुओं का होना आवश्यक होता है। फिर भी वाक्य में विनोय प्रकार के शब्दों के प्रयोग से प्रकरण पर्यालोचन द्वारा वाच्य या लक्ष्य में निम्न अर्थान्तर को जो प्रतीति होती है वह एकमात्र व्यञ्जना-व्यापार का विषय है। यह इतना व्यापक है कि वस्तु अलंकार और रमादि सभी इसमें अन्तर्निहित हैं।

जहाँ ध्वनि-विद्वान्त इतना महनीय है वहाँ उसके विरोधी भी अनेक आचार्य हुए हैं जिनमें राजशेखर, महृत्नाथक, कुन्डक, महिमभट्ट, मोक्ष एक श्लेषेन्द्र के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। ये सभी इस बात को तो स्वीकार करते हैं कि साधन या व्यापार वाच्य की आत्मा या उनका सर्वस्व नहीं हो सकता, अतः अलंकार या गुणात्मा रीति को वाच्य की आत्मा या प्राण नहीं माना जा सकता। काव्य की आत्मा व्यापार ही कोई तत्व हो सकता है जो अर्थ-कार्य है। दूसरे शब्दों में अलंकार या बलवृत्ति नहीं अपितु अलंकार ही वाच्य-आत्मा होने की क्षमता रखता है। पर वह ध्वनि नहीं हो सकता। क्योंकि ध्वनि भी तो प्रकारान्तर से व्यापार ही टहरता है। व्यञ्जना का निरसन कर दिया जाय तो उससे व्यतिरिक्त ध्वनि क्या है? और व्यञ्जना एक व्यापार मात्र है। अतः ध्वनि-विरोधी इन आचार्यों ने ध्वनि से निम्न रज, विच्छिन्ति, अनुमेय प्रवृत्ति तत्त्वों को अलग-अलग अपने-अपने विद्वान्तों के अनुसार अलंकार्य कहा और ध्वनि के अलंकार्य होने की बात का मण्डन किया। उनका ध्वनिविरोधी आचार्यों में से महृत्नाथक,

कुन्तक एव महिममट्टं तान एमे हुए हैं जि होने प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप से ध्वनि का लपटन किया है। योग ने ध्वनि के विषय में भी धारण कर उनमें अपनी अमलमति मात्र सूचित की है। इन्हीं तानों के विषय में यहाँ कुछ कहा जायगा।

भट्टनायक—रस निष्पत्ति के प्रसंग में भावनात्मक साधारणीकरण व्यापार के उदाहरक आचार्य भट्टनायक का नाम कौन नहीं जानता। यह भरत-नाट्यशास्त्र के अन्त्यतम टीकाकार हैं जिनको टीका यद्यपि उपलब्ध नहीं है तथापि रस-मूत्र की व्याख्या के प्रसंग में 'अमितव भारती', मम्मट के काव्यप्रकाश तथा हेमचन्द्र के काव्यानुशासन की उनकी अपनी ही टीका 'दिवेक' में उनके कुछ उद्धरण उपलब्ध होने हैं। साहित्यान्व पर इनकी स्वतंत्र कृति 'महदयदपण', 'हृदयदर्पण' या 'दरप' की मर्वाया अनुपलब्धि एक बहुत ही बड़े दुर्भाग्य की बात है। इनका वेद-रस-रसि के प्रत्येक अन्वेषका है। इस महतीय ग्रन्थ में भट्टनायक ने अवश्य ही व्यञ्जना-महित ध्वनि का मविप्रखंडन प्रस्तुत किया होगा। आचार्य महिममट्ट ने उनकी कृति का दरप के नाम में उल्लेख करते हुए कहा है कि साधनाधन में उसे देख नहीं मया।^१ इनमें जान गया है कि उन दिना भी 'हृदयदर्पण' की प्रतियाँ सरलता से उपलब्ध नहीं थी। महिममट्ट का न मिलने का यह भी कारण हा मकता है कि वह अपनी मौलिकता की रक्षा के लिये उस नहा देवना चाहते थे। अतः उनकी उपलब्धि के लिये उन्होंने प्रयाम ही नहीं किया होगा। पर इनने धाडे म दिना म वह कृति विश्रुत हा गई थी यह बात ता इन उल्लेख से प्रकट हानी ही है। भट्टनायक को व्यञ्जना विरायी प्रवृत्ति का समेत उन्के रसमूत्र की उद्धृत व्याख्या से तदा ध्वन्यात्मक की अमितवगुण कृत व्याख्या 'लावन' में उद्धृत ध्वनि-रक्षण कारिका न प्रयुक्त व्यक्त पद म द्विवचन के प्रयाग पर की गई आपत्ति में भी हम स्पष्ट मिलता है।^२ ध्वन्यात्मक लावन में आचार्य अमितवगुण ने भट्टनायक की विप्रतिपत्तिया का अनेकत्र उल्लेख किया है। रसमूत्र की व्याख्या म इन्होंने प्रतीति एव उत्पत्ति के साथ रस की अमितविक की मान्यता का भी खणन किया है।^३

भट्टनायक का जना मत समवन यही था कि काव्य की जात्मा एक मात्र रस है। वही अशुद्धाये है। उनकी प्रतीति जास्वादिनात्मक हानी है। उनका प्रयाजक व्यापार भावकत्व है जिने साधारणीकरण कहते हैं। वस्तु एव अलकार काव्य के गौण तत्व हैं। ममूत्रवन् ने अपनी अशुद्धा-मर्वाये का टीका म साहित्यान्व के विविध वादा का वर्गीकरण करते हुए भट्टनायक की न. व्यापार-वादी कहा है, वह रस के चर्वाणात्मक भोजकत्व व्यापार का रेंकर ही बनता है। काव्यात्मा की दृष्टि से वह व्यापारवादी नहीं अपितु सदादी है। रस की जिनात्मकता का निरसन अमितवगुण, विश्वनाथ एव पण्डितराज प्रमृतिमनी आच्छारिका ने किया है। चर्वाणा के नाथ ही रस की निष्पत्ति भी उचरित ही मानी गयी है, वास्तविक नहीं। भट्टनायक रस का

१ समुद्यनाट्टदर्पणा मन्धी ।

—ध्वनिदिवेक—का० ११४ ।

२ ध्वन्यात्मक—कारिका ११३ पर लोवन टीका ।

३ भट्टनायकस्त्राह—रसो न प्रतीयते । नोत्पद्यते । नाभिष्यद्यते । शक्तिरूपत्वेन पूर्वद्वियतस्य पदवादिभ्यवर्ना विषयाजंनतरतम्यापत्ति ।

सांख्य मानते हैं जिनका उपनोक्ता महद्वय-हृदय ही होता है। उस और विनावादि में सांख्य—
भोजक सम्बन्ध तथा सामाजिक को भोक्ता की मंजा देने से ही इन्हें सांख्य के सिद्धान्त का
अनुपायी भी समजा जाता है। यहाँ अप्रासंगिक होने से हम इनके विस्तार में न जाकर केवल
इतना ही कहना चाहते हैं कि महद्वयायक स्रष्टृत्वा ध्वनि के विरोधी आचार्य थे जिनके विरोध
का स्पष्ट विन्दु व्यञ्जना ही था।

राजानरु कृतम्—ध्वनि-सिद्धान्त के दूसरे विरोधी आचार्य 'कुन्तक' हुए हैं, जिनकी दृष्टि
'वक्रोक्तिर्जीवित' सांख्य से उदरुच्य है और वही स्थानों से प्रकाशित भी है। कुन्तक ने ध्वनि
के माहात् खण्डन के लिये अपने ग्रन्थ की रचना नहीं की किन्तु ध्वनि के विपरीत 'वक्रोक्ति'
नामक तत्त्व की काव्य का जीवित मानकर ध्वनि के स्थान पर वक्रोक्ति तत्त्व का प्रतिपादन एक
महनीय सिद्धान्त के रूप में किया है। ध्वनि-सिद्धान्त में व्यञ्जना वृत्ति और ध्वनि ही तत्त्वों का
निरूपण होने से गौरव होता था। उसका निराकरण कर दोनों के स्थान पर एत मात्र 'वक्रोक्ति'
को स्थापना महान् साधन है। जहाँ काव्य की आत्मा या जीवित तो वक्रोक्ति है ही, उसकी अनि-
व्यक्ति का माध्यम भी वक्र उक्ति अर्थात् उक्तिर्विषय ही है। इस प्रकार आचार्य कुन्तक की
दृष्टि काव्य-मर्म के विवेचन के अक्षर पर उस और गई जहाँ व्यापार एवं व्यापार्य का भेद
नहीं होता तथा वहाँ जटकार और अलंकार्य एक ही जाते हैं। उनका यह पक्ष महद्वय-हृदय को
व्यञ्जना व्यापार की मृदना में कम आबजित नहीं करता। शब्द के व्यापार की अपेक्षा वैदग्ध्य-
नगोमपिति हर उक्ति की विचित्रता का निरूपण काव्यशास्त्र की विवेचना का अधिक उर-
युक्त विषय था। उन्होंने ध्वनि की अपेक्षा वक्रोक्ति को काव्य का जीवित कहना इसलिये अधिक
उत्तुक्त समजा कि काव्य में विवेच्य विषय की अपेक्षा उसकी अनिव्यक्ति अर्थात् कहने के प्रकार
का ही विमोह महत्त्व है (कन्टेन्ट नहीं, फॉर्म ही प्रधान होता है)। बात की अपेक्षा उसने
कहने के ढंग को महत्ता अधिक होती है और वह प्रकार ही वक्रोक्ति है। काव्य के कान्ता-सम्मिश्र
उपदेश होने का भी यहाँ तात्पर्य है।

यद्यपि वक्रोक्ति एवं व्यञ्जना दोनों ही व्यापार स्वरूप हैं तथापि ध्वनि-सिद्धान्त के अनु-
सार व्यापार में आत्मा होने की क्षमता न होने से व्यापार्य ध्वनि ही काव्य की आत्मा ही
सकता है जब कि कुन्तक ने बिना किसी विमोह के वक्रोक्ति को ही काव्य के जीवित (प्राण)
की मंजा देकर व्यापार और व्यापार्य में तादात्म्य स्थापित कर दिया है। शब्द-वक्ति व्यञ्जना के
व्यापार-विशेष होने से व्यंग्य की अनिव्यक्ति में पूर्वाभार्य भाव तथा विषय के अज्ञेयता के
तारतम्य की मृदना नहीं जा सकता जो व्यञ्जना एवं व्यंग्य की तादात्म्यानुभूति में बाधक
निष्ठ होते हैं। पर व्यापार की आत्मता स्वीकार करना अपने में ही एक दीप है, अन्यथा बानन
की रीति की ही काव्यात्मा स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं थी। वक्रोक्ति के ऊपर महिनन्द
का आक्षेप है कि उसमें और व्यञ्जना व्यापार में कोई भेद नहीं। उनपर एक उक्ति के द्वारा अन्य
का बोध किया जाता है। व्यञ्जनावादी उस अन्य अर्थ को व्यंग्य या ध्वनि के नाम से कहता है,
कुन्तक उसे भी वक्रोक्ति ही कहते हैं। चूंकि दोनों में एक अर्थ से दूसरे अर्थ का आक्षेपानुभव
या बोध होता है अतः दोनों अर्थों के साध्य-साधन-भाव सम्बन्धी होने से व्यञ्जना एवं वक्रोक्ति
दोनों ही अनुमान में अन्तर्हित हो जाते हैं। क्योंकि अनुमान का विषय ही यही है कि एक
अर्थ से दूसरे अर्थ (अनिप्राय) को समजा जाय। इस प्रकार वक्रोक्ति के विवेचन से, जो

प्रायः ध्वनि की सृष्टि पर ही हुआ है, ध्वनि का खण्डन न होकर प्रकारान्तर में मण्डन ही हो जाता है। विशेष रूप से उक्त समय जब हम यह विचारने लगते हैं कि काव्य की आत्मा होने की सामर्थ्य व्यापार विशेष में सम्भव है या नहीं।

राजानक महिममट्ट—जिन सिद्धान्त में प्रबलतम विरोधी आचार्य हैं प्रसिद्ध कश्मीरी विद्वान् राजानक महिममट्ट, जिनकी रजानि एकमात्र इमी बात के लिये है कि इहाने ध्वनि तत्त्व के साधोपाग रूप से खण्डन को ही अपनी कृति 'ध्वनिविवेक' का विषय बनाया है। उनका कथना है ध्वनिकार को बनना जिस उद्भावना पर इतना गर्व है उत्तरी परीक्षा का होना अनिवार्य है। किन्तु निदान्त की समीक्षा के दो प्रकार होते हैं—सम्प्रतिपत्ति पूर्वक और विप्रतिपत्ति पूर्वक। सम्प्रतिपत्तिपूर्वक समीक्षा कृति या सिद्धान्त की सौजन्यमूलक परीक्षा को कहते हैं जिसमें उनके गुण का ही गान किया जाता है। उनकी वास्तविक समीक्षाता विप्रतिपत्तिपूर्वक परीक्षण में ही सम्भव है जिसमें ग्रन्थकर्ता के आगम का निवेदन खण्डनात्मक रीति में किया जाता है। महिममट्ट का कहना है कि ध्वनिकार के निदान्त का विवेचन इमी विप्रतिपत्ति की प्रणाली से करना मेरा उद्देश्य है।^१ पूर्ववर्ती रनिपय विद्वानों के द्वारा ध्वनि के पृष्ठ-पापण किये जाने पर वे कहते हैं कि किसी भी कृति या सिद्धान्त के गुण का ग्रन्थ करना ठीक है पर विद्वान् को उनके विषय में निरन्तर मावधान रहना चाहिये, अन्यथा गुणग्रहण के नाम पर दाया का भी प्रदर्शन हो सकता है। अथवा वास्तविक विद्वान् या समीक्षक वही है जो अर्थ के समान मूमी की तरह निस्तत्त्व वस्तु या विषय का कभी स्वीकार न करे।^२

काव्य के समीक्षका में महिममट्ट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने काव्यत्व के आधायक तत्त्वा की समीक्षा दर्शन एवं व्याकरण की पृष्ठभूमि पर की है। काव्य को भी वे शास्त्र ही मानते हैं। उनका कहना है कि शास्त्र के तीन प्रकार होते हैं—शब्दप्रधान, अर्थप्रधान तथा उनय प्रधान। शब्दप्रधान शास्त्र वेद हैं जिनके पाठ मात्र से पुण्य होता है। पाठ में किञ्चित् परिवर्तन से भी प्रत्यवाय होना है। दूसरा प्रकार अर्थप्रधान है जिनमें इतिहास, पुराणादि आते हैं। इनमें अर्थ की प्रधानता होती है। शब्द का प्रयोग अर्थ के लिये होने से वह गौण होता है। काव्य ही शास्त्र के तृतीय प्रकार हैं जहाँ शब्द और अर्थ दोनों का महत्त्व समान होता है। क्योंकि काव्य गन्तव्य ही होता है और रस का परिपाय शब्द एवं अर्थ दोनों के प्रयोग के औचित्य से ही सम्भव है।^३ अब तीनों प्रकार के शास्त्रों में मूलतः एकरूपता होनी चाहिये। इस तथ्य को आज भी

१ इह सम्प्रतिपत्तिनोऽप्या वा ध्वनिकारस्य दत्तोदिवेचन न ।
 —ध्वनिविवेक—शा० ११३ ।
 २ किन्तु तदवधोपर्यङ्गुणलेशे सततमवाहितैर्भण्डियम् ।
 परिवर्तनवदयवा ते न शिक्षितास्तुपग्रहणम् ॥ —व्यक्तिविवेक—वारिदा ११६ ।
 ३ त्रिविध हि शास्त्र शब्द प्रधाननर्थप्रधानसुभयप्रधान चेति । तत्र शब्दप्रधान वेदादि, अध्ययनादेवान्पुदयधवणात् क्त्वापि पाठविपर्यसि प्रत्यवायधवणाच्च । अर्थप्रधान-मिनिहासपुराणादि तस्यार्थैवादात्मात्ररूपत्वात् । उभयप्रधान सगन्धधादिषाध्य तस्य रसात्मकत्वात् रसस्य चोभयोचित्येन परिपोषदशानान् । काव्यस्यापि शास्त्रत्वमुत्पादितमेव ।
 —व्यक्तिविवेक, पृ० ४२२ ।

हम जानते और मानते हैं कि शास्त्र और साहित्य दोनों के सिद्धान्तों में कोई मौलिक भेद नहीं होता। ध्वनि नामक नये सिद्धान्त की उद्भावना से साहित्य एवं दर्शन तथा व्याकरण प्रवृत्ति शास्त्रों के बीच व्यञ्जना की दीवार के आ जाने से उनके परस्पर का सामञ्जस्य ही नहीं बन पा रहा था। इस प्रकार नम्रपूर्ण वाङ्मय की एकता के प्रवाह में इस प्रबल अवरोधक तत्त्व के उपस्थित होने से जो विगृह्यता या विचोपता आ रही थी महिमनट्ट ने उसे ही दूर करने का बीड़ा उठाया। इन्होंने शास्त्र से साहित्य के पार्श्व की निम्ति व्यञ्जना का सर्वथा निरन्त कर साहित्य को भी वैदादि शास्त्रों का ही स्तर प्रदान किया।

यह पहले कहा जा चुका है कि ध्वनि-सिद्धान्त व्यञ्जना-व्यापार और वाच्यत्वात्मा ध्वनि, इन दो तत्त्वों को लेकर साहित्य की समीक्षा के क्षेत्र में अवतरित हुआ। इनमें प्रथम व्यञ्जना के शब्द-व्यापार होने से वह जहाँ व्याकरण-शास्त्र के विवेचन का विषय है वही वाच्यत्वात्मा का प्रश्न साक्षात् नहीं तो परम्परया ही सही दर्शनों के क्षेत्र की बात है। इसीलिए इनकी परीक्षा के लिये महिमनट्ट ने व्याकरण एवं दर्शन का समाश्रयण करना उचित समझा। उन्होंने यह ठीक ही समझा कि ध्वनि-सिद्धान्त का प्राणभूत तत्त्व व्यञ्जना ही है। उसी पर ध्वनि का विनालप्रासाद अवस्थित है। व्यञ्जना का विवेचन ही ध्वनि के पुञ्जयुक्त होने का विवेचन है। वस्तु अर्थकार एवं रस आदि ध्वनि के अन्य भेद-प्रभेदों की व्यवस्था उनके व्यंग्य होने की अपेक्षा अन्य प्रकार से भी हो सकती है। अतः उनके प्रति महिम की विनिति नहीं है^१। क्योंकि व्यञ्जना व्यापार के निरन्त हो जाने पर ध्वनि के सिद्धान्त की शारी ध्वन्मथा ही भंग हो जायेगी और व्यञ्जकत्व के साम्य पर कल्पित ध्वनि के तत्त्व की निम्ति के लिये अन्य कोई वाश्रय नहीं रहेगा। इस प्रकार वाच्यत्वात्मा के प्रश्न का भी निषेध स्वतः हो जायेगा कि वह ध्वनि नहीं हो सकता। महिमनट्ट की वृत्ति 'व्यक्तिविवेक' इसी उद्देश्य की पूर्ति है। अतएव इसका नाम व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना के युक्तयुक्त होने का विवेक-विवेचन रखा है, जो एक अन्वय मंज्ञा है।

व्यञ्जना के निराकरण के लिये महिमनट्ट ने अनुमान का समाश्रयण किया जिसकी मान्यता सञ्चत वाङ्मय में बहुत पहले से थी। इन प्रसंग में इसका उपयोग महिमनट्ट के पूर्व भी किया जा चुका था। नाट्य मीमांसकों के मतानुसार वाक्यार्थ सदा अनुमेय ही होता है। अनिषा वृत्ति से तो मात्रगण्य के अर्थ की प्रतीति होती है अतः अनिषेध होने से वाक्यार्थ ही वाच्य होता है। पदार्थों के परस्पर के अन्वय के अनन्तर सम्पूर्ण वाक्य में जिस एक अर्थ की प्रतीति होती है वह अनुमेय ही होता है।^२ महिमनट्ट ने मीमांसकों के वाक्यार्थ विषयक इस सिद्धान्त का उपयोग वाच्य के क्षेत्र में भी किया तथा वस्तु अलङ्कार एवं रसादि रूप वाक्य के तीनों प्रकार के अर्थों के व्यंग्य होने की बात या खण्डन कर

१. प्राणभूता ध्वनेव्यक्तिरिति संव चिदेच्छिता ।

यस्तन्न्यत्तत्र विभक्तिः प्रायो नास्तोत्प्रेक्षितम् ॥ व्यक्तितद्विषय—दारिद्र्य ३।३३ ।

२. अर्थोर्गोर्गोर्गोर्गो वाच्योऽनुमेयश्च । तत्र शब्दव्यापारविषयो वाच्यः । स एव मुख्य इत्युच्यते । तत एव तदनुमिताया लिङ्गभूतान् मर्यादात्तरमनुमतिरे सोऽनुमेयः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ३९ ।

उन्हें ही अनुमेय कहा ।^१ उन्होंने वाक्यार्थ की प्रतीति का हेतु शब्द का न मानकर उसके अर्थ का ही माना । इनके पीछे यह तर्क उपस्थित किया कि अन्य अर्थ की प्रतीति उहाँ की होती है उनका हेतु या नाशय शब्द नहीं होता अतः अर्थ ही होता है । ज्ञान ज्ञय के समान के उदाहरण ही अन्य अर्थ का बाध होता है । ज्ञान अन्वयार्थ के प्रति वाक्यार्थ के बाध होने से उनमें हेतु-नाशय का सम्बन्ध होता है जो एक पदार्थ में दूसरे पदार्थ की प्रतीति बनाने के प्रकार लिङ्गलिङ्गभावमन्वन व्यवस्थित हो जाता है । अब वह अनुमान का ही विषय है । इन्हीं के लिये यदि व्यञ्जना शब्द का प्रयोग करते हैं तो अनुमान पद का ही प्रयोग क्या नहीं करते ? अनुमान के लिये ही ध्वनि या व्यञ्जना पद का प्रयोग कर उन्हें सर्वथा नूतन कहना कहाँ तक न्यायमग्न है ?

व्यञ्जना का अनुमान म अन्वयार्थमायित हो जाने पर वाक्यात्मा का प्रश्न तोप रह जाता है निश्चये नियम में महिमनष्ट विलकुल स्पष्ट एवं दृष्ट हैं । उनका कहना है कि वाक्य की आत्मा तो रस के अनिरिक्त अन्य कोई तत्त्व ही नहीं सकती । व्याप्ति उन्हीं के बाध पर तो उनके वाक्य की मज्ञा प्राप्त हुई है ।

'वाचनस्यात्मनि मज्जिनि र्मादिरने न कस्यचिदिमिति ।' रस वाक्य का कोई तथा तत्त्व नहीं है । भक्त-नाट्यप्रधान के पूर्ववर्ती प्रस्था में भी उनका निर्देश उपलब्ध होता है । जब व्यञ्जना वृत्ति की मज्ञा ही सम्भव नहीं तो उनके व्यग्य होने की बात स्वतः समाप्त हो जाती है । इन प्रकार वस्तु एवं अलंकार के समान रस भी अनुमेय ही है । रस की अनुमेयता का प्रतिपादन भी शकुन्तला पर चर चुके थे । अब यह भी कोई नया वाक्य नहीं है । वस्तु और अलंकार ने रस का अन्वय यह है कि वे (वस्तु एवं अलंकार) वाक्य भी होते हैं पर रस मात्र अनुमेय होता है । रस का वाक्यार्थ की अनुमेयता के सम्बन्धम स्वयं ध्वनिकार ने भी जो दाप लिया है, अनन्तर अमितगुण ने अत्रिका विस्तारपूर्वक लिखी 'ध्वन्यात्मनः' की टीका में किया था महिम ने उन मय का यथेष्ट मनाशान अपनी कृति 'ध्वनिविशेष' में किया है । प्रकृतन्याय म उपजाती होते हुए भी विस्तार-मय से हम उसे यहाँ नहीं दे सकते हैं । अन्वय म यथान्याय उनका विवेकन पर्याप्त विस्तार से किया गया है ।

उपर्युक्त विवेकन में यह स्पष्ट है कि महिम की विप्रतिपत्ति 'व्यञ्जना' नामक शब्द शक्ति पर ही देखित है । व्यञ्जना के निराकरण होने के साथ ही ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार न्यायवित्त 'प्रतीकमान' की वाक्यात्मता का भी स्वतः निराकरण हो जाता है, क्योंकि एक-मान रस ही उन पर पर प्रतिष्ठित होने योग्य है । 'ध्वनिविशेष' नामक अपने अदम्य प्रथम का उन्मत्तार करते हुए उन्होंने यह बात स्पष्टतया कह दी है कि ध्वनि का प्रागन्तु तत्त्वं ध्वनि अर्थात् व्यञ्जना वृत्ति ही है । यद्यपि व्यञ्जना और ध्वनि म व्यापार-व्याप्य नाम सम्बन्ध के होने से वे परस्पर निर अन्वय हैं, पर व्यापार का गत विरल्लेया शब्द या तथ्य बुद्धित होने हैं उनमें ध्वनि का अन्वित्व ही समाप्त हो जाता है ।

यह बात कही जा चुकी है कि राजानक महिमनष्ट वाक्य-मनीषणो म प्रथम वाक्यार्थ हैं जिन्होंने वाक्य के आनादक दोष, गुण, अलंकार एवं रस प्रभृति तत्त्वा की मानाता

दर्शन एवं व्याकरण की पृष्ठभूमि पर की है और इस प्रकार उन्होंने साहित्य की इन शास्त्रीय धारा को भी, जो सम्भवतः आरम्भ से ही विचार की अपेक्षा भाव के घरातल पर ही अधिक प्रवाहित हो रही थी, व्याकरण एवं दर्शन आदि शास्त्रों के विचारों की प्रधान धारा में मिला दिया। फलस्वरूप उन के अनन्तर साहित्यशास्त्र पर 'वाच्यप्रकाश', 'उज्ज्वल-नीलमणि', 'साहित्यदर्पण' तथा 'रमगङ्गाधर' प्रभृति जो भी ग्रन्थ लिखे गये उन सब में न्यूनाधिक रूप से दार्शनिकता का पुट अवश्य उपलब्ध होता है। अतएव उन्हें पूर्वपक्षिया अधिक महत्त्व भी मिला है। जहाँ तक महिमभट्ट का सम्बन्ध है एक प्रबृष्ट वैयाकरण होते हुए भी उनके लिये यह सम्भव नहीं था कि उन समय में भी लोकप्रिय सिद्धान्त-ध्वनि का नीर-क्षीरविवेक दर्शन के अतिरिक्त किसी अन्य आधार पर करते। इनकी कृति के प्रति विचारकों का चाहे जो मन्तव्य हो पर उनके इस प्रकार के विवेचन से साहित्यशास्त्र का बड़ा उपकार हुआ है, इसके विषय में दो मत नहीं हो सकते। सबसे बड़ा लाभ तो यह हुआ कि सस्यूत साहित्यशास्त्र के अब तक के उद्भावित तत्त्वों एवं विवेच्य-विषयों का यथार्थ स्वरूप साणोल्लोढ मणि के समान निखर आया। ध्वनि एवं वक्रोक्ति आदि में जो रहस्यात्मकता थी वह स्पष्ट हो गई। साथ ही शताब्दियों से प्रचलित काव्यहेतु, वाच्यप्रयोजन एवं वाच्यत्मा तथा वक्रोक्ति एवं स्वभावोक्ति के अलंकारत्व विषयक अनेक भ्रान्त धारणाओं का निराकरण भी हो गया। परम्परावादी आचार्यों एवं ध्वनि के अनुयायियों को उनका खण्डन-मण्डनात्मक यह विवेचन यद्यपि अतिकटु लगा जिससे उनका झुंझलाना भी स्वाभाविक था, परन्तु इसमें निहित सत्य का वह सर्वथा अपलाप भी नहीं कर सके। परिणामतः उन्होंने अपनी कृतियों में जहाँ वही सम्भव हुआ महिम की मान्यताओं को पचा लेने का प्रयास किया है जिते परवृत्ता साहित्य के साधारण विचार्यों के बश की बात नहीं है। मेरी तो यह धारणा पुष्ट होती जा रही है कि यदि महिमभट्ट मम्मट के पूर्व नहीं हुए होते तो 'काव्यप्रकाश' इतनी महनीय कृति न हो पाती जितनी वह अब है। मम्मट पर महिमभट्ट का प्रभाव स्वतंत्र रूप से एक प्रवन्ध के विवेचन का विषय है जो अधुण है। महिमभट्ट की उपलब्धि का मूल्यांकन सर्वथा नहीं हुआ है ऐसी भी बात नहीं है। 'काव्यप्रकाश' के एक टीकाकार भट्ट गोपाल ने अपने एक पद्य में आनन्दवर्धन एवं महिमभट्ट की साहित्यिक तुलना करते हुए कहा है कि—ध्वनिवार काव्य सम्प्रदाय के गुरु मम्मट अमिनवगुप्त प्रभृति के भी गुरु हैं, क्योंकि इन दोनों ने आनन्दवर्धन द्वारा प्रतिष्ठित ध्वनि-सिद्धान्त का अनुसरण करने ही अपने ग्रन्थों की रचना की है। वे ध्वनिकार रम-रूपी अमृत की नदी में जब गोता लगाने लगे तो महुदयों की गोष्ठी अनुमान के आधार पर काव्यतत्त्वों की व्यवस्था करनेवाले आचार्यों महिमभट्ट की महिमा गाने लगे। कहने का अमिप्राय यह है कि मम्मट प्रभृति आलंकारिकों ने प्रतीयमान रूपध्वनि की काव्यात्मता के शतशः निर्देश के होते हुए भी जब मात्र रम को वाच्य की आत्मा के रूप में स्वीकार कर लिया तो व्यञ्जना का अनुमान में अन्तर्भाव स्वीकार करने का महिमभट्ट का आग्रह क्यों ठीक नहीं है? एकमात्र यही प्रश्न विद्वानों की विचार-गोष्ठियों का विषय बना हुआ है। इसमें जो प्रेरक हेतु है वह भी उमी पद्य में महागुरु शब्द के रूप में निहित है, जिसका आशय यह है कि आनन्दवर्धन का ध्वनि-सिद्धान्त व्यञ्जना व्यापार एवं उसका व्यापार्य ध्वनि नामक नव्या नवीन दो तत्त्वों की मान्यता के कारण गौरव-

दाय स पुण है जवान काव्यामाय का अनुभवना मात्र व्यापार साधन है। उमका सिद्धि के लिय तत्त्वान्तर का कथना का कार भावना नहा अत इमम लाघव है। अस्त चिन्तन का प्रक्रिया म लाघव क ता सतिमा है।

रसामतनदीमान ध्वनिकार सतागुरी ।

अनुमाया हि महिमा काव्यगार्थो नमुञ्चति ॥

द्वितीय-विमर्श

आचार्य महिमभट्ट

(क) व्यक्तिगत परिचय

नामह, दण्डी एव धानन्दवर्षन प्रभृति आलंकारिकों के द्वारा अपनायी गई, अपना व्यक्तिगत परिचय न देने की परम्परा के विपरीत महिमभट्ट ने अपना परिचय स्वयं दिया है। अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' के अन्तिम तृतीय-विमर्श में ग्रन्थ का उपसंहार करने हुए महिमभट्ट ने अपने परिवार के विषय में प्रकाश डाला है। वे एक कश्मीरी ब्राह्मण थे। यह बात तो उनकी 'राजानक' उपाधि से भी ज्ञात होती है। उन दिनों कश्मीरी ब्राह्मणों में 'राजानक' उपाधि का प्रचलन था जिसका आरम्भ मम्मवतः राज्याश्रय-प्राप्त विद्वानों से हुआ। अनन्तर उनका प्रत्येक वंशज इन उपाधि का प्रयोग अपने नाम के साथ करने लगा। बल्हण की 'राजतरङ्गिणी' से भी इसी बात का समर्थन होता है। यह उपाधि महिमभट्ट, मम्मट तथा रुच्यक प्रभृति आलंकारिकों एवं 'रत्नाकर' आदि कवियों के नामों के साथ प्रयुक्त हुई है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के तीनों विमर्शों की पुष्पिकाओं में तो यह प्रयुक्त मिलती ही है, ग्रन्थ के एक श्लोक में भी 'राजानक महिमवेन' की उक्ति में इसका प्रयोग हुआ है।

महिमभट्ट के अपने उल्लेख के अनुसार वह श्री धर्म के पुत्र तथा महाकवि श्यामल के शिष्य थे।

श्रीधर्मस्याङ्गभुवा महाकवेः श्यामलस्य शिष्येण ।

व्यक्तिविवेको विदधे राजानकमहिमवेनायम् ॥^१

यहां जयने पिता श्री धर्म के विषय में उन्होंने विशेष कुछ नहीं कहा है, जिससे प्रतीत होता है कि वह कोई विशिष्ट विद्वान् या कवि नहीं थे। पर अपने गुरु 'श्यामल' के लिये उनके द्वारा 'महाकवि' विशेषण का प्रयोग इन बात का संकेत है कि वे (श्यामल) अपने युग के एक विशिष्ट व्यक्ति थे जो 'महाकवि' के रूप में प्रसिद्धि पा चुके थे। परन्तु 'श्यामल'-कृत किमी महावाक्य या अन्य प्रकारके प्रबन्ध की उपलब्धि का मोनाग्य अब तक नहीं हो सका है। क्षेमेन्द्र ने अपनी 'मुवृत्तनिलक' एवं 'औचित्य-विचार-चर्चा' नामक कृतियों में कवि-पुगव 'श्यामल' के कुछ पद्य अवश्य उद्धृत किये हैं।^२ 'मुनापितावली' में भी 'श्यामल' के

१. महिमभट्ट, व्यक्तिविवेक—श्री० ३।३६ ।

२. चम्पदनसवनः सोऽस्यादर्शनं घृतमूलमात्मनो घटनात् ।

जिह्वामूल-प्राप्तं सार्धैरि वृत्वा निरप्योवन् ॥

—औचित्य-विचार-चर्चा—श्री० १६ पर उदाहरण ।

नाम से एक पद्य संगृहीत है। पर क्षेमेन्द्र एव 'सुभाषिनावली' के श्यामल या श्यामलक ही महिमभट्ट के गुरु महाकवि श्यामल है इस बात की पुष्टि अब तक नहीं हुई है। रामचन्द्र कवि ने 'पादनाडितक' नामक एक भाण का प्रकाशन उदीच्य महाकवि 'श्यामिलक' के नाम से किया है^१, जिने डॉ० मोनीचन्द्र ने 'चतुर्भाषी' की भूमिका में गुणकालीन ठहराया है।^२ डॉ० मोनीचन्द्र का निर्णय 'पादनाडितक' में वर्णित समाज एव उसके कथानक के विवेचन पर आधारित है जो न तो इतना पुष्ट है, न स्पष्ट कि उसे बिना तनुनच के स्वीकार किया जा सके। मेरी धारणा यह है कि महिमभट्ट एव क्षेमेन्द्र के श्यामल, 'सुभाषिनावली' के 'श्यामलक' तथा 'पादनाडितक' के रचयिता 'श्यामिलक' एक ही हैं। नाम के अक्षरों में यह अन्तर खट्टभट्ट खट्ट, महिमभट्ट-महिमक-महिमा तथा मधु-मखक आदि के समान स्वाभाविक ही है व्यक्ति भेद के कारण नहीं।

(ख) नाम एव प्रसिद्धि

महिमभट्ट ने अपने नाम का उल्लेख स्वयं कई प्रकार से किया है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के आरम्भिक मञ्जुलश्लोक में ग्रन्थकर्ता के रूप में 'महिमा' पद का प्रयोग हुआ है—

व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परा वाचम् ॥^३

पद्यवाच को प्रणाम करके महिमा व्यक्तिविवेक की रचना कर रहा है। इसी प्रकार ग्रन्थ की परिष्कारिता करते हुए 'व्यक्तिविवेक' के तृतीय विमर्श के अन्त में प्रस्तुत ग्रन्थ के रचयिता के रूप में 'महिमक' नाम राजानक उपाधि के साथ प्रयुक्त हुआ है—

व्यक्तिविवेको विदधे राजानक-महिमकेनापम् ॥^४

'व्यक्तिविवेक' नामक यह ग्रन्थ राजानक महिमक के द्वारा रचा गया है। इनके अतिरिक्त 'व्यक्तिविवेक' के आरम्भ एव तीनों विमर्शों की पुष्पिकाओं में श्री राजानक महिमभट्ट यह पूरा नाम अंकित मिलता है।^५ महिमन् का भट्ट के साथ 'महिमा चासौ भट्ट' कर्मधारय समास करने प्रातिपदिकान्त न लोप होकर महिमभट्ट और फिर राजानक उपाधि के साथ उसी प्रकार राजानकश्चासौ महिमभट्ट 'राजानक-महिमभट्ट' प्रयोग व्युत्पन्न होता है। इन प्रकार 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के अन्त-साक्ष्य के अनुसार ग्रन्थकर्ता का उपाधि-सहित पूरा नाम 'राजानक महिमभट्ट' है। इसी को छन्द में वैजाने के लिए कही 'महिमक' (स्वार्थ

१ इति कवेः उदीच्यस्य विश्वेश्वरदत्तपुत्रकस्यायं श्यामिलकस्य कृतिः पादनाडितकं नाम भाणः समाप्तः । —शृगार-हाट, पृ० ५, हिन्दी ग्रन्थ-रत्नाकर कार्यालय, बम्बई ।

२. डॉ० मोनीचन्द्र एव डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल : शृगार हाट, भूमिका, पृ० ५ ।

३. व्यक्तिविवेक, १।१ ।

४. वही—३।३६ ।

५. (क) श्री राजानकमहिमभट्टकृतो व्यक्तिविवेकः । —व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श ।

(ख) इति श्रीराजानकमहिमभट्टविरचिते व्यक्तिविवेकाख्ये काव्यालंकारे प्रथमो विमर्शः ॥ —द्वितीयो विमर्शः । —तृतीयो विमर्शः ।

—व्यक्तिविवेक, प्रथम, द्वितीय, तृतीय विमर्श की पुष्पिकाएँ ।

में 'क' प्रत्यय के साथ) तो वही केवल 'महिमा' पद का प्रयोग हुआ है। 'व्यक्तिविवेक' के एकमात्र प्राचीन टीकाकार रघुक ने मूलग्रन्थ की प्रथम मङ्गल-कारिका के व्याख्यान में 'महिमा' पद पर टीका करते हुए कहा है कि 'महिमा' यह ग्रन्थकर्ता का नाम है जिसका प्रयोग कौत्तिक के लिये किया गया है।^१

साहित्यशास्त्र के उत्तरवर्ती ग्रन्थों में महिमनट्ट 'व्यक्तिविवेकवार' के रूप में ही अधिक विख्यात हैं। अलंकार सर्वस्वकार रघुक^२, उनके टीकाकार जयरथ^३ तथा माणिवचन्द्र^४ प्रमृति 'वाच्यप्रकाश' के अनेक टीकाकारों एवं साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज^५ प्रमृति बालकारिकों ने अपनी कृतियों में 'व्यक्तिविवेकवार' के नाम से ही इनका उल्लेख किया है। यही नहीं, 'किरातार्जुनीय' के तृतीय सर्ग के इककीसवें पद्य की व्याख्या करते हुए मल्लिनाथ ने भी इनका उल्लेख 'व्यक्तिविवेकवार' के नाम से ही किया है।^६ इनके एकमात्र अज्ञात रघुकृत 'अलंकार-सर्वस्व' के अन्यतम टीकाकार ममुद्रबन्धु^७ तथा एकावलीकार विद्याधर^८ जिन्होंने अपनी कृतियों में महिमनट्ट का नामतः उल्लेख किया है। इस प्रकार लक्ष्य एवं लक्षण उभयविध ग्रन्थों के उल्लेख तथा वाङ्मयान्तर उभयविध प्रमाणों की मात्सी से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के कर्ता आचार्य का नाम राजानक महिमनट्ट था। वह एक चरमरी ब्राह्मण-कुल में उत्पन्न हुए थे। उनकी शिक्षा-दीक्षा 'श्यामल' जैसे महान् कवि एवं विद्वान् के चरणों में हुई थी तथा वह अपने नाम की अपेक्षा अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' के कर्ता के रूप में ही अधिक विख्यात हैं।

(ग) सफल आचार्य

राजसेखर ने कारयित्री और नावयित्री प्रतिमा के जिन दो प्रकारों का निरूपण किया

१. मोहमेति नामरदं कोर्यथम् । —रघुकृत व्यक्तिविवेक-व्याख्यान—१११ ।
२. यत्तु व्यक्तिविवेककारो वाच्यस्य प्रतीयमानं प्रति...नेहप्रतप्यते ।
रघुकः अलंकारसर्वस्व, उपोढात्प्रकरण, पृ० ११ (त्रिवेन्द्रम्) ।
३. ध्वनिकारान्तर्भावी व्यक्तिविवेकवार इति ।
जयरथः अलंकार —सर्वस्व-टीका विमर्शिनी, पृ० ११ (त्रिवेन्द्रम्) ।
४. व्यक्तिवादिनेति व्यक्तिविवेकवारणे ।
—माणिवचन्द्रः वाच्यप्रकाश पर संकेत-टीका, पृ० ११९ ।
५. व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्—वाच्यस्यात्मानि...न कस्यचिद्विद्विमतः ।
—साहित्यदर्पण—का० ११२ पर वृत्ति ।
६. प्रवानोरसर्जननावस्वप्रयोजकः इतिव्यक्तिविवेकवारः ।
—मल्लिनाथः (घंटापय टीका) किरातार्जुनीय ३।२१ ।
७. महिमनिबोवति व्यञ्जनाध्यापारस्य कथमपहनतत्वमित्यादृशः परिहरति ।
—समुद्रबन्धुः अलंकार-सर्वस्व-टीका, पृ० ११ ।
८. यत्तुनरनुमानवो नातिरिष्यते ध्वनिरित्याचष्ट महिमनट्टः तदपि पलात्पमानम् ।
—विद्याधरः एकावली, पृ० ३२ ।

है। उनमें काव्यिकों, प्रतिभा बहिष्कृत होती है और भावयित्री आलोक्यकत। उनका जन्मा मन है कि आलाचक चार प्रकार के होते हैं—अरोचकी, सन्तुषाम्पवहारी, मत्सरी तथा तत्त्वानिनिवेशी^२। ये ननों पयानाम तथागुण होते हैं। अरोचकी का जहाँ कोई भी रचना नहीं रचती, वहाँ सन्तुषाम्पवहारी पतल के तिनको तक जो नाज्य पदार्थ के साथ निगल जानेवाले की तरह किसी भी प्रकार की रचना की प्रशंसा का पुत्र बाध देता है। मत्सरी के करने कुछ पूर्वाग्रह होते हैं। उनके विपरीत कोई भी उत्तम-रचना उनके लिये हय ही होती है। या वह स्वभाव से ही गुणवती रचना के प्रति भी मालययुक्त है। जाता है। तत्त्वानिनिवेशी आलाचक मन्त्रा में नाज्य एक हो पाता है। राजेश्वर उनके गुणा का निरूपण करते हुए कहते हैं कि वह (तत्त्वानिनिवेशी आरोचक) शूद्रा की गुम्फनविधि का विवेचन करता है तथा कवि को अच्छी उक्तिया में आह्वयित हो उठता है। काव्यरत्न रत्नी अनूठ का वास्वाद वह जमकर करता है तथा तात्पर्य की मुद्रा का भी चयन करना जानता है। अन्तर्मुखी कविता के भाषा का सात्कर उनके मत्त्व का प्रतिपादन करनेवाला ऐसा नावक कभी-कभी ही पैदा होता है जो महाकविता के काव्यधर्म को ठीक-ठीक और नकता है।^३

महिममद्द विरचित रूप में तत्त्वानिनिवेशी मालोचका की शक्ति में ही जाते हैं। 'धरकितिवेक' के शेष नावक द्वितीय-विमर्ग में उनकी तत्त्वानिनिवेशिनी भावयित्री प्रतिभा का पूर्ण परिचय हमें प्राप्त होता है। कालिदास, नारवि प्रनूति विर्म, भी मदान् कवि के पद्या का विवेचन कर उनके दाप तथा गुण प्रदशन जिन् नाट्यिक स्तर पर वे करते हैं वह अन्य दुर्लभ है। उदाहरणस्वरूप कालिदास के 'कुमारसम्भव' के निम्न-लिखित पद्य—

द्वय गत सम्प्रति शोचनीयता समागत-प्रार्थनया वपालिना ॥

—कुमारसम्भव, ५१७१

में (ब्रह्मचारी वेश्यावारी शिव) पावनी की शिव-प्राप्ति की इच्छा की मर्त्या करने हुए कटते हैं कि अब तक तो चन्द्र की कला ही लाना के लिये चिन्ता का विषय बनो हुई थी, अब तुम्हारी शिव प्राप्ति-विषयक प्रार्थना में तुम दोनों ही लोगों के लिये चिन्ता का विषय हो गई हो।

इन पद्य में शोचनीयता के हेतु समागत की प्रार्थना के विशेषण के रूप में शिव के वपाली

१ द्विधा च सा शारदित्री भावयित्री च ।

—राजतेश्वर : काव्यामीमांसा, पृ० १२, गायकवाड ओरियण्टल सोरेंस, बडौदा ।

२ ते च द्विधा । अरोचकिनः । सन्तुषाम्पवहारिणश्च इतिमङ्गल । 'चतुर्द्धा' इति । यायाशरीयः 'मत्सरिणस्तत्त्वानिनिवेशिनश्च ।' —वही, पृ० १४ ।

३ तत्त्वानिनिवेशी तु मध्येतत्सं यद्येक । तदुक्तम्—
शब्दाना विविक्तानि गुम्फनविधौनामोरते सूक्तिभिः
सान्द्रं लेडि रसाम्त विचिनुते तात्पर्यमुद्रा च यः ।
पुष्पं सञ्जुहते विवेकं-विरहावन्तर्मुखं ताम्यता
व्यामैव वदाविवेक सुधिया काव्यधर्मतो जन ॥

—वही, पृ० १४-१५ ॥

होने का उल्लेख किया गया है, जिसका अनिप्राय यह है कि जो व्यक्ति हाथ में मनुष्य की खोतड़ी लिये रहता है, वहसनी प्रकार के अमङ्गलों का घर है तथा वह सदा निन्दित वाचार् में ही निरत रहता है। उसका दर्शन तथा उसने बातें करना भी निषिद्ध है। अतः उसकी प्राप्ति की प्रार्थना तो निश्चय ही घोर चिन्ता का विषय है।^१

इसी प्रकार भवनूति के प्रसिद्ध श्लोक—'ये नाम वैचिद्वि नः' इत्यादितया वागमनट्ट की 'वादम्बरी' के पद्य 'स्तनपुगनयुस्तामन्' के विवेचन में कवि के अनिप्राय की गहराई का परिचय आलोचक महिमनट्ट की व्याख्या ने ही मिल पाता है।

आचार्य आनन्दवर्धन की नांति महिमनट्ट ने कवि एवं नाटक दोनों हैं। कालिदास प्रनूति महाकवियों की रचनाओं में दोष दिखाकर उनमें दोष-रहित पाठ का मुस्ताव दे देना उनके लिए खिलबाट-सा है। समूचे द्वितीय-विमर्श में इसके अत्यन्त उदाहरण उपलब्ध हैं। आनन्दवर्धन तो कवि के रूप में प्रतिदिग्धी भी पाये हैं और अवन्तिदर्मा की राक्षसना में सम्मान भी।^२ पर महिमनट्ट के अपने किसी सम्मानाधिक राजा के आश्रय में रहने का कोई प्रमाण नहीं है। कवि और नाटक में एक अन्य अन्तर यह होता है कि कवि स्वच्छन्द विवरण करता हुआ राज्याश्रय का उपभोग करता है जबकि उत्तम कोटि का आलोचक प्रायः अध्यापक होता है। अध्यापन एक ऐसी वृत्ति है जिनमें राज्याश्रय की प्राप्ति की अपेक्षा उन्हें प्रति अपेक्षा का भाव ही अधिक बलवान् होता है। इनमें सन्देह का कोई अवसर नहीं कि महिमनट्ट एक सरुद्ध अध्यापक थे। 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय-विमर्श में दोषविवेचन का आरम्भ करने हुए वे कहते हैं कि छात्रों की अन्वयता पर ही मैंने दोष का विवेचन करना स्वीकार किया है; अन्यथा दोष के प्रति दृष्टि रखना और उसे बहना यह सज्जनों का काम नहीं है।^३ छात्रों की विशेष अन्वयता सरुद्ध अध्यापक में ही होती है तथा अपनी इच्छा के विरुद्ध उसे स्वीकार कर उसका सम्बन्ध विवेचन करने का साहम भी कुछ विशिष्ट अध्यापकों को ही हो पाता है। आचार्य महिमनट्ट उन्हीं विशिष्ट कोटि के अध्यापकों में से एक थे।

वस्तुतः महिमनट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ की रचना ही छात्रों के लिये की थी। ग्रन्थ के अन्त में इस रहस्य का उद्घाटन करते हुए वे कहते हैं कि मैंने इस ग्रन्थ की रचना अपने पिप्पल-नात्रियों के ज्ञानवर्धन के लिए की है।

१. अत्र कर्नालिन इति पतसमानमप्रार्थनायाः शोवनीपतागवी हेतुत्वेनोत्तातयाः सम्बन्धि-
द्वारेण विशेषं तन् तस्मात्तत्र यत् सामर्थ्यं तन्तुतरामुपवृह्यति तस्य सखलामङ्गल-
निलयतया निन्दितवाचरिततया च दर्शनसम्भाषणार्थनामपि प्रतिषिद्धवान् ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० २०३-२०४ ।

२. मृगशरुणः शिशुस्वामी कविरानन्दवर्धनः ॥
प्रयां रत्नाकरदवागान् साम्नाग्देवन्तिदर्मणः ॥ —वृहस्पः राजतरङ्गिणी—५।३५।
३. छात्रान्वयंतया ततोऽप्य सहसंबोत्सुग्य मार्गं सतां ।
पीरोभाष्यमभाष्यनाजनकनासेष्यं मयाङ्गीकृतम् ॥ —व्यक्तिविवेक—४।० २।१ ।

आघातुं व्युत्पत्तिं नप्तृणां योगक्षेमम्राजानाम् ।

सत्सु प्रभितनयानां भीमस्यामितगुणस्य तनयानाम् ॥^१

राजानक महिममदट ने अपने उन नातियों की जानबूझि के लिये व्यक्तिविवेक की रचना की थी जो अपरिमित गुणसाली भीम के पुत्र थे तथा समाज में उत्तम स्थान को प्राप्त कर अपने सद्ब्यवहार से सज्जनों की प्रशंसा के पात्र हो गये थे। इसी प्रसंग में उन्होंने अपने परिवार का भी संक्षेप में परिचय दे दिया है। इन पद्य की व्याख्या से विद्वानों ने अनेक निष्कर्ष निकाले हैं। डॉ० पी० वी० काणे का कथन है कि 'नप्तृणाम्' के प्रयोग से यह द्योतित होता है कि भीम इन के जामाता थे और इस प्रकार भीम के पुत्र इनके दौहित्र हुए। अन्यथा यदि भीम इनके पुत्र होते तो नप्तृणाम् के स्थान पर 'पौत्राणाम्' पाठ रखने में कोई दोष नहीं था। साथ ही अग्निप्राय की स्पष्ट तौर पर अग्निव्यक्ति हो जाती। क्योंकि पौत्र पुत्र के पुत्र की ही सजा है। नप्तृ पद का प्रयोग पुत्र के पुत्र पौत्र एव पुत्री के पुत्र दौहित्र दोनों के लिये होता है।^२ अमरकोश भी यही बात बताना है।^३ हलायुध से भी इसी का समर्थन होता है।^४ इसके अतिरिक्त एक बात और है जो भीम के पुत्र की अनेका जामाता ही मिद्ध करनी है। वह है भीम के लिये अमितगुण विशेषण का प्रयोग। पिता के द्वारा अपनी कृति में अपने ही पुत्र की प्रशंसा में अमितगुण पद का प्रयोग अस्वाभाविक सा प्रतीत होता है। इसका अर्थ यह नहीं कि पिता को अपने गुणी पुत्र की प्रशंसा नहीं करनी चाहिये। किन्तु अपने पुत्र की अनेका जामाता के गुणा का वर्णन बड़ाबड़ा कर नी करने की प्रथा लोक में जो पायी जाती है उसी का यह भी एक निदर्शन है। सज्जन पिता लोगों के समक्ष अपने पुत्र की बड़ाई करने सक्तुचाता है माना वह अपनी ही बड़ाई कर रहा हो। इस प्रकार भीम उनके पुत्र नहीं अपितु जामाता ही थे और भीम के पुत्र जो सिष्य के रूप में महिममदट से विद्याध्ययन भी करने थे उनके अपने ही दौहित्र थे। यद्वा 'नप्तृणाम्' वा भी विशेषण पद योगक्षेमम्राजानाम् प्रयुक्त हुआ है। डॉ० काणे ने इन उन नातियों के नाम योग, क्षेम एव भाज परक होने की समावना की है^५ जो ठीक नहीं है। योग एव क्षेम शब्द भारतीय वाङ्मय में अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। अप्राप्त की प्राप्ति की योग एव प्राप्त के परिरक्षण को क्षेम कहते हैं। यहाँ इसका अग्निप्राय यह है कि भीम के पुत्र अवोधवालक या अकर्मण्य नहीं थे, अपितु योग्य एव उत्तम कोटि के विद्वान् थे। उन्हें समाज में उत्तमस्थान भी प्राप्त था। फिर भी वे नित नूतन ज्ञान के अर्जन एव अर्जित के परिरक्षण में तत्पर रहते थे। अतएव वह योग क्षेम के भागी थे। 'योगश्च क्षेमश्च भजन्ति इति योग-क्षेमम्राजा तेषाम् योगक्षेमम्राजानाम्।' यहाँ योगक्षेमपूर्वक भज् सेवायाम्, धातु से 'वर्मण्यन्' से कर्म में अण्

१ व्यक्तिविवेक—का० ३।३५ ।

२ पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयेटिक्स, पृ० २५४ (तृतीय संस्करण) ।

३ नप्तरी पौत्री सुतात्मजा ।

—अमरकोश, २।६।२९ ।

४ इहिरा तनया पुत्री जामाता दुहितुः पतिः। दौहित्रस्तत्सुतो नप्ता सच पौत्रश्च कथ्यते ॥

—हलायुधकोश, द्वितीय काण्ड—५०५ ।

५ पी० वी० काणे : हिस्ट्री ऑफ संस्कृत पोयेटिक्स, पृ० २५४ (तृ० सं०) ।

प्रत्यय एवं उपाध अक्षर की वृद्धि होकर 'योगक्षेमनाज' इस हृदन्त प्रातिपदिक के पष्ठो बहुवचन में 'योगक्षेमनाजानाम्' ही रूप बनेगा। सम्भवतः डॉ० काणे ने सोचा हो कि यहाँ हृदन्त विवप् प्रत्यय होकर 'योगक्षेमनाजाम्' की तरह 'योगक्षेमनाजान्' ही होगा। अतः योग, क्षेम एवं नाज को संज्ञा पद मानकर इनमें हृदन्त चनास होकर पष्ठो विभक्ति बहुवचन का प्रयोग होने से ही यह रूप बन सकता है। इस प्रकार योग, क्षेम एवं नाज उनके नातियों के नाम नहीं हो सकते। योग, क्षेम का तो कुछ अनिश्चय है, फिर भी नाम के लिये केवल इनका प्रयोग नहीं होता। 'नाज' नाम तो स्वया व्यवहारिक है। नाज को 'नाज' मान लेना भी कोई बुद्धिमत्ता नहीं है। अतः उपर्युक्त विवेचन के अनुसार यह स्पष्ट है कि अपने परम गुणशाली जामाता मीम के कुशल एवं दस पुत्रों की ज्ञानवृद्धि के लिये तथा छात्रों के आग्रह पर महिमनट्ट ने 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ की रचना की है। उनके नाती अपने नरूपगोपण में समर्थ एवं समाज में सुप्रतिष्ठित थे। इससे शक्य होता है कि उन नातियों की अवस्था लगभग पञ्चम से तीस वर्ष के बीच की रही होगी। इस आधार पर उनके पिता मीम भी पचास से कम के नहीं रहे होंगे। इसी क्रम से महिमनट्ट की अवस्था सत्तर से कम किसी भी प्रकार नहीं ठहरती। अधिक चाहे नले हो। मेरा तो विश्वास है कि ग्रन्थकार ने अपने जीवन के अन्तिम दिनों में ग्रन्थ को बोल कर लिखाया है। इसमें भी शीघ्रता की गई है कि वहाँ उसके पूर्ण होने के पूर्व ही उनका शरीर छूट न जाय। इनीलिये ग्रन्थ एक बार जैसे बोल कर लिखाया गया वैसे ही रह गया है। उसे सुव्यवस्थित भी नहीं किया जा सका है।

(घ) बहुधृत विद्वान्

प्रसिद्ध मीमांसक विद्वान् मुकुल नट्ट की मान्यता है कि व्याकरण न्याय और मीमांसा दोनों शास्त्र साहित्य के लिये परम उपादेय हैं, अतः वही सकृत् कवि एवं समीक्षक हो सकता है जो इन दोनों शास्त्रों का साहित्य में उपयोग करना जानता है।^१ महिमनट्ट इसी कोटि के आचार्य हैं। उनकी गणना संस्कृत भाषा एवं साहित्य के उद्भूत विद्वानों में होती है। इन्हें व्याकरण न्याय एवं मीमांसा के साथ ही अलंकारशास्त्र के ग्रन्थों पर भी अज्ञात-रण अधिकार प्राप्त है। यास्क के 'निरुक्त',^२ पतञ्जलि के 'महानाष्प'^३ एवं ननुहरि के 'वाक्यपदीय'^४ के सङ्ग्रह इनकी वृत्ति 'व्यक्तिविवेक' में परस्पर उल्लेख होते हैं।

१. पदवाच्यप्रमाणेषु तदेतत्प्रतिविन्दितम् ।

यो योजयति साहित्ये तस्य वाणो प्रसोदति ॥ —अभिधावृत्तिमानुषा—वा० १३ ।

२. नाजप्रधानमाह्वयतम् असत्त्वभूतायां उन्नतगदिमः... । —व्यक्तिविवेकः पृ० २६ ।

नाजप्रधानमाह्वयतं सत्त्वप्रधानानि नामानि—इति । —निरुक्त, अ० १, खण्ड १ ।

३. व्यक्तिविवेक—वा० २।१२३, १२४; २।४, ५, ७ ।

४. द्विधा कश्चित्पदं निम्नं चतुर्धा पंचधापिवा ।

अरोपुत्सव वाचयेन्मः प्रवृत्तिप्रत्ययादिदन् ॥

—वाक्यपदीय—वा० २।१, व्यक्तिविवेक, पृ० २७-२८ ।

आचार्य पाणिनि एव उनके सूत्रा^१ के भी उल्लेख यत्र तत्र विद्यमान हैं । न्याय एव भीमासा के सिद्धान्तों का जिनना अधिक तथा अच्छा उपयोग साहित्य शास्त्र के ग्रन्थ में हो सकता था, महिममट्ट ने किया है । लक्षणा एव व्यञ्जनाके अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया का निरूपण जहाँ न्याय^२ पर आधारित है वहाँ शब्दार्थ सम्प्रत्य एव वाक्यार्थ के स्वरूप का निर्वचन भीमाना^३ की पद्धति से हुआ है ।

काव्यों, नाटकों एव सुनापित ग्रन्थों का जहाँ तक सम्बन्ध है ऐसा लगता है कि महिममट्ट ने अपने समय तक उनलम्बे सभी कृतियों का स्वाध्याय कर डाला था । रामायण-महाभारत से लेकर कालिदास, भारवि माघ रत्नाकर, मयूर प्रभृति कवियों, वापमट्ट प्रभृति गद्यकारों एव श्री हर्ष, भवभूति, भट्ट नारायण तथा राजशेखर प्रभृति नाटककारों की प्रायः सभी कृतियों के पद्य 'व्यक्तिविवेक' में उदाहृत हुए हैं । इनके अनिश्चित अपने कथन के समर्थन में आचार्य ने 'यदुक्त्वा', 'तदुक्त्वा', 'यदाहु', 'तदाहु' के नाम से अनेक उद्धरण प्रस्तुत किये हैं जिनमें से सबका स्रोत आज तक के प्रकाशित साहित्य में पा सकना दुष्कर हो गया है । चित्त उद्धरणों का पता लगना है उनमें से कुछ यास्क के 'निष्कन', भग्न के 'नाट्य शास्त्र', भृत्हरि के वाक्यपदीय, धर्म-कोटि के 'प्रमाणवार्तिक' प्रभृति अत्यन्त ही महनीय ग्रन्थों से लिये गये हैं । उन विविध ग्रन्थों एव ग्रन्थकारों का नामोल्लेख महिममट्ट ने अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' में नहीं के बराबर किया है जिनके अनेकानेक उद्धरण इन बात के पुष्पल प्रमाण हैं कि महिममट्ट भारतीय परम्परा के उन विद्वानों में से थे, जिन्हें वैश्वेश्वरपुराणेतिहास तथा सभी प्रकार के साहित्य एव शास्त्र सम्बन्धी अनेक वाङ्मय सदा हस्तामलकवत् उपस्थित रहता था । तर्क एव युक्ति के उपस्था-पन में तो अलङ्कार शास्त्र के समूचे इतिहास में उनकी कोटि के एक मात्र रत्नगङ्गाधरकार ही ठहरते हैं । विद्वत्ता की दृष्टि से वह पूर्वोत्तरकालीन किसी भी आलोचार्थिक आचार्य की तुलना में उच्चकोटि के ही ठहरते हैं । इनके टीकाकार ख्यक ने, जो सिद्धान्ततः इनके विरोधी और ध्वनि के समर्थक थे, अपने स्वतंत्र ग्रन्थ 'अलङ्कारसर्वस्व' में इनके विवेचन का अनिगहन कहा है जो कुशाग्र बुद्धि व्यक्ति के लिये ही वाच्यगम्य है ।^४ वास्तव में आचार्य का नीर-शीर विवेक की शक्ति प्राप्त थी । इन्होंने जिस विषय का भी अपनी विवेचना का विषय बनाया है उनका इनकी मूर्धन्या से विवेचन किया है कि उन सम्बन्ध में कुछ भी अवशेष नहीं रह जाता ।

किसी सिद्धान्त के विवेचन एव एक निश्चय पर पहुँचने में वे युक्ति एव तर्क के साप-साध परम्परा का भी आदर देना चाहते हैं । सुदीर्घ शास्त्रीय परम्परा की अवहलना का वे

१ अनु आचार्यगंशानिष्टनिवृत्त्यर्थं समासविधौ बहुलग्रहणं कृतम् ।—व्यक्तिविवेक पृ० २२७ ।

(I) यहाँ आचार्य से पाणिनि का एव बहुल से 'त्रिनोपेयविशेषेण बहुलम्' सूत्र का ग्रहण होता है ।

(II) व्यक्तिविवेक — का० २।२३, २४ में 'समर्थ पदविधि' पाणिनीयसूत्र २।१।१ का उल्लेख है ।

२ व्यक्तिविवेक, पृ० ४००-४०२, तथा का० ३।१, २, ३ ।

३ वाक्यार्थ बोद्धव्यः ॥ —व्यक्तिविवेक, प्र० वि०, पृ० ४० ।

४ तदेतत् कुशाग्रोपधिपणक्षोदनीपमतिगहनम् इति . . .

—दृश्यकः अलङ्कारसर्वस्व, उपोद्घात प्रकरण, पृ० ११ (विवेकम्) ।

इतलिये भी सहन नहीं करना चाहते कि उनसे सन्धिति की आत्मा का प्रवाह अवरुद्ध होता है। उन्हें वेदादि शास्त्रों की मान्यता में अक्षरशः विश्वास है। वे एक अम्यादान् आचार्य हैं।

महिमभट्ट के ग्रन्थ का परिवर्धन एवं परिष्करण कर उनकी विद्वत्ता एवं सहन मर्मज्ञता यथित को सराहना करनेवाला कोई अनुयायी उन्हें नहीं मिल सका इसका यह अर्थ क्यापि नहीं कि उनके विचारों एवं सिद्धान्तों का पक्षेष्ट समाहर नहीं हुआ है। अन्तिम विद्वद्गण उनको हृदि 'अभक्तिविशेष' को मर्यादा ही गौरव की दृष्टि में देखता रहा है। डॉ० वाघे ने 'वाच्य-प्रकाश' के अन्ततम टीकाकार गीताल के निम्न श्लोक का उल्लेख किया है।^१

रत्नानुनदीमग्ने ध्वनिचारे महागुरो ।

अनुमायाहि महिना वाच्यगोष्ठीं न मुञ्चति ॥

"महागुरु ध्वनिचार के रत्नानुत की नदी में मग्ने हो जाने पर भी अनुना (अनुनात) की महिमा वाच्य गोष्ठी की नहीं छोड़ती।" यहाँ ध्वनिचार आनन्दवर्धन की 'महागुरु' बहने का अनिनाय यह है कि यद्यपि सन्धृत वाच्यशास्त्र के इतिहास में गुण, बलकार, रीति, वर्तमान, रस तथा ध्वनि अनेक बाद हैं पर आनन्दवर्धन के ध्वनिवाद की जितनी महत्ता है उतनी अन्य किसी की नहीं। अतः इस सम्प्रदाय के अनुयायियों की मर्यादा भी बढ़ने लगी है जिन्होंने अनित्यगुण, मम्मट, रूपक, विश्वनाथ एवं पण्डितराज जगन्नाथ जैसे उद्भूत आचार्य माने हैं। अतः ध्वनिकार महागुरु हैं। उनका रत्नानुत नदी में मग्ने होने का अर्थ यह है कि प्रतीपमान रूप ध्वनि को ही आनन्दवर्धन ने वाच्य की आत्मा कहा तथा उससे ही वाच्यत्व वाच्यत्व माना है।^२ पर अनित्यगुण एवं मम्मट ने प्रकृत रूप में तथा विश्वनाथ ने सन्धृत रस को ही वाच्य की आत्मा होने का गौरव प्रदान किया है।^३ उसे आनन्द की सन्धि पर अक्षयमान वरध्वन्यता की भी स्वीकार कर लिया है। यही ध्वनिचार का रस की नदी में मग्ने होना है। अनुनात की

१. डॉ० पी० वाघे : हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोस्टिक्स, पृ० २५०, टिप्पणी (नृनाय मंस्वरण)।

२. अनुमायापि पाठ ही यहाँ उद्धृत है जिसमें सन्धि व्याकरण की दृष्टि में अशुद्ध है। महिमभट्ट ने अनुमान की अनुमा भी कहा है। उसका पंथी के एकवचन में 'अनुमायाः' रूप होता है, अपि के साथ सन्धि होने पर विमर्ग की मन्द दत्त लोप होकर 'अनुमाया अपि' बनाता है। पलोप के अन्तिम होने के कारण लक्षण दीर्घ नहीं हो सकता। किन्तु अ के वने रहने पर छन्दोर्भंग होता है। अतः 'अनुमायाहि' पाठ होना चाहिये जहाँ विमर्ग का दन्व दत्त होकर लोप हो जाता है।

३. (क) वाच्यस्यात्मा ध्वनिरिति.....। —ध्वनिचारिका १।१।

(ख) वाच्यस्यात्मा स एवायः। —वही, १।५।

(ग) प्रतीपमानच्छायैव भूया सज्जेव योपिनाम्। —वही, ३।२८।

४. (क) (i) रसस्य सर्वेषाम्भनः प्राधान्यं दर्शयन् रसध्वनेरेवमन्त्रेण मूल्यमनुमानम्पदं दर्शयति। —अनित्यगुणः ध्वन्यालोक — ३।० १।१ पर लोचन टीका।

(ii) वाच्यस्यात्मा स एवेति-प्रतीपमानमायेति।

प्रधाने नृनाय एव रसध्वनिरिति मन्त्रेण।

तेनरस एव अनुन आत्मा ध्वनन्तं शरध्वनी तु सर्वथा सति पदसन्धेः।

—अनित्यगुणः ध्वन्यालोक — ३।० १।५ पर लोचनटीका।

महिमा काव्यगोष्ठो को नहीं छोडनी का भी विशेष अभिप्राय है। आनन्दवर्धन के समूचे ध्वनि विवेचन के दो ही निष्कर्ष हैं—व्यञ्जना एव प्रतीयमान अर्थ। यह दो बातें उनकी देन कहीं जा सकती हैं। इनमें एक वृत्ति (शब्द व्यापार) है दूसरा काव्यात्मा रूप अर्थ। इन दोनों में न एक काव्यात्मा प्रतीयमान का अन्तर्भाव तो 'रस' तत्त्व में ही गया क्योंकि वस्तु अलंकार एव रस रूप प्रतीयमान-आमान्य के त्याग पर केवल रस को ही काव्यात्मा स्वीकार किया गया। दूसरे तत्त्व व्यञ्जना का अन्तर्भाव भी अनुमान में हो सकता है क्या? यह बात अभी भी विद्वाना की गोष्ठियों में विचार का विषय बनी हुई है। उक्त कथन महिममड्ट के विवेचन को ही दृष्टि में रख कर किया गया है। व्यक्तिविवेक कार के पाण्डित्य का चूडान्त निदर्शन उनके ग्रन्थ का द्वितीय विमर्श अनौचित्य विषयक प्रकरण है। यहाँ आचार्य ने सञ्जन-मञ्जन की प्रवृत्ति से विरत होकर दोष, गुण एव अलंकार के विवेचन के प्रसंग में अनेक शास्त्रीय समस्याओं का अर्थान्त ही सूझनातिमूढन विचार किया है जो उनके प्रगाड पाण्डित्य एव बहुश्रुत होने का परिचायक है।

आचार्यत्व की दृष्टि से भी महिममड्ट विद्वानो की प्रथम काटि में ही जाते हैं। कवि-प्रतिभा, काव्य प्रयोजन एव काव्यलक्षण जैसे काव्य-उम्बग्यों सामान्य विषया की सीमाना आचार्य ने जिन मौलिकता में की है वह अन्यत्र दुर्लभ है। इनका ग्रन्थ व्यक्तिविवेक विविध आचार्यों के मतों का सकलन न होकर मौलिकता का ज्वलन्त उदाहरण है। इनका औचित्य दोष इतना सूक्ष्म एव सफट है कि कालिदास, भारवि, माघ एव भवभूति प्रभृति महाकवियों का स्वभाव में दोष पहचान कर तत्काल उनकी निराकरण करना एव निर्दृष्ट पाठ का सुज्ञाप दे देना इनके लिये नादारण सी बात है। उदाहरणस्वरूप शाकुन्तल के 'गाहता नटिया' इत्यादि पद्य में 'विस्मय क्रियता बराहपतिनिर्मुस्ताक्षति पल्वले' चरण में कारक शक्ति प्रत्यय नेद दोष है। प्रथम, द्वितीय एव चतुर्थ चरणों में कर्ता 'नटिया', 'मृगकुल' तथा 'धनु' प्रथमान्त प्रत्युक्त हुए हैं। अत तृतीय में 'बराहपतिनि' तृतीयान्त का होना प्रकननेद दोष है। उनके स्थान पर 'कुर्वन्त्वन्त्रिनियो बराहपतयो मुस्ताक्षति पल्वले' पाठ होने से दोष का निवारण हो जाता है।^१ इसी प्रकार भारवि की प्रसिद्ध उक्ति "विद्यताल्घुता निरापतेरगरीयानन्द नृपथिय" में प्रकननेद दोष इत्यलिये है कि यहाँ 'लघुना' में 'लघु' प्रवृत्ति तथा 'तल्' प्रत्यय, एव 'अगरीयान्' में प्रवृत्ति 'गुह' तथा 'इयन्नु' प्रत्यय के प्रयोग हुए हैं। अत इनके स्थान पर 'नलनुवांतु पद नृपथिय' पाठ होना चाहिये।^२ 'व्यक्तिविवेक' के द्वितीय विमर्श में ही इस प्रकारके अनेक उदाहरण विद्यमान हैं जो कवि की काव्यात्मक एव नर्गशात्मक प्रतिभा के यातक हैं। ध्वनिकार की परम्परविरुद्ध उक्तिता का 'व्यक्तिविवेक' में अनेकन प्रदर्शन हुआ

(ख) ये रसात्म्याङ्गनो धर्मः शीर्षद्वयइवात्मनः

उत्कर्षहेतवस्ते स्फुरचलस्तिपनयो गुणा ॥ —मम्मटः 'काव्यप्रसाद'—८।६६

(ग) वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ॥१॥

रस एव आत्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य ।

विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, सू० १ एव उन पर वृत्ति ।

१ व्यक्तिविवेक, पृ० ६१-६२, ८०, ९१-९३ ।

२ वही, पृ० ९०-९१ ।

है। अभिनवगुप्त के विवेचन को उद्धृत कर उनका खण्डन जिन युक्तियों एवं तर्कों से इन्होंने किया है वे इनके प्रखर पाण्डित्य के प्रबल परिचायक हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि साहित्य-शास्त्र के उद्भट आचार्य होने के साथ महिमनदट पद-वाक्य-प्रमाणज्ञ एक ऐसे विद्वान् थे जिन्हें वाङ्मय की सभी विधाओं पर अज्ञाधारण अधिकार प्राप्त था जो किसी समीक्षक के लिये अत्यन्त अनेक्षित एवं परम उपादेय होता है।

(छ) नैयायिक, भीमांसक या वैयाकरण

यद्यपि साहित्य एक स्वतंत्र शास्त्र है, जिसका अपना चिन्तन भी है पर वह अन्य शास्त्रों से सर्वथा निरपेक्ष नहीं। शब्द, अर्थ एवं उनका सम्बन्ध तथा शब्द-शक्ति आदि अनेक विषय ऐसे हैं जिनका विवेचन प्रायः सभी शास्त्र करते हैं। अतः साहित्यशास्त्री विद्वान् के लिये यह सम्भव है कि वह न्याय, भीमांसा एवं व्याकरण आदि शास्त्रों में से किसी एक से अधिक प्रभावित हो या मूलतः न्यायादिशास्त्रों में से किसी एक का पारंगत पण्डित, साहित्य में गाढी रुचि होने से कवि या समीक्षक भी हो। वैयाकरण होते हुए भी पाणिनि के कवि होने के प्रमाण मिलते हैं। प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश 'वाचस्पतिकाम' एवं 'रसगङ्गाधर' दोनों ही साहित्यिक ग्रन्थों के टीकाकार हैं। अभिनवगुप्त कदमीरी शैव सम्प्रदाय के दार्शनिक आचार्य थे। पण्डितराज जगन्नाथ भी एक उद्भट वेदान्ती होने के साथ कवि और भावक (समीक्षक) दोनों थे।

आचार्य महिमनदट के सम्बन्ध में यह आम धारणा है कि वह एक दुर्भट नैयायिक थे जिन्होंने न्याय की सरणि पर ही शुष्क तर्कों का आश्रय ले ध्वनि के खण्डन का प्रयास किया है। यह धारणा निराधार नहीं है। इसका आधार महिमनदट द्वारा ध्वंजना की अपेक्षा अनुमान को मान्यता देना है। यों तो अनुमान एक प्रमाण है जिसका विवेचन भारतीय दर्शन की प्रायः सभी विधाओं में हुआ है। चार्वाक को छोड़कर बौद्ध, जैन एवं सभी वैदिक दर्शन अनुमान की प्रामाणिकता में विश्वास करते हैं। फिर भी नैयायिकों एवं बौद्धों ने अनुमान को सर्वाधिक महत्त्व दिया है। हेतु, साध्य, पक्ष, उपपक्ष, विपक्ष, व्याप्ति एवं परामर्श के साथ साथ सद्-हेतु तथा हेत्वानासों के सूक्ष्मातिसूक्ष्म विवेचन द्वारा अनुमान की प्रक्रिया के परिष्कार के लिये सभी बाद एवं सम्प्रदाय नैयायिकों के ऋणी हैं। अतः जब कोई विद्वान् अनुमान का आश्रय कर किसी सिद्धान्त का प्रतिपादन या खण्डन-मण्डन करता है तो उसका नैयायिक समझा जाना अत्यन्त स्वानाविक है। महिमनदट के साथ भी ऐसा ही हुआ है। जब वह व्यङ्ग्य की अनुमेय कहते हैं तो वहाँ अनुमान की पुरी प्रक्रिया का निरूपण भी करते हैं। इन सबके लिये उन्होंने न्यायदर्शन की प्रणाली ही अपनाई है। अतः उनके नैयायिक होने की बात नत्य ही प्रतीत होती है।

किन्तु 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ का ऊहापोह करने से वस्तुस्थिति इसके विपरीत ही सिद्ध होती है। वह न केवल नैयायिक है अपितु न्याय दर्शन के कुछ मूलभूत सिद्धान्तों के विरोधी भी प्रतीत होते हैं। उदाहरणतः गौतम का एक सूत्र है "आप्तोपदेयतामर्थ्याच्छब्दाद्यन्तप्रत्ययः" जिसका अर्थ है शब्द ने अर्थ का बोध आप्तोपदेय के सामर्थ्य में होता है। एक

मात्र आप्तवाच्य प्रनाप के आधार पर ही शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। महिममट्ट का कहना है कि वचनमात्र से अर्थ का सम्प्रत्य नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द और अर्थ के बीच साध्यसाधनभाव ही सम्बन्ध काम करता है। अतः शब्द से अर्थ की अनुमिति होती है। कोई भी व्यक्ति शब्दार्थ के बीच की युक्ति अर्थात् साध्यसाधन भाव का रहस्य समझे बिना केवल आप्त वचन के सहारे शब्द से अर्थ का बोध नहीं कर सकता। अल्पया शब्दार्थ के परस्पर के हेतुसाध्यभाव सम्बन्ध के बिना समझे, आप्तवचन से ही यदि अर्थ की प्रतीति होने लगे तो वह आप्तपरिचयक सभी का हानो चाहिये। पर ऐसा हुआ नहीं है।

इसका नैदानिक न होना अन्य प्रकार से भी सिद्ध होता है। हम यह जानते हैं कि मञ्जु की उपासना से ही अनिष्टा शक्ति वाच्य अर्थ का प्रतिपादन करती है। पर सकेत-ग्रह किसमें हो इस विषय में ऐकन्य नहीं। चूंकि अर्थ-क्रिया-जाति व्यक्ति में है अर्थात् जब होने कितनी वस्तु की आवश्यकता होती है ता व्यन्हार 'व्यक्ति' से ही होता है अतः व्यक्ति ही सकेत-ग्रह का वास्तव है। यह नान्य-नैदानिक का मत है। किन्तु व्यक्ति में सकेत-ग्रह मानने पर उनके अन्त होने के कारण अन्त सकेत करने हारो। पर ऐसा होता नहीं है। अन्त गोदा को तब एक ही सकेत 'गाम' से समझते हैं। अतः नैदानिक जाति में ही सकेत-ग्रह मानते हैं और लक्षणा से व्यक्ति का प्रत्यय करते हैं। उनका कहना है व्यक्ति में सकेत-ग्रह मान कर लक्षणा से जाति का ग्रहण शक्य नहीं हो सकता कि वहाँ मुख्यार्थ का बाध नहीं होता। उल्लंघनान्वय व्यक्ति से जाति का प्रत्यय कर लेने पर अनिष्टा से अनिष्टित अर्थ का भी बाध हो जाने में व्यभिचार होगा। अतः प्राचीन नैदानिक जाति-विभिन्न-व्यक्ति में ही सकेत-ग्रह मानते हैं। क्योंकि उन्हें लक्षणा अनिष्टित नहीं। बौद्ध चूंकि जाति का नहीं मान सकते तब व्यक्ति में सकेत-ग्रह मानने पर आन्त एव व्यभिचार दप जाते हैं अतः उन्होंने 'अनाह' अर्थात् 'अनुत्पन्नवृत्ति' में सकेत-ग्रह माना है। उनका कहना है कि सकेत न व्यक्ति में होता है न जाति में अतः तदनिष्टानिष्ठता से। किन्ती परार्थ की तब घट इसलिये करने और समझते हैं कि हनारे द्वारा ज्ञान घट में निष्ठ अन्त में किन्ती वस्तुएं हैं उन सबसे यह निष्ठ है। वैशालका का अन्त अन्त ही मत है। नाप्यकार पत-व्यक्ति ने जाति, गुण, क्रिया एव नता नामक व्यक्ति की चार-उपानियों में ही शब्दा की प्रवृत्ति होने का विधान किया है। शब्द में वहाँ जाति, वहाँ गुण, वहाँ क्रिया ता वही एकनाप व्यक्ति-वाचक नता का ही बोध होता है।

महिममट्ट ने जाति गुण बिना एव द्रव्य (मता) नामक व्यक्ति की चार उपानियों को शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त कट कर ३ अन्तों को वैशालका के पक्ष का ही प्रमाणित किया है न कि नैदानिक या नैदानिक। उनका तो यहाँ तक कहना है कि एकनाप क्रिया ही सभी प्रकार के शब्दा की प्रवृत्ति का व निमित्त हो सकती है।^३ इसका विस्तृत विवेचन

१ महि युक्तिमनवगच्छन् कश्चिद्विपरिचयं वचनमात्रान् सम्बन्धयमाग्भवति ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २२ ।

२ जातिगुणक्रियाद्रव्याणां तत्तत्प्रवृत्तिनिमित्तानां बहुत्वान् । —व्यक्तिविवेक, पृ० २२ ।

३ केचित्तुनरयोः कियंशंका प्रवृत्तिनिमित्तमिति क्रियाशब्दत्वमेव सर्वथानामपदानामुपगच्छति ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २३ ।

तृतीय परिच्छेद के प्रथम विमर्श में किया जायगा। यही नहीं बाव्यानुमिति के पक्ष में हेतु के सन् या असन् होने तथा व्याप्ति विशिष्ट पक्ष-धर्मता के ज्ञान रूप परामर्श की प्रक्रिया (हेतु के तृतीय चार ज्ञान) के ठीक बैठने के विचार को वह बहुत उपयोगी नहीं मानते। उनका तो यहाँ तक विश्वास है कि ग्रान्त ज्ञान भी हेतु साध्य भाव से होने पर प्रमा अर्थात् परामर्श-ज्ञान के रूप में ही गृहीत होता है। काव्यानुमिति में व्याप्ति-ज्ञान एवं तद्ग्राहक प्रनाप की आवश्यकता वे नहीं समझते। उनका कथन है कि प्रबल हेतु के प्रयोग से साध्य की प्रतीति व्याप्ति ज्ञान के बिना भी हो सकती है। व्याप्ति-ज्ञान तो न्याय-शास्त्र के साधारण विद्यार्थी के लिये ही अर्पित होता है, विद्वानों के लिये नहीं।^१ इन सब तथा इसी प्रकार के उल्लङ्घ्यमान अन्य तथ्यों के आधार पर यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि महिमनट्ट नैयायिक नहीं थे।

द्वितीय सम्भावना उनके मीमांसक होने की हो सकती है। व्यञ्जना की सर्वथा अस्वीकृति तथा एकमात्र अनिषा की ही शब्द का व्यापार मानना, मीमांसकों के इषुवत् दीर्घ दीर्घतर अनिषा व्यापार के पक्ष का ही समर्थन प्रतीत होता है। वाप के समान दीर्घ दीर्घतर अनिषा व्यापार अन्वितानिबानवादी प्रमाकर के अनुयायी मीमांसकों का मत माना जाता है। क्या महिमनट्ट भी उन्हीं के अनुयायी हैं? इसके अतिरिक्त वाक्य का लक्षण करते हुए महिमनट्ट ने यदाहुः से एक कारिका उद्धृत की है।^२ जिसके क्षीर-स्वामी ने 'अमरकोश' की व्याख्या में 'नट्टोऽपि' के नाम से उद्धृत किया है जिसका तात्पर्य कुमारिलनट्ट से लिया जाता है। यद्यपि कुमारिलकृत 'श्लोक-वातिक' नामक ग्रन्थ में यह कारिका उल्लेख नहीं होती तथापि "अर्थकारादेकं वाक्यं साकांक्षं चैद्विभागः" (अर्थ के एक होने से समूचा वाक्य एक होता है और उनमें पदों का विभाग उनमें परस्पर की आकांक्षा के आधार पर होता है) मीमांसा-सूत्र में उल्लेख्य वाक्य के लक्षण से उक्त कारिका के समानार्थक होने से उनके (महिमनट्ट के) भी मीमांसक होने की सम्भावना की जा सकती है। व्यक्ति-विवेक में विवेचित शब्दार्थ-सम्बन्ध एवं शब्द-शक्ति के स्थलों को पढ़ने पर सहसा यह बात ध्यान में आने लगती है कि महिमनट्ट भी मुकुलनट्ट आदि की तरह मूलतः मीमांसक आचार्य हैं। लेकिन यह भी एक त्रम ही है। महिमनट्ट ने मात्र अनिषा की शब्द का व्यापार अवश्य कहा है। किन्तु साथ ही उन्होंने अनिषा के इषुवत् दीर्घ दीर्घतर व्यापार एवं तात्पर्य-शक्ति के आधार पर 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' के सिद्धान्तों को अपने ग्रन्थ में उद्धृत कर उनका विधिवत् समर्थन भी किया है।^३ इस प्रकार प्रमाकर के अन्वितनिघान तथा कुमारिल के

१. शान्तिरपि सम्बन्धतः प्रमा ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७४ ।

२. तद्भावहेतुभावी दृष्टान्ते तदवेदिनः ।

एशाप्येने विदुषां धास्यो हेतुरेव च केवलः ।

—वही, पृ० ६५ ।

३. शब्दस्य अनिषा शक्तिः ॥

—वही, ११२६

४. साकांशावप्यं भेदे परानाकांशसम्बन्धम् ।

किराप्रयानं गुणवदेशार्थं वाचयमिष्यते ॥

—वही, पृ० ७ ।

५. मीमांसा सूत्र—२।१।४६ ।

६. व्यक्तिविवेक, पृ० १२२-१२३ ।

अभिहितान्वय दोनो पक्षा को अस्वीकार्य कहा है। इनके मीमांसक न होने का प्रबलतम प्रमाण इनके द्वारा लक्षणा की अस्वीकृति है। लक्षणा मीमांसको का प्राण है। भाट्ट एव गुण दानो मत लक्षणा के विषय में एक हैं, क्योंकि उसकी स्वीकृति के बिना उनका जाति में सबैत ग्रह का सिद्धान्त ही नहीं बन सकेगा। इन सबका समुचित रूप से विवेचन इस ग्रन्थ में यथावसर हुआ है। अब अधिक विस्तार में न आकर यहाँ हम इतना ही कहना चाहते हैं कि महिमभट्ट मीमांसको के अभिहितान्वय एव अन्विनामिवान पक्षों में से किसी के भी अनुयायी नहीं माने जा सकते।

महिमभट्ट के सम्बन्ध में अब तीसरी सम्भावना तोप रह जाती है कि वह वैयाकरण थे। पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि के बाद वैयाकरणों की परम्परा भी दो शाखाओं में विभक्त हो जाती है। एक शाखा उन्हीं सूत्रवातिक एव माप्य ग्रन्थों की टीका-प्रटीका की है जिसमें काशिकाकार, कैपट एव नागेश आते हैं। एक दूसरी शाखा ने व्याकरण-दर्शन को अपनाया और उसके मूलभूत सिद्धान्तों का शास्त्रीय स्वरूप पर निरूपण करने का बीड़ा उठाया। इनके सुप्रसिद्ध आचार्य मनुहरि हैं जिनका महनीय ग्रन्थ 'वाक्यपदीय' आज भी आकर ग्रन्थसमझा जाता है। महिमभट्ट निश्चित रूप से इस दूसरी शाखा के अनुयायी थे। इसकी पुष्टि उनके ग्रन्थ में हुए शब्दार्थ विवेचन से होती है। शब्द, अर्थ, वाक्य एव शब्दार्थ-सम्बन्ध तथा शब्द-शक्ति के विवेचनों में अपनी उक्ति के समर्थन में महिमभट्ट ने 'वाक्यपदीय' की कारिकाएँ बिना नामोल्लेख के उद्धृत की हैं। इनमें से अधिकतर 'वाक्यपदीय' के द्वितीय काण्ड की हैं जो सम्प्रति उपलब्ध नहीं।

वाक्य से वृत्क् शब्द की कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं होती। 'निरुक्त' तथा 'माप्य' आदि में जो पद के दो, चार, या पाँच प्रकार बताये गये हैं वह उसी प्रकार कल्पित हैं जिस प्रकार एक ही शब्द में प्रकृति एव प्रत्यय का विभाग करके भेद समझ लिया जाता है।^१ इसी प्रकार वाक्य की परिभाषा करते हुए जो कहा है कि वाक्य में क्रिया की प्रधानता होती है, उनमें प्रयुक्त पद परस्पर तो साकार होते हैं पर वाक्य से बाहर के किसी पद की आकांक्षा वे नहीं करते, उसके समर्थन में 'वाक्यपदीय' की ही कारिका उद्धृत की है।^२

महिमभट्ट ने अर्थ के केवल दो भेद माने हैं—वाच्य एव अनुमेय। अभिधा प्रतिपादित अर्थ वाच्य है जिसे ही मुख्य अर्थ कहते हैं। इसके अतिरिक्त अन्य अर्थों की जो प्रतीति होती है वह शाब्दी न होकर आर्थी होती है और अर्थ अनुमेय होते हैं। इन्हें ही गौण अर्थ कहा गया है। पद का अर्थ वाच्य ही होता है। वाक्यार्थ अनुमेय होता है।^३ इस विवेचन का आधार भी वाक्यपदीय की निम्नलिखित कारिका ही है जो वही उद्धृत भी की गई है —

१. द्विधा कश्चित्पद भिन्न चतुर्धा ऽञ्चधापि वा ।

अरोद्धृत्प्रैव वाच्येभ्यः प्रकृति-प्रत्ययादिवत् ॥ ४०० ३।१; व्यदितविवेक, पृ० ३७-३८ ।

२. साक्षाद्भावावयव भेदे परानाकाङ्क्षशब्दश्चम् ।

क्रियाप्रधानं गुणश्लेषार्थं वाक्यपत्न्यते ॥ ४०१० २।४; व्यदितविवेक, पृ० ३८ ।

३. व्यक्तविवेक पृ० ३९ ॥

श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसिदते ।

तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गीणं यत्नोपपादितम् ॥^१

“शब्द को सुन कर ही जिस अर्थ का निश्चय हो जाता है उसे मुख्य तथा जिस अर्थ को प्रतीति (मुख्यार्थ के बाद या प्रकरण पर्यालोचन रूप) प्रयत्न के बाद होती है वह गीण अर्थ है ।” महिममट्ट की यह मान्यता भी कि प्रादि उपसर्ग अपना स्वतंत्र अर्थ नहीं रखते, बल्कि धातु के अर्थ में उनका अर्थ अन्तर्निहित रहता है, तथा उपसर्ग सहित धातु का एक ही अर्थ होता है, ‘वाक्यपदीय’ प्रतिपादित ही है । इसके समर्थन में उद्धृत कारिका भी ‘वाक्यपदीय’ की ही है ।^२ स्थाली-मुञ्जान्याय से हृत इस विवेचन से हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि महिममट्ट नर्तृहरि की शाखा के वैयाकरण थे ।

इनके वैयाकरण होने का पौत्रक प्रबलतम प्रमाण ‘व्यक्तिविवेक’ का मञ्जुल श्लोक है जिसमें आचार्य ने परावाक् को प्रणाम निवेदन किया है ।

व्यक्ति-विवेकं कुरुते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥^३

“महिममट्ट परावाक् को प्रणाम निवेदन कर ‘व्यक्तिविवेक’ की रचना करते हैं ।” परावाक् व्याकरण दर्शन का एक निगूढ विषय है । नर्तृहरि प्रनृति वैयाकरणों की यह मान्यता है कि अनादि अनन्त निर्गुण ब्रह्म शब्द तत्त्व के रूप में अवस्थित है । उसका विकास पहले अर्थ के रूप में होता है । अनन्तर उसी से निखिल जगत् की उत्पत्ति होती है ।^४ इन प्रकार ‘परावाक्’ शब्द-ब्रह्म ही है । ब्रह्म वेद को भी कहते हैं । वेद अनादि एवं अनन्त हैं । साय ही अक्षर भी । इन्हीं के अनुसार ब्रह्मा जगत् की सृष्टि करते हैं । वेदों का मूल प्रणव कहा गया है । वेद शब्दतत्त्व होने से वाक् रूप हैं तथा उनका मूल प्रणव ही परावाक् है ।^५ वाक् के दो नेद होते हैं—परा और अपरा । शब्द-ब्रह्म से अपृथक् भूत मूधम उस शक्ति को परा कहते हैं जो गुदा और लिङ्ग के अन्तरालवर्ती मूलाधार चक्र में स्थित होती है । वाक्यपदीयकार का कहना है कि परमार्थ का विमर्श रूप जो चमत्कृति है पदार्थों के सारभूत उसी परमार्थ को परावाक् कहते हैं ।^६ जीव के रूप में जो सभी प्राणियों में अवस्थित है वह नाद नामक मूधम वाक् ही है जो अनादि और अनन्त है तथा जिसका विनाश कभी नहीं होता ।^७ अनादि,

१. वाक्यपदीय, २।२८०; व्यक्तिविवेक, पृ० ३९ ।

२. अदादीनां व्यदस्यार्थं पृथक्त्वेन प्रवर्तनम् ।

धातूपसर्गयोः शास्त्रे धातुरेव च तादृशः ॥

—वाक्यपदीय, २।८२ ।

३. व्यक्तिविवेक, १।१ ।

४. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्द-तत्त्वं यदक्षरम् ।

दिवनतेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगती यतः ॥

—वाक्यपदीय, भा० १।१ ।

५. सत्या विद्वद्विस्तत्रोक्ता विद्वद्वक्पदागता ।

युवना प्रगवरूपेण सर्ववादाविरोधिनी ॥

—यही, १।९ ।

६. येयं विमर्श-रूपेण परमार्थ-चमत्कृतिः ।

संबन्धारं पदार्थानां परावागनिधीयते ॥

७. नादाहया सर्वभूतेषु जीवरूपेण संस्थिता ।

अनादिनिधना भवेत्सूक्ष्मावागनपादिनी ॥

—वाक्यपदीय प्रकीर्ण

अनन्त एवं अक्षर (अविनाशी) शब्द तत्त्व ब्रह्म ही अर्थ के रूप में विवृत होता है जिससे अणु की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार वेदान्ती जिसे चित्तत्व अर्थात् आत्म-तत्त्व रूप अक्षर ब्रह्म कहते हैं वैयाकरण उसे ही परावाक् कहते हैं। अपरावाक् से पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी नामक गणित्या का ग्रहण होता है। इनका विवेचन भी 'वाक्यपदीय' में ही उपलब्ध होता है—

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम् ॥

अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः पर पदम् ॥^१

वैयाकरण शिरोमणि नागेश ने अपनी 'परमलघुमजूपा' में एक टट तत्त्व के विवेचन के अवसर पर परा, पश्यन्ती, मध्यमा एवं वैखरी नामक वाक् की चार अवस्थाओं का निरूपण किया है। इनमें से परावाक् का वर्णन निम्न प्रकार से किया है —

चतुर्विधाहि वागस्ति परा पश्यन्ती मध्यमा वैखरी च । तत्र मूलाधारस्यवन्नसकारि-
भूता मूलाधारस्या शब्द-ब्रह्म-रूपा स्फन्दशून्या विन्दुरूपिणी परावागुच्यते ।^२

विस्तारपूर्वक इनके विवेचन का यह अवसर नहीं है। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि शब्द-ब्रह्म रूप परावाक् को शून्य के आदि म प्रणाम अर्पण करनेवाले विद्वान् की मान्यताओं से उसका सम्बन्ध होना स्वभाविक है। अन्य प्रमाण भी सहायक हैं। 'व्यक्ति विवेक' में व्याकरण सम्बन्धी विषय जहाँ भी आया है उसका विवेचन महिममट्ट ने बड़े ही विघट्ट एवं गहन रूप में किया है। उन इनमें कोई सन्देह का अवसर ही नहीं है कि महिममट्ट व्याकरण के एक विनिष्ट विद्वान् थे। वैयाकरणा का साहित्य से साक्षात् सम्बन्धित होना भी स्वाभाविक माना गया है। आनन्दवर्धन एवं मम्मट दोनों आचार्यों ने अपनी कृतियों में वैयाकरणा की प्रशंसा की है और विद्वानों में उन्हें प्रथम कोटि का कहा है। साथ ही व्याकरण को सभी विद्याओं का मूल भी माना है।^३ अतः वैयाकरण होने से महिममट्ट के साहित्य-शास्त्र के आचार्यत्व में किसी भी प्रकार का व्याघात नहीं होता। न्याय एवं व्याकरण तो सभी शास्त्रों के उपकारक माने गये हैं।

काणाद पाणिनीय च सर्वशास्त्रोपकारकम् ।

साहित्य और व्याकरण का सम्बन्ध बहुत ही घनिष्ट है। जो साहित्य शास्त्री व्याकरण नहीं जानता उसे शब्द और अक्षरों का विवेक किस प्रकार हो सकता है? व्याकरण ज्ञान के बिना उनमें वाक्य रचना की प्रवृत्ति में प्रवीणता का अभाव सर्वदा खटकेगा तथा वाक्य आदि के विषय में दोष-अदोष की दृष्टि भी नहीं बन पायेगी। कोई वाक्य सदोष क्या है? अथवा एक ही दोष स मन्त्रान् वा वाक्या में एक दोष युक्त तथा दूसरा निर्दोष कैसे हो सकता है? इतने ही वाक्य-दोष दृष्टि करने हैं। उदाहरणस्वरूप 'चिन्ता रत्नमिव चतुर्गुणिकरणी विद्वन्मन्त्र नाम्यन्म मे ।' (मुक्त अनाने को विकार है जिन्हे तुम इस प्रकार विदुड गये जैसे चिन्तामणि ही हाथ में मरक कर वहीं गिर गया हो) तथा 'गुणैर्गन्धैर्' प्रथितौ

१ वाक्यपदीय, १।१४३ ।

२. नागेश परमलघुमजूपा, पृ० २३ (घोषभा, काशी, १९१७) ।

३ प्रथमे हि विद्वानो वैयाकरणाः । व्याकरणमूलत्वात् सर्वविद्यानाम् ॥

रत्नैरिव महाणवः" (जिस प्रकार महासमुद्र बहुमूल्य रत्नों से भरा होने के लिये विख्यात है उसी प्रकार वह अपने महनीय गुणों के कारण प्रसिद्ध है।) इन दोनों वाक्यों में एक ही दोष है—उपमान एवं उपमेय में भिन्न लिङ्ग का प्रयोग। किन्तु इनमें से प्रथम वाक्य ही सदोष है, द्वितीय नहीं। यह बात हम तभी समझ सकते हैं जब यह मान लेते हैं कि द्वितीय वाक्य में पुल्लिङ्ग 'गुण' तथा नपुंसक 'रत्न' शब्दों के विशेषण के रूप में प्रयुक्त अनर्घ्य पद का लिङ्ग नियत नहीं है। अतः तृतीया के बहुवचन में एक साथ ही दोनों के विशेषण के रूप में इसका प्रयोग निर्दोष ही नहीं चमत्कारी भी है। इस प्रकार वाक्य के प्रयोग में प्रवीणता के लिये व्याकरण का ज्ञान सर्वथा अपेक्षित है। इस प्रकार व्याकरण होना आचार्यत्व का विघातक न होकर साधक ही है। मेरी मान्यता है कि आचार्य महिमभट्ट मूलतः व्याकरण के पर साहित्य की शास्त्रीय समीक्षा में भी वह किसी से पीछे नहीं, अपितु प्रथम कोटि के ही आचार्य हैं।

तृतीय-विमर्श

महिमभट्ट का समय

किसी भी लेखक या कवि के काल का निर्धारण अन्त एव वाह्य उभयविध प्रमाणों से किया जाता है। ग्रन्थकर्ता की कृति में प्रसंगवश कुछ पूर्ववर्ती व्यक्तियों या उनकी कृतियों का नामत अथवा उद्धरण के रूप में उल्लेख अवश्य होता है। इसी प्रकार उत्तरवर्ती लेखको द्वारा भी उन व्यक्ति या उसकी कृति के विषय में कुछ कहा जाता अत्यन्त स्वानाविक है। इन तरह अन्त-माध्य से उनके काल की पूर्ववर्ती सीमा एव वाह्य-साध्य से उत्तरवर्ती सीमा का निर्धारण कर प्रमाणान्तरों से एक निश्चित तिथि पर पहुँचा जाता है।

(क) पूर्ववर्ती सीमा

जहाँ तक महिमभट्ट के काल निर्धारण की पूर्व-सीमा का सम्बन्ध है उनके लिये इनके ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' की अन्त-परीक्षा करने पर हमें ज्ञान होता है कि इन्होंने 'नाट्यशास्त्र' के कर्ता मुनिमरत का नामत उल्लेख किया है, साथ ही 'नाट्यशास्त्र' से उद्धरण भी दिये हैं।^१ 'नाट्यशास्त्र' के रचनाकाल के विषय में अनेक विमर्शवाद हैं। उसे, जिस रूप में वह उपलब्ध हुआ है, किसी एक व्यक्ति की रचना न मानकर सग्रह-ग्रन्थ बटने की प्रथा भी चल पड़ी है। 'नाट्यशास्त्र' के वर्तमान स्वरूप की रचना भी ईसा की तीसरी शताब्दी के बाद की नहीं है यही विद्वानों की धारणा है।^२ मामह, दण्डी एव वामन का 'व्यक्तिविवेक' में न तो नामत उल्लेख हुआ है, न इनकी कृतियों का ही कोई अंग समुद्धृत है। यद्यपि नामह के काव्यालंकार में उदाहृत एक पद्य को व्यक्तिविवेककार ने भी उदाहृत किया है तथा दण्डी एव वामन के विवेचनों के साथ 'व्यक्तिविवेक' के कतिपय अंग साम्य रखते हैं पर इन सबके परवर्ती वामन के समनामयिक आचार्य उद्भट की कृति 'काव्यालंकार-सार-सग्रह' से समासोक्ति का लक्षण, कर्ता या कृति के नाम के उल्लेख के बिना भी अविकल रूप से उद्धृत जब 'व्यक्तिविवेक' में उपलब्ध है^३ तो भट्टोद्भट के साथ ही उन सब की महिमभट्ट से पूर्ववर्तित्व स्वतः सिद्ध हो जाती है। 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार भट्टोद्भट काव्यमीर-नरेश जयापीड की राजकीय विद्वत्-सभा के सभापति थे।^४ जयापीड का समय 'राज-

१ व्यक्तिविवेक, पृ० ६८, ६९।

२ पी० बी० काणे : हिस्ट्री ऑफ सस्कृत पोयेटिक्स, पृ० ४७ (तृतीय सस्करण)।

३ प्रकृतार्थेन वाक्येन सत्समानविशेषणः।

अप्रस्तुतार्थकथनं समासोक्तिवदाहता ॥ भट्टोद्भट, काव्यालंकार-सार-सग्रह, पृ० २११०।

—महिमभट्ट : व्यक्तिविवेक, पृ० ३३७।

४ विद्वान् दीनारत्नेषु प्रत्यहं कृतवेनमः।

भट्टोद्भुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥

—राजतरङ्गिणी- ४४९५।

तरङ्गिणी' के ही अनुसार ७७१ ने ८१३ ई० है। इस परम्परा को स्वीकार करने पर उद्भट लगनग ८०० ई० के ठहरते हैं। आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में उद्भट का उल्लेख बड़े ही सम्मानपूर्वक अनेकत्र किया है।^१

आनन्दवर्धन के ध्वनिशिद्धान्त का खण्डन कर अनुमान में उसका अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के लिये ही महिमनट्ट का यह प्रयास है। 'व्यक्तिविवेक' में ध्वनिवार के नाम से आनन्दवर्धन का एव उसकी वृत्ति 'ध्वन्यालोक' का उल्लेख परंपरे हुआ है। अतः महिमनट्ट ध्वनिवार आनन्दवर्धन के बाद हुए हैं इसमें कोई विमम्वाद नहीं। 'राजतरङ्गिणी' के अनुसार आनन्दवर्धन काश्मीररेश अवन्तिदर्मा के समासद तथा मुक्ताकण, शिव स्वामी एवं महाकविरत्नाकर के समसामयिक कवि एवं समालोचक थे।^२ अतः अवन्तिदर्मा का समय ही आनन्दवर्धन का समय है जो 'राजतरङ्गिणी' के ही अनुसार ८५५ से ८८३ ई० के बीच निश्चित है। आनन्दवर्धन के समय का निश्चय अन्य प्रकार से भी यही होता है। इन्होंने उद्भट को नामतः उल्लिखित किया है,^३ जिनका समय ८०० ई० के लगनग निश्चित हो चुका है। अतः ये उसके बाद के स्वतः सिद्ध हो जाते हैं। पर राजशेखर ९५० ई० में वे (आनन्दवर्धन) पूर्ववर्ती हैं क्योंकि राजशेखर ने 'वाच्यमीमांसा' में आनन्दवर्धन का नामतः उल्लेख किया है।^४ राजशेखर के समय के विषय में बहुत विमम्वाद इसलिये नहीं है कि उन्होंने 'यशस्तिलक' एवं 'तिलकमञ्जरी' नामक वृत्तियों से पद्य उद्धृत किये हैं जो १००० ई० की निश्चित हो चुकी हैं। इनके अतिरिक्त सोहृदल नामक व्यक्ति ने राजशेखर की प्रशंसा अपनी वृत्ति में की है जो प्रमापान्तरी से १०२५ से १०५० ई० के बीच में हुए थे। इस प्रकार आनन्दवर्धन का समय राजशेखर से विचित्रपूर्व ८५० से ९०० ई० के बीच मानना मुक्तिपुक्त है।

इनके अतिरिक्त नट्टनायक, कुन्तक एवं अनिनदगुप्त का भी उल्लेख साक्षात् या परोक्ष रूप में 'व्यक्तिविवेक' में हुआ है जो निश्चित रूप से आनन्दवर्धन के बाद के हैं। नट्टनायक का अनुपलब्ध ग्रन्थ 'हृदयदर्पण' के नाम से प्रसिद्ध है। इसको ही व्यक्तिविवेककार ने 'दर्पण' के नाम से अनिहित किया है।^५ 'हृदयदर्पण' भी ध्वनिविरोधी ही वृत्ति थी यह बात 'व्यक्तिविवेक' के टीकाकार स्वयं ने बही है।^६ नट्टनायक नाट्यशास्त्र के अन्त्यतम

१. ध्वन्यालोक, पृ० ११६, १३१, वाच्यमाला सारोत्तर बम्बई।

२. मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्धनः।

प्रयां रत्नाकरदद्यागान् साम्याग्नेदन्तिदर्मणः ॥

—राजतरङ्गिणी, ५, ३४।

३. ध्वन्यालोक, पृ० १३१, वाच्यमाला सारोत्तर, बम्बई।

४. प्रतिभाप्युत्पत्तयोः प्रतिभा धेयमो इत्यानन्दः।

—राजशेखरः वाच्यमीमांसा, अध्याय ५, पृ० १६ (वर्द्धता तृतीय मन्करण)।

५. सनुत्तादृष्टदर्पणा मनधीः।

—व्यक्तिविवेक कारिका १।४।

६. दर्पणो हृदयदर्पणास्यो ध्वनिध्वंसप्रयोगिनि।

—स्वयं, : व्यक्तिविवेक —श्लो १।४ पर व्याख्यान टीका।

टीकाकार भी थे आर अनित्यगुप्त से पूव हो चुके थे। अभिनवगुप्त ने 'ध्वन्यालोक' लिखने एव 'अभिनवभारती'^२ दोनों टीकाओं में मद्दनायक का नाम उल्लेख किया है और इन्हें विनावादि के साधारणोकरणात्मक व्यापार के प्रतिपादन का श्रेय दिया है। मम्मट ने भी नरन के रसनूत्र की व्याख्या पर इनका मत दिया है।^३ सबत्र ये व्यञ्जना विरोधी एव आनन्दवर्धन के आलाचक के रूप में ही उद्धृत हुए हैं। इम प्रकार मद्दनायक अभिनव-गुप्त से पूर्व किन्तु आनन्दवर्धन के बाद के ठहरते हैं। महिमभट्ट ने ध्वनिलक्षण-कारिका 'यत्राथ शब्दो वा' म प्रयुक्त 'व्यञ्जन' पद म द्विवचन के प्रयोग की युक्त्यायुक्तता के निरूपण के प्रसंग म मद्दनायक एव अभिनवगुप्त दोनों का उल्लेख किया है।^४ अत दोनों के अनन्तर ही इनकी स्थिति समाविष्ट है।

इसी प्रकार महिमभट्ट ने कुन्तक के दक्कित सिद्धान्त का खण्डन अपनी कृति 'व्यक्तिविवेक' म किया है।^५ अत कुन्तक भी इनके पूर्ववर्ती ही ठहरते हैं। पर इन दोनों के बीच कितने समय का अन्तर है यह बताना कुछ कठिन-भा है। बागे 'महिमभट्ट और अनित्यगुप्त' नामक शीर्षक से अभिनव एव कुन्तक के पूर्वापर नाव का भी निरूपण किया जायेगा। यहाँ हम केवल इनका ही कहना चाहते हैं कि मद्दनायक, कुन्तक, अभिनवगुप्त और महिमभट्ट का स्थिति काल परस्पर-सापेक्ष तथा इतना घनिष्ठ है कि महिमभट्ट के काल की पूव सीमा के लिए हमें पुन आनन्दवर्धन की तिथि पर ही लौटना पडता है। उक्त चारा आचार्यों ने अपनी अपनी कृतिया म आनन्दवर्धन का साक्षात् या परोक्ष रूप से उल्लेख कर उनकी महत्ता प्रदर्शित की है। चूँकि महिमभट्ट के विवेचन का सम्बन्ध आनन्दवर्धन के ध्वनि-सिद्धान्त से है अत इन्ही के काल को महिमभट्ट के काल की पूवसीमा निर्धारित करना युक्तियुक्त है। पहले कहा जा चुका है कि आनन्दवर्धन काश्मीर नरेश 'अवन्तिवर्मा' के सम्रा-कवि थे जिनका समय ८५५ से ८८३ ई० है। महिमभट्ट उनके बाद के हैं। अत ९०० ई० ही महिमभट्ट के काल की पूवसीमा है।

(ख) उत्तरवर्ती सीमा

महिम के उत्तरवर्ती अनेक प्रथकारों की कृतिया म उनका उल्लेख हुआ है। पण्डितराज जगन्नाथ (१६०० ई०),^६ विस्नाथ कविराज (१३५० ई०)^७ तथा अलकार-सर्वस्वकार वय्यक (११५० ई०)^८ ने अपनी कृतिया में महिमभट्ट का उल्लेख

१ तेन मद्दनायकेन द्विवचनं यद् द्रुपितं तद्गजनिर्मालिचयैव ।

—अभिनवगुप्त ध्वन्यालोक—का० १।१३ पर लोचन टीका ।

२ मद्दनायकस्तवाह—रसो नप्रतीयते । नोत्पद्यते । नाभिर्व्यग्यते ।

—नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती), प्रथम भाग—पृ० २७६, दंडोदा, द्वि० स० ।

३ मम्मट . काव्यप्रकाश (सलकीकर (पूना) । चतुर्थं उल्लास, पृ० ९० ।

४ महिमभट्ट व्यक्तित्वविवेक—पृ० ९०, ९१ ।

५ व्यक्तित्वविवेक, कारिका १।६९-७३ ।

६ रसगङ्गाधरा, पृ० ४७, चौलम्बा विद्याभवन, काशी (प्रथम आन्त) १९५५ ई० ।

७ साहित्यदर्पण, पृ० १८, चौत्रम्भा, वाराणसी (कृष्णमोहन शास्त्री कृत संस्कृत टीकापत्र, द्वितीय संस्करण) ।

८ वय्यक अलकारसर्वस्व, पृ० ११ (त्रिवेन्द्रम्)

व्यक्तिविवेककारके नामसे किया है। इन सब में प्राचीनतम राजानकख्यक है, जो 'व्यक्ति-विवेक' के टीकाकार भी हैं। टीकाकार ख्यक या उनके शिष्य मंलक ये इसका निर्णय बाद में किया जायगा। ख्यक के टीकाकार होने की बात यहाँ छोड़ दी जाये, तो भी उनकी स्वतंत्र कृति 'अलंकार-सर्वस्व' तथा उसके सभी टीकाकार—जयरथ (१२०० ई०), श्री विद्याचक्रवर्ती (१२५० ई०) तथा समुद्र वन्य (१३०० ई०) ने व्यक्ति विवेककार तथा महिममट्ट दोनों ही नामों से इनका उल्लेख किया है। किन्तु इनके मूलग्रन्थकार ख्यक के द्वारा ही इनका स्पष्ट उल्लेख होने से महिममट्ट निश्चित रूप से ख्यक के पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं। ख्यक की तिथि का निर्धारण अनेकाकृत सरल है। इन्होंने 'विक्रमादिकदेव चरित' से पद्य उद्धृत किये हैं जिसकी रचना १०८५ ई० में मानी जाती है। ख्यक ने काव्य-प्रकाश पर 'सङ्केत' नामक टीका लिखी है। अतः दोनों के बाद ही ख्यक हुए हैं। ख्यक के प्रसिद्ध शिष्य मंलु या मंलक ने 'श्रीकण्ठचरित' में अपने बड़े भाई 'अलंक' को काश्मीर नरेश जयसिंह का सान्नि-विप्रहिक बताया है^१, जिनका समय ११२८-११४९ ई० निश्चित है। बूलर के काश्मीर-प्रतिवेदन के अनुसार जयसिंह के समय में ही मंलक ने श्रीकण्ठचरित की रचना ११३५-११४५ ई० के बीच की। श्रीकण्ठचरित से पाँच श्लोक अलंककार 'सर्वस्व' की वृत्ति में उद्धृत किये गये हैं। अतः अलङ्कार-सर्वस्व मंलक के श्रीकण्ठचरित के बाद की रचना ठहरती है। किन्तु काव्य-प्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने अपनी 'सङ्केत' टीका में 'अलङ्कार-सर्वस्व' का अनेकत्र उल्लेख किया है।^२ माणिक्य चन्द्र का समय उनके स्वयं के उल्लेख के अनुसार वि० सं० १२१६ (११५९ ई०) है।^३ इसका अर्थ यह है कि 'श्रीकण्ठचरित' की रचना ११४५ ई० से माणिक्य चन्द्र के 'काव्यप्रकाश-सङ्केत' की रचना ११६० ई० के बीच ही हुई 'अलङ्कार-सर्वस्व' की रचना का काल ११५० ई० के लगभग है। चूँकि ख्यक के पूर्ववर्ती एवं आनन्दवर्धन के परवर्ती मम्मट, क्षेमेन्द्र, भोज, राजशेखर, तथा घनञ्जय में से किसी ने भी किसी रूप में महिममट्ट का उल्लेख नहीं किया है अतः उनके काल-निर्धारण की उत्तर-वर्ती सीमा ख्यक द्वारा 'अलङ्कार-सर्वस्व' की रचना से कुछ पूर्व लगभग ११०० ई० मानी जा सकती है। इस प्रकार अन्तः एवं बाह्य साक्षियों के आधार पर महिममट्ट का समय आनन्दवर्धन से ख्यक तक ९०० से ११०० ई० के बीच सिद्ध होता है।

(ग) महिममट्ट और मम्मट

महिममट्ट और मम्मट में से किसी एक के द्वारा दूसरे का उल्लेख न होने से इनके बीच पूर्वाग्रह भाव का निर्धारण हम उस प्रकार नहीं कर सकते जिस प्रकार आनन्द एवं महिम तथा महिम एवं ख्यक के बीच निर्धारित हो गया है। महिममट्ट के समान ही मम्मट भी प्रतिपक्षी का उल्लेख नामतः करना पसन्द नहीं करते। पर माणिक्यचन्द्र प्रभृति 'काव्यप्रकाश' के प्रायः

१. मंलक, श्रीकण्ठचरित, ३।६६ ।

२. काव्यप्रकाश संकेत, पृ० ३२१, ३५५ (मंसूर संस्करण) ।

३. रसत्रयप्रहाषादावतारे भासि मापये ।

बाह्ये बाह्यप्रकाशस्य संकेतोऽप्यं समर्पितः ।

सभी प्रमुख टीकाकारों ने पञ्चम उल्लास के अन्त में पूर्वपक्ष के रूप में मम्मट के द्वारा किये गये अनुमान में व्यञ्जना के अन्नभाँव की सिद्धि के विवेचन को व्यक्तिविवेककार का मत कहा है।^१ परम्परा भी यही है कि महिममट्ट पूर्ववर्ती और मम्मट परवर्ती हैं। मेरे विचार से भी 'व्यक्तिविवेक' का प्रभाव 'काव्यप्रकाश' पर अवश्य पड़ा है जो उसके पञ्चम उल्लास पर परोक्ष रूप से एव सप्तम उल्लास पर साक्षात् परिलक्षित होता है।

(१) महिममट्ट ने अनिर्हितान्वयवादी मीमांसका के तात्पर्यवाद एव अन्विताभिप्राय वादिया के इषुवद् दीर्घदीर्घतर अभिप्राय व्यापार के सञ्जन म जो युक्तियाँ दी हैं उनकी छाया काव्यप्रकाशकार की युक्तियों एव तर्कों पर विद्यमान है।^२ दोनों ही इनका सण्डन करते हैं। महिममट्ट ने जहाँ इनका अन्नभाँव अनुमेयार्थ में समर्पित किया है वहाँ मम्मट ने इसे व्यञ्जना-व्यापार का विषय कहा है। दोनों को युक्ति एव ही है कि सकेत प्रह के आधार पर ही अनिवा किसी अर्थ को प्रकट करती है। तथा 'शब्द-बुद्धि-वर्णना विरम्य व्यापारामात्र' के अनुसार वाच्यार्थ की प्रतीति वरकर विरत हुए अनिवा-व्यापार की पुन प्रवृत्ति नहीं हो सकती।

(२) लक्षणा में ही व्यञ्जना के अन्नभाँव को समावना का विवेचन करते हुए काव्यप्रकाशकार ने दृष्टान्त के लिये तीन वाक्य 'रामोऽस्मि सर्वं सहे', 'रामेण प्रियर्जावितेन तु कृत प्रेम्णा प्रिये नोचितम्' तथा 'रामोऽस्मि भुवनेषु विक्रमगुणे प्राप्त प्रसिद्धि पराम्' उद्धृत किये हैं।^३ तथा कहा है कि 'लक्षणीयोऽप्यर्थो नानात्व नजने' वह 'व्यक्तिविवेक' के इन विवेचन की छाया पर किया हुआ लगना है कि 'एक' शब्द सामप्रोवैचित्र्याद् विभिन्नानर्थानवगमयति, यथा 'रामोऽस्मि सर्वं सहे', इति, 'रामेण प्रियर्जावितेन तु कृत प्रेम्णा प्रिये नोचितम्' इति, 'रामेण पाणिरमि निर्भरगर्भस्त्रि-साना विवातनसटो कृष्ण कुन्त्वे' इति, 'रामे तटान्तवसती कुशतल्पसायिन्यद्यापि नाम्नि भगवन् भवतो व्यपेक्षा' इत्यादावेक एव राम शब्द।^४

(३) 'काव्यप्रकाश' के पञ्चम उल्लास में ही अनुमान में व्यञ्जना के अन्नभाँव के पूर्वपक्षात्मक विवेचन में जिम व्यापक-विहृदोपलब्धि का उल्लेख हुआ है वह 'व्यक्ति-

१ 'अयानुमानाद्वयज्ञप्रतीति।' इति न्यायाचार्य-व्यक्तिविवेकग्रन्थवृत्तमहिममट्टस्त निराहर्नुमाशकते नन्वित्यादिना विहृदोपलब्धिः' इत्यन्तेन।

—काव्यप्रकाश पंचमउल्लास, बालबोधिनीटीका, पृ० २५२ (सलकीकर पूना, पष्ठ संस्करण)।

२ विद्यं भक्षय मा चास्य गृहे भुंक्वा... यदप्यन्ये मन्थन्ते... यथैव एव दीर्घदीर्घतरद्वरये-पोरिव व्यापारः...। किंच यत्परः शब्दः स शब्दार्थः इति ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० १२१-१२२।

काव्यप्रकाश—'ये त्वभिदधति सोऽप्रमियोरिव दीर्घ-दीर्घतरोव्यापारः इति'

यत्परः शब्दः सशब्दार्थः इति...। यन्तु विद्यमक्षय मा चास्यगृहे भुंक्वाः इत्यत्र...।

—काव्यप्रकाश, पृ० २२५-२२९, (सलकीकर, पूना, पष्ठ संस्करण)।

३ काव्यप्रकाश, पृ० २४६ (सलकीकर, पूना, पष्ठ संस्करण)।

४ व्यक्तिविवेक, पृ० १२८।

उदाहृत पद्य 'व्यक्तिविवेक' में भी उपलब्ध होते हैं पर ये जानबूझकर उद्धरण लिये गये हैं। घुषाक्षर न्याय स इतका दोना प्रन्या म पाया जाना सब्बा अन्वानाविक है।

यही नहीं, विधेयाविमसा दाप के प्रमग म समाप्त, असमान, तथा नन्त् समाप्त म दाप की स्थिति तथा प्रक्रमभगके निरूपण क प्रसङ्ग म यन् तद् आदि सत्रनामा के प्रयोग विषयक जो सैद्धान्तिक विवेचन हम 'व्यक्तिविवेक' म विवाद रूप से उपलब्ध होता है^१ उसका निर्गलित उसी सरणि पर 'काव्यप्रकाश' के इस सप्तम उल्लास म भी प्राप्त हुना है।^२ इसलिये यह निश्चिन्त है कि काव्यप्रकाशकार जन्युक्त स्वला म महिमनट्ट के ऋणी हैं। अब उत्तरवर्ती हो उड़रते हैं। मन्मत एफ आर जहाँ अपने प्राचीनतम टीकाकार रय्यक (११५०) एव माणिक्य चन्द्र (११६०) न पूर्ववर्ती हैं वही 'शृङ्गारप्रकाश' एव 'सरस्वती कण्ठाभरण' के कर्ता राजा मान के अनन्तर हा हुए हैं। क्योंकि इन्होंने अपनी कृति 'काव्यप्रकाश' के दसम उल्लास म उदात्तालङ्कार का उदाहरण एक ऐसा पद्य दिया है जिसके चतुर्थ चरण म नोज नृपति का नाम आया है।^३ मान का समय निश्चिन्त है। राजतरङ्गिणी^४ क अनुसार मालवाधीस नाज और कर्णार नरेश अनन्तराज सममामाधिक, ममदानी, समवीर एव समनिद्वान् ये।^५ उनकामय (९९६ से १०५१ ई०) तक का निश्चिन्त है। इन प्रकार मन्मत का समय ११०० ई० म पूर्व एव १०५० के बाद लगना ११०० ई० निश्चिन्त प्राय है। महिमनट्ट इनके भी पूर्व के हैं।

(घ) महिमनट्ट एव अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त और महिमनट्ट दाना मस किनी ने एक दूसरेका उल्लेख नहीं किया है। यही स्थिति वक्राकिताविनकार कुन्तक और अभिनवगुप्त की है। कुछ विद्वानों का अनुमान है कि 'अभिनव भारती' कालज्ञा का विवेचन वक्राकितावित न प्रभावित है। डॉ० चकरन और डॉ० राघवन इसे नहीं मानते। क्योंकि यदि अभिनवगुप्त का वक्राकिता विद्वान्त विदित होता तो वह उसका भी खण्डन करने में नहीं चूकते। जतएव डॉ० काणे ने कुन्तक एव अभिनवगुप्त दाना के समसामाधिक होने की मनावना की है।^६

महिमनट्ट ने कुन्तक तथा अभिनवगुप्त दाना काही उल्लेख अप्रत्यक्ष रूप से 'व्यक्ति-

१ व्यक्तिविवेक, पृ० १५६, १६०, १६३-१६९, १९०-१९५ (चौथम्भा)

२ काव्यप्रकाश, पृ० ३१३, ३४९ (पूना) ।

३ मुक्ता, केलिदत्तप्रहारगलित ।

यद्विभवनेपु भोजनृपतेत्वन्त्यागलोलापितम् ॥ —काव्यप्रकाश, उदाहरण १०।५०५ ।

४ सच नोजनरेन्द्रश्च दानोत्कषणविधुती ।

सूरी तस्मिन्क्षणे तुन्यो द्वावास्ता कविदाग्यवी ॥ —राजतरङ्गिणी, ७।२५९ ।

५ डॉ० पी० सी० लाहिडी इण्डियन कल्चर, तृतीय भाग, पृ० ५३०-५३४ तथा डॉ० मुखर्जी बी० सी० ला०, प्रथम खण्ड, पृ० १८३ ।

६ पी० बी० काणे हिस्ट्री आफ सस्कृत पोपेटिक्स, पृ० २३५-२६ (तृतीय संस्करण) ।

विवेक' में किया है तथा इनमें से एक कुत्तक को सहृदयमानी^१ और दूसरे अमिनवगुप्त को विद्वन्मानी^२ कहा है। महिम ने 'वक्रोक्तिजीवित' की कारिका का उल्लेख कर वक्रोक्ति सिद्धान्त का पूर्वपक्ष के रूप में निरूपण अनन्तर, खण्डन भी किया है। तथा ध्वनि के समान उभे भी अनुमान में ही अन्तर्मूल माना है।^३ इसी प्रकार 'ध्वन्यालोक' पर अमिनवगुप्त की टीका 'लोचन' का एक अर्थ 'व्यक्तिविवेक' में ज्यों का त्यों उद्धृत हुआ है।^४ इन दोनों आचार्यों का उल्लेख तो करना पर नाम न लेना तथा उनके लिये 'सहृदयमानी' और 'विद्वन्मानी' जैसे विशेषणों का प्रयोग करना इस बात का द्योतक है कि महिममट्ट भी इन दोनों के समानाधिक ही थे। यह बात अवश्य है कि 'व्यक्तिविवेक' की रचना के समय 'वक्रोक्तिजीवित' एवं 'ध्वन्यालोक' पर 'लोचन' टीका प्रकाश में आ गये थे। जो भी हो 'व्यक्तिविवेक' दोनों इतियों के बाद की रचना है इसमें सन्देह का अवसर नहीं है।

वक्रोक्तिजीवितकार ने 'ध्वनि' या 'व्यञ्जन' की स्वतंत्र सत्ता का खण्डन कर उसे वक्रोक्ति में ही अन्तर्मूल माना है। अतः जवरथ ने ठीक ही कहा है कि वक्रोक्ति जीवितकार तथा हृदयदर्शकार दोनों ही यद्यपि ध्वनिकारके बाद में हुए हैं तथापि प्राचीन मत के अनुयायी हैं।^५ इस प्रकार कुत्तक, आनन्दवर्धन के बाद एवं महिममट्ट के पूर्व के हैं। अमिनवगुप्त का समय उन्हीं के स्वयं के उल्लेखों के आधार पर निश्चितप्राय है। स्वरचित 'क्रमन्व' के अन्तिम श्लोक से स्पष्ट है कि उसकी रचना उन्होंने ६६वें लौकिक वर्ष के अप्रहाण्य में की है जो ९९० ई० होना है।^६ 'ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा' पर 'विमर्शिनी' टीका के अन्त के श्लोक के अनुसार उसकी रचना ४११५ कलि संवत् में हुई जब काश्मीर का लौकिक वर्ष ९० था।^७ यह समय १०१४ ई० है। इसके अनन्तर ही उन्होंने 'अमिनव-मारती' आदि की रचना की है। क्षेमेन्द्र की 'बृहत्क्यामञ्जरी' एवं 'भारतमञ्जरी' के उपसंहारात्मक पद्योंसे भी इनकी पुष्टि होती है जिनमें उन्होंने अमिनवगुप्त को अपना साहित्यिक गुरु कहा है। इस प्रकार अमिनवगुप्त का काल ९८०-१०२० ई० तक निश्चित होता है। लगनग यही समय कुत्तक का भी है।

१. यत्पुनः 'शब्दशयोसहितो—इत्यादिना शास्त्रादिप्रसिद्धशब्दायोऽनिदध्व्यतिरेकि चर्च-विश्वं तन्मात्रलक्षणं वक्तृत्वं नाम काव्यस्यजीवितमिति सहृदयमानिनः केचिदाचक्षते तदप्यसमोचनम् ॥ —व्य० वि० पृ० १२४-१२५।
२. अत्र केचिद्विद्वन्मानिनः . . . 'अर्थः शब्दो वेति विकल्पाभिधानं प्राधान्यानिप्रायेण' इति यदाहुस्तद् भ्रान्तिमात्रमूलं न तत्रअमित्यलमवस्तुनिर्वन्धनेन । । —व्यक्तिविवेक, पृ० ९०-९१।
३. व्यक्तिविवेक, पृ० १२४-१२७।
४. वही, पृ० ९१।
५. अलंकारसर्वस्व, टीका विमर्शिनी, पृ० १५।
६. पद्यपिठनामके वर्षे नवम्यामसितेऽर्चि । मयाअमिनवगुप्तेन मार्गशीर्षे स्तुतः शिवः ॥ —के० सी० पाण्डेयः अमिनवगुप्त, पृ० ४१२।
७. नश्रितमेऽस्मिन्वत्सरेऽन्ये युगांश्च त्रिपिंशद्विजलधिस्ये मार्गशीर्षावसाने । जगति विहितबोयामीद्वरप्रत्यानितां ध्ववृणुन परिपूर्णां प्रेरितः शम्भुपादः ॥१५॥ —प्रत्यभिज्ञाविवृतिविमर्शिनी, पृ० ४०७।

(ड) निष्कर्ष

उन विवेचन के आधार पर महिमभट्ट के काल की पूर्वोत्तरसीमा सर्वुचित होकर अभिनवगुप्त और मम्मट के बीच मोटे तौर पर १००० से ११०० ई० तक ठहरती है। इसमें भी अभिनवगुप्त के काल के ही अधिक निकट इन्हें होना चाहिये। क्योंकि मम्मट ने पूर्वविवेचन के अनुसार 'काव्यप्रकाश' में 'व्यक्तिविवेक' की सामग्री का जो उपयोग किया है वह सम्भव न होना यदि महिम कालत उनके अधिक निकट के होते। दूसरी ओर अभिनवगुप्त को महिम के द्वारा 'विद्वन्मानी' सम्बोधित करना एक प्रकार से उनकी विद्वत्ता को अस्वीकार करना है 'व्यक्तिविवेक' में सप्टन तो उन्होंने आनन्दवर्धन के सिद्धान्त का ही किया है पर उनके लिये इस प्रकार के तिरस्कारपूर्ण शब्दों का प्रयोग कही नहीं हुआ है। इसके विपरीत उन्हें महान्ही कहा गया है^१ तथा उनकी प्रस्थापना ध्वनि को आदर प्रदान करते हुए उसे एक गुरु सिद्धान्त माना है।^२ कुन्तक एव अभिनवगुप्त के लिये सहृदयमानो तथा विद्वन्मानी विशेषणों का प्रयोग एव उनकी उक्तियों को नि नार कहना महिमभट्ट एव उनकी समसामयिकता का ही परिचायक है। अतः मेरी मान्यता है कि कुन्तक, अभिनवगुप्त एव महिमभट्ट सम्यक्नया नहीं तो असत तो अवश्य ही समसामयिक थे। इस प्रकार महिमभट्ट को अभिनवगुप्त के ही समीप १००० ई० के लगभग का मानना ही युक्तियुक्त एव सर्वथा सगत है।

श्री नरसिंह आयङ्गर ने अपने एक निबन्ध में महिमभट्ट के कालके सम्बन्ध में जो कहा है कि वह १००० ई० के पूर्व के नहीं माने जा सकते,^३ यहाँ मेरा निवेदन है कि महिम को १००० ई० के बाद का भी कथमपि स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्योंकि जित्त रूप में उन्होंने अभिनवगुप्त का उल्लेख किया है उससे तो यही प्रतीत होता है कि महिमभट्ट मन्मदत अभिनवगुप्त से अवस्था में अधिक थे और 'व्यक्तिविवेक' की रचनाके काल तक अभिनवगुप्त की विद्वत्ता पूर्ण रूप से प्रतिष्ठित नहीं हो पायी थी। 'ध्वन्यालोक' पर लोचन उनकी आरम्भ की कृतियों में से होगी जब कि 'व्यक्तिविवेक' महिमभट्ट की वृद्धावस्था की रचना है। इनकी पूर्वापरभाव का यही सामञ्जस्य है।

१ इहसम्प्रतिपत्तितोऽन्यथा वा ध्वनिकारस्य वधो विवेचनं नः ।

नियतं पशसे प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय ॥ —व्यक्तिविवेक १।३।

२ ध्वनिबलमन्यतिगहने स्खलितं बाष्पाः पदे पदे सुलभम् ।

—वहाँ १।५।

३ जर्नल आफ रॉयल एशियाटिक सोसाइटी, जनवरी, १९०८, पृ० ६५ एक

चतुर्थ-विमर्श

महिमभट्ट की कृतियाँ

राजानक महिमभट्ट के नाम से एकमात्र एक ही ग्रन्थ 'व्यक्तिविवेक' उपलब्ध होता है। किन्तु इस ग्रन्थ में एक और ग्रन्थ 'तत्त्वोक्तिकोश' के नाम से उल्लिखित है जिसके भी वर्ता महिमभट्ट ही थे। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ के द्वितीय विमर्श के अन्तिम भाग में प्रतिभा के निरूपण के प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने स्वयंकृत अपने उस ग्रन्थ का उल्लेख किया है :—

इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरुपपादितम् ।

शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाशये इतिनेह प्रतीयते ॥^१

'तत्त्वोक्ति-कोश' ग्रन्थ कैसा था इसका अनुमान उसके मात्र उल्लेख से लगा सकता है। पर इतना तो निश्चित है कि वह ग्रन्थ भी साहित्य विषयक ही था। चूंकि यह ग्रन्थरत्न उपलब्ध नहीं हो सका है अतः उसका विस्तृत विवरण दे सकता संभव नहीं है। 'व्यक्ति-विवेक' उनकी एक मात्र उपलब्ध कृति है। उसका ही अध्ययन इस ग्रन्थ में किया गया है।

व्यक्तिविवेक

(क) प्रकाशन

रसवादी आचार्य महिमभट्ट की एक मात्र उपलब्ध कृति 'व्यक्तिविवेक' अलङ्कार-शास्त्र का एक महनीय ग्रन्थ है। इसका उल्लेख 'काव्यप्रकाश' की प्रायः सभी टीकाओं, रघ्यक के अलङ्कार-सर्वस्व एवं उसकी टीकाओं, हेमचन्द्र के 'काव्यानुशासन', विद्याधर की 'एकावली', विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' तथा पण्डितराज जगन्नाथ के 'रसगङ्गाधर' में विशेषरूप से उपलब्ध होता है।

'व्यक्तिविवेक' का प्रकाशन दो स्थलों से हुआ है। इसे सर्वप्रथम प्रकाशित करने का श्रेय त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज को है जहाँ से अतन्तशयनम् ग्रन्थावली के पञ्चम ग्रन्थाङ्क के रूप में गणपति शास्त्री ने इसे १९०९ ई० में प्रकाशित किया था। इसमें आरम्भ के पृष्ठों में 'व्यक्ति-विवेक' मूलग्रन्थ है अन्तर 'दृष्यक' के नाम से 'व्याख्यान' नाम की टीका दी गई है। आरम्भ में दश पृष्ठों की अंग्रेजी भूमिका है। प्रकाशक के कथनानुसार मूलग्रन्थ जब आधा मुद्रित हो चुका था तभी 'टीका' की पाण्डुलिपि प्राप्त हुई। फलतः उसे मूल के नीचे न देकर अन्त में ही दिया जा सका। त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज ने अनेक बहुमूल्य ग्रन्थरत्नों का प्रकाशन कर सन्वृत मापा एवं साहित्य की महती सेवा की है। आचार्य महिमभट्ट का 'व्यक्तिविवेक' उन्ही ग्रन्थ-रत्नों में से अग्रतम है। इसका दूसरा प्रकाशन कान्ही सन्वृत सीरीज पुस्तकमाला के १२१ वें

तथा उसके जन्मार्ण जन्मद्वारा-विभाग के चतुर्थ पुण्य के रूप में मन्त्रत् १९९३ अर्थात् १९४७ ई० में काशी से हुआ है। इसके मन्मादक पण्डित मधुमुदन शार्मा हैं। इस प्रकाशन में मूल पर हस्तकृत 'ब्राह्मण' एवं स्वयं मधुमुदन शार्मा कृत 'विवृति' नाम की दो टीकाएँ हैं। टीकाकार एवं टीकाओं के सम्बन्ध में आगे विशेष रूप से विवेचन किया जायगा।^१ उपाई एवं कागज की दृष्टि से दोनों ही प्रकाशन उत्तम हैं। विवेन्द्रम् का प्रकाशन काशी के प्रकाशन की अपेक्षा अधिक उत्तम है। उसमें पाठ अशुभ्रित अधिक शुद्ध एवं अधिक प्रामाणिक है। साथ ही पाठान्तर भी दिये गये हैं। दोनों ही सम्स्करणों के अन्त में श्लोकांतुक्रमण एवं शुद्धिपत्र भी दिये गये हैं।

(ख) नामकरण

महिममट्ट के ग्रन्थ का नाम 'व्यक्तिविवेक' है जिसका उल्लेख ग्रन्थकार ने भी मङ्गल श्लोक में कर दिया है।^२ यह व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना के विवेचन के नाम पर रखा गया प्रतीत होता है। 'व्याख्यान' टीका में इसकी व्युत्पत्ति प्रदर्शित करने हुए कहा है—'व्यक्तिव्यञ्जन तद्विवेकस्य कर्ण म्वप्रभृति, । व्यञ्जना का नाम ही 'व्यक्ति' है उसका विवेक कर्ण ही ग्रन्थकार की प्रवृत्ति का प्रयोजन है। चूँकि ध्वनि-मिद्धान का मूलोपाय व्यञ्जना है इसलिए व्यञ्जना के युक्तयुक्त होने के विचार से ध्वनि के मयार्थ स्वरूप का बोध हो सकता है यहाँ व्यक्ति-विवेककार का भी अर्थात् है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ का मनापन करते हुए वे कहते हैं कि व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना ही ध्वनि का प्राणभूत तत्त्व है। उर्मा का विवेचन मीने इस ग्रन्थ में किया है। ध्वनि के अन्य तत्त्व-दस्तु अट्टकार एवं रसादि भेद तथा इसके अन्य प्रभेदों के माथ इमाग विगण नहीं के बगवर् है। अत उनके विवेचन के विम्वार में न जाकर व्यञ्जना का ही विवेचन इस ग्रन्थ में किया गया है।^३ अतः व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना का विवेचन होने से इस ग्रन्थ का नाम इसकी व्युत्पत्ति 'व्यक्ति व्यञ्जनाया विवेक. युक्तानुक्तविवेचनम्' के अनुसार 'व्यक्तिविवेक' सर्वथा उपयुक्त ही है। यहाँ यह बात भी स्पष्ट हो जाती है कि आनन्दवर्मन में महिममट्ट के विरोध का मुख्य स्थल व्यञ्जनावृत्ति ही है अत विवेचन कर उर्मा का निम्न ग्रन्थकार को अर्थात् है।

ग्रन्थ प्रणयन के उत्तर उर्मा का, जिसका निरूपण ग्रन्थ के उन्मत्तारात्मक श्लोकों में हुआ है ग्रन्थकार की ही ग्रन्थ के आरम्भ में की गई प्रतिज्ञा से, विरोध प्रतीत होता है जहाँ वे कहते हैं कि सभी ध्वनि वा अनुमाद में अन्तर्भाव भागिन करने के लिये ही 'व्यक्तिविवेक' की रचना कर रहा हूँ :

अनुमानेऽन्तर्भाव सर्वस्यैव ध्वनेः प्रकाशयित्नु ।

व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रगम्य महिमा परा वाचम् ॥१॥

१. 'व्यक्तिविवेक' का तीसरा प्रकाशन चौबेबा विद्याभवन, काशी से मूल, व्याख्यान टीका तथा उन सब के हिन्दी अनुवाद के साथ 'हिन्दी व्यक्तिविवेक' के नाम से १९६४ में हुआ है। इसके हिन्दी रूपांतरकार श्री रेवाप्रसाद द्विवेदी हैं।

२. व्यक्तिविवेकं कुरुते प्रगम्य महिमा परा वाचम् ॥ —व्यक्तिविवेक, १।१।

३. प्राणभूता ध्वनेर्न्यस्तिरिति सर्व विवेचिता ।
मत्स्वल्पतन विमर्शः प्रायो नार्थानुसंगितम् ॥ —व्यक्तिविवेक—का० ३।३३।

यहाँ 'सर्वस्वैव' पद से ध्वनि के सभी प्रकारों तथा अङ्गोपाङ्गों का बोध होता है। व्याख्यानकार 'सर्वस्वैव' पद की टीका करते हुए कहते हैं कि—“सर्वग्रहणेन निरवशेषतामाह, अन्यथा काव्यानुमानस्यातिव्याप्तिः स्यात् ॥” सर्व से ध्वनि के सभी प्रकार के भेदोपभेदों का ग्रहण होता है अन्यथा किसी तत्त्व विशेष का ही अनुमान में अन्तर्भाव साधित करने पर काव्यानुमान पक्ष में अव्याप्ति दोष पड़ेगा। व्यञ्जना ध्वनि-मिद्वान्त का एकत्व है। केवल उसी का विवेचन करने से समूचे ध्वनि का तो अन्तर्भाव नहीं सिद्ध हुआ। अतः यदि केवल व्यञ्जना का ही विवेचन इसमें हुआ है तो यह विवेचन अव्याप्त है। 'व्यक्तिविवेक' ग्रन्थ का विवेचन अतिव्याप्त भी है क्योंकि ग्रन्थ का द्वितीय विमर्श 'अनौचित्य' अर्थात् काव्यदोषों का निरूपण करता है। उसमें ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव तथा व्यञ्जना-वृत्ति के युक्तयुक्त होने की चर्चा का अवसर भी नहीं है। फिर ग्रन्थकार की प्रतिज्ञा का महत्त्व क्या रज् जाता है कि ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव दिखाने के लिये ही 'व्यक्तिविवेक' की रचना की जा रही है तथा ग्रन्थ के नाम 'व्यक्तिविवेक' की सायंकता वहाँ तक प्रमाणित होती है ?

जहाँ तक प्रथम प्रश्न का सम्बन्ध है कि 'व्यक्तिविवेक' में व्यञ्जना-मात्र का विवेचन होने से ग्रन्थ अव्याप्ति-दोष-ग्रस्त है, समाधान के रूप में यह कहा जा सकता है कि व्यञ्जना ध्वनि का सर्वस्व ही नहीं उसकी आधारगिता भी है। अतः उसके खण्डित हो जाने पर 'मूलं नास्ति कुतः शाखा' न्याय से उस पर आधारित ध्वनि के विशेष भेद-प्रभेदों का खण्डन स्वतः हो जाता है। ध्वनि के अर्थांतर संक्रमित, अत्यन्ततिरस्कृत, अलक्ष्यक्रम एवं मंलक्ष्य प्रमव्यञ्जण आदि भेद-प्रभेद व्यञ्जना-मूलक ही हैं। अतः व्यञ्जना-वृत्ति के अनुमान में अन्तर्भूत हो जाने पर ध्वनि के उक्त भेदों की अनुमेयता स्वतः सिद्ध हो जाती है। इस प्रकार ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव के प्रसङ्ग में व्यञ्जना-मात्र का विवेचन अव्याप्ति दोष ग्रस्त नहीं कहा जा सकता। दूसरा जो अतिव्याप्ति दोष सम्भावित किया गया है वह भी इसलिये नहीं बनता कि दोषों का सश्लेषोदाहरण रूप में विस्तृत विवेचन प्रस्तुत कर आचार्य महिममट्ट यह दिखा देना चाहते हैं कि प्रतीतमान अर्थ की प्रधानतया अभिव्यक्ति होने पर भी दोष विशेष के सद्भाव में कोई रचना काव्य का उत्कृष्ट उदाहरण नहीं हो सकती। इसके विपरीत जहाँ कोई दोष नहीं है उस रचना में तथाकथित व्यञ्जणार्थ की प्रतीति हो चाहे न हो, वह काव्य का उत्तम निदर्शन है। अतः महिममट्ट का दोष विवेचन भी प्रकारान्तर से काव्य में ध्वनि के महत्त्व का निरूपण ही है। इन दोनों प्रकार की विप्रतिपत्तियों का एक तीसरा समाधान 'प्राधान्येन व्यपदेशाः नवन्ति' यह न्याय भी है। चूँकि इस ग्रन्थ में व्यञ्जना का ही मुख्य रूप से विवेचन हुआ है, अतः इसका नाम 'व्यक्तिविवेक' सायंक ही है।

ग्रन्थ के नाम के सम्बन्ध में एक विशेष यह भी है कि इसे 'वाक्यानुमितिविवेक' जैसा मण्डलात्मक होना चाहिये था न कि व्यक्ति के नाम पर जिसका कि इसमें खण्डन ही किया गया है। क्योंकि विवेक मद्रस्तु का ही होता है। जब व्यञ्जना वास्तव में है ही नहीं तो उसका विवेक कैसा ? किन्तु एक तो विवेक पद का प्रयोग उक्त प्रकार से नियमित नहीं है तथा 'नित्यादित्य वस्तु विवेक' के समान विवेक पद हेय एवं उदादेश्य दोनों प्रकार के विषयों के साथ प्रयुक्त ही बनता है। दूसरे, विवेक शब्द यहाँ यथार्थ ज्ञान परक न होकर विवेचन-मात्र परक है। इस की पृष्टि 'व्यक्तिविवेक' के प्रथम विमर्श की तीसरी बारिका से भी होती है जहाँ 'व्यक्तिविवेककार'

कार ने अपना उद्देश्य ध्वनिकार की उक्ति (निदान) का विवेचन करना बताया है।^१ अथवा विवेक पद का अर्थ 'बोध या ज्ञान' होता है। 'व्युत्पाद्यविवेक', 'सद्गुरुविवेक' आदि शब्दों में भी विवेक पद इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ भी व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना का अर्थार्थ बोध ही शक्ति का विषय है वह शून्य अर्थात् विवेको अन्तर्गत व्यञ्जित-विवेको ग्रन्थ' अभिप्रेत है। अथवा व्यक्ति के बोध को व्यक्ति-विवेक कहते हैं तादात्म्य में तत्त्वनिपात्रक ग्रन्थ के लिये भी 'व्यञ्जित-विवेक' सत्ता संबंधी समीचीन एवं परम उपादेश है। बन्धुन महिमनन्द जैसे विद्वान् आचार्य की कृति का नामकरण भी गलत ही होना चाहिये। आगे चल कर इन ग्रन्थ का नाम ही इतना लोकप्रिय हो गया कि ग्रन्थकर्ता की व्यक्तिविवेककार के रूप में जिनकी प्रतिष्ठा है उनकी महिमनन्द नाम से नहीं।

(ग) स्वरूप एवं विवेच्य विषय

व्यञ्जित-विवेक ग्रन्थ की रचना अपने दृग की विलक्षण है। इनमें ग्रन्थकार विषय का विवेचन पहले गद्य में करता है तथा अथावनर पूर्ववर्ती आचार्यों के उद्धरण एवं कान्यों से उदाहरण देता है, अनन्तर सम्पूर्ण विवेचन कारिकाया में सङ्गृहीत कर देता है जिसे मग्नह श्लोक कहा है। दो-तीन स्थाना पर उन्हें ही अन्तरदशोक तो एक स्थान पर 'संग्रहाया' की भी सत्ता दी है। इनकी कुल संख्या २३० है जिनमें आरम्भ के ६ श्लोक प्रस्तावनात्मक एवं अन्त के चार उपसंहारक हैं। इस प्रकार कृति, उदाहरण और अन्त में कारिकायें, यही ग्रन्थ के विवेचन की प्रणाली है। साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी ग्रन्थ इनके विपरीत पहले कारिका या सूत्र, अनन्तर उनकी वृत्ति एवं उदाहरण देने की प्रणाली से लिखे गये हैं। सम्पूर्ण ग्रन्थ तीन विमर्शों में विभक्त है। विचार, विमर्श के बिना विवेक सम्भव नहीं, सम्भव इनीलिये 'व्यञ्जित-विवेक' में ग्रन्थ का विभाजन ग्रन्थकार ने विमर्शों में किया है।

प्रथम विमर्श का नाम 'ध्वनिलक्षणार्थेप' रखा है। इनमें मुख्य रूप से आनन्दवर्धन कृत ध्वनि के लक्षण पर आशेष के प्रसङ्ग नहीं अन्य विषयों का विवेचन हुआ है। आरम्भ में मग्नश्लोक के बाद पाँच श्लोकों में ग्रन्थ के प्रयोजन के प्रयोजन आदि का कथन हुआ है। अनन्तर ध्वनि के लक्षण के सङ्ग का आरम्भ हो जाता है। फिर शब्द-व्यवहार की अनुमान रचना प्रदर्शित करने के प्रसङ्ग में शब्द, अर्थ, उनके भेद प्रभेद एवं परस्पर के मन्वन्ध तथा क्रिया शब्द-स्वभाव का विवेचन किया गया है। इनके बाद ही रसादि के विषय में व्यञ्जित-व्यञ्जक भाव की अनभ्यासना का प्रदर्शन कर वस्तु एवं अलंकार ध्वनिया में भी व्यञ्जित-व्यञ्जक-भाव की उक्ति का परिहार किया गया है। फिर व्यञ्जना का लक्षण तथा उनके तीन भेदों का विवेचन कर उनकी अनभ्यासना दिखाई गई है। आनन्दवर्धन कृत ध्वनि के लक्षण में दस प्रकार के दोषों की उदाहरणा करते हुए ध्वनि का शुद्ध लक्षण देकर उनकी अनुमानपरक व्याख्या प्रस्तुत की गई है। अनन्तर शक्ति अर्थात् लक्षण ही ध्वनि है इन पक्ष का समर्थन कर उनके साथ ही मीमांसकों के तात्पर्यवाद एवं दीर्घ दीर्घान्तर अभिन्न व्यापार नामक दोनों पक्षों का सङ्ग किया गया है। इनके बाद ही वक्रोक्ति का अलंकार अनुमान में साधित करते हुए ध्वनि के अविवक्षित-वाच्य आदि भेदों की अनुपपन्नता के प्रदर्शन के साथ प्रथम-विमर्श की परिसमाप्ति

हो जाती है। इस प्रथम-विमर्श में ही ग्रन्थकार अगले विमर्श में अनौचित्य का विवेचन किये जाने की सूचना भी दे देते हैं।

द्वितीय विमर्श का नाम 'शब्दानौचित्यविचार' है। इसमें मुख्य रूप से वाच्य-दोषों का निरूपण पर्याप्त विस्तारपूर्वक हुआ है। अन्त में अलंकार के स्वरूप का सैदान्तिक रूप में प्रतिपादन हुआ है। अनौचित्य अर्थात् दोष का सामान्य लक्षण प्रस्तुत कर उसके मुख्य पांच भेद विधेया-विमर्श, प्रथम-भेद, प्रथम-भेद, पौनरुक्त्य तथा वाच्यावचन का एक-एक करके अत्यन्त विस्तार में विवेचन किया गया है। समूचे विमर्श के विवेच्य विषय का संकलन अलग-अलग स्थलों पर कुल १२७ सग्रह-कारिकाओं में हुआ है। आचार्य ने इस विवेचन को तत्कालीन एवं भावी कवियों के लिये किया गया अनुशासन (शास्त्र) कहा गया है।

इदमद्यतनानां च भाविनां चानुशासनम् ।

लेशतः कृतभस्माभिः कविवर्तमांश्चक्षताम् ॥^१

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ का अन्तिम तृतीय-विमर्श ध्वनि के अनुमान में अन्तर्भाव का निरूपण विविध उदाहरणों में करता है। अतएव इसका नाम 'ध्वनेरनुमानेऽन्तर्भावप्रदर्शन' रखा गया है। ध्वनिकार आनन्द-वर्धन द्वारा ध्वन्यालोक में उदाहृत ध्वनि के चालीस उदाहरणों में अनुमिति की प्रक्रिया का दिग्दर्शन यहाँ विधिपूर्वक हुआ है। विभावादिके साधारणीकरण से होने वाली रमानुमिति की व्याख्या भी अनुमितिपरक प्रस्तुत कर ग्रन्थ का समाप्त प्रथम विमर्श में की गई प्रतिज्ञा के अनुरूप ही इस वाक्य से हुआ है कि ध्वनि के सभी भेद-प्रभेदों का अनुमिति में अन्तर्भाव ही श्रेयस्कर एवं युक्तियुक्त है। इस विमर्श के सग्रह-श्लोकों की कुल संख्या ३८ है। अन्तिम चार पद्यों में ग्रन्थकार ने अपने परिवार का परिचय दिया है। साथ ही यह आशा भी व्यक्त की है कि इस कृति के कर्ता के रूप में वह विद्वानों की स्मृति के विषय सदा बने रहेंगे। क्योंकि उन्होंने जो कुछ लिखा है सबया मौलिक एवं उनका अपना है, दूसरों के मतों का सग्रह नहीं। अतः विद्वान् लोग दो प्रकार से उन्हें याद रख सकते हैं। कुछ तो इमलिये कि उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त का रचण कर एक ऐसा प्रयास किया है जो उपहाम का विषय है। दूसरे लोग जो इमको समझेंगे वह इस दृष्टि से उनको नहीं भूलेंगे कि उन्होंने ध्वनि नामक तत्त्व की गवेषणा करके नवीन विषयों का जो प्रतिपादन किया है उससे उनकी बुद्धि को परितोष मिला है—

अन्यौरनुल्लिखितपूर्वमिदं श्रुवाणो नूनं स्मृतेर्विषयतां विदुषामुपेयाम् ।

हासककारणगवेषणया नवार्यतत्त्वावमर्शपरितोषसमीहया वा ॥^२

(घ) ग्रन्थ-गरिमा

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ की गरिमा के विषय में भी कुछ कहना आवश्यक है। इन ग्रन्थ की सबसे बड़ी गरिमा इसकी मौलिकता में है जिसके ऊपर ग्रन्थकार को भी गर्व है। वह अपनी युक्तियों एवं तर्कों को 'अनुल्लिखित पूर्व' कहते हैं। जिसका उल्लेख इनके पूर्व के किसी भी विद्वान् ने नहीं किया है अर्थात् वे सबया नवीन अतः मौलिक हैं। वास्तव में ध्वनि का यह विवेचन

१. व्यक्ति-विवेक का०, २।१६६

२. व्यक्ति-विवेक कारिका, ३।३८

एक प्रकार का शोध-कार्य है जिसे महिममट्ट ने इस दृष्टि से प्रस्तुत किया है कि विद्वद्गं इस पर विचार करे। इनकी युक्तिया अच्चे से अच्चे विद्वान् को भी प्रभावित किये बिना नहीं रहती। यह बात और है कि उनकी यथार्थ रूप में समझने के लिये एक विशिष्टस्तर की योग्यता अपेक्षित है। महिममट्ट ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही स्पष्ट कर दिया है कि हमारा यह प्रयास साहित्यशास्त्र के साधारण विद्यार्थी के लिये नहीं है अपितु उन विद्वान् के लिये है जो मेरी तरह (व्याकरण न्याय एवं मीमांसा आदि शास्त्रों में भी पारगट) हैं।

युक्तोऽयमात्मसद्दृशान् प्रति मे प्रपन्नः

महिममट्ट यह भली भाँति जानते थे कि उनकी कृति, ध्वन्यालोक आदि की तरह अत्यधिक लोकप्रिय नहीं हो सकेगी। उन्हें इस बात का क्षोभ भी नहीं था। क्योंकि जैसा कि उनका ही कहना है—ससार में ऐसा कोई भी विषय, वस्तु या व्यक्ति है ही नहीं जो सर्वमनाहर हो।

नास्त्येव तज्जाति सर्वमनोहर यत्

सर्वमनोहर के दोना अर्थ सम्भव हैं—सब प्रकार से मनोहर या सर्वप्रिय। इस बात का निदर्शन देते हुए उन्होंने लिखा है कि मेरी इस बात का प्रमाण प्रत्यक्ष है। जगत् के जीवन-दायक सूर्य के उदय होने पर सभी प्रसन्न ही नहीं होते। अपितु सूर्यकान्त भणि प्रमृति कुछ ऐसे भी होते हैं जो जलने लगते हैं तथा कुमुदिनी जैसे कुछ अन्य भी हैं जो उसे सहन न कर जब कुछ कर नहीं पाते तो अपनी आँखें ही मंद लेत हैं।

कैचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निमील—

स्यन्ये यदन्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥११२॥

व्यक्ति विवेक ग्रन्थ को विद्वान् की परीक्षा का विषय बनाते हुए वह उनके न्याय में अपनी आस्था प्रकट करते हैं। उनका विश्वास है कि उच्च-कोटि के विद्वान् शृंग के समान होते हैं जिसका यह स्वभाव ही होता है कि वह भूती को ग्रहण नहीं करे।^१

व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ की गरिमा का आघायक दूसरा तत्व उनके द्वारा अपनायी गई विषय विवेचन की समाप्त शैली है। अपनी प्रणाली की उपयुक्तता पर प्रकाश डालते हुए ग्रन्थ-कार कहते हैं कि—विषय का सक्षेप में या विस्तारपूर्वक विवेचन पाठका की योग्यता को ध्यान में रख कर ही किया जाता है। यदि बोद्धा साधारण कोटि का है तो व्यास शैली का अपनाना आवश्यक हो जाता है। चूँकि इस ग्रन्थ का प्रणयन कुछ विशिष्ट कोटि के विद्वान् को ही दृष्टि में रख कर किया गया है अतः विस्तार में जाना उचित नहीं समझा गया। कहने का अभिप्राय यह है कि व्यक्ति विवेक ग्रन्थ समाप्त शैली में लिखा गया है जो सर्व-साधारण के लिये बोधगम्य नहीं है। इसी प्रसंग में महिममट्ट ने विद्वान् की इस प्रवृत्ति का मनोवैज्ञानिक निरूपण किया है कि जब किसी बात का बहुत विशद रूप से विवेचन किया जाता है तो विद्वान् लोग गुण में भी दोषाविष्कार रूप असूया करने लग जाते हैं।^२

१. किन्तु तदवधीर्पर्यगुणलेगो सततमवहितं भव्यम् ।

परिपवनवदयथा ते न सिञ्चितास्तुयप्रहणम् ॥

—व्य० वि० का०, ३। ३६ ।

२. प्रतिपाद्यबुद्धयपेक्षो प्रायः सक्षेपविस्तरौ कर्तुः ।

तेन न बहुभाषित्वं विद्वद्भिरसूयितव्यं न ।

—वही—३।३७

(इ) वैगुण्य

इन सब के अतिरिक्त व्यक्ति-विवेक में कुछ वैगुण्य भी है। ग्रन्थ में विषय का विवेचन जितनी विद्वत्ता के साथ किया गया है उतनी योग्यता या परिश्रम के साथ उसे व्यवस्थित रूप नहीं दिया जा सका है। फलतः सारी सामग्री इतस्ततः अँधेरे कमरे में त्रिसरी-सी पड़ी है। ग्रन्थकार विषयवस्तु के प्रतिपादन में सहसा विषयान्तर से उलझ जाता है और कई पृष्ठ के अनन्तर अपने पूर्व विवेच्य विषय की पुनः चर्चा सहसा कर बैठता है जिससे पाठक की बुद्धि भ्रम में पड़ जाती है और उसमें विषय के प्रवाह की स्वरूपता बनी नहीं रहती। एक ही साध अनेक विषयों के बोध का भ्रम बनाये रखने की क्षमता किसी असाधारण पाठक में ही संभव है। प्रथम विमर्श में यह दोष विशेष रूप से है। इसका एक कारण ग्रन्थकार द्वारा अपनायी गई समास शैली में विषय का विवेचन करना भी है। यही कारण है कि ग्रन्थ के आरम्भ में विवेच्य-विषयों की एक तालिका प्रस्तुत कर सकना संभव नहीं। ध्वनिकाव्य लक्षण की मीमांसा में ही काव्य के आधायक प्रायः सभी महत्वपूर्ण तत्वों का दिना किसी भ्रम एवं व्यवस्था के अस्तव्यस्त रूप में निरूपण हुआ है। मुझे तो ग्रन्थकार की यह कृति शीघ्रता में की गयी प्रतीत होती है। लगता है कि आरम्भ में सुव्यवस्थित रूपरेखा प्रस्तुत किये बिना ही ग्रन्थ का सहसा आरम्भ कर दिया गया है। यहाँ तक कि ध्वनिविरोधी अन्य आचार्यों की उन कृतियों का भी उपयोग नहीं किया जा सका जो सम्भवतः उन दिनों उपलब्ध थीं पर आज सर्वथा अलभ्य हैं। यद्यपि महिमनट्ट ने इस बात को बड़े गर्व से कहा है कि मेरी बुद्धि ने दर्पण एवं चन्द्रिका के प्रकाश के बिना ही ध्वनि का खण्डन किया है।^१ आज के पांडित्य की दृष्टि से किसी भी ग्रन्थ की यह एक बहूत बड़ी कमी है कि तद्विषयक निखिल सामग्री का उपयोग न किया जाय। व्यक्ति-विवेचन के समय तक उनके ही उल्लेख के अनुसार 'भट्टनायक' का 'हृदय-दर्पण' एवं 'चन्द्रिका' नामक कृतियाँ ध्वनि सिद्धान्त के विरोध में की गई थीं। चन्द्रिका संभवतः ध्वन्यालोक की कोई टीका थी जिसमें ध्वनिसिद्धान्त का खण्डन किया गया था। 'दर्पण' या 'हृदय-दर्पण' भट्टनायक की अनुपलब्ध कृति है। इसका क्या स्वरूप था कहा नहीं जा सकता। अभिनवगुप्त की टीका 'लोचन' में उपलब्ध 'दर्पण' के उद्धरणों से तो यही प्रतीत होता है कि वह भी ध्वन्यालोक की कोई टीका ही थी। जो भी हो व्यक्ति-विवेक के शीघ्रतापूर्वक लिखे जाने के कारण इनमें विषय के विवेचन में पूर्वापर भाव का विधान यथास्थान नहीं हो पाया है। ग्रन्थकार को जो उक्ति जब मूझी है उसने उसका वहीं उपन्यास कर दिया है। फलतः विषय का विवेचन कुछ उलझा हुआ सा है जो ग्रन्थ की गरिमा को निश्चित रूप से उस पहुँचाता है।

इन सबके होते हुए भी ग्रन्थ की उपादेयता का अपलाप नहीं किया जा सकता। महिमनट्ट की दृष्टि में जब दुनिया की कोई वस्तु सर्वमनोहर नहीं हो सकती तो उनकी कृति में भी दो-एक दोषों का होना स्वामाविक ही है। आधुनिक समीक्षक इस दान में एकमत हैं कि महिमनट्ट के ग्रन्थ व्यक्ति-विवेक का मूल्यांकन जैसा अपेक्षित है अभी तक नहीं हुआ। डॉ० पी० वी० काणे का यह कथन सर्वथा यथार्थ है कि व्यक्ति-विवेक अलंकारशास्त्र में मूर्धन्य एवं उत्तम कोटि की कृति है। पर अभी तक उपेक्षा के अन्धकार में पड़ी हुई है।^२

१. व्यक्ति-विवेक का० १४, ५।

२. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत पोयेटिक्स—पृ० २४३ (तृतीय संस्करण)

पंचम-विमर्श

व्यक्ति-विवेक को टीकायें

व्यक्ति-विवेक पर टीकायें नहीं के बराबर हुई हैं। उनका कारण ग्रन्थ का ध्वनि-विरोधी होना समझा जाता है। किन्तु यह बात शन-प्रतिगत यथार्थ नहीं। प्रसिद्ध-परम्परा के विरुद्ध एव सर्वथा मवीन होने पर भी आनन्दवर्मन के ध्वन्यालोक की टीकायें उन्हीं दिनों हुईं। उनकी 'चन्द्रिका' टीका या जब उपलब्ध नहीं है निश्चय तप से ध्वनि-विरोधी विद्वान् द्वारा की गई थी। 'दर्मण', 'हृदय दर्मण' या 'सहृदय दर्मण' जिनके कर्तृत्व का श्रेय मद्दनायक को दिया जाता है तथा जो अब अनुपलब्ध है, सम्भव है ध्वन्यालोक की टीका ही रहा हो। अग्निवज्जुन कृत 'लोचन' टीका तो उपलब्ध ही है। उस प्रकार थोड़े ही दिना में ध्वन्यालोक की अनेक टीकाओं के होने के मन्त्रेण जिम प्रकार मिलने हैं उन्ही प्रकार व्यक्ति-विवेक की अनेक टीकाओं के होने के मन्त्रेण भी नहीं मिलने। उनका कारण ग्रन्थ का विलक्षण होना ही प्रतीत होता है। व्यक्ति-विवेक की भाषा उसके विषय-विवेचन की गौरी एव विवेच्य विषय की वृत्तता आदि कुछ ऐसी बातें हैं कि व्यक्ति-विवेक की टीका करना नादारण काम नहीं है। ग्रन्थकार की स्थापनाओं से सहमत न होने हुए भी उन पर टीका लिखी जा सकती है। पर उसके यथोचित निर्वाह में मन्दह अवसर होता है। अतः टीकाकार ने टीका करने की अन्य आवश्यक योग्यताओं के साथ-साथ उनका उन्ही मिद्धान्त का समर्थक होना भी अपेक्षित है। महामात्यकार पञ्जलि का कहना है कि पद्मों का विनाश कर देना मात्र व्याख्यान नहीं होता जसितु उदाहरण प्रमुदाहरण वाक्या-ध्याहार प्रमृति अनेक ऐसी बातें होती हैं जिन सब को मिला कर ही टीका कहने हैं।^१

व्यक्ति-विवेक की जब तक कुल दो टीकायें तथा एक हिन्दी अनुवाद हुआ है। इनमें से एक मात्र प्राचीन टीका 'रस्यक' कृत 'व्यक्ति-विवेक-व्याख्यान' है। दूसरी टीका का नाम 'विवृति' या मनुसूदन-विवृति है जिनके र्त्ता मनुसूदन शास्त्री हैं तथा एकनाम हिन्दी अनुवाद हिन्दी-व्यक्ति-विवेक के नाम से रेवाप्रसाद द्विवेदी ने किया है।

१. व्याख्यान या व्यक्ति-विवेक-व्याख्यान

'व्याख्यान' या 'व्यक्ति-विवेक-व्याख्यान' व्यक्ति-विवेक की एकमात्र प्राचीन टीका है जो रस्यक के नाम से 'विवेचन' तथा कारणभी से प्रकाशित हुई है। यह टीका सम्पूर्ण व्यक्ति-विवेक पर उपलब्ध भी नहीं होती, द्वितीय विमर्श के मन्त्र में ही समाप्त हो जाती है।

१. न केवलानि चर्चार्थानि व्याख्यानम् वृद्धिः आत् एव इति क्लिप्ति उदाहरण प्रमुदाहरण-वाक्याध्याहार इत्येतेऽनुवृत्तं व्याख्यानं भवति । व्याकरणमहामात्य पञ्जनाहिक ।

स्यल पर ग्रन्थकार की उक्तियाँ के दोषोद्भावन में ही रचि लेता है। अतएव कहीं पर ग्रन्थकार के किसी स्यल की व्याख्या करना यह कह कर टाल देना है कि यह तो अपने सामने किसी को या समूचे विश्व को बूढ़ न गिने वाले (महिममट्ट) का अपने को सबसे बट कर बताना मान है^१, तो कहीं ग्रन्थकार को साहित्य के विचार का दुर्निरूपक^२ कह कर उसके स्खलन एव प्रमाद^३ का ही उल्लेख करता है। यह सही है कि कृति की व्याख्या में गुणों के साथ दोषों का विवेचन होना चाहिये। किन्तु कृत्तिकार के प्रति उक्त प्रकार के भाव का प्रकाशन टीकाकार की उस अनास्था का द्योतक है जो ग्रन्थकार के सिद्धान्तों के प्रति उमकी वृद्धि में पूर्वन विद्यमान है। फिर ऐसे टीकाकार से मूलग्रन्थ की समीति बँटाने एव उसके महत्त्वपूर्ण स्थलों को खोल कर पाठकों के समझ प्रस्तुत करने का परिश्रम ही क्यों करते दनेगा। व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ की टीका उन व्यक्ति के बस की बात भी नहीं है जो केवल अलंकारशास्त्र में ही पारंगत है।

व्यक्ति-विवेक पर उक्त 'व्याख्यान' टीका के कर्ता होने का श्रेय प्रसिद्ध आलंकारिक विद्वान् अलंकार-सर्वस्व प्रभृति अनेक ग्रन्थों तथा 'संकेत' आदि टीकाओं के कर्ता रघ्यक को दिया जाता है जो महिममट्ट के समान ही राजानक उपाधि से विभूषित एक काश्मीरी ब्राह्मण थे। टीका की प्रथम विमर्श में प्रयुक्त पुष्पिका में यह तथ्य विदिन होना है।^३ इसकी पुष्टि रघ्यक के प्रसिद्ध ग्रन्थ अलंकार-सर्वस्व की टीका 'विमर्शिनी' से भी होती है जिसमें रघ्यक की ओर से यह कहा गया है कि इसका निर्णय देने ही व्यक्ति-विवेक विचार में विस्मयपूर्वक किया है।^४ रघ्यक का समय उनके काव्यप्रकाश के टीकाकार होने से मम्मट (११०० ई०) के बाद एव काव्यप्रकाश के ही अन्यतम टीकाकार माणिक्यचन्द्र (११५९ ई०) के द्वारा उल्लिखित होने से उनसे पूर्व लगभग (११५० ई०) है जिसका विस्तृत विवेचन इसी ग्रन्थ में महिममट्ट के समय के विवेचन के अवनत पर किया जा चुका है।

'रघ्यक एव मख या मखुक'

कुछ विद्वानों की धारणा है कि अलंकार-सर्वस्व के सूत्रों की रचना रघ्यक ने की थी, उन पर वृत्ति उनके सिष्य मख या मखुक ने लिखी। चकि अलंकार-सर्वस्व की वृत्ति में ही व्यक्ति-विवेक पर टीका लिखने की बात का संकेत मिलता है अतः वह टीका (व्याख्यान) मखुक वृत्त ही होनी चाहिये, रघ्यक वृत्त नहीं। किन्तु यह कथन निरगल इसलिये है कि एक तो अलंकार-सर्वस्व के सूत्र एव वृत्ति दोनों ही रघ्यक वृत्त हैं। इनके अग्रान्त प्रमाण उपलब्ध होने हैं; तथा व्यक्ति-विवेक के व्याख्यान टीका की पुष्पिका में भी जब टीकाकार का नाम

१. तदेतदस्य विश्वमरणनीय मन्वमानस्य स्वान्मनः सर्वोन्कर्यशालिताख्यापनमिति ।

—व्यक्ति-विवेक, पृ० ४१ । व्याख्यान टीका ।

२. एतच्चास्य साहित्य-विचार दुर्निरूपकस्य प्रभुत्वे एव स्खलितमिति महान् प्रमादः ।

—वही, पृ० ५

३. इतिथी राजानक-रघ्यक-विरचिते व्यक्ति-विवेक-व्याख्याने प्रथमो विमर्शः समापत ।

—व्यक्ति-विवेक व्याख्यान, (चौखम्भा)

४. व्यक्ति-विवेक-विचारे हि मयैवंतद्वितत्य निर्णोतमिति भावः ।

—अलंकार-सर्वस्वटीका विमर्शिनी—पृ० १६ (त्रिवेन्द्रम्)

राजानक रच्यक मिलता है तब एक ही इस टीका को रच्यक के अतिरिक्त किसी अन्य द्वारा कृत मानने का कोई प्रश्न नहीं उठता। दूसरे इससे अलंकार-मर्मस्व की वृत्ति के कर्ता भी स्वयं रच्यक ही मिद्ध होते हैं, क्योंकि वृत्ति में ही यह मर्म उभलव्य होता है कि वह व्यक्ति-विवेक के टीकाकार हैं।

राजानक रच्यक अष्टवारशास्त्र के प्रसिद्ध आचार्य हैं। इनकी वृत्ति अलंकार-सर्वस्व अष्टवारो के स्वरूप एवं लक्षण के निरूपण के सम्बन्ध में मर्मस्व समझी जाती है। यद्यपि यह ध्वनिवादी आचार्य हैं जैसा इनके ग्रन्थ अलंकार-मर्मस्व के प्रथम उपोद्घात-प्रकरण में स्पष्ट है तथापि इन्होंने एकमात्र अलंकारो का ही निरूपण अपने इन ग्रन्थ में किया है। ध्वनि या गुणी-भूत-व्यग्य का नहीं। इसके अतिरिक्त रमवत् प्रयं ऊर्जस्वि एवं नमाहित तथा द्वितीय-उदात्त नामक अष्टवारो का भी निरूपण अन्य अष्टवारो की ही सरणि पर किया है जो ध्वनि सिद्धान्त के अनुसार उपयुक्त नहीं प्रतीत होता। ध्वनि-मर्मप्रदाय रमवत् आदि को अलंकार नहीं मानता। व्यक्ति-विवेक की इनकी टीका में स्थल-म्यल पर अनुमिति के खण्डन एवं ध्वनि के पोषण की प्रवृत्ति पायी जाती है।

२. विवृति या मधुसूदनी विवृति

व्यक्ति-विवेक की दूसरी मन्वृत टीका विवृति है जिसको टीकाकार ने अपने नाम के साथ लगाकर मधुसूदनी-विवृति भी कहा है। इस टीका को नाट्यकार के मन्वृतों में 'चर्चा-पदानि' कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी। इसकी विगोपना यह है कि यह अप से लेकर इति तक के समूचे मूल-ग्रन्थ पर है और अभिधेय की समझने के लिये पर्याप्त सहायक है। यह अत्यन्त ही सरल भाषा और शैली में लिखी गई है तथा अन्वय-भुजेन वाक्य एवं मंत्रह श्लोकों या उदाहरणों की व्याख्या प्रस्तुत करती है। मोटे तौर पर ग्रन्थ को लगाने के लिये यह टीका जहाँ उपादेय है वहीं विशिष्ट स्थलों की विराम व्याख्या प्रस्तुत कर वक्ता के अनिप्राय को खोल कर रखने एवं उसके महत्त्व का नहीं मूल्यांकन करने की क्षमता से रहित भी है। पाणिनि के सूत्र वात्स्यायन के वार्तिक, पतञ्जलि के महानाट्य, नर्तृहरि के वाक्य-पदीय तथा बुनाग्लि-मट्ट आदि के संगृहीत उद्धरणों का उल्लेख करना तो दूर की बात है, इसके विपरीत यह टीका कही-कही भ्रान्ति भी पैदा करने से नहीं चूकती। शान्तिरक्षित के तन्त्रदानिक की वारिका 'मार्णिसिद्धि प्रमयोः' इत्यादि को श्री शंकर की^१ तथा अग्निनन्दमारती में उल्लिखित 'सुविदनास्य-व्यंग्यस्वपरसंवित्तिगोचर' इत्यादि वारिका को 'तादृशः पाठः श्री शंकरान्य हृदयदर्पणवर्तते' में श्री शंकर की कहा है^२; जब कि साहित्यशास्त्र का प्रत्येक विद्यार्थी इस बात को जानता है कि 'हृदय-दर्पण' मट्टनायक की वृत्ति या, श्री शंकर की नहीं।

इस टीका के कर्ता श्री मधुसूदन शास्त्री हैं जो काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मन्वृत महाविद्यालय में साहित्य के प्राध्यापक हैं। व्यक्ति-विवेक की टीका का यह दूसरा प्रमाण है जिसको करके शास्त्री जी ने मन्वृत जगत् का बहुत उपकार किया है।

१ व्यक्ति-विवेक टीका, पृ० ७४

२. वही, पृ० ६७

३—अनुवाद—हिन्दी-व्यक्ति-विवेक

'हिन्दी-व्यक्ति-विवेक', व्यक्ति-विवेक तथा इस पर एक मात्र उपलब्ध रचयक को अधूरी मस्कृत टीका 'व्याख्यान' का अविकल हिन्दी अनुवाद है जो चौवमा-विद्या-भवन, वाराणसी से १९६३ ई० में प्रकाशित हुआ है। यह एक बड़ा ही उत्तम एवं मराहनीय कार्य है जिम्मे आज के अनेक विद्वानों को महिमामंडित के काव्यानुमिति-सिद्धान्त विषयक जिज्ञासा को अवश्य ही शान्ति प्रदान किया होगा। अनुवादक श्री. रेवाप्रसाद जी द्विवेदी मेरे छात्र जीवन के मित्रा में से हैं जो आरम्भ से ही बड़े व्युत्सन्न एवं कुशल छात्र रहे हैं। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के मस्कृत एवं भारतीय महाविद्यालय के वह छात्र रहे हैं जो सम्प्रति मध्यप्रदेश के रायपुर नगर के राजकीय सस्कृत महाविद्यालय में प्राध्यापक हैं। इतना यह कार्य सर्वथा प्रशंसनीय है। 'विमर्श' के नाम से साहित्य शास्त्र की अन्य प्रकार की जानकारी का विस्तार पूर्वक विवेचन यहाँ सर्वथा अनपेक्षित था जो ग्रन्थ के कलेवर की वृद्धि मात्र करता है। साथ ही अनुवाद कार्य की गरिमा को भी डेन पहुँचाता है। इनकी अपेक्षा टीका की सहायता से मूल के खोलने का कार्य अधिक श्रेयस्कर हुआ होगा। जिन उपाशना के लिए महिमामंडित ने व्यक्ति विवेक की रचना की है उनकी समुचित गवेषणा हुए बिना व्यक्तिविवेक का विवेक यथावत् नहीं हो सकता। इन आवश्कता की पूर्ति के लिये व्यक्ति-विवेक पर अनेक शोध-कार्य अपेक्षित हैं।

द्वितीय-अध्याय

प्रथम-विमर्श

काव्य-प्रयोजन

(अ) काव्य के सामान्य एवं विशिष्ट प्रयोजन

'प्रयोजनमनुद्दिश्य मन्देशपि न प्रदत्तंते' किमी भी कार्य में वृत्ति की प्रवृत्ति का कोई न कोई प्रयोजन अवश्य होता है। मन्दबुद्धिजन भी कार्य में प्रवृत्ति के पूर्व प्रयोजन या फल के प्रति जिज्ञासु अवश्य होते हैं। यही कारण है कि विषय या कार्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण होने पर भी जब तक प्रयोजन न बताया जाय तब उन स्वीकार तक नहीं करना चाहते, उनमें प्रवृत्त होने की बात तो दूरगते है। अतएव किसी भी प्रथम प्रयोजन में अनिष्टकारी, विषय, मन्द्बुद्धि और प्रयोजन ही अनुद्बुद्ध-चतुष्टय का विवेचन आवश्यक माना गया है। काव्य में प्रवृत्ति के प्रयोजन का प्रतिपादन आरम्भ से ही संस्कृत काव्यशास्त्र का मुख्य विवेच्यविषय रहा है। अग्नि-पुराण तथा भरत-नाट्यशास्त्र में लेकर पण्डितराज जगन्नाथ त्रक के अलङ्कार-शास्त्र के सभी अध्यायों में काव्य के प्रयोजन का विवेचन एवं माहौल-माहौल निरूपण हुआ है। प्रकृत स्थल पर हम काव्यप्रयोजन-विषयक विविध मतों का उल्लेख कर राजानव महिमनदत्त के मत का अनुवाद-कन करेंगे कि उनके ऊपर किन आचार्यों का कितना प्रभाव है, उनमें कितनी मौलिकता है तथा उत्तरकालीन आचार्यों को उन्होंने कितना प्रभावित किया है।

काव्य केवल एक कला ही नहीं है अपितु ललित कलाओं में इसका मूर्धन्य स्थान है। कला का जो प्रयोजन या उद्देश्य हो सकता है वही सामान्यरूप में काव्य का भी प्रयोजन स्वीकार किया जा सकता है। साथ ही उज्ज्वल अपना विशेष प्रयोजन भी हो सकता है जो अन्य कलाओं का न हो। कला का उद्देश्य क्या है? यह एक विवादास्पद प्रश्न है। कोई कला ना एक मात्र उद्देश्य कीर्ति कहेंगे तो अन्य उन अर्थोन्मूलन का साधन मात्र। अनुसृष्टि, विनोद आदि और भी अनेक ऐसी बातें हैं जिनकी प्रयोजनीयता का अपलाप नहीं किया जा सकता। यही प्रश्न काव्य के साथ भी है। अग्निपुराण धर्म, जय और काम इस त्रिवर्ग को ही काव्य का साध्य बहता

१. सर्वस्वेव हि शास्त्रस्य धर्मोवापि वस्यचित् ।

यावन् प्रयोजनं नोवकं तादत्तत्वेन गृह्यते ॥ —कुमारिलभट्ट-श्लोक-वार्तिक १।१२

२. शास्त्रादी षडवयसु अथैतारिविषयप्रयोजनसम्बन्धेषु—

ज्ञानार्थं ज्ञान-सम्बन्धं धोवुं धोना प्रदत्तंते ।

प्रयादी तेन षडवयसु सम्बन्धः सप्रयोजनः ॥ इति । इत्युक्तो विषयप्रयोजनादीनामात्मन-प्रयोजकत्वात्तद्वैतुत्वम् ।

—ब्राह्मणसिद्धि विधि ।

है^१ तो कविराज विश्वनाथ आदि साचार्य ऐसे हैं जो काव्य से ही मोक्ष की भी प्राप्ति मानते हैं और चतुर्वर्ग—यम अर्थ, काम, मोक्ष को ही काव्य का फल कहते हैं^२।

अलङ्कारशास्त्र के प्राचीनतम आचार्य भरत ने नाट्य को धर्म अर्थ, यशस्य और सापदेश्य कहा है^३। नामह के अनुसार उत्तम काव्य की रचना धर्म-अर्थ, काम एव मोक्ष प्रदता होती ही है नाथ ही। बहू कला मनिपुणता का आधान तथा कीर्ति और प्रीति की भी प्राप्ति कराती है^४। वामन ने काव्य की प्रशंसा करते हुए उसके दृष्ट आर अदृष्ट उभय-विध प्रयोजन का प्रतिपादन किया है। काव्य का दृष्ट प्रयोजन है प्राप्ति यथात् आनन्द और अदृष्ट प्रयोजन कर्ति^५। काव्यप्रकाशकार मम्मट ने पूर्ववर्ती आचार्यों के मता को श्रुतलित कर काव्य के ६ प्रयोजना का विनाद विवेचन किया है^६। यश अर्थ व्यवहारज्ञान अशुभविनाश, जानन्द एव उपदेश। इनमें से यश और अर्थ केवल कविगत है व्यवहारज्ञान और उपदेश केवल सहृदयगत एव अनुभवनाश तथा आनन्द उभयगत होते हैं। पण्डितराज जगन्नाथ ने कीर्ति, परमाह्लाद और गुरु राजा तथा देवता विग्रह का प्रसादन तीन प्रयोजना में ही उक्त सबका समाहार किया है^७। प्रसिद्ध नैन आचार्य हमचन्द्र ने भी मम्मट का सरणि पर हा आनन्द, यश और उपदेश का काव्य का प्रयोजन बताया है^८। यदि ममा आचार्यों के मता का सङ्कलन कर उनका वर्गीकरण करें तो इन सबका पाच वर्गों में रखा जा सकता है।

१ विवग-साधनम्-नाट्यम । —अग्निपुराण, ३३७।१

२ चतुर्वर्गं च प्राप्तिं सुखादल्पधियामपि ।
कान्तादेव धनस्तेन तत्स्वरूपं निगद्यते ॥ —साहित्यदर्पण—१।२

३ (क) कोडरोयं निच्छामो इत्य ध्रुव च यद्भवेत् ॥ —नाट्यशास्त्र, १।७
(ख) दिनोदजन लोके नाट्यमेतद् भविष्यति ॥ —नाट्यशास्त्र १।११
(ग) धर्ममर्थं यशस्य च सापदेश्यं करोम्यहम् ॥ —नाट्यशास्त्र १।१२

४ धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च ।
प्राप्तिं करोति कीर्तिं च साधु-काव्यनिबन्धनम् ॥ —काव्यालङ्कार १।२

५ काव्यं सद् दृष्टाद्दृष्टार्थं प्रीतिकीर्तिहेतुत्वात् ॥५॥
काव्यं सञ्वाह दृष्टप्रयोजनं प्रीतिहेतुत्वात्, अदृष्टप्रयोजनम् कीर्तिहेतुत्वात् ।
प्रीतिदृष्टात्काव्यबन्धस्य यशसः सरणिं विदुः । अकीर्तिवर्तिनीत्वेव कुक्कित्वविडम्बनम् ॥
कीर्तिं स्वयं कर्तव्याहारात्सारं विपश्चित् । अकीर्तिं तु निरालोचनरकोद्देशवृत्तिशाम् ॥
तस्मात्कीर्तिं नुसादात्तुमकीर्तिं तु निर्वहितुम् । काव्यालङ्कारशास्त्रायं प्रसाद्य कविपुणर्व ॥
वामन—काव्यालङ्कारशास्त्र एव वृत्ति—प्रथम अधिकरण १।५

६. काव्ययशसेऽर्पकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिवर्तये कान्तासांस्त्रततयोपदेशायुर्जे ॥ मम्मट—काव्यप्रकाश का० १।२

७ तत्र कीर्तिं परमाह्लादादगुरुराजदेवताप्रसादाद्यनेकप्रयोजितवस्य काव्यस्य ॥
—रसाङ्गाधर (काव्यमाला), पृ० ४ ।

८. काव्यनान्यथाय यशसे कान्तादुत्प्रेषदेशाय च । —काव्यानुशासन, पृ० २ ।

- (क) आनन्द—इसमें सद्यःपरनिर्वृति, परमाह्लाद, प्रीति, स्वान्तःसुख आदि सब आ जाते हैं ।
- (ख) विनोद—विश्राम, मनोरंजन, दुःखत्राण ।
- (ग) कीर्ति ।
- (घ) धर्माधिकारमोक्ष रूप पुरुषार्थ-चतुष्टय की प्राप्ति ।
- (ङ) उपदेश—कृत्वाकृत्य विवेक, विधिनिषेधमय धर्माधर्म की व्युत्पत्ति ।

कला के उद्देश्य या प्रयोजन का आज का स्वरूपी डिज़ाइट, प्लेजर अथवा एस्पे-टिव प्लेजर माना जाता है जिसका आनन्द में नलीमांति अन्तर्भाव किया जा सकता है। प्राचीन मस्कृत के अष्टादशशास्त्र के आचार्यों को कला का वह प्रयोजन जो बीसवीं सदी के विद्वानों को चमत्कारपूर्ण देन समझी जाती है, ज्ञात या और वह लगभग सभी आचार्यों के द्वारा इसी मूल या प्रीति आदि शब्दान्तरों से अभिहित किया गया है। अब प्रश्न उठता है कि इन प्रयोजनों में प्रधान और गौण भाव भी है या सब समान महत्त्व के हैं। विद्वानों में इसपर एकमत नहीं। फिर भी जैसा कि महामहोपाध्याय डा० पी० बी० वापे का मत है—आनन्द ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना गया है शेष गौण^१। समयान्तर में उन्होंने नाट्यशास्त्र, अग्निवगुप्त, मम्मट एवं अन्य आचार्यों के मतों को उद्धृत किया है जो विचारणीय है।

विशुद्ध आनन्द को काव्य का प्रयोजन या परमप्रयोजन कहने वाले आचार्य हैं अग्निवगुप्त। लोचन में कुछ स्थल ऐसे जाये हैं जहाँ उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा है कि आनन्द ही इन सबमें प्रधान प्रयोजन है।^२ रस को आनन्द स्वरूप बताकर नाट्य या काव्य की प्रधानता का तात्पर्य उसी से प्रतिपादित किया है और इस प्रकार आनन्द का ही काव्य के परमप्रयोजन के रूप में विधान किया है।^३ इसके बाद मम्मट ने 'सद्यः परनिर्वृत्तये' की व्याख्या करते हुए सद्यः रसास्वादन समुद्भूत, वेदान्तरसर्वांगून्य स्वरूप आनन्द को ही सकल प्रयोजन का मूलभूत कहा है।^४

अब विचारणीय प्रश्न यह है कि आनन्द काव्य का प्रधानप्रयोजन हो सकता है या नहीं। काव्य में आनन्द की प्रचुरता एवं रस-प्रवणता की प्रधानता अवश्य अपेक्षित है किन्तु वही काव्य का परमप्रयोजन हो यह आवश्यक है क्या? जीवन के संचार के लिए भोजन अनिवार्य तत्व है लेकिन भोजन को ही जीवन का परमप्रयोजन आज भी कोई स्वीकार नहीं करता। तथा यदि आनन्द को ही काव्य का मुख्यप्रयोजन मान लेते हैं तो काव्य की उत्तमता एवं अधमता का आधायक भी आनन्द की मात्रा ही होगी। जो कविता जितना आनन्द प्रदान करेगी वह उतनी ही अधिक उत्कृष्ट बही जायेगी। यहाँ तक तो कोई आपत्ति नहीं क्योंकि काव्य की उत्तमता का मूल्यांकन ऐसे ही होता भी है। परन्तु जो काव्य अधिक से अधिक लोगों को आनन्द प्रदान

१. दित्त हैव बोध रिक्रानाद्गृह वाई संसृष्ट क्रित्वस्त फ्राम बेरी एनद्रिएण्ट टाईम्स ।

—हि० आष सं० पोपे०, पृ० ३३३ ।

२. सप्रापिभोतिरेवप्रधानम् — — — प्रधान्येनानन्दएवोक्तः । —लोचन, पृ० १२

३. प्रोःश्रात्माचरसस्तदेव नाट्यम्, नाट्यएव च वेद ईत्यस्मदुपाध्यायाः । —वही, पृ० १५९

४. सकलप्रयोजनमौलिनूतं समनन्तरमेव रसास्वादनममुद्भूतं विगलितवेदान्तरमानन्दम् ।

—काव्यप्रकाश, ११२, वृत्ति ।

करेंगे वही उत्तम काव्य होगा और इस प्रकार जनरुचि के अनुसार सिनेमा के वे गीत जो अस्लीलात्ता भरे होते हैं तथा जनसामान्य की जिह्वा पर नाचने रहते हैं उत्तम काव्य के ज्वलन्त उदाहरण कहे जायेंगे। साथ ही काव्य के सवेदन की महदय अनहृदय की व्यवस्था भी बड़ाई में पट जायेगी। यह कहना न होगा कि सिनेमा देखने में होने वाले जनसामान्य एव कलासमर्थ की आनन्दानुभूति की मात्रा में कोई अन्तर होता है। अनुभूति के माध्यम में अन्तर अवश्य हो सकता है किन्तु अनुभूति के स्वरूप एव प्रकार में किसी प्रकार का अन्तर सम्भव नहीं। अत आनन्द को काव्य का परम या मुख्यप्रयोजन स्वीकार नहीं किया जा सकता।

(इ) महिममट्ट का मत

महिममट्ट ने भी काव्यलक्षण निरूपण के अवसर पर काव्य के प्रयोजन का विवेचन किया है। उन्होंने मम्मट आदि के समान काव्य के विविध प्रयोजनों का परिगणन नहीं किया अपितु काव्य के मुख्य प्रयोजन का प्रतिपादन कर उनके समर्थन में कुछ युक्तियाँ दी हैं जो काव्य के उद्देश्य एव प्रयोजन की शास्त्रीय रीति से सीमासा करनी हैं। इसलिए काव्यशास्त्र के विकास में इतिहास में इसका अपना विशेष महत्व है। महिममट्ट का कहना है कि दृश्यध्वन्यात्मक उन्मत्त-विष काव्य का वही प्रयोजन है जो वेदादि शास्त्र का है और वह है विधिनियेषात्मक व्युत्पत्ति या कृत्वाकृत्य-विवेक का उपदेश।^१ वाचार्थ का कटना है कि फल की दृष्टि से काव्य और शास्त्र में कोई भेद नहीं। दोनों में परस्पर भेद का विनियामक उपाय-भेद या साधन-भेद है और इन प्रकार अधिकारि-भेद भी। शास्त्र का अधिकारी व्युत्पन्न एव बहुश्रुत व्यक्ति होता है जब कि काव्य का मार्ग तुकुमारमति जनसामान्य के लिए है। इसमें ध्वन्यकाव्य जहाँ राम-रावपादि प्रसन्न नायक-प्रतिनायक का आश्रयण कर विधिनियेषात्सद प्रसिद्ध-चरित का वर्णन करते हैं वहाँ नाट्य अवस्थानुभूति पुरस्सर उनी। चरित का दृश्यकाव्य के रूप में प्रदर्शन करता है।^२

इन प्रकार काव्य तुकुमारमति वारि सुनी उन राजपुत्रादि के लिए है जो शास्त्र के ध्वरण, पठन, मनन, निदिग्मानन आदि से सर्वथा विमुख होते हैं, जयवा मन्दबुद्धि उन सामान्य-जनों के लिए भी है जो स्त्री नृत्य नङ्गादि में प्रसक्त होने से शास्त्र को समझने में अनर्थ हैं। इन दोनों प्रकार के लोगों को शास्त्रीय कृत्वाकृत्य-विवेक किस प्रकार हो इसके लिए काव्य का मार्ग है। इनमें 'गुडजिह्विका' न्याय में उन्हें व्युत्पत्ति करानी जानी है। जिन प्रकार कटकी औषध स्वादिष्ट शहद में मिलाकर देने में एन बालक भी बड़े प्रेम में उनका पान कर जाता है उसी प्रकार अनिश्चय वस्तु नृत्य नङ्गादिमय रस में मग्न शास्त्रीय उपदेश को सर्वसामान्य की बुद्धि, विना जिन्हीं ननु नच के ग्रहण कर लेते हैं।^३

१. सामान्येनोभयमपि च तत् शास्त्रवद्विधिनियेषव्युत्पत्तिफलम्।—व्य० वि० प्र० वि० पृ० ९५

२. केवलं द्युत्साद्यजनजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायः। न फलभेदः।
—वही प्रथम विमर्श, पृ० ९६

३. तत्राद्य प्रसन्नतरामरावणादिनायकप्रतिनायकसमाश्रयेण प्रसिद्धविधिनियेषात्सदचरित-वर्णनगात्रात्मकम्। अपरं पुनरनुकारक्रमेण साक्षात् तत्प्रदर्शनात्मकम् ॥ —वही, पृ० ९६

४. एव च ये तुकुमारमतयः शास्त्रध्वन्यादिविमुखाः सुस्तिनो रासपुत्रप्रभृतयः पूर्वत्राविहृताः ये चात्यन्तनीपि जडमनसस्तावता द्युत्सादयितुमशक्याः स्त्री नृत्यातोद्यादिप्रसक्तता उभये-

इन प्रकार महिमनट्ट ने विधिनियमय वृत्त्यावृत्त्य-विवेक रूप उपदेश को ही काव्य का परमप्रयोजन प्रमाणित किया एवं रमानुमति या आनन्द को उसकी प्राप्ति का साधन या उपाय बताया। कवि को सावधान सा करते हुए उन्होंने बहुत जोर देकर यह कहा है कि— काव्य की सुरुजता के लिए उनमें उद्देशात्मक निबन्धन के माध्यम-माध्य रमात्मकता का प्राधान्य परम आवश्यक है। अन्यथा लोगों की उसमें प्रवृत्ति ही न होगी; उनमें वृत्त्यावृत्त्य रूप विवेक तो दूर की बात है। यहाँ आचार्य ने काव्य से आनन्द की अनिवार्य रूप से उपलब्धि के विधान के साथ उसकी मर्यादा भी बांध दी है और इन प्रकार 'आनन्द के लिए कला है' या 'कला के लिए कला है' इन पक्ष का सर्वथा निरसन करते हुए उन्होंने काव्य या कला में आनन्द के लिए बुरसति-बाधकता या उपदेशपरता का अक्षुद्रा लगाकर उसे मर्यादित कर दिया है। वह काव्य जो केवल आनन्द की भाशा से ओतप्रोत है, यदि वृत्त्यावृत्त्य विवेकमय उपदेश-गून्व हो तो काव्य की ही गगना में नहीं आ सकता, उसका उत्कृष्ट-वाच्य होना तो बहुत दूर की बात है। क्योंकि अधिकाधिक लोगों को आनन्दप्रद होते हुए भी उसमें काव्य का चरमत्व उपदेश निहित नहीं है। इसी परमप्रयोजन के उपनिबन्धन को लेकर ही काव्य के युक्त्यायुक्त स्वरूप एवं उत्तनाशन भेद का निर्धारण होगा। अतएव प्राक्जन् ऐहन्तन उन्मयविषय वाचनविशिष्ट सहृदय हृदय-सर्वेदनसौञ्जता की ही आवश्यकता होगी। तभी काव्यशास्त्र की सारी व्यवस्था बन पायेगी। अन्यथा यदि आनन्द को ही काव्य का सर्वस्व या परमप्रयोजन मानेंगे, जैसा कि अभिनवगुप्त आदि एवं आधुनिक कुछ पाश्चात्य विचारकों का ग्यन है, तो काव्य की उत्तनता का प्राधान्यत्व भी वही आनन्द होगा। जिस काव्य में अधिक आनन्द हो या जिसमें अधिक से अधिक लोगों को मजा आए वहीं सर्वोत्तम काव्य होगा। फिर सिनेमा के वे दृश्य और गीत जो जनसामान्य के दिल और जवान पर सदा नाचा करते हैं काव्य के उत्कृष्ट निदर्शन होंगे और उनकी सहृदय संवेद्यता जहाँ की वहाँ घटी रह जायेगी। फिर ऐसी काव्य कला के लिए तो 'वाद्यालापन-वजयेत्' की उक्ति ठीक ही है।

कला के आनन्दवादी दृष्टिकोण का ही यह प्रभाव है कि आज जो देखिए वही दाँड़-मुड़ा स्तिर के बाल बढ़ाकर कलाकार बनने का पाखण्ड करने लगा है और कला के नाम पर समाज में धूर्तता, पाखण्ड और व्यभिचार की प्रवृत्ति का खुलेआम प्रचार हो रहा है। कवि स्वाध्याय या मनन चिन्तन से प्रेरणा लेने की अपेक्षा तक साँक को ही प्रेरणा का स्रोत मान बैठा है और इसी की साधना में वेचन है।

महिमनट्ट ने विधिनियमय वृत्त्यावृत्त्य विवेक रूप जिन उपदेश की काव्य का परमप्रयोजन कहा है उनका ज्ञान चिरन्तन आचार्यों को सर्वथा नहीं या ऐसी मानना है। वाङ्मय में वाक् का प्रयोजन दूसरे को उसके हितार्थ से अवगन कराना ही माना गया है। कला का उद्भव ही इसीलिए हुआ कि हम अपने अनुभवों से दूसरों को लानान्वित करें। नरत-

शिव ते अभिमतवस्तुनुरत्कारेण गुडजिह्वरूपा रसास्वादनसुखं मुखेदत्वां तत्र कटुकोयप्र-
पानादाश्रित प्रवर्तयितव्याः ।

—व्यक्तविवेक, पृ० १६-१७

१. काव्यारम्भस्य साकश्यमिच्छता तत्प्रवृत्तिनिबन्धनभावेनास्परसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम् ।

अन्यथा प्रवृत्तिरेषां न स्यात्, किमुत व्युत्पत्तिः ।

—व्यक्तविवेक, पृ० १७

नाट्यशास्त्र में स्पष्ट तौर पर यह बताया गया है कि नाट्य जो कला मात्र का प्रतीक है, उत्तम मध्यम अधम सब प्रकार के लोगों को जा अपने-अपने कर्म में लगे हैं, हिनोपदेशप्रद होगा ।^१ यह रसभाव एव सब प्रकार के क्रियाकलापों में सब को उपदेश देगा ।^२ यह नाट्य, धर्म, अर्थ और आयु का प्रयाजक, स्त्रिकारी एव ज्ञानवर्धक होने के साथ ही लोगों के लिए उपदेशप्रद भी होगा ।^३ नामह ने भी अपने काव्यालङ्कार म स्पष्ट तौर से कहा है कि काव्य के स्वादिष्ट रस से मिश्रित शास्त्र का भी उपनाम उनी प्रकारहा जाता है जैम लग शब्द को चाटकर बटु-अपिष का पान कर जाते हैं ।^४ दण्डी ने भी एक स्थान पर कहा है कि शास्त्र में प्रतिज्ञा हेतु दृष्टान्त आदि बठोर शैली में सरल विचार भी कर्कश हो जाता है उनके लिए काव्य के सरल मार्ग का अनुसरण ही उपयुक्त है ।^५ अरबप ने सौन्दर्यनन्द म कहा है कि जिम कार्य का मोक्ष के लिए अन्यत्र किया गया है मैंने काव्य धर्म से उनी का प्रकथन किया है क्योंकि वह निम्न अपिष के समान था अत मधु स युक्त ह।कर किमी प्रकार वह दृश्य हा जाय यही मेरा प्रयास है ।^६ छट ने न। स्पष्ट ही कः दिया है कि काव्य म महदय ल।गा क। सरलतापूर्वक एव ग घ धर्मियाम माल्ल ह्यनुवंग म प्रवृत्त किया जाना है क्योंकि वे गाल्ना स नयान्वित हा इसलिए न गत हैं कि वे नीरस हने हैं ।^७

(उ) परवर्ती आचार्यों पर महिमभट्ट का प्रभाव

महिमभट्ट के वाद के आचार्यों ने न। इन तथ्य क। स्वीकार-मा कर लिया और अपने उपदेश को काव्य के प्रयोजन म मुंन स्थान दिया है। महिम के वाद मम्मट ने भी निवृ घनिवाद व्यञ्जनावाद के प्रस्थापन का श्रेय है कृत्वाकृत्य विवेक रूप उनी उपदेश का व्यान्तान्मित्त उपदेश कहा और मध परनिवृ तये के अनन्तर 'उपदेशमुजे' को रचकर उनकी प्रधानता का निर्देश भी कर दिया है। सनूचे वाङ्मय क. उन्होंने भी उपदेश ही माना है। यह उपदेश तीन

१. उत्तमायममघ्याता नराणा कर्मसधयम् ।

हिनोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति ।

—नाट्यशास्त्र १।१०९

२. एतद्रमेयु भावेषु सर्वकर्मक्रियासु च ।

सर्वोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति ।

—वही १।१०

३. धर्म्य यशस्यमायुष्य त्ति बुद्धिदिवर्धनम् ।

लोकोपदेशजनन नाट्यमेतद् भविष्यति ।

—वही १।११२

४. स्वादुकाव्यरसोन्मिश्र शास्त्रमप्युपयुज्जते ।

प्रमालोडमत्रव विवन्ति कटुभेषजम् ॥

—नामह, काव्यालङ्कार ५।३

५. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्घोषो न वैत्यसौ ।

विचार कर्कशप्रायस्तेनालीडेन किफल्म् ।

—दण्डी; काव्यादर्श ३।१०७

६. यन्मोक्षादृतमन्यवनरिन्मया तत्काव्यधर्माकृतम् ।

पानुनिक्वनिवीषय मनुयुन दृश्य कथ स्यादिति ॥ अरबघोष, सौन्दर्यनन्द—१०।६३

७. ननु काव्येन क्रियन्ते सरसानामवगमश्चतुर्वर्गो ।

लघुमुदुञ्च नीरसेन्यस्तेहि त्रस्यन्ति शास्त्रेभ्य ॥

—छट्ट; काव्यालङ्कार १।४

प्रकार का है—प्रमुसंमित, सुहृत्संमित और कान्तासंमित ।^१ प्रमुसंमित उपदेश वेदादि शास्त्र हैं । इनको प्रमुसमित इसलिए कहते हैं कि जिन प्रकार राजा का आदेश अक्षरमः परिपालनीय होता है उसी प्रकार शास्त्र का विधान भी है । उदाहरण-स्वरूप राजा ने विनी योद्धा को 'समर-सिंह' कहे जाने का आदेश दिया तो उसे 'सग्राम केशरी' के रूप में शब्द-परिवृत्ति करके पुरारा नहीं जा सकता । ठीक उसी प्रकार 'अग्निमोडे पुरोहितम्' इस वैदिक मंत्र की शब्दावली 'बहिनमोडे' या 'ईडेग्निम्' भी नहीं हो सकती । इस प्रकार इसमें शब्द की ही प्रधानता होती है ।^२ सुहृत्समित उपदेश इतिहास पुराणादि हैं । ये मित्र की सलाह के समान अर्थप्रधान होते हैं । वाच्य कान्तासमित उपदेश हैं । जिन प्रकार प्रिया नायिका की उक्तियाँ भावभरी होती हैं तथा उनमें शब्द और अर्थ की गौणता ही रहती है । उसी प्रकार लोकोत्तर वर्णना में निपुण कवि का वर्णन भागभूत विभावादि सयोजनात्मक व्यापार की प्रवणता के द्वारा ऐसे विलक्षण वाच्य का रूप धारण कर लेता है जहाँ शब्दार्थ गौणभाव से रहते हैं और जो कान्ता के ममान सरसता का संचार करते हुए सहृदय एवं कवि दोनों को अभिमुख करके यथायोग्य यह उपदेश देता है कि रामादि की तरह ही बरतना चाहिए रावणादि की तरह नहीं ।^३ ऐसे ही काव्य ने लिए प्रयत्न करना श्रेयस्करो है । मम्मट के अनन्तर के अलंकारशास्त्र के आचार्यों ने कविराज विश्वनाथ विशेष रूप से प्रशंसा की है । इनके ऊपर महिमनदट का सबसे अधिक प्रभाव है । व्यञ्जनावादी होते हुए भी इन्होंने अनेकत्र ध्वनिवाद की सरणि का प्रत्याख्यान किया है । विशेष रूप से मम्मट से कई विषयों पर वह अपनी असहमति व्यक्त करते हैं । कई स्थलों पर तो इन्होंने अपने मत की पुष्टि में व्यक्तिविवेककार महिमनदट को उद्धृत भी किया है । काव्य के प्रयोजन के विषय में यह पूर्ण रूप से महिमनदट से प्रभावित है । इनके अनुसार काव्य का एकरात्र प्रयोजन जनसामान्य को सरलतापूर्वक घमर्षिकाममोक्ष रूप चतुर्वर्ग-फल की प्राप्ति कराना ही है ।^४ इनका कहना है कि वेदादिशास्त्रों का विषय इतना नीरस और जटिल है कि उनसे चतुर्वर्गफल प्राप्ति के लिए परिपक्व-बुद्धि के लोगों को भी अथरु-परिश्रम का कष्ट उठाना पड़ता है । अतः शास्त्रों के द्वारा

१. प्रमुसंमितसदप्रदानवेदादिशास्त्रेभ्यः, सुहृत्संमितार्थतात्पर्यवत्पुराणादीतिहोसेन्दश्च, शब्दार्थयोः गुणभावेन काव्यम् कान्तेव उपदेशं च करोति । —काव्यप्रकाश, वृत्ति १।२
२. शब्दप्रधानं नाम शब्द-परिवृत्त्यहसत्वम् यथा देवदत्तः समरसिंहतया व्यवहृत्याम् इति प्रभोरादेशो सङ्ग्रामकेशरोति शब्दपरिवृत्त्या न व्यवहारः किन्तु समरसिंहतयैवेति शब्दप्रधानता प्रभोरादेशस्य । एवं वेदस्यापि । नहि 'अग्निमोडे पुरोहितम्' 'बहिनमोडे, ईडेग्निम्' इतिवैभक्तकलसाधकम् भवति ।
—यामनाचार्य शलकीकर, बालबोधिनी—काव्यप्रकाश टीका—१।२
३. शब्दार्थयोः गुणभावेन रसाङ्गमूतव्यापारप्रवणतया विलक्षणम् यत् काव्यम् लोकोत्तरवर्णनानिपुणकविकर्म तन् कान्तेव सरसतापादनेनाभिमुखोद्गत्य रामादिवद्वन्तित्यं न रावणादिवदित्युपदेशं च यथायोग्यं कवेः सहृदयस्य च करोति इति सर्वथा तत्र यतनीयम् ।
—काव्यप्रकाश, वृत्ति १।२
४. चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पविद्यामपि । काव्यादेश यतस्तेन तत्तत्वरुपं निगद्यते ॥
—सा० बर्षण १।२

परिणत बुद्धि के व्यक्ति को ही अभीष्ट की प्राप्ति सम्भव है, जनसाधारण या मन्दबुद्धि के व्यक्ति को नहीं। उनके लिए काव्य का सरल एवं सुखद मार्ग है। काव्य परम आनन्द के दायक हैं जिन सुकुमारमति के व्यक्ति की भी उनमें सुखपूर्वक गति सम्भव है।^१ इनका अभिप्राय यह नहीं कि परिपक्व या तीक्ष्ण बुद्धि के व्यक्ति के लिए काव्य नहीं हैं, अथवा जब वेद-शास्त्रों से ही अभीष्ट फल की प्राप्ति हो जाती है तो काव्य के प्रति प्रयत्नशील होने की उन्हें आवश्यकता नहीं। अपितु उन्हें भी यह उपदेश है क्योंकि जिम रोग की औषध कड़वी कुनैन है वह रोग यदि सफेद चीनी खाने से ही अच्छा होने लगे तो कौन ऐसा रोगी है जो सितशर्करा के सेवन के प्रति ही प्रयत्नशील न हो।^२ काव्य स चतुर्दशफलप्राप्ति की वान सुतरां निम्न है। यह सर्वविदिन है कि काव्य पितृ-भक्ति आदि सत्कर्मों में प्रवृत्ति एवं परदारापहरणादि अत्कर्मों से निवृत्ति रूप कृत्याकृत्य का विवेक कराते हुए सहृदय पाठक-श्रोता या प्रेक्षक को अप्रत्यक्ष रूप से यह उपदेश देता है कि रामादि के समान ही आचरण करना चाहिए, रावणादि के समान नहीं।^३ कहा भी है कि सत्काव्य के निबन्धन या सेवन से धर्मार्थकाममोक्ष की प्राप्ति एवं बलाओं में प्रवीणता का आधान होता है, साय ही वह कीर्तिदायी और प्रीतिपद भी होता है।^४ उदाहरणतः काव्य से धर्म की प्राप्ति पहले तो भगवान् नारायण के चरणारविन्द की स्तुति से होती है यह सभी जानते हैं। वेद भी कहता है कि एक शब्द को भी ठीक-ठीक समझकर उतका शुद्ध प्रयोग करने वाले व्यक्ति को इस लोक और परलोक उनयत्र यथाभिलषित मनोरथ की सिद्धि होती है। अर्थ की उपलब्धि तो प्रत्यक्ष ही निम्न है। अर्थ से ही काम की प्राप्ति सुतरां निम्न है। काव्यजन्य धर्म के फल के प्रति निष्काम भाव से एवं मोक्षोपयोगी वाक्यों का बोधक होने से काव्य से मोक्ष की प्राप्ति भी निःसन्देह है।^५

काव्य को निष्कृष्ट समझकर किसी ने जो उनके सेवनादि का निषेध किया था^६ उसका समाधान करते हुए विष्णुपुराण काव्य को भगवान् विष्णु की शब्दमयी मति कहना है जो भगवान्

१. चतुर्दशफलप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते ।
परमानन्दसबोहजनकतया सुखादेवसुकुमारमतोनामपि पुन काव्यादेव ।—सा० ६०, वृत्ति ११२
२. ननुतर्हि परिणतबुद्धिभिः सन्सुखेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्न करणीय इति न वचनव्यम् ।
कटुकौषधोपशमनोपस्य रोगस्य सितशर्कराशाम्नीपत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः
साधोयसी न स्यात् । —साहित्य-दर्पण, वृत्ति ११२
३. चतुर्दशफलप्राप्तिर्हि काव्यतो रामादिवत् प्रवर्तितव्य न रावणादिवत् इति कृत्याकृत्यप्रवृत्ति-
निवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतव । —साहित्य-दर्पण, वृत्ति ११२
४. उच्यते-धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्य बलासु च ।
प्रीति करोति कीर्ति च साधुकाव्यनिषेवणम् ॥ —भामह, काव्यालंकार, ११२
५. किञ्च—काव्याद् धर्मं प्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एक' शब्दः सुप्रयुक्तः ।
सम्यग्ज्ञानः स्वर्गं लोके च कामधुग्भवति, 'इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धं ।
अर्थ-प्राप्तिश्च प्रत्यक्ष-सिद्धा । कामप्राप्तिश्चाप्यद्वारेणैव । मोक्षप्राप्तिश्चैतज्जन्याधर्मफलान-
ननुसधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधापक्त्वाच्च । —साहित्य-दर्पण, वृत्ति ११२
६. "काव्यालानाश्च वज्रमेत" ।
—प्रकीर्ण ।

का ही अंग है ।^१ अग्निपुराण भी कवि और वाच्यशक्ति का माहात्म्य वर्णन करते हुए कहता है कि लोक में पहले तो मनुष्य होता ही दुर्लभ है, मनुष्यता में विद्या का मनागम तो और अधिक दुर्लभ । कवित्व की अपेक्षा विद्वत्ता फिर भी आसानी है, कवि होने पर भी वाच्य की उन्नतशैली-शालिनी प्रतिभा से सम्पन्न तो इने-गिने कवि ही होते हैं ।^२ ऐसा कविकर्म, वाच्य ही जननात्म्य तक को अनायाम ही शास्त्रजन्म फल की प्राप्ति कराने में समर्थ होता है । तनी तो कवि के लिए प्रयुक्त मनीषी, परिमूम्बपन् पदों की सार्थकता है ।

कविराज विश्वनाथ तो महिमनट्ट के मत से इनके प्रभावित हैं कि उन्होंने वाच्य प्रयोजन की उपदेशपरता का माहित्यदर्पण में स्थल-स्थल पर प्रतिपादन किया है । वाच्यलक्षण विवेचन के प्रसंग में भी वाच्य में रस की अनिर्वाच्यता एवं जैसा कि महिमनट्ट मानते हैं^३ रस की उपायपरता का विधान करते हुए कहते हैं कि रसास्वाद्य-मुखापिण्डदान द्वारा वेदशास्त्र विद्वान् मुकुमारमणि राजगुप्तादि शिष्यों को 'रामादिवत् आचरण करना चाहिए न कि रावणादिवत्' इत्यादि रूप में वृत्त्य में प्रवृत्ति और अवृत्त्य से निवृत्ति का उपदेश ही वाच्य का प्रयोजन है ।^४ यही पर उन्होंने अग्निपुराण एवं व्यक्तिविवेककार महिमनट्ट का वाच्यार्थानु विप्रयत्न मत नामन्त उद्धृत किया है कि 'वाणी में विदग्धता की प्रधानता होने पर भी रस ही वाच्य का प्राण है ।'^५ 'वाच्य की आत्मा रस ही है इसमें किन्हीं की असम्मति नहीं ।'^६ गोम्बामी तुलसीदास ने रामायण की कथा को विधिनिषेधमय एवं वेदादिशास्त्रों के समान ही 'कलमलहरणी' कहा है जिनमें वाच्य के कृत्यावृत्त्य विवेक रूप उपदेश की प्रधानता के पक्ष का ही समर्थन होता है ।

महिम के परवर्ती आचार्यों में पण्डितराज जगन्नाथ ही एक ऐसे हैं जिन्होंने उपदेश को उसी रूप में वाच्य का प्रयोजन स्वीकार नहीं किया है । इनके अनुसार कौटि, परमाहृद्यदम्बा गुर, राजा एवं देवता का प्रसाद आदि वाच्य के प्रयोजन हैं ।^७ प्रयोजन रूप में कौटि का उल्लेख नामहादि अनेक पूर्वाचार्य कर चुके हैं । गुर, राजा और देवता का प्रसाद धर्माधिकार की प्राप्ति

१. काव्यालापांश्च येवेच्चिद् गीतकान्याल्ललानि च ।

शब्दमूर्तिधरस्थिते विष्णोरंशा महात्मनः ॥

—सा० २० में उद्धृत, वृत्ति ११२

२. नरत्वं दुर्लभं लोके विद्यातत्र सुदुर्लभा । कवित्वं दुर्लभं तत्र शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा ॥

—अग्निपुराण, ३३७३

३. वाच्यस्य साफल्यमिच्छन्ता तत्प्रवृत्तिनिवन्धनभावात्तस्य रसात्मकत्वमवश्यमनुपगन्तव्यम् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १७

४. वाच्यस्यप्रयोजनं हि रसास्वाद्यमुखापिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविद्वान्मानां मुकुमारमनीषीनां राजगुप्तादीनां विनेयानां रामादिवत्प्रवृत्तिवर्जित्वं न रावणादिवदित्यादि कृत्यावृत्त्यनुवृत्ति-निवृत्त्युपदेश एव इति विरलन्तरंरम्भुवनत्वान् ।

—माहित्य-दर्पण, वृत्ति ११२

५. वाग्देवध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम् ।

—अग्निपुराण, ३ ७ १५

६. व्यक्तिविवेककारेणाप्युक्तम्—वाच्यस्यात्मनि संज्ञिति रसादिरूपे न वस्त्यविवृत्तमिति ।

—माहित्य-दर्पण, वृत्ति ११२

७. तत्र-कौटिपरमाह्लादगुरुराजदेवताप्रसादापिनेकप्रयोजनवस्य वाच्यस्य ।

—रसपंगवाद्य, पृ० ३

के श्रोतक हैं। परमाह्लाद पद से उन आनन्द का ग्रहण किया है जो लोकोत्तर हो। पण्डितराज आनन्द-सामान्य को काव्य का प्रयोजन नहीं मानते। 'तुम्हे पुत्र हुआ', 'तुम्हे धन दूंगा' आदि वाक्यों के बोध से जो आनन्द होना है वह लौकिक है। काव्य का आनन्द लौकिक नहीं अपितु लोकोत्तर होता है। यदि काव्य से लौकिक-आनन्द ही अभिप्रेत हो तो वह जिन किसी प्रकार से उपलब्ध है, पुनः काव्य की आवश्यकता ही क्यों। उन लोकोत्तर आनन्द ही काव्यानन्द है। लोकोत्तरता आह्लादगत वह चमत्कार है जिसका साक्षी एकमात्र सहृदय का हृदय ही होता है।^१ साहित्य-दर्पण ने भी सहृदयों की अनुमति को ही जन्मे प्रमाण माना है।^२ रसगणधर के टीकाकार प्रसिद्ध व्याकरण नागेशमठ्ट लोकोत्तर शब्द की मीमाणा करते हुए कहते हैं कि—आनन्दगत लोकोत्तरता सान्निध्य है या निरनिशय ? यदि सान्निध्य है अर्थात् इसने भी बटकर दूसरा आनन्द सम्भव है तो लोकोत्तर कहने से कोई लाभ नहीं। क्योंकि व्यक्ति और स्वार्थ भेद से आनन्द के सभी प्रकार लोकोत्तर सिद्ध हो जायेंगे तथा यहाँ अभिप्रेत लोकोत्तरता का निश्चय नहीं हो सकेगा, और यह लोकोत्तरता यदि निरनिशय है अर्थात् इससे बटकर कोई दूसरा आनन्द सम्भव नहीं तो वह आनन्द ब्रह्मानन्द ही हो सकता है।^३ पण्डितराज का अभिप्राय इसी आनन्द से है। वह काव्यानन्द को ब्रह्मानन्द-महोदर न कहकर ब्रह्मानन्द ही कहना चाहते हैं। इसीलिए रस की व्यक्ति को भग्नावरणाचिन् कहते हैं। व्यक्ति से यहाँ व्यजना वृत्ति नहीं अभिप्रेत है अपितु आनन्दस्वरूप वह शुद्ध चैतन्य ही विवक्षित है जिसका अज्ञान रूप आवरण दूर हो गया है। इसका विशेष विवेचन यहाँ अप्रासंगिक होगा। यहाँ हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि पण्डितराज काव्य का परम प्रयोजन रस चर्चणा मानते हैं जो परमाह्लादस्वरूप ब्रह्मानन्द की अनुमति ही है। शास्त्रादि का भी परमप्रयोजन अन्तर्गतत्वा परमेश्वर या ब्रह्म साक्षात्कार ही है। दोनों में भेद इतना ही है कि उपनिषद् प्रमाण वेदान्तादि दर्शनशास्त्र उस ब्रह्मानन्द की अनुमति के प्रयोजक समाधि आदि का विधान करते हैं जो अधिकारी विशेष के लिए ही सम्भव है। काव्य इसके विपरीत विभावादि के सयोजनात्मक व्यापार रूप कवि-कर्म के द्वारा ही उस परमत्व का साक्षात्कार कराते हैं।^४

(३) उपसंहार

इस प्रकार काव्य-प्रयोजन के विषय में महिनमठ्ट का मत है कि काव्य का मुख्य प्रयोजन

१. रसगीयता च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता। लोकोत्तरत्व च आह्लादगतश्चमत्कार-
स्वापरपर्यायोऽनुभवसाक्षिको जाति विशेषः। —रसगणधर, पृ० ४-५
२. सचेतज्ञानानुभवः प्रमाणं तत्र केवलम्। —साहित्य-दर्पण, ३।३
३. ननुलोकोत्तरत्व मया क्यञ्चिन् चतुर्नबोधः, आत्यन्तिक चेद् ब्रह्मानन्द एव अत आह—
लोकोत्तरत्वमिति। —रसगणधर टीका, पृ० ४, काव्यमाला, बम्बई।
४. वस्तुनस्तु—वश्यमाणश्रुतिस्त्वारत्येन रत्याद्यवच्छिन्ना भग्नावरणाचिदेवरसः चर्चणा चास्त्य
चिद्व्यगतावरणमंगः एव प्रागुक्ता। इय च परब्रह्मास्वादान् समाधिबिलक्षणा विभावादि-
विषयसवन्तचित्तचिदानन्दालम्बनत्वान्। भान्या च काव्यन्यायान् मात्रात्।

कृत्याकृत्य विवेक रूप उपदेश है। काव्य और शास्त्र में प्रयोजन की दृष्टि से कोई भेद नहीं। तत्तद् शास्त्र जहाँ अपने कठोर मार्ग से कुछ विशिष्ट अधिकारियों को ही लानान्वित कर पाते हैं वहाँ काव्य जनसामान्य को सरलतापूर्वक वहीं उपदेश देता है। इसका माध्यम-रसानुभूति है। रसानुभूति या आनन्द ही काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व नहीं है, वह तो उपायमात्र है।

काव्यशास्त्र के प्राचीनतम ग्रंथ भरतनाट्यशास्त्र आदि में काव्य की उपदेशपरता का विधान अवश्य हुआ है। किन्तु इस तत्त्व पर इतना जोर नहीं दिया गया है जितना अपेक्षित था। अनन्तर के आचार्यों ने क्रमशः उसकी अवहेलना आरम्भ की और आनन्द या प्रीति ही काव्य का मुख्य प्रयोजन माना जाने लगा। महामाहेदवर अभिनवगुप्त में, जो प्रत्यभिज्ञादर्शन के दिग्गज तत्त्व में आनन्द का ही प्राधान्य मानते थे, वह अपनी चरम-सीमा पर पहुँच गया जब वह काव्य का एकमात्र प्रयोजन^१ या सकलप्रयोजन का मूलभूत प्रयोजन^२ माना जाने लगा। महिमनदः ने वेदादि शास्त्र से काव्य की तुलना करते हुए इस आनन्द को काव्य का प्रयोजन नहीं किन्तु प्रयोजन का साधक तत्त्व बताया और शास्त्रों के प्रयोजन को ही काव्य का भी मुख्य प्रयोजन निर्धारित किया। इनका यह विवेचन उनकी बुद्धि की विदग्धता का परिचायक रूप पाण्डित्य-प्रदर्शन मात्र नहीं है अपितु हमारी सांस्कृतिक परम्परा के भी अनुरूप है। काव्य का आनन्दवाद जहाँ समाज को उच्छ्रंखलता की ओर ले जाता है वहाँ उपदेशवाद उसकी उत्तमता का प्रयोजक है। व्यक्ति और समाज का परमकल्याण ही काव्य का परम प्रयोजन होना चाहिए। यह मत नैतिक एवं आध्यात्मिक उन्नयनप्रवृत्ति के लोगों को मान्य एवं सादर स्वीकार्य है।

१. तत्रापि प्रीतिरेवप्रधानम् . . . प्रधान्येनानन्दएवोक्तः । —अभिनवगुप्त, लोचन, पृ० १२

२. सकलप्रयोजनमौलिभूतं समनन्तरमेव रसास्वादानसमुद्भूतं विगलितवेद्यान्तरम् आनन्दम् ।

—मम्मट, काव्यप्रकाश, वृत्ति ११२

द्वितीय-विमर्श

काव्यहेतु

कवि के विषय में यह विवाद सर्वसाधारण है कि वह जन्मजात होता है या द्युग एव परिस्थितियाँ की देन। उन्नयपथ के समर्थन में तक, युक्तियाँ एव अनेकानेक दृष्टान्त विद्यमान हैं। किन्तु एक सामान्य व्यक्ति भी इस तथ्य से अनवगत नहीं है कि प्रत्येक व्यक्ति कवि नहीं हो सकता। इसके विपरीत जो कुछ थोड़े से विशिष्ट व्यक्ति कविता के प्रति उद्युक्त होते हैं उनमें से भी ऐसे बहुत कम ही निकलते हैं जिन्हें सफलता की देवी वरण करती है। आनन्दवधन ने ठीक ही कहा है कि जातु म सबदा कविया की मूर्ती परम्परा रही है लेकिन विचार कर देखा जाय तो कालिदास प्रभृति दो-तीन या पाच-छ कवि ही ऐसे निकलते जिन्हें वास्तव में कवि कहा जाना चाहिए।^१ कालिदास के प्रसक्त किसी भावुक व्यक्ति की यह उक्ति यद्यपि अत्युक्ति ही लगती है कि—पहले कभी कविया की गणना के प्रसंग में सर्वप्रथम होने से कालिदास का नाम कनिष्ठायुली पर रखा गया और उसके बगल की अगुली का नाम अनामिका इसलिए सार्यङ्ग है कि आज भी कालिदास के तुल्य कवि का अभाव ही है।^२ फिर भी जिस सिद्धान्त की आड में ऐसा कहा गया है उन्नयपथ का अवसर नहीं। साहित्यशास्त्र इस प्रकार के सभी विषयों का वैज्ञानिक रीति से विवेचन करता है। प्राचीन भारतीय प्रायः सभी आचार्यिका ने इस विषय पर पर्याप्त प्रकाश डाला है और जिन उपादानों एव लक्षणा से समन्वित होने पर ही किसी कवि को सफलनाथी के समालिङ्गन का सौभाग्य प्राप्त होता है, उन्हें शास्त्रीय परम्परा में 'काव्यहेतु' की सजा दी है। सामान्यतः काव्य के तीन हेतु बताए गये हैं प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास।

(अ) प्रतिभा

प्रतिभा के अनेक लक्षण किये गये हैं। साधारणतः प्रतिभा शब्द कवि की नवनवोन्मेष-शालिनी बुद्धि के लिए प्रयुक्त हुआ है।^३ अभिनवगुप्त ने अपूर्ववस्तु की रचना में समर्थ प्रज्ञा को प्रतिभा कहा है।^४ वाग्भट्ट के अनुसार कवि की पङ्कती हुई उस बुद्धि को प्रतिभा कहते हैं जो सबतोमुखी हो तथा प्रसन्न पदावली और नवीन अर्थ एव युक्ति का उद्बोध कराने वाली

१ अस्मिन् अतिविचित्र कविपरम्परावाहिनि सत्तारे कालिदासप्रभृतयो द्वित्रा पचया एव वा महाकवय इति गण्यन्ते ।
—ध्वन्यालोक, वृत्ति १।६

२ पुरास्वीना गणनाप्रसंगे कनिष्ठिकाधिष्ठितकालिदासा ।
अद्यापि तत्तुल्यकवेरभावादनामिका सार्यवती बभूव ॥
—प्रकीर्ण ।

३ प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी प्रतिभा मता ।
—काव्य कौतुक, पृ० २१२

४ प्रतिभा अपूर्ववस्तुनिर्माणक्षमा प्रज्ञा ।
—ध्वन्यालोक लोचन, पृ० २९

हो ।^१ राजगोखर ने प्रतिभा की एक अन्य तरह में समझाया है । उन्होंने एक ही प्रतिभा के गुणानुसार तीन भेद किए हैं—स्मृति, मति और प्रज्ञा । अतिक्रान्त अर्थात् व्यतीत विवर को यथावत्तर समुपस्थापित कराने वाली बुद्धि को स्मृति, वर्तमान में युक्तायुक्त की निरचयात्मिका बुद्धि का नाम मति और अनागत अर्थात् भावी विषय या वस्तु को यथावत् समझने वाली बुद्धि को प्रज्ञा कहा है । यह तीनों प्रकार की प्रतिभा कवियों के लिए परम उपादेय है ।^२ काव्यप्रकाश की 'सम्प्रदाय-प्रकाशिनो' टीका में स्मृति, मति तथा बुद्धि को त्रयशः अतीत, अनागत एवं वर्तमान विषयक बताने हुए पदार्थोपस्थापन की त्रैकालिकी शक्ति को प्रज्ञा कहा है और यही प्रज्ञा नवनवोन्मेषशालिनी होने पर प्रतिभा कहलाती है ।^३ आचार्य महिमनट्ट का कहना है कि—रम के जन्मरूप शब्दार्थ की योजना के प्रति जागरूक कवि की वह प्रज्ञा ही प्रतिभा है जो क्षणमात्र में ही वस्तु या विषयस्वरूप का ग्रहण करने में परमपटु हो । कवि की वह प्रतिभा भगवान् गिर के तृतीय नेत्र के समान होती है जिससे वह कवि त्रैलोक्यवर्ती अलिखित भावों का अनागत ही साक्षात्कार करने लग जाता है ।^४ जैसा कि महिमनट्ट का कहना है—उन्होंने तत्वोक्तिरोग नामक एक और ग्रन्थ की रचना की थी और उसमें प्रतिभा का विवेचन विस्तारपूर्वक किया था ।^५

(इ) व्युत्पत्ति

व्युत्पत्ति बहुज्ञता को कहते हैं । इसमें प्रायः सभी आचार्य सहमत हैं । लेकिन राजगोखर इतने से ही सन्तुष्ट नहीं हैं । उनके अनुसार शास्त्रों एवं काव्यों का गहन अध्ययन एवं लोकोप्यवहार में निष्णात होने से एक प्रकार का काव्यानुगुण उचितानुचित विवेक उत्पन्न होता है ।

१. प्रसन्नवदनव्यार्ययुक्त्युद्घोषविधायिनी ।

स्फुरन्ती सत्कवेर्बुद्धिः प्रतिभासर्वतोमुखी ॥ —वाग्मट्टालंकार, ११४

२. त्रिधा च सा स्मृतिः मतिः प्रज्ञेति । अतिक्रान्तस्यार्थस्य स्मरिी स्मृतिः, वर्तमानस्य मन्योः मतिः, अनागतस्य प्रज्ञात्री प्रज्ञा । सा त्रिप्रकारा पि कवीनामुपकर्त्री । —का० मी०, पृ० १०

३. स्मृतिर्व्यतीतविषया मतिरागाभिगोचरा ।

बुद्धिस्तात्कालिकी ज्ञेया प्रज्ञा त्रैकालिकी मता ।

प्रज्ञां नवनवोन्मेषशालिनीं प्रतिभां विदुः ॥

—सम्प्रदाय-प्रकाशिनो, काव्यप्रकाश टीका (त्रिवेन्द्रम्), पृ० १३

४. रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।

क्षणं स्वरूपस्पर्शात्प्रा प्रज्ञैव प्रतिभाकवेः ॥११७॥

साहि चक्षुर्भंगवत्तस्मृतीपमितिगीयते ।

येन साक्षात्कारोत्पेय भावांस्त्रैलोक्यवर्तितः ॥११८॥ —ध्य० वि०, टि० वि०

५. इत्मादिप्रतिभातत्वमस्मानिहृषपादितम् ।

शास्त्रे तत्वोक्तिरोगशास्त्रे इति नेह प्रपंचितम् ॥११९॥ —ध्य० वि०, टि० वि०

उत्तम की व्युत्पत्ति कहते हैं।^१ शूद्र ने कहा है कि छन्द, व्याकरण, कला, लोकाभियन्ति एव परमदार्शनिकता से जो युक्त्यायुक्त विवेक उत्पन्न होता है सञ्ज्ञेय में उसे ही व्युत्पत्ति कहते हैं।^२ मम्मट ने इनी को 'निपुणता के नाम से अभिहित किया है जो लोकशास्त्र, काव्य आदि के अवज्ञा से होती है।^३ बाद के प्रायः सभी आलंकारियों ने मम्मट की सरणि पर ही व्युत्पत्ति की परिभाषा की है।

(उ) अन्यास

कविना लिखने में पौनः पुन्येन प्रवृत्ति को ही अन्यास कहते हैं। यह दो प्रकार से मम्मट होता है। एक तो किन्हीं उत्तम कवि के निर्देशन में कविना कर्ता एवं उनके समाधान से शिक्षा लेना। दूसरा प्रकार यह है कि काव्य के समीक्षक आचार्यों के लक्षण प्रयोगों का पुनः-पुनः अनुशीलन करना। इसी बात को मम्मट ने लिखा है कि जो काव्य की रचना एवं उनका विचार करना जानते हैं उनके उपदेशानुसार रचना के निर्वाह एवं सृष्टिनि चान्बादबोधक प्रशंसावयवविन्यास में पौनः पुन्येन प्रवृत्ति का होना कवि की कवित्व प्राप्ति के लिए परम आवश्यक है।^४

(ञ) विविध आचार्यों के मत

प्रतिभा क्या है? व्युत्पत्ति और अन्यास किने कहते हैं? इत्यादि का विवेचन महिनः-मदृष्ट ने नहीं किया। क्योंकि इनके स्वरूप एवं लक्षण के विषय में पूर्ववर्ती आचार्यों से इनका नमनेद नहीं था। यहाँ मौन स्वीकृति का लक्षण है। नमनेद का नियम यह है कि काव्यरचना या कवित्व के लिए इनमें से किन्हीं अवस्थिति अनिवार्य हैं। शास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने अपने मत का प्रतिपादन करते हुए इस पर प्रकाश डाला है। कुछ लोगों ने तीनों को काव्यहेतु माना है तो दूसरों ने किसी एक या दो को ही। इनके अनिश्चित रतमें गौण मुख्य भाव का भी विधान हुआ है। आचार्य नामह इनमें प्रथम हैं जिनका कथन है कि काव्य की सृष्टि एकनात्र किन्हीं प्रतिभावान् के ही वक्ष की बात है। यह और बात है कि वह अन्यायकाव्य-बोध व्याकरणदि का अध्ययन और काव्य के मर्मज्ञ विद्वानों की उपमना एवं अन्य कविना की कृतियों का अवज्ञा भी कर ले।^५ वामन ने भी प्रतिभा को ही कवित्व का बीज बताया है।^६ आनन्दवर्मन ने व्युत्पत्ति और रक्ति की तुलना करते हुए काव्यशक्ति अर्थात् प्रतिभा

१. बहुकृता व्युत्पत्तिरिति आचार्याः ।

उच्चिनानुच्चिनविवेको व्युत्पत्तिरिति यापावरोप ॥

—शौ० मी०, पृ० १६

२. छन्दोऽन्याकरणकलालोकस्थितिपदप्रदार्थविज्ञानान् ।

पुनरापुनरत्रिवेको व्युत्पत्तिरिय समासेन ॥

—शूद्र, काव्या० ११८

३. निपुणता लोकशास्त्रकाव्याद्यवज्ञेयान् ।

—मम्मट, काव्य प्र०, ११३

४. काव्यं कर्तुं विचारयितुं च ये जानन्ति तदुपदेशेन करणे योजने च पौनः पुन्येन प्रवृत्ति ॥

—मम्मट, काव्यप्रकाश, वृत्ति ११३

५. काव्यं तु जायते जातु कस्यचिप्रतिभावतः ॥

शब्दानिधेये विज्ञाय कृत्वा तद्विदुपासनम् ।

विलोचयान्यनिबन्धाश्च कार्यः काव्यक्रियादरः ॥ —भामह, काव्यालंकार, १५, १०

६. कवित्वबीजं प्रतिभात्म ॥

—वामन, काव्यालंकारसूत्र, वृत्ति १३।१६

को ही श्रेयसी बताया है क्योंकि व्युत्पत्ति की कमी से उत्पन्न दोष का आवरण तो शक्ति से सुतरां हो जाता है किन्तु शक्तिहीनता से जो दोष उत्पन्न होता है उसकी प्रतीति झटिति हो जाती है ।^१ राजशेखर ने विलक्षण शक्ति को ही काव्य का एकमात्र हेतु कहा है और प्रतिभा एवं व्युत्पत्ति दोनों को उस शक्ति का कार्य बताया । उनका विश्वास है उन शक्ति से सम्पन्न की ही काव्यप्रतिभा होनी है और वही व्युत्पन्न हो सकता है, सनी नहीं ।^२ पण्डितराज जगन्नाथ ने प्रतिभा को ही काव्य का एकमात्र हेतु माना है ।^३ इस प्रतिभा के दो कारण हैं, वही तो देवता या महापुरुष की कृपा से उत्पन्न अदृष्ट और वही विलक्षण व्युत्पत्ति एवं निरन्तर का अभ्यास । मम्मट के तीनों के समुदित रूप से हेतुत्व के पक्ष में अपनी अमहमति व्यक्त करते हुए उन्होंने महापुरुष की कृपामात्र से बालक में भी काव्यप्रतिभा के उत्पन्न होने की बात कही है तथा गौरवादि के कारण वहाँ जन्मान्तरीय व्युत्पत्ति अभ्यास की कल्पना का खण्डन किया है और इसकी सिद्धि विशदविशेषणपूर्वक की है ।^४

राजशेखर की काव्यमीमांसा के अनुसार केवल व्युत्पत्ति या केवल अभ्यास को ही काव्यहेतु मानने वाले विद्वान् भी रहे हैं । इनके अतिरिक्त समाधि को ही काव्य प्रतिभा का परम हेतु मानने वाले भी थे । राजशेखर ने स्वयं समाधि एवं अभ्यास दोनों को ही काव्य-शक्ति का उद्भासक माना है और काव्यकर्म में समाधि को आन्यन्तर एवं अभ्यास को वाह्य प्रयत्न कहा है ।^५ आचार्य दण्डी भी इसी बात को मानते हैं कि जन्मजान अद्भुत प्रतिभा के अभाव में भी व्युत्पत्ति एवं अभ्यासपूर्वक निरन्तर उपासना करने पर भगवती वाणी का परम-अनुग्रह अवश्य ही हो सकता है ।^६ आचार्य रुद्रट ने प्रतिभा को सहजा और उत्पाद्या उभयविध माना है ।

१. 'प्रतिभाव्युत्पत्त्योः प्रतिभा श्रेयसी' (इति आनन्दः)—राजशेखर— काव्यमीमांसा, पृ० १०
अव्युत्पत्तिहेतुदोषः शक्त्या संश्रियते कवेः ।
यस्त्वशक्ति-कृतो दोषः स झटित्यवभासते ॥ —ध्वन्यालोक, परिकरश्लोक ३१६
२. सा (शक्ति) केवलं काव्यहेतुरिति ध्यायावरोधः । शक्तिकर्तृ के हि प्रतिभाव्युत्पत्तिरमनी ।
शक्तस्य प्रतिभाति, शक्तदश्च व्युत्पद्यते । —राजशेखर—काव्यमीमांसा, पृ० ११
३. तस्य च कारणं कविगता केबला प्रतिभा । —पं० जगन्नाथ—रसगंगाधर, पृ० ९
४. तस्याश्च हेतुः श्वच्छिदेवतामहापुरुषप्रसादादिजन्मदृष्टम् । श्वचिच्च विलक्षण-व्युत्पत्ति-
काव्यकारणान्यासी । नतु त्रयमेव । बालादेस्ती विनापि केबलान्महापुरुषप्रसादादिप्रति-
भोत्पत्तेः । न च तत्र तयोः जन्मान्तरीययोः कल्पनं वाच्यम् गौरवान्मानानावात्कार्यस्यान्वया-
प्युपपत्तेदश्च । —पण्डितराज जगन्नाथ—रसगंगाधर, पृ० ९-१०
५. 'काव्यकर्मणि कवेः समाधिः परं ध्याप्रियते' इति श्यामदेवः ।
'अभ्यासः' इतिमंगलः... । समाधिरान्यानतरः प्रयत्नोवाह्यस्त्वभ्यासः ।
तावुनावपि शक्तिमुद्भासयतः । सा केवलं काव्यहेतुः इतिधायावरोधः ।
—राजशेखर— काव्यमीमांसा, पृ० ११
६. नविद्यते यद्यपि पूर्वभासनापुणानुबंधि प्रतिभानमद्भुतम् ।
श्रुतेन यत्नेन न च बागुपासिता धुर्धं कारोत्येव कमप्यनुग्रहम् ॥ —दण्डी—काव्यादर्श, ११०४

इसके अनिश्चित आचार्यों का एक तीसरा वर्ग भी है जो शक्ति, व्युत्पत्ति एवं अन्त्यान तीनों को समवेत रूप से काव्य का कारण मानता है। सर्वप्रथम दाजी ने ही इन पक्ष का उद्घाटन करते हुए कहा कि—महज स्वामाविक प्रतिभा, अत्यन्त निर्मल ज्ञान, विनाश व्युत्पत्ति एवं निरन्तर का निरतिशय अन्त्यान काव्यनन्मदा के कारण है।^१ कारण पद में एकवचन का प्रयोग इन बात का सूचक करता है कि तीनों मिलकर ही काव्य के कारण हैं, अलग-अलग नहीं। अन्तर दृष्ट ने इसका समर्थन करते हुए कहा कि काव्य का कारणत्व, शक्ति, व्युत्पत्ति और अन्त्यान तीनों में व्याप्त है।^२ मम्मट ने भी इसी दिशा में शक्ति, निपुणता और अन्त्यान इन तीनों को काव्य का कारण कहते हुए बताया कि मूल कारिका में 'इतिहेतु' इस एकवचन का प्रयोग जानबूझकर इसलिए किया गया है कि तीनों समवेत रूप में ही काव्य के हेतु हैं, अन्त रूप से अर्थात् अलग अलग नहीं।^३

(ल) महिममट्ट का मत

आचार्य महिममट्ट ने काव्यहेतु के रूप में शक्ति, व्युत्पत्ति या अन्त्यान का विरोध-विवेचन नहीं किया, न ही उनमें से किसी एक को दूसरे का कारण या कार्य कहा है। इनमें प्रभाव और गौणभाव का भी उन्होंने विचार नहीं किया अपितु शक्ति और व्युत्पत्ति दोनों को समवेत रूप से काव्य का हेतु माना।^४ साथ ही स्वल्ङ्गने शब्दन्वय निवन्धन कहकर अन्त्यान का भी महत्त्व कर दिया है। क्योंकि पद वा ऐसा निवन्धन बिनाही गति विवक्षितार्थ के प्रजापन में स्वल्पित न हो, शक्ति और व्युत्पत्ति के रहने हुए भी निरन्तर अन्त्यान के बिना सम्भव नहीं जब तक कि देवता प्रमाद आदि कोई अशौचिक कारण न हो।

महिममट्ट के काव्यहेतु विषयक श्लोक से ज्ञान होता है कि उन्होंने काव्यहेतु के विवेचन के लिए इसे नहीं लिखा अपितु अनुमेयार्थ के निरूपण के प्रयोग में इसका निर्देगभाव हो गया है। इसका तात्पर्य यह है कि महिम के पूर्व के आचार्यों ने काव्यहेतु विषयक जो निवार करणी कही आ रही थी कि शक्ति, व्युत्पत्ति और अन्त्यान तीनों काव्य के हेतु हैं, महिम उनमें से एक या अन्त्यान को अपना महत्त्व नहीं देना चाहते जिनका शक्ति और व्युत्पत्ति को, दूसरे आनन्दवर्षन का यह निर्णय कि शक्ति ही काव्य का प्रधान हेतु है उन्हें मान्य नहीं था। काव्यज्ञान के इतिहास पर दृष्टि डालने में ज्ञान होता है कि उन दिनाय यह विवाद विरोध रूप से विद्वानों की चर्चा का विषय बना हुआ था कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति में से कौन श्रेयनी

१. नैसर्गिकी च प्रतिभा श्रुते च बहूनिर्मलम् ।

अमन्दस्वामिभोगोऽस्याः कारण काव्यसम्भवः ॥

—इण्डो— काव्यादर्श, १।१०३ ।

२. दिनदमिद व्याप्रियते शक्तिव्युत्पत्तिरन्त्यासः ॥

—दृष्ट— काव्यालंकार, १।१४।

३. शक्तिनिपुणता लोककाव्यज्ञान्त्राद्यवेक्षणम् ।

काव्यज्ञानिषयान्त्याय इति हेतुन्पुद्गुभवे ॥

—मम्मट— काव्यप्रकाश, १।३ ।

प्रयः समुद्रिताः न तु व्यस्तान्तस्य काव्यस्योद्भवे निर्माणे समुत्पत्तये च हेतुर्न हेतवः ।

—काव्यप्रकाश वृत्ति— १।३ ।

४. तन्माद् व्युत्पत्तिशक्तिव्यां विदग्धो यः स्वल्ङ्गनेः ।

शब्दस्य सौमिदित्तयोऽनुमान-विषयोऽप्यवन् ॥ —म० न०, व्यक्तिविवेक, पृ० १२१ ।

है। मामह ने जब यह कहा कि कोई प्रतिभावान् ही कविता करने में समर्थ होता है, अन्य नहीं तो लोगो को उनकी यह उक्ति सम्भवतः पसन्द नहीं आयी और इस पर नाना-प्रकार की टिप्पणियाँ हुईं तथा दण्डी, रघुट्ट प्रभृति आचार्यों ने व्युत्पत्ति और अभ्यास को भी प्रतिभा के समान स्तर पर काव्यहेतु होने का विधान किया। अनन्तर आनन्दवर्धन ने पुनः इस भेददृष्टि को उठाकर प्रतिभा की व्युत्पत्ति से श्रेयसी कहा। आचार्य मंगल ने इसके ठीक विपरीत व्युत्पत्ति को ही प्रतिभा से श्रेयसी बताया। राजशेखर ने काव्यमीमांसा में इन विवादों का उल्लेख विस्तारपूर्वक किया है। इस सम्बन्ध में अपने मत का प्रतिपादन करते हुए राजशेखर ने एक नयी व्यवस्था दी कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति दोनों शक्तिवृत्त हैं, और वह शक्ति सनाधि और अभ्यास में उत्पन्न होती है। जो उन शक्ति से मन्मत्त है वही प्रतिभावान् है और उन्हीं की व्युत्पत्ति भी हो सकती है।

महिमनट्ट ने प्रतिभा को शक्ति से व्यतिरिक्त नहीं माना है और न उन्हें यही स्वीकारा है कि प्रतिभा और व्युत्पत्ति शक्ति के ही कार्य हैं, अपितु शक्ति ही प्रतिभा है^१ तथा व्युत्पत्ति का भी काव्य के हेतुत्व में उतना ही महत्वपूर्ण स्थान है जितना शक्ति अर्थात् प्रतिभा का। इस प्रकार अभ्यास की अन्वयात्मिकता स्वतः मिट्ट हो जाती है। अतः हम देखते हैं कि महिमनट्ट का मत मामह, दण्डी, आनन्द, मंगल एवं राजशेखर प्रभृति प्राञ्चालीन सभी आचार्यों से पूषक एवं स्वतंत्र है। प्रतिभा और व्युत्पत्ति में प्रधानतः नाव का निषेध करते हुए राजशेखर ने व्यवस्था दी थी कि जैसे लावण्य के बिना रूप और रूप के बिना लावण्य अकिञ्चित्तर है अपितु दोनों मिलकर ही सौन्दर्य का आधान करते हैं वही नाव प्रतिभा और व्युत्पत्ति में भी है।^२ इसीलिए कवि का लक्षण उन्होंने किया है कि जो प्रतिभाव्युत्पत्तिमान् है वही कवि है।^३ महिमनट्ट का मत इनके बिल्कुल अनुत्प है। यह सम्भवतः राजशेखर का महिमनट्ट पर प्रभाव कहा जा सकता है किन्तु दोनों के समय में बहुत कम एवं स्थान में बहुत अन्तर होने से यह कहना कठिन है कि महिमनट्ट पर राजशेखर का प्रत्यक्ष प्रभाव है। मन्मट्ट ने भी काव्यहेतु-निरूपण पर आनन्दवर्धन के मत की स्पष्टतया अवहेलना की है। प्रतिभा के स्थान पर शक्ति और उसके साथ व्युत्पत्ति का प्रयोग इस बात का प्रमाण है कि उन्होंने राजशेखर के सिद्धान्त को नहीं अपनाया। फलतः महिमनट्ट का ही उन पर प्रभाव माना जा सकता है कि काव्यहेतु में शक्ति, व्युत्पत्ति और अभ्यास तीनों समवेत रूप से अंगीकृत हैं।

[१. रसानुगुणशब्दायं चिन्तास्तिमित चेतसः ।

क्षणं स्वरूपस्पर्शात्था प्रज्ञैव प्रतिभा कवेः ॥ —म० भ० —व्यक्तिविवेक, २।११७।

२. 'मियः समवेने श्रेयसी' इति यायावरीयः । न सत्तु लावण्यलाभादते रूपमन्वद, अन्ते रद-संपदो वा लावण्यलभ्यः महने सौन्दर्याय कल्पने ।

—राजशेखर— काव्यमीमांसा, पृ० १६।

३. प्रतिभाव्युत्पत्तिमांशव कविः क्वचित्पुच्छते । —राजशेखर— काव्यमीमांसा, पृ० १७।

तृतीय-विमर्श

काव्यलक्षण

(अ) काव्य के सामान्य लक्षण

किसी भी विषय या वस्तु का लक्षण उसका असाधारण घम होना है ।^१ पदार्थ की वह विशेषता या उसके सिवाय अन्यत्र कहा न मिले उसका असाधारण घम कहलाती है । घम म असाधारणता या असाधारणघमना का स्वरूप यह है कि वह विषय विषय में अन्यत्र और अनिश्चित दा नावा स रह । अर्थात् कभी भा या किसी भी अन्त में यह सम्भव न हो कि उन विशेषता का उस विषय म अभाव हो या विषयान्तर म भी वह विशेषता विद्यमान हो ।^२ यह असाधारणता अब्याप्ति अनिव्याप्ति एव असम्भव दोषों के परिहारस्वरूप होती है ।

काव्य एक ऐसा विषय है जिसका स्वरूप और उद्देश्य के द्वारे म कविया और आलोचका की धारणाएँ नाना प्रकार की रही हैं । अतः उसका एक ऐसा निश्चित लक्षण दे सकना जो सर्वमान्य हो सम्भव नहीं । दश काल एव पात्र क अनुसार काव्य के स्वरूप, प्रकार एव आदर्श की निम्नता के साथ ही उनके लक्षण भी अनेक हुए हैं । आज भी, क्या पूर्व क्या पश्चिम सबका काव्य की परिभाषा के विषय म जिनने आलोचक उनको राये हैं । संस्कृत अलङ्कारशास्त्र व विक्रम की ता यह परम्परा ही रही है कि प्रत्येक आचार्य ने न केवल काव्य अपितु उसके आधायक गुणालङ्कारादि प्रत्येक तत्त्व के लक्षणादि का स्वतंत्र रूप से विवेचन किया है तथा सबका अपना अपना विषय लक्षणोदाहरण प्रस्तुत किया है । यहाँ तक कि एक ही सम्प्रदाय के अनेक आचार्यों में भी काव्यादि के लक्षण पर ऐकमत्य नहीं । अपितु इसके विपरीत अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के मत का खण्डन करना गौरव की बात समझी गई है । पृथक्स्थल में हम सबके लक्षणा का तुलनात्मक अध्ययन कर महिमन्ट क काव्यलक्षण की मीमांसा करते हुए उसके महत्त्व पर प्रकाश डालेंगे ।

संस्कृत अलङ्कारशास्त्र क आचार्यों के काव्यलक्षणा का अध्ययन करते से हम इन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि इनमें वर्णित असाधारण घम कही न शब्दों मय, कही शब्दमात्र तो कही रस है । काव्यलक्षण निम्नपण या ता उद्देश्य क आधार पर हुआ है या रस के आधार पर । क्योंकि शब्दार्थ काव्य के शरीर मान गये हैं और रस आत्मा । इस प्रकार कही शरीर को लेकर तथा कही आत्मा का लेकर काव्यलक्षण का विवेचन हुआ है । शब्दार्थ म भी कुछ आचार्य केवल शब्द को ही काव्य क लक्षणा म प्रधानता दते हैं, दूसरे शब्द और अर्थ दोनों को समान महत्त्व का मानते हैं ।

१ असाधारणघमों लक्षणम् ।

—तर्कसंग्रह दीपिका, सूत्र १ ।

२ घमोऽसाधारणत्व, असाधारणघमत्व वा अन्यनातिरिक्तवृत्तित्वरूपम् । —टिप्पणी, वही ।

(इ) शब्दार्थोभय काव्यलक्षण

शब्दार्थ युगल को काव्य का लक्षण कहने वाले आचार्यों में चिरन्तन ज्ञानहू है जिनका कहना है कि सहित शब्दार्थ ही काव्य है।^१ प्रसिद्ध साहित्य शब्द की प्रवृत्ति यही सहित पद है। लक्षण में प्रयुक्त सहित पद का अर्थ है सहमावापन्न जयात् जहाँ शब्द और अर्थ सहमाव अर्थात् तुल्यकौटिक महत्त्व के हो वह काव्य है। इतिहासादि से काव्य के नेद का विनियामक भी यही तत्व है। इतिहासादि शास्त्रों में अर्थ की प्रधानता होती है और शब्द गौण होता है। अर्थ-विशेष को अभिव्यक्ति के लिए शब्द का आश्रयमात्र लिया जाता है। अर्थ साध्य और शब्द साधन होता है। वहाँ अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए किसी भी शब्द का प्रयोग किया जा सकता है। काव्य में ऐसी बात नहीं होती। यहाँ शब्द और अर्थ दोनों समान महत्त्व के होते हैं क्योंकि दोनों ही दोषगुणालंकारादि काव्यत बों के समानरूप से आघातक हैं। अतः इनमें मुख्य गौण भाव न होकर सदा सहमाव ही होता है। शब्दी व्यञ्जना, आर्थोव्यञ्जना, शब्दशक्त्युत्पन्ननि, अर्थशक्त्युत्पन्ननि, शब्ददोष, अर्थदोष, शब्दगुण, अर्थगुण और शब्दालंकार अर्थालंकारादि सर्वत्र शब्दार्थोभय-मय व्यवस्था है। यही शब्दार्थ का सहमाव है और इसी आधार पर काव्य शास्त्रों से भिन्न हैं। इसीलिए रघु ने तो बिना किसी विशेषण के ही वह दिया कि शब्दार्थ युगल ही काव्य है।^२ क्योंकि जिस सहमावापन्न अर्थ की प्रतीति के लिये सहित पद का शब्दार्थ के विशेषण रूप में प्रयोग करने की आवश्यकता समझी गई है उसकी अभिव्यक्ति 'शब्दार्थ' में प्रयुक्त द्विवचन से ही सुतरां हो जाती है। द्विवचन का प्रयोग यहाँ 'शब्दश्च अर्थश्चेति' विग्रह के अनुसार उत्तरेतर द्वन्द्व-समास का बोधक है। द्वन्द्व समास यहाँ होता है वहाँ उसमें प्रयुक्त दोनों पदों के अर्थ की प्रधानता होती है—उभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः। इन प्रकार यहाँ द्विवचन के प्रयोग से ही शब्द और अर्थ की सहमावापन्नता स्वन. वन जाती है, क्योंकि इनी में अर्थ के साथ शब्द की प्रधानता निहित है। 'सहितो' विशेषण के द्वारा भी आचार्यों को यही यत्नाना अनीष्ट है कि वेदादि अन्य शास्त्रों में, जहाँ शब्दमात्र की तथा इतिहास पुराणादि में अर्थमात्र की प्रधानता होती है वहाँ काव्य में शब्द एवं अर्थ दोनों की ही प्रधानता अनीष्ट है। यही साहित्य है। अतएव रघु ने काव्यलक्षण वाक्य में 'ननु'^३ शब्द का प्रयोग किया है—'ननु शब्दार्थो काव्यम्', जो नामहू के द्वारा किये गये काव्यलक्षण में सहितो पद के प्रयोग के प्रति अरवि का द्योतक है। इसका अमिप्राय यह है कि जब 'शब्दार्थ' में प्रयुक्त द्विवचन मात्र से ही हम शब्द और अर्थ की सहमावापन्नता की अभिव्यक्ति कर सकते हैं तो लक्षणवाक्य में 'सहितो' पद के प्रयोग की क्या आवश्यकता है। क्योंकि कोई भी लक्षणवाक्य मूलवद् होता है जिसमें अपेक्षा से अधिक पदों का प्रयोग दोषावह माना जाता है। आनन्दवर्धन ने उन्ने ही ध्वनिवाक्य कहा है जहाँ शब्द अपने अर्थ को या अर्थ स्वयं को गौण कर एव एते अर्थ को अभिव्यक्ति करे जो वाक्यार्थ से अधिक चमत्कारी हो।^३ इन प्रकार इन्होंने भी

१. शब्दार्थो सहितो काव्यम् ।

—नामहू —काव्यालंकार, १।१६ ।

२. ननु शब्दार्थो काव्यम् ।

—रघु —काव्यालंकार, ३।१ ।

३. यत्रार्थः शब्दी या तमर्थमुपसर्जनीकृतस्वाधी । व्यंजनः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूक्तिः

कथितः ॥

—आनन्दवर्धन— ध्वन्यालोच, १।१३ ।

काव्य में व्यञ्जक शब्दार्थ की प्रधानता का ही प्रतिपादन किया है। बन्धोक्तिर्विचित्रकार कुल्लुक ने नामह को ही सरणि पर कहा है कि सहभावापन्न शब्दार्थ युगल ही जय क्वि के बन्धोक्तिम्य व्यापारस्युक्त वन्दन में ध्वनित्य हो जाता है तो काव्य कहलाता है। और इन प्रकार वह समस्तने बाह्य के लिए आत्मा का विषय होता है।^१ राजशेखर ने भी काव्य-मौनासा में कहा है कि शब्द और अर्थ के ठीक-ठीक सहभाव से सम्पन्न विद्या साहित्य विद्या है।^२ अलंकारशास्त्र के दिग्गज—आचार्य मम्मट का काव्यलक्षण भी शब्दार्थयुगलपरक ही है। उन्होंने दोषरहित गुणरहित नया यथानुभव अलंकारयुक्त शब्दार्थयुगल को काव्य कहा है।^३ अलंकार की मत्ता को वैचित्र्य करके उनके मत्र व का कुटु कम स्वयं कर दिया है। प्रसिद्ध जैन आचार्य हेमचन्द्र ने मम्मट की सरणि पर ही गुणात्कारयुक्त दोषरहित शब्दार्थ को ही काव्य कहा है।^४ ऐसे ही वाग्भट्ट^५, निजानायक^६ आदि शब्द के चनेक आचार्यों ने शब्दार्थयुगल को ही काव्य का प्रवृत्ति निमित्त मानकर उन काव्यलक्षण में अतिशय महत्त्व दिया है। राजातक स्वयं ही अलंकार-नर्वस्व के एक टीकाकार चन्द्रशेखर ने विनिष्ट शब्दार्थ को ही काव्य कहा है।^७ शब्दार्थ की विनिष्टता का आशयक, धर्म आचार एक व्यंग्य उन पक्षों को ही माना है। धर्मपक्ष में विनिष्टता का आशय नृप या अलंकार दो प्रकार में होता है। व्यापारपक्ष में भणिति वैचित्र्य और भोग-प्रापार उन दो विशेषताओं का उल्लेख किया है। व्यङ्ग्यपक्ष में विनिष्टता का आशयक एकमात्र व्यञ्जना वृत्ति या व्यंग्यजनितचमत्कार ही है। इन पक्षों में से गुणानुक्रमविनिष्ट शब्दार्थ को काव्य मानने वाले आचार्य वामन हैं। काव्य में अलंकारादि धर्म विनिष्ट शब्दार्थ की महत्ता के प्रतिपादक नामह, दण्डी, उद्भटादि अलंकारवादी आचार्य हैं। भणिति वैचित्र्य ध्यानार की विशेषता कुल्लुक को न्वर्कार्य है तो भोग (भोगवत्त्व) ध्यानार की विशेषता ने रम को ही काव्य का नर्वस्व कहने वाले भट्टनायक हैं। उन में व्यंग्य की विशेषता का प्रतिपादन आनन्दवर्धन आदि ने किया है। इस प्रकार

१. शब्दार्थो सहितौ बन्धोक्तिव्यापारशालिनौ । बन्धोक्तिव्यवस्थितौ काव्य तद्विद्याह्लादकारिणि ।
—कुल्लुक—बन्धोक्तिर्विचित्रकार, पृ० २१७ ।

२. शब्दार्थयोर्थावच्छेदहभावेन विद्या साहित्यविद्या ।
—राजशेखर—काव्यमौनासा, अध्याय २, पृ० ५ ।

३. तददोषी शब्दार्थो सगुणावन्लङ्घ्यो पुनः क्वापि । —काव्यप्रकाश उल्लास, १।४ ।

४. अदोषी सगुणी सालंकारी च शब्दार्थो काव्यम् । —हेमचन्द्र, काव्यानुशासन, पृ० १६ ।

५. शब्दार्थो निर्दोषो सगुणो प्रायः सालंकारी काव्यम् । —वाग्भट्टालंकार—

६. गुणालंकारसहितौ शब्दार्थो दोषवर्जिनौ । ...काव्यं शब्दविदो विदुः ।
—विद्यानाय—प्रतापेष्ट यशो भूदय ।

७. इह विनिष्टौ शब्दार्थो तावत्काव्यम् । तयोश्च वैशिष्ट्यं धर्ममुल्लेखेन, व्यापारमुल्लेखेन व्यंग्यमुल्लेखेन वेति त्रयः पक्षाः; आद्येऽप्यलंकारतो गुणतो वेति द्वैविध्यम् । द्वितीयोऽपि भणिति-वैचित्र्येण भोगवृत्त्येन वेति द्वैविध्यम् । इति पक्षस्तु पक्षेषु आद्य उद्भटादिभिर्मोक्षितः, द्वितीयो वामनेन, तृतीयो बन्धोक्तिर्विचित्रकारेण, चतुर्थो भट्टनायकेन, पचम आनन्दवर्धनेन ।

—अलंकार सर्वस्व टीका, पृ० ४ ।

शब्दार्थयुगल की विशेषता के आधार पर अलंकारशास्त्र में पाँच पदों का प्रतिपादन हुआ। ये ही अलंकारशास्त्र के पाँच मुख्य सम्प्रदाय हैं।

(उ) शब्दप्रधान काव्यलक्षण

काव्यलक्षण का दूसरा प्रकार वह है जिसमें शब्द की प्रधानता प्रतिध्वनित होती है। सबसे पहले 'अग्निपुराण' में कवि-विक्षित अग्निप्राय से युक्त उस पदावली को काव्य कहा गया है जो दोपरहित एवं गुणालंकाररहित हो।^१ दण्डी का काव्यलक्षण 'अग्निपुराण' से अधिक साम्य रखता है कि—विवक्षित अर्थ से युक्त पदावली ही काव्य है।^२ इनके बहुत दिनों बाद चन्द्रालोककार जयदेव ने उस वाक्य को काव्य कहा जो दोपरहित एवं रीतिगुणालंकारादि अनेक सत् लक्षणों से युक्त हो।^३ इन्होंने काव्यप्रकाशकार मम्मट के काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'अनलङ्कृत' शब्द पर शंका रखते हुए कटाक्ष किया है कि जो विद्वान् अलंकाररहित शब्दार्थ को काव्य के रूप में स्वीकार करता है, वह कृती यह क्यों नहीं मानता कि अग्नि अनुष्ण अर्थात् शीतल होती है।^४ शब्द को ही काव्य का प्रवृत्तिनिमित्त मानते हुए पण्डितराज जगन्नाथ ने कहा है कि "रमणीय अर्थ का प्रतिपादक शब्द ही काव्य है।"^५ इन्होंने मम्मट के काव्यलक्षण की समालोचना करते हुए शब्दार्थयुगल की काव्यता का खण्डन किया है। इनका कथन है कि शब्दार्थयुगल काव्य नहीं हो सकते क्योंकि काव्य पद का वाच्य शब्द एवं अर्थ दोनों होता है इसमें कोई प्रमाण नहीं। अपितु काव्य पद का प्रवृत्तिनिमित्त शब्दभात्र ही है। 'काव्य जोरों से पढ़ा जा रहा है', 'वाक्य से अर्थ समझा जाता है', 'काव्य सुना पर अर्थ न जाना' इत्यादि सार्वजनीन व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि काव्य पद का प्रवृत्तिनिमित्त विशेष प्रकार का शब्द ही है, अर्थ या शब्दार्थयुगल नहीं। क्योंकि शब्दार्थयुगल से उक्त व्यवहार नहीं बन सकते।^६ केवल शब्द की काव्यता के विषय में वह इतने दृढ़ हैं कि लक्षणा के द्वारा भी शब्दार्थोभय को काव्य का लक्षण मानने को प्रस्तुत नहीं। उनका कहना है कि—यह कथन कि 'काव्यं पठ्यते' आदि उक्त व्यावहारिक वाक्यों में काव्य पद का लाक्षणिक प्रयोग हुआ है अर्थात् शब्दार्थयुगल वाच्य काव्य पद का प्रयोग केवल शब्द में भी हो सकता है—ऐसा मानना तब तक युक्तिमंगत

१.इष्टार्थव्यवृद्धिना पदावली ।

काव्यं स्फुटदलंकारं गुणवद्दोषवर्जितम् ।

—अग्निपुराण, अध्याय ३३६।६७ ।

२. शरीरं तावद्विष्टार्थव्यवृद्धिना पदावली ।

—दण्डी, काव्यादर्श, परिच्छेद १।१० ।

३. निर्दोषा लक्षणवती सरीतिगुणभूषणा ।

सालङ्काररसानेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक् ॥ —जयदेव—चन्द्रालोक—मयूखः, १।७ ।

४. अंगो करोति यः काव्यं शब्दार्थोवनलङ्कृती ।

असौ न मन्वते कस्मादनुष्णमनलङ्कृती ॥

—चन्द्रालोक—मयूखः, १।८ ।

५. रमणीयार्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।

—रसगंगाधर, पृ० ४।

६. यत्तु प्रांचः "अदोषी सगुणी सालङ्कारौ शब्दार्थौ काव्यम्" इत्याहुः तत्र विचार्यते- शब्दार्थयुगलं न काव्यशब्दवाच्यम् । मानाभावात्, काव्यमुच्यते पठ्यते काव्यादर्थोवगम्यते, काव्यं श्रुतमर्थो न ज्ञातः" इत्यादि विश्वजनीनव्यवहारतः, प्रस्तुत शब्द विशेषस्यैव काव्य-पदार्थत्व-प्रतिपत्तेरच ।

—रसगंगाधर, पृ० ६ ।

नहीं जब तक कि किसी प्रबल प्रमाण से पहले यह मिथ्य न हो जाय, कि काव्य पद का वाच्यार्थ शब्दार्थयुगल है। परन्तु ऐसा प्रमाण ही तो नहीं दृष्टिगोचर होता।^१ आगे काव्यलक्षण विवेचन का उपसंहार करते हुए वह कहते हैं कि इस तरह शब्द विशेषण ही काव्यता मिथ्य होने पर तदनुसार शब्दमात्रपरक काव्यलक्षण ही ठीक है, न कि स्वकल्पित शब्दार्थयुगलपरक। उन वेदपुराणादि का भी इसी प्रकार लक्षण करना चाहिए अन्यथा वहाँ पर भी यही दुर्गम्या होगी।^२

काव्यलक्षण में शब्द की प्रशानता मानने वाला म पण्डितराज अन्तिम आचार्य है। इनके अनिश्चित शेष कुछ आचार्य व हैं जिन्होंने शब्दार्थ की अपेक्षा रस का ही काव्य का परम आधारक तब कहा है, अतएव काव्यलक्षण में उनका उल्लेख आवश्यक बनाया है।

(८) रसान्वित लक्षण एव महिममट्ट

काव्य के रसपरक लक्षणकारा म महिममट्ट, भोज गौडादनि चाटोदान और कविराज विश्वनाथ मुन्व हैं। महिममट्ट का कथन है कि कवि का विनावादि सभोगनात्मक वह व्यापार ही काव्य है जिसमें रस की अभिव्यक्ति अनिश्चित रूप में होती है।^३ इन लक्षण की विवाद व्याख्या अपेक्षित है।

सभोग में कवि व्यापार ही काव्य है। कवि पद के मात्रित्व से व्यापार शब्द उनका काव्यमक व्यापारविशेष का ही बोध कराना है बचनादानविहरपादि व्यापाररामान्य का नहीं। काव्यमक व्यापार की सम्भावना शब्दार्थ को लेकर ही है। उन 'कवि-व्यापार' पद में काव्य में शब्दार्थ की मत्ता स्वतः मिथ्य हो जाती है।^४ इस प्रकार कवि के शब्दार्थ विषयक व्यापार को ही काव्य कहो। 'कवि-व्यापार' कहने में धर्मदणनपुराणेतिहासदिग्ध शब्दार्थ-विषयक व्यापार से जहाँ अर्थमात्र की प्रशानता होती है कवि का शब्दार्थविषयक व्यापार काव्य संबंधा मिथ्य हो जाता है। क्योंकि यहाँ शब्दार्थ की समानता होती है। उन 'शब्दार्थो-काव्यम्' की अपेक्षा 'कविकर्म या कवि-व्यापार काव्यम्' कहना काव्यलक्षण की दृष्टि से अधिक उपयुक्त है। अतएव काव्यप्रकाश के प्रसिद्ध टीकाकार अल्काकर वामन ने काव्य का लक्षण महिम की ही सरणि पर 'कविकर्म काव्यम्' किया। कवि की परिभाषा करते हुए उन्होंने 'लोकोत्तरवर्गनानिपुण कवि' कहा। महिम का कवि का शब्दार्थ सम्बन्धी प्रत्येक व्यापार ही काव्य पद से अनिश्चित नहीं है, किन्तु वही व्यापार जिसमें रस की अभिव्यक्ति में व्यभिचार न हो। इसीलिए व्यापार पद का विशेषण 'रसान्वितकव्यमभिचारी' कहा। व्यभिचार पद का

१. व्यवहार शब्दमात्रे लक्षणयोपपादनीय इति, स्यादप्येव पदिकाव्यपदार्थतया पराभिमाने शब्दार्थयुगले काव्यशब्दशक्ते प्रमाणक दृष्टतर किमपि प्रमाण स्यात्। तदेवं तु न पर्यायम्।

—रसगंगाधर, पृ० ६।

२. तदेवं शब्दविशेषस्यैव काव्यपदार्थत्वे सिद्धे तस्यैव लक्षण वस्तु युक्तम्, न तु स्वकल्पितस्य काव्यपदार्थस्य, एतद्व च वेदपुराणलक्षणेष्वपि गतिः। अन्यथा तत्रापीय दुरवस्थाम्यात्।

—रसगंगाधर, पृ० ७।

३. कवि-व्यापारो हि विनावादिसभोगनामा रसाभिव्यक्त्यभिचारी काव्यम्।

—व्य० वि०, पृ० ९५।

विशेष अभिप्राय है। एक तो वह अपेक्षाकृत अधिक महरव का है। विभावादि सजासे कारणादि की अलौकिकता एव एकमात्र काव्यान्गुणता का स्वतः ग्रहण हो जाना है। दूसरे सयोजनात्मक पद में सम्पूर्वक युज् क्रिया से ल्युट का अर्थ औचित्यात्मक योजन है, जो विभावादि में ही सम्भव है, अन्यत्र नहीं। इस प्रकार काव्यलक्षण में 'विभावादि सयोजनात्मा' पद सर्वथा युक्ति-युक्त एव साभिप्राय प्रयुक्त हुआ है। अतएव एक स्थल पर महिमनट्ट ने किसी के काव्य-लक्षण का प्रसंगवश उल्लेख किया है जिसमें विभावादि के वर्णन को ही काव्य कहा है।^१ उन्होंने स्पष्ट कहा है कि गुणालंकार सन्वृत शब्दार्थमात्र काव्य नहीं है क्योंकि रसात्मता के अभाव में मुख्यवर्ति से उसे काव्य ही नहीं कहा जाना चाहिए। रसात्मा काव्य में वस्तुमात्रादि के द्वारा विरोधता का आगमन कथमपि नहीं हो सकता क्योंकि वह विभावादि के सप्रथन रूप से ही रसामिव्यक्ति का प्रयोजक होता है।^२

इस पर यह कहा जा सकता है कि काव्य में रस की अव्यभिचारित उपस्थिति का कथन तो 'विभावादि सयोजनात्मा' इस उक्ति से ही हो जाता है, पुनः रसामिव्यक्त्यव्यभिचारी विशेषण की क्या आवश्यकता है? क्योंकि रसवादी सभी आचार्य विभावादि के सयोग से रस की स्वतः निष्पत्ति मानते हैं। रसों को विभावादि जीविनाशधि कहा गया है। अन्य-व्यतिरेक से विभावादि को ही रसानुति का साधक माना गया है। क्योंकि विभावादि के रहने पर तो रस रहना है, उनके अभाव में नहीं रहता। काव्यलक्षण में विभावादि सयोजनात्मा पद से विभावादि की स्थिति अनिवार्य रखी गयी है, फिर रसामिव्यक्ति का अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाना है, उसके लिए रसामिव्यक्त्यव्यभिचारी पद व्यर्थ है।

लेकिन यह कथन सम्मन नहीं क्योंकि इसमें भी अन्तर्विशेष है। रस विभावादि-जीविताशधि होने हैं। यह तो ठीक है और बिना विभावादि के रस की यत्किंचित् सत्ता भी सर्वथा असम्भव है। किन्तु यह आवश्यक नहीं कि विभावादि हों तो रस अनिवार्य रूप से निष्पन्न हो ही। अपितु विभावादि के विद्यमान होने पर भी दोषविशेष या प्रतिबन्धक विशेष से रस की प्रतीति में बाधा हो सकती है। रसरोप के प्रसंग में ऐसी अनेक अवस्थाएँ परिगणित हैं जहाँ विभावादि के साक्षात् विद्यमान होने पर भी रस की निष्पत्ति नहीं होती। रस का स्वशब्द से या श्रुगायदि पद से अथवा स्थाविनाश एव सचारिभावों का उनके नाम से ही कथन करने से, विभावादि के विद्यमान रहने पर भी कथमपि रस की प्रतीति नहीं होती।^३ आनन्दवर्धन ने स्पष्ट ही कहा है कि सारी सामग्री के रहने हुए भी औचित्य के अभाव में रस परिष्कार नहीं हो पाता।^४ रसविहीन रचना को काव्य कहना आचार्य को कथमपि अभीष्ट नहीं। अतः 'विभावादि सयोजनात्मा' पद के रहने हुए भी 'रसामिव्यक्त्यव्यभिचारी' शब्द

१. अनुभावविभावानां वर्णना काव्यमुच्यते । — व्यसिनविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० ९६ ।
२. अतएव च न गुणालंकारसंस्कृतशब्दार्थमात्रशरीरं तावत्काव्यं . . . तेषां विभावादि-रूपतया रसामिव्यक्तिहेतुत्वोपगमात् । — व्यसिनविवेक, पृ० ९८, ९९ ।
३. रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थापितंचारिणोरपि । — साहित्यदर्पण, ७।१२-१५ ।
४. अनीचित्वाद्दान्दान्यप्रसंगस्य कारणम् ।

औचित्योपनिबन्धस्तु रसोस्योपनिबन्धस्तु ॥ — ध्वन्यालोक, तृतीय उद्योत, पृ० २५९ ।

का कवि-व्यापार पद के विशेषण के रूप में काव्यलक्षण में निर्वचन निरान्त आवश्यक, परम-उपादेय एवं अत्यन्त सार्थक है। आचार्य रघ्यक ने व्यक्तिविवेक के व्याख्यान में इस बात का संकेत किया है कि यहाँ कवि-व्यापार सामान्य रूप से अनीष्ट नहीं है अपितु विभावादि घटना-नुरूप ही, अतएव नियमेन रसापेक्षी भी।^१ महिमभट्ट ने इमीलिए स्पष्ट कर दिया है कि रस के अभाव में काव्य काव्य ही नहीं है, फिर चाहे वह ध्वनि पद से ही क्यों न अभिहित किया गया हो। अनन्तर ध्वन्यालोक से यह उद्धरण दिया है जिसमें उसी अर्थ को ही काव्य की आत्मा कहा गया है।^२ उसके अभाव में काव्य जब काव्य ही नहीं है तो उससे वृत्त्यावृत्त्य व्युत्पत्तिरूप फल की कामना करने की अपेक्षा उसका आरम्भ न करना ही श्रेयस्कर है।^३

रसपरक काव्यलक्षण को सामान्यतया अव्याप्त अर्थात् अव्याप्तिसोपयस्त बताया जाता है। काव्य में रस की अव्यभिचरित उपस्थिति मानने से परिणाम यह होगा कि वाल्मीकि, व्यास आदि उत्कृष्ट कवियों की कृतियों के वह अंश जो निःसन्देह रसोद्बोधक नहीं हैं, तथा काव्य के वह प्रभेद जहाँ वस्तु एवं अलंकार मात्र से चमत्कार का अधान होता है, काव्य की कोटि में आने से बञ्चित रह जायेंगे, और इस प्रकार काव्य का विषय अत्यन्त स्वल्प हो जायेगा। यदि यह कहे कि परम्परया उन रचनाओं में भी रस का लवलेह मानकर उनमें काव्यता बन जाती है तो—'अद्रावत्र प्रज्वलत्यग्निरुच्यं प्राज्यं प्रोद्यद्गुल्लसन्धेधूमः ॥' इत्यादि स्थलों में नौ येन वेन प्रकारेण यत्किञ्चित् माया में रसात्मकता मानकर काव्यता अतिव्याप्त होने लगेंगी और कृप से बचने के लिए घोर यत्न में गिरना होगा।

पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगाधर में साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ के काव्य-लक्षण 'वाक्यं रसात्मकं काव्यम्' की रसपरकता का खण्डन करते हुए उसे अनिर्णीत कहा है। क्योंकि रसवद् वाक्य को ही काव्य मानने पर वस्तु एवं अलंकार प्रधान काव्य रसामात्रके कारण काव्यत्व से बञ्चित हो जायेंगे। जो इसलिए इष्ट नहीं है कि ऐसा मानने पर महाकविमप्रदाय का ही उच्छेद हो जायेगा। वाल्मीकि, व्यास, कालिदास प्रभृति सभी महाकवियों ने अपने वाक्यों में जलप्रवाह, निपतन, उत्पतन, भ्रमण एवं कपि बालादि चरितों का स्थल-स्थल पर वर्णन किया है। वह सब अकाव्य हो जायेगा। यदि, यथाकथंचित परम्परा से उनमें भी रस-रसर्ष मानकर काव्य व्यवहार चल सकता है यह कहेंगे, तो ऐसा रसस्पर्श 'गोश्चलति, मृगो धावति' इत्यादि वाक्यों में भी सम्भव होने से इनमें काव्यत्व की अतिप्रसक्ति होने लगेंगी। इसलिए रसाचिन्त काव्यलक्षण कथमपि सम्भव नहीं।^४

१. कवि-व्यापारस्य न सामान्येन किन्तु विभावादिघटनास्वभावः अतएव नियमेन रसापेक्षी।

—व्यक्तिविवेक-व्याख्यान, प्रथम-विमर्श, पृ० ९५।

२. काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेशविषयत्वेनेष्टत्वात् तस्य रसात्मकत्वोपगमाद्—यत् स एवाह—काव्यस्यात्मा स एवार्थस्तमाचादि कवेः पुरा।

श्रीचन्द्रन्तु विधायोक्त्यः शोकः श्लोकत्वमागतः ॥—ध्व० वि०, प्र० वि०, पृ० ९२-९३।

३. तदभावे (रसाभावे) चास्य काव्यत्व न स्यात् किमुत् विशेष इति अनारम्भणीपमेवंतत् प्रेक्षावतां स्यात् संफल्पात्। —व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० ९५।

४. यत् 'रसवदेव काव्यम्' इति साहित्यदर्पणे निर्णीतम् तत्र। वस्तुवलङ्कारप्रधानानां काव्यानां काव्यत्वानापत्तेः। न चेष्टापत्तिः, महाकविसाम्प्रदायस्य भङ्गप्रसङ्गात्। जलप्रवाह-वर्ण-

किन्तु ऐसी बात है नहीं। रसान्वित काव्यलक्षण पर जथाज्ञि एव अनिज्याज्ञि दोन साहित्यदर्पणकार के ऊपर ही क्यों मटा जाता है? मम्मट के ऊपर भी क्यों नहीं? क्योंकि उन्होंने भी शब्दार्थों का विशेषण मनुषी पद दिया है। गुण काव्यात्मा रम के धर्म हैं और परम्परया उनकी शब्दार्थ में विद्यमानता भी ठीक है। किन्तु गुण तो वही रहेंगे जहाँ रम होगा। जब भाषान् नहीं तो परोक्षरूप में ही मती, मम्मट ने भी इन बात को माना है कि रम काव्य का वह तत्त्व है जो उमने रम-रम में व्याप्त है। स्वयं पण्डितराज जगन्नाथ का काव्यलक्षण कि रमगीतार्थप्रतिपादक शब्द ही काव्य है क्या रमपरक नहीं है? पण्डितराज ने बहुत विचार करते ही रमगीतार्थ प्रतिपादक शब्द को काव्य का लक्षण कहा है।^१ अर्थ में रमगीतना क्या हो सकती है? यह प्रश्न उनके नमस्त मनसुपस्थित हुआ। क्योंकि यदि अर्थ का अच्छा लयना ही उमरी रमगीतना मान ले तो यह रमगीतना अर्थवस्थित हो जायगी। रचिभेद में एक ही अर्थ किनी को अच्छा और किनी को बुरा लग सकता है। उन पण्डितराज को ध्यस्थित रमगीतना का विवर्चन करना पटा कि त्रिमते ज्ञान में लोकोत्तर आनन्द की अनुभूति हो बरी अर्थ रमगीत है।^२ अब प्रश्न उठता है कि लोकोत्तर आनन्द किमती कहेंगे? आनन्दगत लोकोत्तरत्व यदि मानिगन है अर्थान् त्रिमते बड़कर दूसरा भी आनन्द हो सकता है तो लोकोत्तर कहने में कोई लाभ नहीं। क्योंकि व्यक्तिभेद एव रचिभेद में प्रायः सभी आनन्द लोकोत्तर सिद्ध हो जायेंगे और अर्थवन्धा बनी रहेगी। अथवा यदि आनन्दगत लोकोत्तरत्व निरविशेष है त्रिमते बड़कर दूसरा आनन्द ही नहीं तो वह ब्रह्मानन्द के अनिगित कुष्ठ और नहीं ही सकता। उन लोकोत्तरत्व का निर्वचन करने हुए कहा है कि लोकोत्तरत्व आनन्दगत एक जाति विशेष है त्रिमका दूसरा नाम समत्कारत्व है।^३ इसकी सत्ता में महदयो का अनुभव ही एकमात्र प्रमाण है। अर्थान् त्रिम-त्रिम आनन्द में महदयो को लोकोत्तर-लोकोत्तर ऐसा अनुभव हो बरी लोकोत्तर आह्लाद है। इनमें प्रमाण-स्वरूप उनकी मृष्टि करने वाले कारण का भी निर्देश किया है कि लोकोत्तर आनन्द में पुनः-पुन अनुमन्यात रूप अर्थान् धारावाहिक भावना विशेष शब्दबोधोत्पन्न अनुभव ही इनका कारण है। यह आनन्द लोकोत्तर इसलिए है कि 'गुम्हारे घर पुन उत्पन्न हुआ', 'मैं तुम्हें धन दंगा' इत्यादि वाक्यों में होने वाली भावना में यह सर्वथा भिन्न होता है।^४ यह लोकोत्तराह्लाद रमानुभूति में सिद्ध नहीं है अनितु रमानुभूति ही है। कविराज विज्वनाथ प्रभूति नमी ने रमानुभूति

नितपतोत्पन्नमन्यनयानि क्विभिर्बिभिंगितानि क्विवाक्कादिविक्लिनितानि च । न च तत्रापि यथाकृपंचितपरत्परयो रतत्पशोऽस्तरेवेतिवाच्यम् । इद्म-रतत्पशोऽस्य 'गौडवक्त्रि मूरो धावति' इत्यादावतिप्रगवत्त्वेनाप्रयोजकत्वान् ।

—रसगंगाधर, प्रथम आनन्द, पृ० २३, चौथं भा, काशी ।

१. रमगीतार्थ प्रतिपादकः शब्दः काव्यम् । —रसगंगाधर, पृ० ४ ।

२. रमगीतना च लोकोत्तराह्लादजनकज्ञानगोचरता । —वही, पृ० ४ ।

३. लोकोत्तरत्वं चाह्लादपदवचनकारत्वानरपर्यायो अनुभवनाशिको जातिविशेषः । —वही, पृ० ५ ।

४. कारणं च तदवच्छिन्ने भावना विशेषः पुनः पुनरनुमन्याताना । 'गुम्हारे' जानः, धनं ते दास्यामि' इति वाक्यार्थबोधन्याह्लादस्य न लोकोत्तरत्वम्, अतो न तस्मिन् वाक्ये काव्यत्व प्रसक्तिः । —वही, प्रथम आनन्द, पृ० ५ ।

के स्वरूप को ऐसा ही बताया है कि उनकी अनुमति में महदयों का अनुभव ही एकमात्र प्रभाव है ।^१

इन प्रकार पण्डितराज के व्याख्यान का अर्थ उनकी ही परब्याख्या के अनुसार यह हुआ कि रमणीयार्थ प्रतिपादक अर्थात् रमोद्बोध में समर्थ शब्द ही काव्य है । फिर इनके मत में भी महाकवि प्रणीत कवि बाल चरित में लोकोत्तराह्लाद रूप रस के उद्बोध की क्षमता वैसे है ? यह प्रश्न बना ही रहना है । इसलिए जहाँ पर दोनों पक्ष में श्रेय ममान हो और उनका परिहार भी ममान हो वहाँ किसी एक को ही बोधी टहराना उचित नहीं ।^२ अतः काव्य में रस की नियत उपस्थिति का विरोध करना वाग्विदम्बना मात्र है । उनका मनामान भ्रमट की सरणि पर यही है कि दस्तु और अलंकार, ध्वनियों के स्थलमेया विगुह चित्रकाव्य में भी यत्किचित् मात्रा में गुण रहते हैं; फलतः वहाँ रसादि की भी उनी मात्रा में उपस्थिति अवश्य रहती है । उनकी स्पष्ट प्रतीति इसलिए नहीं होती कि वे अल्पतः अन्वृत् होते हैं ।

वास्तव में काव्य का कोई भी निष्कृष्ट लक्षण एकमात्र रसपरक ही हो सकता है, अन्य शब्दार्थपरक नहीं । क्योंकि लक्षण अनाधारणधर्म के प्रवचन को कहते हैं । काव्य का यदि कोई धर्म अनाधारण है तो वह केवल रस ही है, शब्दार्थ नहीं । शब्दार्थ की मत्ता तो काव्येतर इतिहासादि में भी सामान्य है अतः वह काव्य के ही अनाधारणधर्म वैसे ही मन्वते हैं । जैसे गणदन्व पृथ्वी का लक्षण इमीलिए है कि गन्व पृथ्वी का अनाधारणधर्म है जो जल, तेज, वायु एवं आकाशादि में कथमपि नहीं रहना । इसी प्रकार रस ही एकमात्र काव्य का ऐसा धर्म है जो काव्य के अनिरिक्त विद्व के किसी भी वस्तु एवं विषय में नहीं रहता । अतः महिमनट्ट हउ काव्य का लक्षण इमीलिए दुष्ट नहीं कि वह रसपरक है अन्वृत् इसीलिए निर्दुष्ट है कि वह काव्य के अनाधारणधर्म रस में अन्वित है ।

(स) महिम के लक्षण का परवर्ती आचार्यों पर प्रभाव

काव्यलक्षण में रस के समावेश की परम्परा मध्या नवीन है जिसका मनाग्म सर्वप्रथम महिमनट्ट ने ही किया । अनन्तर प्रायः सभी आचार्यों ने इनके महत्व को मन्वता । इनके बाद सबसे पहले भोज ने सरस्वती कण्ठानरण में काव्य का लक्षण रसपरक करते हुए कहा— कवि दोपरहित गुणसहित एक अलंकार में अन्वृत्त रचना को रसान्वित करके ही रस और आनन्द दोनों का भागी होता है ।^३ अलंकारशास्त्रकार श्रीदोदनि ने महिम के बाद सबसे पहले अपना काव्यलक्षण एकमात्र रसनिष्ठ किया कि—रसादिमद्वाक्य ही काव्य है । क्योंकि उनी के मुनने में गुण विशेष अर्थान् जानन्द होता है ।^४ काव्यप्रकाश के प्रख्यात टीकाकार चण्डीदान

१. सचेतसामनुभवः प्रमाणस्तत्र केवलम् ॥ —साहित्यदर्पण, तृतीय परिच्छेद, ३।३ ।

२. यत्रोभयोः समोदोषः परिहारोऽपि वा समः

नैकः परंनयोक्तव्यस्तादृगर्थविचारणे ॥

—सर्वनाप—ग्रामाभ्यगाद निरपण (निर्णयभाष्य प्रेम, दम्भई), पृ० १७ ।

३. निर्दोषं गुणदन् काव्यमलंकारैरलङ्कृतम् ।

रसान्वितं कविः दर्वन् कीर्तिं प्रीतिं च विदति ॥ —भोज, सरस्वती कण्ठानरण ।

४. काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकम् । —श्रीदोदनि—अलंकार, शब्दर, पृ० २ ।

ने अपनी 'दीपिका' नामक टीका में शब्दों के उभे प्रबन्ध को काव्य कहा है जिसका सर्वस्व रसास्वादन ही है। रसास्वादन को उन्होंने काव्य का प्राण कहा है जो उसके रग-रग में व्याप्त रहता है।^१ और अन्त में साहित्यदर्पणकार कविराज विश्वनाथ पर तो महिम का पूर्णप्रभाव परिगृहित होता है जिन्होंने न केवल काव्य का लक्षण ही रसात्मक किया है^२ जपितु उसके समर्थन में अनेक अकाव्य युक्तियाँ भी दी हैं और अन्यो की विप्रतिपत्तियों का निराकरण किया है।

काव्यप्रकाशकार वृत्त काव्यलक्षण में प्रयुक्त 'सगुणों' शब्द की अनुसरणता एव उसके स्थान पर 'सरसों' शब्द की ही उपादेयता का विधान करते हुए साहित्यदर्पणकार कहते हैं कि— 'शब्दार्थों' इनका सगुणो यह विशेषण भी युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि गुण केवल रम में ही रहते हैं, शब्द और अर्थ में नहीं। यह बात अष्टम उल्लाम में गुणा का वर्णन करते हुए काव्य-प्रकाशकार ने स्वयं कही है कि—जैसे आत्मा के गुण शून्या आदि हैं इसी प्रकार मादुर्यादिगुण काव्य के आत्ममूल रस के ही धर्म हैं और अचल हैं।^३ इसमें यह स्पष्ट है कि गुण रसों में ही होते हैं, शब्द या अर्थ में नहीं। यदि यह कह कि शब्द और अर्थ रसके व्यञ्जक होते हैं अत उपचारन अर्थात् परम्परा सम्बन्ध में इनमें गुणों के रहने की बात ठीक ही है और इस प्रकार स्वाश्रयरसाभिन्ध्यञ्जकत्व सम्बन्ध में शब्द अर्थ भी सगुण हो सकते हैं, तो ठीक नहीं क्योंकि हम पूजते हैं कि 'आप जिन शब्दों और अर्थों' को काव्य मन्त्रते हैं उनमें रस रहता है कि नहीं? यदि नहीं तो गुण भी नहीं रह सकते। क्योंकि गुण तो रस के अन्वय व्यनिरिक्त का अनुगमन करते हैं। यदि रस है तो वह भी रहेंगे। रस के अभाव में उनका भी अवश्य अभाव रहेगा। और यदि आप कह कि रस उनमें भी रहता है तो 'रसवन्तों' या 'सरसों' विशेषण ही युक्तियुक्त है। यदि यह कहें कि गुण शब्द का जहाँ प्रयोग हुआ है वहाँ भी तो अन्वय-व्यनिरिक्त न्याय से रस स्वतः रहेंगे ही पुन सगुणों पद के रहने में क्या दोष है। इस पर वह कहते हैं कि जिस प्रकार यह प्राणिमानु देस है इस वाक्य के स्थान पर शौर्यवानु देस है ऐसा वाक्य कोई नहीं कहता। यद्यपि शौर्य बिना प्राणी के नहीं रह सकता तथापि बिना प्रयोजन किमी मीनी बात को घुमाकर कहना कोई भी पमन्द नहीं करता। अतः यहाँ सरसों कहना ही ठीक है।^४ अनन्तर ध्वनिकार की

१. आस्वादजीवातुः पदसम्बन्ध. काव्यम् । —चण्डोदात्त, दीपिका, काव्यप्रकाश टीका, १।४ ।

२. वाक्य रसात्मक काव्यम् । दोषान्तस्थापकपंका ।

उत्कर्षहेतवतः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥ —साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, ३ ।

३. ये रसस्यागिनौ धर्मा. शौर्यादय इवात्मनः ।

उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थिनयो गुणाः ॥ —काव्यप्रकाश, ८।६६ ।

४. किंच शब्दार्थयो सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम् । गुणानां रसैरन्धर्मत्वस्य 'ये रसस्यागिनौ धर्मा' शौर्यादय इवात्मनः । उत्कर्षहेतवस्तेस्युरचलस्थिनयो गुणाः । इति तेनैवोक्तत्वात् । रसाभिन्ध्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्य इति चेत्तथाप्यवनम् । तथाहि तयोः काव्यस्वल्पेणाभिमतयोः शब्दार्थयोः रसोऽस्ति नवा ? नास्ति चेत् गुणवत्वमपि नास्ति, गुणाना तदन्वयव्यनिरिक्तानुविधापित्वात् । अस्ति चेत् कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम् । गुणवत्वान्वयानुपपत्त्येनद्द्रुश्यत इति चेत्तहि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम् । न सगुणाविति । नहि प्राणिमन्तोदेशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तोदेशा इति केनापि उच्यते ।

—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, वृत्ति १।३ ।

काव्यात्मक उक्ति का विस्तार करते हुए दर्शनात्तर कहते हैं कि काव्य की आत्मा ध्वनि है। इस कथन का अन्विष्टाया क्या वस्तु-अलङ्कार और रसादि इन सब ध्वनिधे की काव्य की आत्मा मानना है या केवल रसध्वनि को ही? इसमें प्रथम पक्ष का ग्रहण इसलिए ठीक नहीं होगा कि पहले आदि में—जहाँ वस्तुमान ध्वनि होता है अलक्ष्य में लक्षण के जानने में काव्यलक्षण अति-व्याप्त हो जायेगा। यदि दूसरा पक्ष मानें तो हमें स्वीकार है।^१ रस को ही हम काव्यात्मा मानते हैं।

अब प्रश्न यह होता है कि यदि केवल रसध्वनि ही काव्यात्मा है तो 'श्वभूरज निमग्निर्वि' इत्यादि स्थलों में जहाँ वस्तुमात्र व्यङ्ग्य है, काव्यत्व का व्यवहार कैसे, मन्त्र होगा? इसका उत्तर देते हैं कि—यहाँ भी रसानाम के कारण ही हम काव्यत्व मानते हैं। उक्त पद्य में प्रागल्भ्य परस्पर में नायिका का अनुचिन्तितानुसंग प्रतीत होता है अतः शृंगारनाम है। अन्यथा वस्तु-मात्र के व्यङ्ग्य होने पर ही यदि काव्यत्व मान लेंगे तो 'दिवदत्त गांव जाता हूँ' इत्यादि वाक्य भी काव्य हो जायेंगे। क्योंकि इस वाक्य में भी देवदत्त के मूढ्य का अनुगमन व्यङ्ग्य है। यदि कहे कि यह भी काव्य ही नहीं तो यह ठीक नहीं। क्योंकि अरुण वाक्य ही काव्य माना जाता है, अन्य नहीं। रसास्वादमुग्धविण्डवान द्वारा वेदशास्त्रविमूढ सुकुमारत्नवि राजपुत्रादि को 'रामादि की तरह जाचरण करना चाहिए, राजपुत्रादि की तरह नहीं' ऐसा वृत्त्याहृत्यदिविक द्वारा छत्य में प्रवृत्ति और जटत्य में निवृत्ति का उपदेश ही काव्य का प्रयोजन है। यही चिरन्तन आचार्यों का भी कथन है।^२ वह यहाँ नहीं बनता।

अग्निपुराण में भी कहा है कि वाणी के चातुर्थ्य की प्रधानता होने पर भी काव्य में जीवन-नूत रस ही है। व्यक्तिविवेकचार महिमनदट ने भी कहा है कि काव्य का आत्मनूत एवं अनी रस ही है, इसमें तो विनी को विवाद ही नहीं। ध्वनिवार ने भी एक जगह कहा है कि कथा-वस्तु का ठीक-ठीक निर्वाह हो जाने से ही कोई ग्रंथ काव्य नहीं हो सकता। कवि जो कुछ लिख

१. यत्तु काव्यात्मा ध्वनिः इति ध्वनिवारेणोक्तं तत्त्ववस्त्वलङ्काररसादिलक्षणपरिहारने-
ध्वनिः काव्यस्यात्मा उत रसादिरूपमात्रः। नाद्य, प्रहेलिकादावति व्याप्तेः। द्वितीयाद्वेदोमिति
द्रूमः।
—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, वृत्ति ११२।

२. ननु यदि रसात्तरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा तदा—

“अत्ता एत्य निमग्निर्वि एत्य अहं दिवसअंपलोएहि।

ना पहिअ रत्तिअन्धअ सेअए महेंण मग्निहिमि।।”

इत्यादी वस्तुमात्रस्य व्यंग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत्, न। अप्रापि रसानामव्रतसं-
द्रूमः। अन्यथा “दिवदत्तो ग्रामं याति” इति वाक्ये तद् मूढ्यस्य तदनुरूपरूप-व्यंग्यारगनेरपि
काव्यत्वं स्यात्। अस्तिपनि चेत् न। रसवत् एव काव्यसंगीकारान्।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादमुग्धविण्डवानद्वारा वेदशास्त्रविमुक्तानां सुकुमारत्नवीनां
राजपुत्रादीनां विनेयानां रामादिवन् प्रवर्तितान्यम्, न राजपुत्रादिविद्वानादि-वृत्त्याहृत्यप्रवृत्ति-
निवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनरम्भकतावान्।

—साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, वृत्ति ११२।

दे वह सब काव्य नहीं हुआ करता और न उसके काव्य का प्रयोजन ही मिट होता है। कदाञ्च का ज्ञान काव्य का प्रयोजन नहीं वह तो इतिहासपुराणादि से ही हो जाता है।^१

इस सबके अन्तर भी एक प्रश्न बना ही रहा कि फिर रघुवश आदि प्रबन्धों में उनके ऐसे पद्य हैं जो अवश्य ही नीरम हैं फिर उनमें काव्यता कैसे बनेगी? दर्पणकार कहते हैं कि जिन प्रकार सरस पद्य क मूढ नीरम पद्य उन्हीं पद्य के रस से रसवान् समझे जाते हैं उन्हीं प्रकार प्रबन्धान्तर्गत नीरम पद्यों में भी रसवान् मानकर काव्यता का निश्चय नहीं होता। गुणान्वित्यन्तर्गत दर्पण या अलङ्कारमात्र की मला एव शेषामात्र माले पर नीरम पद्य न भी जा काव्यत्व व्यक्त हो देखा जाना है उन्हीं नीरम काव्य के रूप की मन्ना का गौण प्रयोग ही समझना चाहिए।^२

महिममट्ट ने स्वयं अपने काव्यलक्षण की विनाश व्याख्या की है और अन्य जाकायों में विनोयपद से ध्वनिदार के काव्यलक्षण में उनकी तुलना भी की है। वह कहते हैं कि रस ही वह जाना है जो मारस्य में स्थित काव्य के जीवन का आधारक होता है। उनके बिना काव्य न काव्यत्व का सर्वथा अभाव ही रहेगा। रस में भाव एव उदात्तता आदि का भी ग्रहण होता है। क्योंकि उनकी व्युत्पत्ति है—रसमेति रस विनवा आस्ताद हो बही रस ह। इतीति काव्य में सफलता के इच्छुक कवि को चाहिए कि कृत्वाह्वयविवेक के उपनिबन्धन के साथ ही काव्य में रसात्मकता का भी अनिवार्य रूप से आधान करे।^३ जहाँ काव्यलक्षण में रसपद का प्रतिबन्ध परम आवश्यक है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि काव्य क मिदृष्ट लक्षण के अवधारण में महिममट्ट ने एक ऐसी परम्परा को जन्म दिया जा स्वयं नहीं थी पर अन्य परम्पराओं की अपेक्षा अधिक बर्त एव युक्तिमत्त। काव्य का लक्षण रसपरक ही होना चाहिए—उन्हीं इस कथन से साहित्यशास्त्र का प्रत्येक निदान् प्रभावित हुआ है चाहे हमने पूर्णतः स सत्तम न भव न हो। काव्यलक्षण की ऐसी व्यापक समीक्षा एव सामग्रीय रीति से निवार महिम के बाद फिर पण्डितराज जगन्नाथ ही में उपलब्ध हुआ है अन्यत्र नहीं। वह भी परबर्तों होने से महिम के रूपों सर्वथा नष्ट है ऐसी बात नहीं।

१. तथा धास्वितपुराणेषु न्तम्—वाचैदग्ध्य प्रधाने पि रस एवान् जीवितम् ।
 व्यक्तित्वविवेककारेणोप्युक्तम्—काव्यस्यान्मनि सगिति रसादिरपे न कस्यचिद्विनिमिः ।
 इति ध्वनिकारेणोप्युक्तम्—नहि यवेरितिवृत्तमावतिद्विगुणात्मपदलान् । इतिहासादेरे-
 वन्त् निद्वेः ।
 —साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद, वृत्ति ११३ ।
२. ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्गता केवाविन्नीरसात्ता पद्यात् काव्यत्व न स्यादिति चेत् न । रसर-
 त्पदान्तरान् नीरसपदानामिव पद्यरसेन प्रबन्धरसेनेव तेया रस्यत्ताङ्गीकारान् । यत्तु नीर-
 सत्वमि गुणमित्यन्तर्गतकवर्णित्वाभावाद्गोपाभावात्तन्नासात्सद्भावाच्च काव्यव्यग्रहारः स
 रसात्मिकाव्यव्यसाम्याद् गौण एव ।
 —साहित्यदर्पण, वृत्ति ११२-३ ।
३. काव्यस्य सात्त्विकसिद्धता त प्रवृत्तिविशेषतयाभावेनास्य रसान्तरकत्वमवश्यमन्युपगन्तव्यम् ,
 अन्यथा प्रवृत्तिरेव न स्यात् किमुन व्युत्पत्ति । तस्य रसात्मकत्वाभावे मुख्यवृत्त्या काव्य-
 द्यपदेश एव न स्यात् ।
 —व्यक्तिविवेक, द्वयम विनयां, पृ० ९७, ९८ ।

प्रथम-विमर्श

शब्दार्थ-विवेचन

काव्यलक्षण-निरूपण के प्रसङ्ग में महिममट्ट ने विभावादिमंयोजनात्मक व्यापार की बात कही है। विभावादि का संयोजन शब्दार्थ के माध्यम से ही सम्भव है। अतः शब्द और अर्थ, साक्षात् रूप से काव्यशास्त्र की विवेचना के विषय न होते हुए भी वाच्य के लिए कम महत्त्व के नहीं हैं। विभावादि के संयोजनात्मक व्यापार के विवेचन के पूर्व शब्द, अर्थ और उनके परस्पर के सम्बन्ध पर विचार किया जाना इसलिए भी परम आवश्यक है कि शब्दार्थ की ठीक-ठीक जानकारी हो जाने पर ही उनका रसानुगुण समुचित संयोजन सम्भव है। अतः विस्तृत रूप से शब्दार्थ-स्वरूप का विवेचन साहित्यशास्त्र का महत्त्वपूर्ण विषय है। प्रायः सभी आलंकारिकों ने शब्द, अर्थ तथा उनके परस्पर सम्बन्ध एवं शब्द की अर्थप्रत्यायिका शक्ति आदि का न्यूनाधिक रूप से निरूपण किया है। ध्वनिकार ने भी कहा है कि—प्रतीयमान अर्थ एवं उसे अभिव्यक्त करने में समर्थ शब्द की पहचान प्रत्येक महाकवि को प्रयत्नपूर्वक करनी चाहिए।^१ अग्निपुराण के अनुसार भी शास्त्र, इतिहास और काव्य वाङ्मय की ये मुख्य तीन विधाएँ हैं। तीनों ही शब्द—ध्वनि, वर्ण, पद और वाक्य—में ओतप्रोत हैं। वेदादि शास्त्रों में शब्द की प्रधानता होती ही है। इतिहास को भी शब्दनिष्ठ ही कहा गया है। काव्य में मंगीमणिति रूप अभिधा की प्रधानता होने से उसे शास्त्र और इतिहास से सर्वथा भिन्न माना गया है।^२ इस प्रकार शब्द ही काव्यशास्त्र की विवेचना का विषय हो जाता है। अतएव महिममट्ट ने व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में सागोपाग रूप से शब्द का विवेचन किया है।

(क) शब्द का स्वरूप और उसके भेद-प्रभेद

भावार्थक शब्द धातु से घञ् या शप् आक्रोशे धातु से दन् प्रत्यय होकर शब्द पद व्युत्पन्न होता है। दूसरों को समझाने के लिए हम जिन साधनों का उपयोग करते हैं शब्द उनमें अन्यतम होने के साथ-साथ सर्वोत्तम भी है। इसलिए महिमा ने कहा है कि—शब्द का प्रयोग प्रायः

१. सोऽयंस्तद्व्यक्तिसामर्थ्ययोगी शब्दश्च कश्चन ।

यत्नतः प्रत्यभिज्ञेयो तीशब्दायो महाकवेः ॥

—ध्वन्यालोच, १।८ ।

२. ध्वनिर्वर्णाः पदं वाक्यमित्येतद्वाङ्मयं मतम् ।

शास्त्रेतिहास-काव्यानां ग्रथं यत्र समाप्यते ॥

शास्त्रे शब्द-प्रधानत्वमितिहासेषु निष्ठता ।

अभिधायाः प्रधानत्वात् काव्यं तान्यां विभिद्यते ॥

—अग्निपुराण, अ० ३३६।१, २ ।

दूमरो के लिए ही होता है। क्योंकि इसके बिना दूमरो के साथ व्यवहार करना सम्भव नहीं।^१ एक दूमरी वात कि शब्दों का वैयक्तिक रूप से स्वनम्ब कोई अस्तित्व नहीं होता, अपितु वाक्य से ही एकमात्र असम्बद्ध रूप में अर्थ की प्रतीति होती है। जिन प्रकार हम शब्द में से प्रकृति-प्रथम की व्युत्पत्ति कर लेते हैं, उसी प्रकार वाक्य से अलग करने पर ही शब्द की सत्ता है। इसलिए किमी ने पद के सुबन्त एव निडन्त दो भेद, किमी न नाम, आख्यात, उपमर्ग एव निपात चार भेद, तो किमी ने इनमें ही कर्मप्रवचनीय को जोड़कर पांच भेद किये हैं। शब्द के भेदोपभेद की ये मान्यतायें ब्याखरणा के विविध मन्त्रदायो की हैं। महिमनष्ट ने इस प्रणाली में जो कारिका उद्धृत की है वह ननुंहरि के वाक्यपदीय की है।^२

महिमनष्ट के अनुसार हमने पहले शब्द के मुख्य दो भेद होने हैं—पद एव वाक्य। पद के भी नाम, आख्यात, उपमर्ग, निपात एव कर्मप्रवचनीय सत्तक पांच भेद होने हैं।^३

१. नाम—ये पद हैं जिनमें सत्त अर्थात् निडन्त वस्तु की प्रधानता होती है। जैसे घट-पटादि शब्द।

२ आख्यात—क्रियाप्रधानपद आख्यात कहे जाते हैं। सभी शब्द क्रियावाचक हैं, इस युक्तिसे नाम पदों में भी यद्यपि क्रिया शब्दत्व है किन्तु वहाँ क्रिया की प्रधानता नहीं होती। क्रिया की प्रधानता वहाँ होती है वही आख्यात कहे जाते हैं, अन्य नहीं। अतएव कहा है—'भाष-प्रधानमाख्यातम्'।

३ उपमर्ग—उपमर्गों को यम-उभूतार्थ कहा है—अम-उभूत वा अर्थ है जिनका अपना मत्वम्बन्धनात् निडन्त न हो। जैसे—प्रादि उपमर्गों का अपना कोई विशेष अर्थ नहीं होता। किन्तु क्रिया के माप लगने पर वे क्रिया के अर्थ का नियमन करने लगते हैं।

४ निपात—जदि या स्वरादि अन्यको की निपात सत्ता होती है। इनके द्वारा क्रिया एव सत्तवाचक पदों में परस्पर भेद का बोध किया जाता है। जैसे—'पठति पठति च' में च पठ् और पठ् क्रियाया के भेद का, तथा 'देवदत्तो यज्ञदत्तश्च' में च देवदत्त और यज्ञदत्त सत्तों में परस्पर भेद का विनिगमक है।

५ कर्मप्रवचनीय—कर्मप्रवचनीय के प्रयोग का नियमन निपात के समान ही होता है। किन्तु ये लक्षात् आदि के बोधक होते हैं। उदाहरणस्वरूप—'जपमनुप्राप्तयन्' में प्रमुखा

१. शब्द-प्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते ।

न हि तेन बिना शक्तो व्यवहारयितुं परः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ३७ ।

२. द्विधा कंठित्वं पद भिन्नं चतुर्णां पद्ययापि वा ।

जसोन्त्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादियन् ॥ —वाक्यपदीयः; तृतीय पाण्ड पदसमुद्देश १ ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ३८ ।

३. द्विविधो हि शब्दः पदवाच्यभेदान् । तत्रपदमनेकप्रकारकं नामाख्यातोपसर्गनिपातकर्म-प्रव-
चनीयभेदान् । सत्वप्रधानानिनामानि । भाषप्रधानमाख्यातम् । अस्त-उभूतार्था उपसर्गादयः,
क्रियाख्यातनिपातप्रतिनिबन्धनमुपमर्गाः प्रादयः । भाषमन्त्रयोः सत्वभेदप्रधाननिमित्तमर-
धूनरुपायंविशेषाः स्वरादयो निपाताः । क्रियाविशेषोपजनित-सम्बन्ध-विच्छेदहेतवः कर्म-
प्रवचनीयाः ॥

—व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श, पृ० ३६-३७ ।

अनु पद अप के कारण वर्षा होने के लक्षण का बोधक है जो बर्नप्रवचनी है। वाच्यं महिम्नम् वा कहना है कि वास्तव में तो वाच्य में पदों का भेद होता ही नहीं। अनिपु विन प्रकार एक ही पद में प्रवृत्ति एवं प्रत्यय का विच्छेद कर व्युत्पत्ति की जाती है, उसी प्रकार उच्चारण में पदों का भेद दृष्टिमह्य से करके हम उनके अलग-अलग स्वरूप की प्रतीतिनात्र कर लेते हैं।^१

पद के पाँच प्रकार के भेदों में 'नाम' प्रथम है। नामपद सिद्धवन्तु के वाच्य होते हैं। इनके भी अनेक प्रकार होते हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक और द्रव्यवाचक। घट, पट आदि जातिवाचक पद हैं, शुक्ल, नील आदि गुणवाचक; पाचक, पाठक आदि क्रियावाचक और दण्डी, विपानी आदि द्रव्यवाचक। इनमें परस्पर भेद इनके प्रवृत्तिनिमित्त को देखर है। जहाँ घटत्व, पटत्व, ननुप्यत्व आदि सामान्यधर्मवाच्य होते हैं, वे शब्द जातिवाचक हैं। इसी प्रकार शुक्ल और नील गुणवाचक शब्द हैं जो गुणों का बोध कराते हैं। जब पाचक या पाठक शब्द का उच्चारण किया जाता है तो पच् और पठ् क्रियाएँ ही उनका प्रवृत्तिनिमित्त होती हैं। इसी प्रकार दण्ट या विपान नामक द्रव्य को धारण करने वाला व्यक्ति दण्डी या विपानी कहा जाता है।^२ कुछ लोगों के अनुसार जात्यादि सबकी प्रवृत्ति का एकनात्र निमित्त क्रिया ही है। अतः जात्यादि सभी नामपद क्रियाशब्द हैं।^३

(ख) पदों का क्रियाशब्दत्व पक्ष

किन्हीं आचार्यों के अनुसार जात्यादि सभी पदों की प्रवृत्ति का एकनात्र निमित्त क्रिया ही है। उनका कथन है कि—जातिवाचक, गुणवाचक, क्रियावाचक एवं द्रव्यवाचक सभी पदों के व्यवहार के मूल में एकनात्र क्रिया ही रहती है। हम देखते हैं कि स्वार्थ में प्रवर्तमान घटदि सभी शब्द अपनी प्रवृत्ति के निमित्त के लिए अन्वय व्यतिरेक में घटन आदि तत्तद् क्रियाओं का ही समान्यकरण करते हैं, घटत्वादि जाति का नहीं। वहाँ घटनादि क्रिया का सम्पादन चाहे घटत्व सामान्य के योग में हो अथवा अन्य किसी भी प्रकार से। घटत्व सामान्य के योग में घटनादि क्रियाओं की सम्पद्यमानता में क्रिया के परिवर्तित हो जाने पर भी पद के प्रवृत्तिनिमित्त में किसी प्रकार का व्याघात नहीं होता। घटत्व जाति के रहते हुए भी जब तक घटन व्यापार नहीं होता, तबे हम घट नहीं कह सकते। ऐसा होने पर पट भी घटव्यवदेश का विषय हो जाएगा। अतः

१. अनोद्गम्यं वाच्येन्यः प्रवृत्तिप्रत्ययादिवत् ॥

—व्यक्तिविदेश, पृ० ३८।

२. तत्रपदमनेकप्रकारकं नामाख्यातोपमर्गनिपातकर्मप्रवचनीयभेदान् । तत्र सत्त्वप्रवृत्तिनिमित्तानि नामानि । तान्यपि बहुप्रकाराणि सम्भवन्ति । जानिपुणक्रियाद्वय्यासां प्रवृत्तिनिमित्तानि बहुत्वान् । तद्यथा—घटः पट इति जाति शब्दः । शुक्लो नील इति गुणशब्दः । पाचकः पाठक इति क्रियाशब्दः । दण्डी विपानीति द्रव्यशब्दः ।

—व्यक्तिविदेश, पृ० ३२।

३. केचित् पुनरेषां किंश्चि प्रवृत्तिनिमित्तमिति क्रियाशब्दत्वमेव सर्वेषां नामपदानामुच्यते ॥

—व्यक्तिविदेश, पृ० ३२।

घट एव पट उभयत्र घटनक्रिया के कर्तृत्व का अभाव समान रूप से है ।^१ इसी प्रकार शुक्लत्व को प्राप्त हुए बिना ही कोई पदार्थ शुक्ल नहीं कहा जा सकता, और न ऐसा कोई व्यक्ति पाचक ही कहा जा सकता है जो पकाने की क्रिया न करता हो । इसलिए घट शब्द के प्रवृत्तिनिमित्त घटत्व को घटन क्रिया के कर्तृत्व का लक्षण समझना चाहिए । केवल घटत्व जाति का वाचक मान नहीं । उसी को यहाँ घटन कहा है ।^२

यहाँ कह सकते हैं कि चेष्टार्थक घट् धातु से 'घटते इति' इस अर्थ में अच् आदि प्रत्यय होकर घटादि शब्द व्युत्पन्न होते हैं । अतः घटादि सभी शब्दों का प्रवृत्तिनिमित्त घटनक्रिया ही हमें भी अनीष्ट है । फिर पक्षान्तर का उपन्यास कि प्रकारान्तर से सभी शब्द त्रियापरक है, व्यय है । यह कथन इसलिए ठीक नहीं कि इस प्रकार सभी शब्दों के त्रियाशब्दत्वपक्ष का समर्थन तो हो जाता है किन्तु वह शब्द का व्युत्पत्ति निमित्त ही बन पाता है, प्रवृत्ति निमित्त नहीं । प्रकृति प्रत्यय विभाग कर प्रत्येक शब्द की रचना एव व्युत्पत्ति को लेकर जब हम जय करते हैं तो वहाँ त्रिया की प्रधानता स्वतः होती है । और इस प्रकार वहाँ त्रिया, शब्द की व्युत्पत्ति का ही निमित्त होती है, प्रवृत्ति का नहीं । व्युत्पत्तिनिमित्त से प्रवृत्तिनिमित्त सर्वथा भिन्न होता है । उदाहरणस्वरूप—'विही के मत से—'गच्छतीति गो' की व्युत्पत्ति से गो शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त गमन त्रिया है । लेकिन उसकी प्रवृत्ति का निमित्त तो गोत्व ही है, गमन त्रिया नहीं । अतएव चलती, फिरती और बैठी हुई सभी प्रकार की गायों के लिए गो शब्द का प्रयोग होता है और ठीक ही होता है ।^३

इस प्रकार गो शब्द की तरह घट में भी चेष्टादिरूपक्रिया घटादि पदों की व्युत्पत्ति का निमित्त है, यह सिद्ध हो जाता है । घटनादि या चेष्टादि त्रिया की अपेक्षा से ही 'विपच्य घटो भवति' इत्यादि प्रयोग में विपाकादि त्रिया की पूर्वकालीनता को बत्वा प्रत्यय का विषय

१ घटादिशब्दा स्वार्थे प्रवर्तमाना घटनादिक्रियामेवान्वयव्यतिरेकाभ्या प्रवृत्तिनिमित्तभावेनावलम्बमाना दृश्यन्ते । न घटत्वादि सामान्यम् । सा चेया घटनादिक्रियाघटत्वसामान्ययोगावन्यथावास्तु । नैतावता तस्या प्रवृत्तिनिमित्तत्वव्याघातः । न च सत्यपि घटत्वसामान्ये स्वयमघटन् घटात्मतामनापद्यमान एवासौ घटव्यपदेशविषयो भवितुमर्हति । एवहि पटोऽपि घटव्यपदेशविषय स्यात् । घटनक्रिया-कर्तृत्वान्वावशिष्यात् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २३ ।

२ न हि शुक्लत्वमनापद्यमान एवार्थं शुक्ल इति व्यपदेश्ये शक्यते, अपचक्षेत्रे पाचक इति । तस्माद् घटनक्रिया-कर्तृत्वलक्षणमेव घटत्व घटशब्दस्य प्रवृत्तौ निमित्तमवसेयम् । न घटत्वमात्रम् । तदेव चेह घटनमित्युक्तम् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २४ ।

३ ननु चेष्टाद्यर्थान् घटत्यादेश्यांतोरजावौ घटत इत्याद्यर्थे घटनादि क्रियैव सर्वेषां घटादिशब्दानां प्रवृत्तिनिमित्तभावेनस्मिभिरपीष्यत एवेति व्यर्थं पक्षान्तरोपन्यासः । सत्यमिष्यत एव भवद्भि किन्तु सा शब्दस्य व्युत्पत्तिनिमित्त, न प्रवृत्तिनिमित्तम् । अन्यद्वि ध्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्चप्रवृत्तिनिमित्तम् । यथैकेषां मते गमनादिक्रिया गवादिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तम् एकार्यसम्भावात् गोत्वादि प्रवृत्तिनिमित्तीकरोति । अतएव गच्छत्यगच्छति च गवि गोशब्द सिद्धो भवति ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० २५ ।

अर्थात् स्थल समझना चाहिए । जैसे 'अधिश्चित्यपाचको भवति' इत्यादि उदाहरणों में क्त्वा प्रत्यय का विषय अधिश्चयपादि की पूर्वकालीनता पाकादि की अपेक्षा से ही होनी है, नवन-क्रियापेक्ष नहीं । कहने का तात्पर्य यह है कि 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' सूत्र से जिन दो धातुओं का कर्ता समान अर्थात् एक ही उनमें पूर्वकाल में विद्यमान धातु के साथ ही क्त्वा प्रत्यय का प्रयोग होता है । जैसे—'सम्पन्विना भुक्तवा व्रजन भवति' इत्यादि स्थलों में भुञ् और व्रज धातुओं का कर्ता एक ही है । वह पहले भोजन करता है; अनन्तर गमन । अतः व्रज की अपेक्षा भुञ् में पूर्वकालीनता है। उसी प्रकार 'अधिश्चित्य पाचको भवति' इस दृष्टान्त में भी पहले चूल्हे पर रखता है, पश्चात् पकाता है, ऐसा पूर्वापरभाव है । इस प्रकार अधिश्चय में पूर्वकालत्व होने से वही क्त्वा प्रत्यय का विषय होता है, भू नहीं, 'विपच्य घटो भवति' इत्यादि स्थलों में भी इसी प्रकार क्त्वा का विषय पच् ही होता है, भू नहीं ।

यदि यह कहे कि यहाँ 'भू' क्रिया अपेक्षित क्यों नहीं है ? इसका उत्तर देते हुए कहे हैं कि—यहाँ उस भू क्रिया का प्रयोग ही नहीं होता । वाक्य में 'भू' क्रिया के प्रयोग के बिना भी अथवा आक्षेपमात्र से भी व्यवहार सम्भव है । अप्रयुक्त होने पर भी पदार्थों के बीच में सत्ता के अव्यभिचारवशाद उसकी प्रतीति होती है । किन्तु इतने से ही पूर्वकालिकता 'भू' क्रिया की अपेक्षा करती है, ऐसा मानना ठीक नहीं । क्योंकि एक तो वह पचादिक्रिया की अपेक्षा बहिरंग है, दूसरे ऐसा मानने से अर्थ में असंगति दोष होने लगता है ।^१

इस प्रकार क्रिया में प्रयुक्त क्त्वा का पूर्वकाल्य अर्थ प्रयुज्यमान क्रिया को लेकर ही होता है, प्रतीयमान क्रिया को लेकर नहीं । अन्यथा प्रतीयमान को लेकर भी यदि पूर्वकालिकता का विधान होने लगे तो—

श्रुत्वापि नाम बधिरो द्रष्ट्वाप्यन्यो जडो विदित्वापि ।

यो देशकालकार्यव्यपेक्षया पण्डितः स पुमान् ॥

जो व्यक्ति देश, काल एवं कार्य के अनुसार सुन करके भी बहुरा और देखकर भी जन्मा बना रहता है, तथा सब कुछ जानते हुए भी अनजान-सा व्यवहार करता है, वही पण्डित है और वही मनुष्य । इस पद्य में श्रुत्वा, द्रष्टता और विदित्वा में क्त्वा के प्रयोग पूर्वकाल में श्रवणादि का अभाव होने से सर्वथा अनुपपन्न होंगे । पूर्वकालिकता के विषय में पूर्वोक्त प्रयुज्यमान क्रियापेक्ष नियम को स्वीकार करने पर प्रकृत 'श्रुत्वा' आदि स्थलों में श्रवण आदि क्रियाओं की पूर्वकालिकता का विधान श्रवणादि शक्ति के

१. एवमिहापि चेष्टादिक्रिया घटादिशब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमिति सिद्धं भवति । तदपेक्षमेव च विपच्य घटो भवतीत्यादौ विपाकादि क्रियायाः पूर्वकाल्यं क्त्वाप्रत्ययस्य विषयो बंदि-तव्यः, यथाधिश्चित्यपाचकोभवतीत्यादौ पाकाद्यपेक्षमधिश्चयणादेर्नवन, क्रियापेक्षम् । सा हि नावश्यं प्रयज्यते । प्रतीयते तु पदार्थानां सत्ताव्यभिचारान् । न तु तावता तदपेक्षं तदिति मन्तव्यं, तस्याः बहिरंगत्वाद्, अर्थरयासङ्गतिप्रसङ्गाच्च ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० २५ ।

अनात्रस्वरूप कल्पित वानन (निराकरण) आदि क्रिया को लेकर ही हुआ है, अतः कोई अनुपपत्ति नहीं ।^१

अनन्तर आचार्य महिममदृष्ट ने अनेक उदाहरण देकर सजा पदों के त्रियानरूप होने के पक्ष का समर्थन किया है । प्रकृतस्यञ्च में अनुगद्ये होने से ह्य विसृत विवेचन में न जाकर उमञ्च सारण जो उन्होंने स्वयं सप्रहृल्लोको के नाम से दिया है, यहाँ उद्धृत करते हैं—

घटतीति घटो ज्ञेयो माघटन् घटतानिधान् ।

अघटत्वाविशेषेण पटोऽपि स्याद्घटोऽन्यथा ॥८॥

घट उनी वस्तु को समझना चाहिए जिसमें घटन की क्रिया सम्पन्न हो अर्थात् जो होने की क्रिया में युक्त हो । वह वस्तु जो होने की क्रिया (घटनक्रिया) में युक्त नहीं है, घटत्व को प्राप्त नहीं हो सकती । अर्थात् वह पदार्थ घटत्व जाति का आन्वय कदापि नहीं हो सकता जिसमें घटन क्रिया सम्पन्न न होती हो । अन्यथा घटन क्रिया के योग के बिना ही यदि किसी वस्तु या पदार्थ को घट की सजा दे दी जाय और उसमें घटत्व भी मान लिया जाय तो पट (वस्त्र) के भी घट कहे जाने में किसी को कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं होनी चाहिए ॥८॥

घटनश्च तदान्मन्वापत्तिर्या क्रिया मता ।

मूल च तस्यादिचत्वार्यभिस्ता विवृतिरौपिनुः ॥९॥

घटन (होना) उस क्रिया को कहते हैं जो वस्तुओं को आन्वय (जीवन) प्रदान करती है । इनका हेतु परमेश्वर की वह रचना है जो नाना प्रकार की विचित्र वस्तुओं को नूतन जाविष्कार के रूप में प्रतिमानित करती रहती है । कहने का अन्विष्टान यह है कि घटन (होना) सृष्टि का स्वभाव है । प्रतिमानित अर्थात् आविष्कृत होने के पूर्व प्रत्येक वस्तु या पदार्थ की घटन (होने) की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ता है । अतः किसी वस्तु को स्वल्प की प्राप्ति उनके होने में है । अनन्तर ही उनमें जाति गुण एव सजा का समावेश सम्भव है ॥९॥

यः कश्चिदर्थः शब्दाना व्युत्पत्तौ स्यान्निरव्ययन् ।

प्रवृत्तौ तु क्रियेवका सत्तासाधनलक्षणा ॥१०॥

अतः शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त जाति गुण सजा या क्रिया में से कोई भी पदार्थ न रहे हो उसकी प्रवृत्ति का निमित्त एकमात्र क्रिया ही हो सकती है क्योंकि उनी से ही वस्तु को उनकी सत्ता प्राप्त होती है एव वस्तु या पदार्थ को सत्ता प्राप्ति रूप क्रिया ही तत्तद् अर्थों में शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होती है ॥१०॥

तस्यामेव विवक्षाद्याच्च विधेयाः कर्तृमात्रतः ।

न तूपनानादाचारं तपोरथात् प्रनोतितः ॥११॥

इत्यन्त्रे क्विप् आदि कृत् प्रयोगों को जो सामारण शब्दों में होते हैं क्रिया में ही हुआ समझना चाहिए । अर्थात् कर्तृवाचक क्विप् आदि प्रत्यय क्रिया में ही किये जाने चाहिए । यहाँ तत्

१. प्रयुग्मभानक्रियावैभनेव च प्रायोऽपि पौर्वकाल्यं क्तो विपयो न प्रनोयनानावेकम् । इतरथा श्रुत्वारि नाम. - इत्यादि प्रयोगान्वातननुपपन्ननेव स्यात्, श्रवणादीनां तन्पूर्वकाल्त्वाभावात् ।

अतः तु श्रुत्पादिनास्त्रिविहृल्लक्षणानिर्भासिक्रियावैभनेव श्रवणादीनां पौर्वकाल्यमिति न काचिदनुपपत्तिः ।

कि उपमान से आचार अर्थ में जो क्विप् आदि प्रत्यय होते हैं उन्हें भी क्रिया में ही दृजा समझना चाहिए। उपमान एवं आचार अर्थों की प्रतीति तो उससे अर्थात् हो जाती है ॥११॥

यथा हृष्यति चालेय इत्यतोऽर्थः प्रतीयते ।

अश्वत्वमासादयति खर इत्यर्थतः पुनः ॥१२॥

अश्वतुल्यसमाचारः खर इत्यवसीयते ॥

जैसे 'चालेयः अश्वति'—गधा घोड़े की तरह आचरण करता है—इस वाक्य से इस अर्थ की प्रतीति होती है कि गधा अश्वत्व को प्राप्त हो रहा है। अनन्तर इस अर्थ से हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि गधे का आचार (क्रिया-कलाप) घोड़े-जैसा है ॥१२॥

न तत्वासादनं युवतं तदतुल्यक्रियस्य हि ॥१३॥

सत्तायां व्याप्तिर्यथा चित्रत्वपरिनिष्कृतेः ।

संगच्छते जडस्यापि घटादेर्घटनादिवत् ॥१४॥

यदि क्रिया वस्तु के अनुरूप नहीं है तो उस पदार्थ को तत्त्व अर्थात् पदार्थत्व (जाति) की प्राप्ति वन नहीं पाती। अर्थात् किसी पदार्थ को पदार्थत्व की प्राप्ति सिद्धान्ततः अनुपयुक्त है यदि उसमें उसके स्वरूप की प्राप्ति के अनुरूप क्रिया न होती हो। सत्ता की प्राप्ति रूप इस व्यापार का आधार (मूलकारण) चित्रत्व अर्थात् वस्तुगत वैचित्र्य है जो घट आदि में होने वाली घटन क्रिया के समान जड़ वस्तुओं के सम्बन्ध में ठीक बैठ जाती है। कहने का आशय यह है कि पदार्थ की सत्ता में व्यापार (क्रिया) का होना उसका अपना वस्तुगत स्वभाव है ॥१४॥

नाम्नः सत्वप्रधानस्य धातुकरोऽत्र एव हि ।

शब्दवर्णकदेशादेर्धात्वर्थत्वमवोचत् ॥१५॥

अतः धातुकार (पाणिनि) ने घटपटादि नाम पदों को धात्वर्थपरक ही कहा है, मद्यपि उनमें सिद्ध वस्तुधर्म (सत्व) की ही प्रधानता होती है। क्योंकि उनकी अनिव्यक्ति का माध्यम शब्द एवं मुख का एक भाग होता है ॥१५॥

एवं च विपच्य घटो भवतीति शतबोऽस्य पूर्वकालत्वम् ।

घटनापेक्षं ज्ञेयं भवनापेक्षान्तु नासमन्वयतः ॥१६॥

इन प्रकार 'विपच्य घटो भवति'—घड़ा पक कर तैयार होता है—इस वाक्य के 'विपच्य पद' में प्रयुक्त 'भवा' में, जो पूर्वकाल का बोधक है, घटन क्रिया की अपेक्षा ही पूर्वकालिकता है, न कि भवन-क्रिया की अपेक्षा। क्योंकि भवन-क्रिया की अपेक्षा पचन-क्रिया की पूर्वकालिकता इसलिये नहीं बन पाती कि पचन भी एक प्रकार का भवन ही (होता) है। पचन भवन में व्याप्त है। अतः पचन को उममे पृथक् कर समझने में सङ्गति बँधे बैठ सकती है ॥१६॥

बहिरङ्गत्वाच्च यथा भवत्याधिधित्य पाचकोऽर्थमिति ।

अत्र हि पात्रापेक्षाधिधयतेः पूर्वकालतावगतिः ॥१७॥

इसके अतिरिक्त वह बहिरंग भी है। जिस प्रकार 'जधिधित्य पचति' 'चूल्हे पर रखकर पकाना है', इस वाक्य में पचन-क्रिया की अपेक्षा अधिधरण क्रिया की पूर्वकालिकता की प्रतीति स्वतः होती है वैसे पूर्वत्र नहीं होती ॥१७॥

तस्मान्नामपदेभ्यो य कश्चिदर्थं प्रतीयते ।

न स सत्तामनासाद्य शब्दवाच्यवमर्हति ॥१८॥

इमलिये सत्ता पदा से नी चिन विनोप अर्थ की प्रतीति हानी है उत्तमे उनकी सत्ता को प्राप्त हुए बिना वाच्य होने की सामर्थ्य नहीं होती। अर्थात् सत्तापदा में नी उनके अर्थवस्तु के अस्तित्व (हाने) की क्रिया त जा सम्बन्धित है वही उमका वाच्य कहलाना है। यदि अर्थ-वस्तु की सत्ता से उस अर्थ का सम्बन्ध न हो ता उसके लिये प्रयुक्त शब्द का वाच्य वह करायि नहीं हो सकना ॥१८॥

इत्य चास्तिभक्त्यादि क्रिया सामान्यमुच्यते ।

नान्तरङ्गतयादस्य वक्तारस्तन् प्रमुञ्जते ॥१९॥

इन प्रकार अग्नि भवति (होता है) चादि क्रियायें सामान्य रूप से ननी पदायों में हाने वाणी क्रिया के बोधक हैं। अतएव इन्ह सामान्य-क्रिया कहा जाना है। वाक्य में इनका प्रयोग करना करना के लिये इसलिये आवश्यक नहीं है कि ये अनन्तरा हैं और इन्हें या ही सनज लिया जाना है ॥१९॥

क्रियाविशेषो यस्त्वग्न्यं पाकादिव्यंभिधारिभाक् ।

बहिरङ्गतया तस्य प्रयोगोऽव्ययमिष्यते ॥२०॥

इनके अनिश्चित पाकादि जा अन्य क्रियायें हैं उन्हें विशेष क्रिया कहा जाता है क्योंकि वे कही होने तथा कही न होने से व्यभिचरित रूप से प्रयुक्त हानी हैं। यहिरग हाने से वाक्य में उनका प्रयोग अनिवार्यत अपक्षित है ॥२०॥

(ग) वाक्य का लक्षण एव स्वरूप

वाक्यमय म वाक्य का अपना विशेष महत्व है। कोई शब्द जब तक किसी वाक्य का अंग नहीं बन जाता अपना कुछ अर्थ नहीं रखता। अतएव क्या व्याकरण, क्या दर्शन और क्या साहित्य, वाक्यमय की प्रत्येक क्रिया में वाक्य के लक्षण, स्वरूप और उनमें लक्ष्य के अभिव्यक्त हाने की प्रक्रिया का विवेचन किया गया है। महिमभद्र तमूचे वाक्यमय को 'शब्द' कहते हैं। उनके दो भेदा म से एक वाक्य है, दूसरा पद।^२ पद के नामान्यातादि भेदा का विवेचन हो चुका है। वाक्य केवल एक प्रकार का होता है। क्योंकि उनका आधार क्रिया है। क्रिया की प्रधानता पर ही वाक्य बनता है। चूकि क्रिया वाक्य में एक ही होती है, अत वाक्य केवल एक ही प्रकार का होता है।^१ वाक्य न क्रिया की प्रधानता का विनायक न्याय बडा ही लोकप्रिय है—'नूतनन्यनमुन्वारणो नूत नन्यायोपकल्पने'^४ नूत वाक्य होता है और नन्य क्रिया। किसी वृद्ध के वचन को ही वाक्य के लक्षण के रूप में उल्लेख कर

१ व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श ।

२ द्विविधो हि शब्दः पदवाच्यभेदान् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २२ ।

३. वाग्यनेत्रप्रसार, क्रियाप्राधान्यात् तस्यासंघटत्वान् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ३८ ।

४ किसी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों में से कुछ भूत अर्थात् धीनी हुई घटनाओं के बोधक होने हैं तो कुछ उन घटनाओं या व्यापार के जिन्हें होता है। इनमें भूतकाल में निरिच्छ शब्दों के प्रयोग का उद्देश्य होने वाली घटनाओं (अभ्य) के बोधक शब्दों के लिये होता है।

महिमनट्ट ने वाक्य के स्वरूप के विषय में बताया है—कि वाक्य वह है जिसको रंग करने पर उसके अवयव पद परस्पर तो आकांक्षा हों पर किसी ऐसे पद की आकांक्षा न करते हों जो उन वाक्य में प्रयुक्त न हो । साथ ही उनमें क्रिया की प्रधानता हो, वह श्रियारक विशेषण से युक्त गुणवान् हो और सभी पदों को मिलाकर उसमें एक प्रधान अर्थ की प्रतीति होती हो ।^१

वाक्य के लक्षण और स्वरूप के विषय में महिमनट्ट व्याकरणों के अनूयारी प्रतीत होते हैं जो वाक्य में क्रिया की प्रधानता के पक्ष का प्रतिपादन करते हैं । वाक्य का लक्षण करते हुए महानाप्कार ने कहा है—‘एक-निष्-वाक्यम्’ । अर्थात् पदों का वह समूह जिनमें कम से कम एक क्रिया अवश्य हो और वही प्रधान हो, वाक्य कहलाता है । सामान्यतया पदसमूह को वाक्य तथा आकांक्षा, योग्यता एवं मन्निधि को वाक्यार्थतान का हेतु कहा गया है ।^२ साहित्यकारों ने भी वाक्य के लक्षण किये हैं । वाक्यार्थ के स्वरूप का निरूपण करते हुए मम्मट ने काव्यप्रकाश में अनिहितान्वय और अन्विताभिधानवादियों के मत का प्रतिपादन किया है । अनिहितान्वयवाद के अनुसार आकांक्षा, योग्यता और मन्निधिवत् पदों के समन्वय को वाक्य और पदार्थ के समन्वय को वाक्यार्थ कहते हैं । अन्विताभिधानवादी समन्वित पदों को ही वाक्य मानते हैं ।^३ वाक्य का स्पष्ट लक्षण महिमनट्ट के बाद दर्पणकार विरदकान ने किया है ।^४ योग्यता, आकांक्षा और आमति से युक्त पदोच्चय ही वाक्य है । इनमें प्रयुक्त आकांक्षादि पद पारिभाषिक हैं अतः व्याख्येय हैं । यत्र-तत्र इनके लक्षण विविध प्रकार से हुए हैं ।^५

सामान्य रूप से कारक या क्रियापद को सुनकर बोद्धा में शब्दान्तर विषयक ज्ञाना का नाम आकांक्षा है । पदों के परस्पर सम्बन्ध में वाचानात्र को योग्यता और पदों के अवि-लम्ब उच्चारण को मन्निधि या आमति कहते हैं ।

१. आकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षावदकम् ।

क्रियाप्रधानं गुणवदेकार्यं वाक्यमिष्यते ॥ —व्यदिनविवेक, पृ० ३८ । (वाक्यरदोषकारिका)

२. शतत्रं पदम् । पदसमूहो वाक्यम् । आकांक्षायोग्यतासन्निधिश्च वाक्यार्थताने हेतुः ॥

अत्रं नट्ट—तर्कसंग्रह, ४।१ ।

३. ‘आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशाद्दृश्यभागस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यायौ विशेष-वयुरपदायोर्यत्र वाक्यार्थः समुल्लसति’ इत्यनिहितान्वयवादितानां मतम् । वाक्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ॥

—काव्यप्रकाश, २।६ ।

४. वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ॥

—साहित्यदर्पण, २।१ ।

५. आकांक्षा- (क) चक्रवर्ती—प्रतीतिपर्यवसानमाकांक्षा ।

(ख) बह्वः—आकांक्षा प्रतिपत्तुर्जज्ञासा ।

(ग) उद्योतकार—आनुपूर्वाविशेषकारणव्यवधानरूपा आकांक्षा ।

(घ) साहित्यदर्पण—आकांक्षा प्रतीतिपर्यवसानविरुद्धः ।

(ङ) तर्कसंग्रह—पदस्य पदान्तर-व्यतिरेकप्रयुक्तान्वयानुभावकत्वमाकांक्षा ।

योग्यता- (क) वापविरहो योग्यता ।

—चक्रवर्ती ।

महिमनट्ट ने वाक्य के लक्षणस्वरूप जिम कारिका को उद्धृत किया है^१ वह वाक्य-पदीय की है। उनमें आकाशा योग्यता और आनति या सन्निधि, वाक्य के तीनों आवग्यक तत्त्व आ गये हैं। कारिका में प्रयुक्त साक्षात्पदमे आकाशा का तो शब्द ही उपादान हुआ है। क्योंकि जैसा कि, आकाशा के उपयुक्त विवेचन में स्पष्ट है कि वाक्य में प्रयुक्त पदों में ही परस्पर आकाशा अभीष्ट है अन्यथा कोई भी पद कभी निराकाश नहीं हो सकता। प्रकृत कारिका में प्रयुक्त साक्षात्पद से भी यही अभिप्रेत है कि वाक्य के अवयवरूप जो पद है वे परस्पर साक्षात् होने चाहिए। 'परानाकाशनाद्वकम्' पद से योग्यता अभिप्रेत है। प्रकृत वाक्यांश का अर्थ है कि पद अपने अर्थ को व्यक्त करने के लिये वाक्य में प्रयुक्त पदों से भिन्न किसी पद के प्रति साक्षात् न हो। क्योंकि यदि कोई पद अपने अर्थ की प्रतीति के लिये वाक्य में बाहर के किसी पद की आकाशा करना है तो अर्थ की प्रतीति में बाधा होगी। उन बाधा का न होना ही योग्यता है। उदाहरणस्वरूप—वह्निना मिञ्चति' (आग से सोचना है) वाक्य में मिञ्चति' पद अपने अर्थ की प्रतीति के लिये वाक्य में बाहर के जलन, जलदेन, घटने आदि पदों की आकाशा करना है क्योंकि सोचने की क्रिया के लिये अपेक्षित उपकरणों में वह्नि का होना कदापि समभव नहीं। अतः अर्थ का बाधा होने से यहाँ योग्यता का अभाव है। 'देवदत्त काष्ठं स्थान्धामोदन पचति' इन वाक्य में प्रयुक्त पदों में परस्पर तो साक्षात्ता है। किन्तु बाहर के किसी पद की आकाशा किसी को नहीं है। अतः योग्यता भी है। कारिका में प्रयुक्त 'एकार्यम्' पद स्पष्टतया सन्निधि का बोधक है। प्रहर-प्रहर पर उच्चरित 'देवदत्त गान् आनय' पदों में एकार्यता का अभाव होने से उनमें एकवाक्यता नहीं आती। इन प्रकार महिमनट्ट के वाक्य के लक्षण में वे सभी तत्त्व विद्यमान हैं जो परवर्ती आचार्यों के लक्षणों में हैं। इनके अनिश्चित 'गुणवन्' और 'क्रिया-प्रधानम्' वाक्य के दो और विनोपपन्निहै हैं जो अन्वो से उनके लक्षण की महत्ता को और बटा देने हैं। साथ ही उनमें वाक्य में क्रिया की प्रधानता के सिद्धान्त की भी पुष्टि होती है।

शब्द के पद एव वाक्य दो ही भेद मानने का महिमनट्ट का प्रयोजन यह है कि वह पदार्थ

- | | |
|--|----------------------------|
| (ख) योग्यता पदानां परस्परसम्बन्धे बाधाभावः । | —वह्वः । |
| (ग) एकपदार्थं अपरपदार्थं प्रकृतसंसर्गत्वम् योग्यता । | —उद्योतकार । |
| (घ) पदानां परस्पर सम्बन्धे बाधाभावः योग्यता । | —सा० ६०, ५० २।१ । |
| (ङ) अर्थाबाधो योग्यता । | —सर्वसदप्रह । |
| सन्निधि- (क) सन्निधिरासत्तिः । | —चक्रवर्ती । |
| (ख) आकांक्षिता नां पदार्थानामेकः बुद्ध्युपसृष्टत्वम् । | —वह्वः । |
| (ग) आसत्तिः बुद्ध्यविच्छेदः । | —साहित्यदर्पण वृत्ति २।१ । |
| (घ) अव्यवधानेनान्वयप्रतिनियोग्यमुपस्थितिरिव सन्निधिः । | |
| (ङ) पदानामविलंबेनोच्चारणं सन्निधिः । | —सर्वसदप्रह । |

१. साक्षात्पदमे भेदे परानाकाशनाद्वकम् ।

शियाप्रधानं गुणवदेकार्यं वाक्यमिष्यते ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ३८, वाक्यपदीय का० २।४ ।

एव वाक्यायं दो प्रकार के ही अर्थ मानना चाहते हैं। वाक्यायं में साध्यसाधनभाव की सत्ता को प्रमाणित करने के लिये उन्होंने उसमें क्रिया की प्रधानता के पक्ष का आश्रयण किया है। क्रिया साध्य होती है। वाक्य में उसकी प्रधानता होती है। शेष पद साधनरूप में प्रधानक्रिया की ही सिद्धि करते हैं। इस प्रकार वाक्य में साध्यसाधनभाव बन जाता है। साध्यसाधनभाव के सिद्ध हो जाने पर शब्दार्थ या वाक्यायं की प्रतीति में अनुमान की प्रक्रिया स्वतः बँट जाती है। क्योंकि साध्यसाधनभाव ही वहाँ अबिनाभाव सम्बन्धरूप व्याप्ति का कार्य पूरा करता है। इस प्रकार महिममट्ट का शब्दार्थ विवेचन अन्ततोगत्वा वाक्य में अनुमेयायं की सिद्धि के साधक के रूप में हुआ है जो इस तथ्य को सदा ध्यान में रखकर किया गया है कि— लक्षणा, व्यञ्जना आदि शक्तियों के खण्डन, तात्पर्य, ध्वनि, वक्रोक्ति आदि सिद्धान्तों के निराकरण एव काव्यानमिति पक्ष की प्रस्थापना में कोई बाधा न पड़े।

(घ) अर्थ एवं उसके भेद-प्रभेद

अर्थ घातु ने घञ् प्रत्यय होकर अर्थपद व्युत्पन्न होता है, जो अभिधेय, अभिप्राय, प्रयोजन और द्रव्य का वाचक होता है।^१ अर्थ की परिभाषा करते हुए तत्त्वचिन्तानि में कहा है—'यत्पर. शब्दः स शब्दार्थः।' शब्द जिस परक होता है उस भाव को अर्थ कहते हैं। व्याकरण, दर्शन आदि शास्त्रों में अर्थ के अनेकानेक भेद किये गये हैं। साहित्यशास्त्र में भी अर्थ के स्वरूप और भेद का विवेचन हुआ है। सर्वप्रथम आनन्दवर्धन ने काव्यात्मरूप में व्यङ्ग्य सहृदयदलाध्य अर्थ के वाच्य और प्रतीयमान दो भेदों की चर्चा की है।^२ वाच्य का अर्थ वह है जो प्रवृत्तिप्रत्यय की व्युत्पत्ति एवं कोश से निवृत्ता है। प्रतीयमान इममे भिन्न होता है जो केवल महाकवियों की वाणी का ही विषय होता है। जिस प्रकार नाटिकाओं में प्रसिद्ध अवयव-संस्थान से भिन्न लावण्य नाम की वस्तु होती है, उसी प्रकार प्रतीयमान, वाच्य अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है।^३ उसकी सत्ता की सिद्धि के विषय में मम्मट ने जो युक्ति दी है वह कुछ इस प्रकार है : अनेकार्थक शब्द के वाक्य में प्रयोग होने पर उनका एव अर्थ ही अभिधा के द्वारा नियन्त्रित होता है। लेकिन वक्तुबोद्धव्यादिबुद्धिष्य से प्रतिनाशाली व्यक्तियों को जिस दूसरे अर्थ की व्यवस्थित प्रतीति होनी है, वह व्यङ्ग्य अर्थान् प्रतीयमान अर्थ है।^४ प्रतीयमान के वस्तु, अलंकार और रस तीन भेद होते हैं।

महिममट्ट ने भी अर्थ के दो ही भेद किये हैं—वाच्य और अनुमेय। जो अर्थ शब्द-व्यापार अभिधा का विषय है वह वाच्य है। इसको ही मुस्नायं भी कहते हैं। क्योंकि

१. अभिधेयाभिप्रायप्रयोजनद्रव्यकेष्वर्थः ॥ —हलानुप-कोश, ५८६७ ।

२. योऽर्थः सहृदयदलाध्यः काव्यात्मेति व्यवस्थितः ।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥ —ध्वन्यालोच, ३१० ११२ ।

३. तत्र वाच्यः प्रसिद्धो यः प्रकाररूपमादिनिः ॥११३॥
प्रतीयमानं पुनरन्यदेव अस्त्वस्ति वाणीयु महारयोनाम् ।
यत्तत्प्रमिद्धाज्यवातिरिक्तं विभाति लावण्यमिवांगनासु ॥ —ध्वन्यालोच, ३१० ११४ ।

४. अनेकार्थस्य शब्दस्य वाचकत्वे नियन्त्रिणे ।
संयोगार्थरथाव्यायंधीकृद्वापुनिरञ्जनम् । —वाच्यप्रकाश, २११९ ।

कहा भी है कि—जहाँ पर शब्द के उच्चारणमात्र से स्वतः अर्थ की प्रतीति होने लगती है वही मुख्य अर्थ है। मुख्यार्थ के सामर्थ्य का बाध करके यत्नोपपादित जिम अर्थ की प्रतीति होती है वह गौण अर्थ है। महिममट्ट के अनुमार आनुमानिक ही अनुमेयार्थ है।^१

वाच्यार्थ की परिभाषा करते हुए महिममट्ट कहते हैं कि—शब्द के माथ अन्वय व्यतिरेक से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह उस पद का वाच्य अर्थ है। जैसे गोशब्द का अर्थ गाय है। अन्यथा अन्वयव्यतिरेक के अभाव में अर्थविषयक बुद्धि अव्यवस्थित हो जायगी और उमकी कोई मर्यादा नहीं रहेगी तथा किसी भी अर्थ को हम वाच्य नहीं कह सकेंगे।^२ हेतु-भूत वाच्य या अनुमेय अर्थ से जिस अर्थान्तर की प्रतीति होती है उसे ही अनुमेयार्थ कहते हैं। वह तीन प्रकार का होता है—वस्तु, अलंकार और रसादि। इनमें वस्तु और अलंकार रूप अर्थ वाच्य भी हो सकते हैं। अर्थात् वाच्य अर्थ के वस्तु और अलंकार दो ही भेद होने हैं, अनुमेय के तीन। रसादि रूप अर्थ केवल अनुमेय ही होता है। वाच्य और अनुमेय में भेद एक दूसरे प्रकार से भी है कि पदों का अलग-अलग अर्थ वाच्य ही होता है, अनुमेय नहीं। क्योंकि अनुमेयार्थ वही होता है जहाँ साध्यसाधनभाव हो। पद के भागरहित होने से उसमें साध्यसाधनभाव सम्भव नहीं होता।^३ साध्यसाधनभाव हेतुहेतुमद्भाव ही है। वह वही सम्भव होता है जहाँ उद्देश्य विधेयान रूप भाग की सम्भावना हो। यह भाग वाक्य में ही सम्भव है। अतः साध्यसाधनभाव केवल वाक्य में ही रहता है, पद में नहीं। इसीलिये अनुमेयार्थ वाक्यार्थ ही हो सकता है, पदार्थ नहीं। वाक्यार्थ में पदार्थों के उद्देश्य विधेय रूप से अज्ञान की परिवर्तना की जा सकती है। वहाँ अज्ञ परस्पर विध्यनुवादभाव से अवस्थित रहते हैं। उन अर्थों में वही पर विधेयार्थ के अप्रमिद्ध होने से उसके उपादान की अपेक्षा होती है तो वही अत्यन्त प्रमिद्ध होने से उसके उद्देश्य-कथन की अपेक्षा नहीं होती। इस प्रकार विधेयार्थ के उपादान सापेक्षनिरपेक्षभाव से वाक्यार्थ दो प्रकार का होता है।^४ उनके भी अनेक भेद-

१. अर्थोऽपि द्विविधो वाच्योऽनुमेयश्च । तत्रशब्दव्यापारविषयो वाच्यः स एव मुख्य उच्यते ।

पदाहुः

श्रुतिमात्रेण यत्रास्य तादर्थ्यमवसीयते ।

तं मुख्यमर्थं मन्यन्ते गौणं यत्नोपपादितम् ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ३९ ।

२. तथाहि यस्य शब्दस्य भावाभावानुसारिणी ।

यदर्थबुद्धितत्प्राप्तौ वाच्योऽर्थ इति कथ्यते ॥७६॥

गोशब्दस्येव गौर्यः साध्यमात्वव्यवस्थिता ।

वाच्यत्व व्यवहारश्च न स्यादर्थस्य कल्पित् ॥७७॥ —व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श ।

३. तत एव तदनुमिनाद्वा लिंगभूताद् यदर्थांतरमनुमीयते सोऽनुमेयः । सच त्रिविधः । वस्तुमात्र-मलङ्काराः रसादपर्यन्तं । तत्राद्यौ वाच्यवापि सम्भवतः । अन्यस्तु अनुमेय एवेति । तत्र पदस्यार्थो वाच्यएव नानुमेयः, तस्य निरंशात्वात् साध्यसाधनभावान्नातः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ३९-४० ।

४. वास्तवार्थस्तु वाच्यस्यार्थस्यांशपरिकल्पनायामंशानां विध्यनुवादभावेन अवस्थिते विध्यंशस्य सिद्धासिद्धतया उपादान-निरपेक्षसापेक्षत्वेन द्विविधो बोद्धव्यः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ४० ।

प्रभेद होते हैं जिनके आधार पर साध्यसाधनभाव बनते हैं । साध्यसाधनभाव का विन्दु विवेचन आगे किया जायगा । सम्प्रति हम वाच्यार्थ और वाक्यार्थ के स्वरूप एवं उनके परस्पर के भेद का विवेचन करेंगे ।

(इ) वाच्यार्थ और वाक्यार्थ

वाच्यार्थ और वाक्यार्थ एक होता है या परस्पर भिन्न, यह प्रश्न स्वभावतः उठता है; जिसके अनेक समाधान दिये गये हैं । सामान्यतः वाच्यार्थ और वाक्यार्थ को एक माना गया है । वाच्यार्थ को एक पद का अर्थ और वाक्यार्थ को पदमूह का अर्थ बहकर उनमें परस्पर भेद भी समझा जाता है, जो बहुत मोटी-सी बात है । जब वाच्यार्थ और वाक्यार्थ को परस्पर अभिन्न कहा जाता है तो पद की वाक्य से पूर्यक् कोई स्वतंत्र सत्ता नहीं मानी जाती । प्रथम पक्ष के विद्वान् पदों के समूह को वाक्य कहते हैं तो दूसरे पक्ष के अनुसार पद की सत्ता वाक्यो से अपूर्यक् वैसी ही होती है जैसी प्रकृतिप्रत्यय या अक्षरों का पद में परिपक्व नहीं होता । यह विवाद बहुत पुराना है । भाषाशास्त्र की यह एक बहुत ही विवादास्पद एवं गूढ़ समस्या है, जिसका समाधान करने में आधुनिक भाषावैज्ञानिक भी समर्थ नहीं हो सके हैं । अतः दोनों की मान्यता समानान्तर रेखाओं की तरह निरन्तर चली आ रही है । फिर भी सामान्य रूप से यह मान लिया गया है कि भाषा का आरम्भ वाक्य से ही होता है । अतः केवल शब्दकोश कण्ठस्थ कर लेने में ही कोई किमी भाषा के बोलने, पढ़ने एवं लिखने में सक्षम नहीं हो सकता । इसका मूलकारण यह है कि भाषा विचारों को बहान करती है और विचार स्पष्ट ध्वनि के माध्यम से वाक्यों में ही ध्वनित विद्ये जा सकते हैं, शब्दमात्र में नहीं । अतः शब्द कण्ठाग्र करने एवं विचारग्रहण करने की अलग-अलग प्रक्रियाएँ हैं । भाषा सीख लेने के बाद वाक्य में पदों को अलग-अलग कर त्रियाकारक आदि पदों को पूर्यक् रूप से वैसे ही समझा जाता है जैसे वैयाकरण प्रकृति प्रत्ययविभागकर प्रत्येक शब्द की व्युत्पत्ति कर देता है ।^१ जब वाक्य की ही सत्ता स्वतन्त्र है शब्द का ज्ञान तो बाद में स्वतः होता है, तो इस प्रकार वाक्यार्थ ही वाच्यार्थ है । यह अन्विताभिधानवादी भाट्ट मीमांसकों का मत है ।^२ इसके विपरीत अभिहितान्वयवादी प्राभाकर मीमांसक हैं जिनके मनुानुसार वाक्य में प्रत्येक पद स्वतंत्र है और उसका अर्थ ही वाच्यार्थ है । वाक्यार्थ तो तात्पर्यार्थ है जो वाच्य में सर्वथा भिन्न होता है और किमी भी पद का अर्थ नहीं होता ।^३

महिमनट्ट ने शब्द के जो दो भेद पद और वाक्य किये हैं उन्हीं के अनुसार अर्थ के भी दो भेद होने हैं—पदार्थ और वाक्यार्थ । इनमें पदार्थ केवल वाच्य होता है और वाक्यार्थ—वाच्य एवं अनुमेय दो प्रकार का होता है । महिमनट्ट वाक्य की अगण्यता के

१. द्विधा बन्धित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा ।

अपोदृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत् ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ३८ ।

२. वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः ॥

—वाच्यप्रकाश, वृत्ति २।६ ।

३. आकांक्षायोग्यतामभिधिवशाद्दृश्यमाणस्वरूपाणां पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थोविशेषः ।

चपुरपदार्थोऽपिवाक्यार्थः समुल्लसति इत्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

—वाच्यप्रकाश, वृत्ति २।६ ।

पक्ष के समर्थक हैं। अतः इनका मन प्रानाकर मीमांसकों के अन्विताभिवानवाद से इम अर्थ में साम्य रखता है कि दोनों वाक्य को अक्षण्ड एव वाक्यार्थ को ही वाच्य मानने हैं। इनमें परस्पर भेद भी है क्योंकि महिममट्ट वाक्यार्थ के दो भेद मानने हैं—वाच्य और अनुमेय। भाट्टमीमांसक ऐसा कुछ नहीं मानते। उनके यहां वाक्यार्थ एक ही होता है और वही वाच्य होता है। साहित्यदर्पणकार विद्वनाथ कविराज ने योग्यता, आकांक्षा एव आसत्तियुक्त पदसमूह को वाक्य की संज्ञा तो दी है।^१ किन्तु अर्थभेदों में वाच्य, लक्ष्य एव व्यंग्य तीन का ही प्रतिपादन किया है।^२ और वाक्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता के विषय में मौन साध लिया है। मम्मट ने किन्हीं आचार्यों के नाम से तात्पर्यार्थ की सत्ता भी प्रमाणित की है जो वाक्यार्थ के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।^३

यहां हम यह स्पष्ट तौर पर बता देना चाहते हैं कि यद्यपि महिममट्ट का शब्दार्थ विवेचन अत्यन्त वैज्ञानिक एव सुव्यवस्थित है पर परवर्ती आचार्यों ने इनका सर्वथा वहिष्कार ही किया है। शब्द के पद एव वाच्य नामक दो भेदों के विपरीत वाचक, लक्षक एव व्यञ्जक नामक शब्द भेदों तथा वाच्य, लक्ष्य एव व्यंग्य नामक यथामग्य उनके अर्थों का ही प्रतिपादन मिलता है। इसका कारण यह है कि परवर्ती आचार्यों ने अनुमान के काव्यशास्त्र में अनु-प्रवेश का सर्वथा विरोध किया। काव्य की अनुमेयार्थता किन्हीं को भी मान्य नहीं हो सकी। विद्वानों ने अनुमिति को एकमात्र बुद्धि का विषय मान कर महदयदलाभ्य काव्य को उसमें अनम्बून रखना ही श्रेयस्कर समझा। महिममट्ट ने चूकि लक्षणा एव व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान में ही साधित किया है अतः उनकी दृष्टि में लक्षक या लाभणिक तथा व्यञ्जक शब्द एव लक्ष्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थ भी अनुमान के ही विषय ठहरने हैं। जबकि मम्मट प्रमृति प्रायः सभी उत्तरवर्ती आचार्यों ने लक्षणा एव व्यञ्जना के स्वतन्त्र रूप से शक्ति होने का समर्थन करते हुए लक्ष्यार्थ एवं व्यङ्ग्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता स्वीकार की है। महिममट्ट के विवेचन का महत्त्व इतने में ही है कि जिस शब्दार्थ की आनन्द प्रमृति ने 'बहुधा व्याहृतः पूर्वं' कह कर उपेक्षा की थी उसके विन्तारपूर्वक विवेचन की एक नयी परम्परा का सभारम्भ काव्यशास्त्र के इतिहास में पुनः हुआ। अनन्तर सभी आचार्यों ने अपनी कृतियों में शब्दार्थ-विवेचन को पर्याप्त महत्त्व दिया।

१. वाक्यं स्याद्योग्यताकांक्षासत्तियुक्तपदोच्चयः ।

२. अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च, व्यङ्ग्यदर्शनेति त्रिधा मतः ।

३. वाच्यादयस्तदर्थः स्यः तात्पर्यार्थोऽपि केषुचिन् ॥

—साहित्यदर्पण, २।१ ।

—साहित्यदर्पण, २।१ ।

—काव्यप्रकाश, २।६ ।

द्वितीय-विमर्श

शब्दार्थ-सम्बन्ध

(क) संकेतग्रह अथवा शब्दबोध प्रकार

शब्द, अर्थ एव उनके परस्पर के सम्बन्ध का विवेचन मुख्य रूप में शब्दशास्त्र व्याकरण का विषय है। लेकिन दर्शन और साहित्यशास्त्र में भी आनुपंगिक रूप में इनका विवेचन हुआ है। दर्शनशास्त्र के विवेच्य विषयों में से पदार्थ एक विनिष्ट विषय है। पदार्थ का पद से क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्न के उत्तर में शब्दप्रमाण के स्वरूपनिरूपण के अवसर पर प्रायः प्रत्येक दर्शनकार ने शब्द, उसके भेद एव अर्थ से उसके सम्बन्ध का निरूपण किया है। शब्द नित्य है या अनित्य? शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक है या स्वानाधिक? ये प्रश्न विमुद्ध रूप से व्याकरण दर्शन के क्षेत्र हैं। साहित्य की मीमा में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का अनिप्राय शब्द के अर्थ प्रत्यायन की प्रणिया में है। इस सम्बन्ध में श्री विश्वनाथ पञ्चानन ने न्यायसिद्धान्तमुक्तावली के शब्द खण्ड के आरंभ में ही शब्द से अर्थ की प्रतीति की प्रक्रिया पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि—शब्दबोध रूपी फल के प्रति पदज्ञान-करण अर्थात् अभाधारण कारण होता है, पदार्थज्ञान द्वार अर्थात् अवान्तर-व्यापार तथा शक्ति-ज्ञान सहकारो कारण।^१ पदजन्यपदार्थस्मरण को व्यापार एव पद से पदार्थ के सम्बन्ध को शक्ति कहते हैं।^२ शक्ति का ग्रहण—व्याकरण, उपमान, कोश, आप्त-वाक्य, व्यवहार, वाक्यरोप, विवरण एवं मिद्ध पद के मान्निष्ठ्य में से ही किमी न किमी से होता है।^३ ऐसा प्राचीन लोगो का मन है। साहित्यशास्त्र के आचार्यों ने इन्हें डमी रूप में स्वीकार कर लिया है और डमी शक्तिग्रह को शब्दग्रह के नाम से अनिहित किया है। यहाँ प्रश्न यह उत्पन्न है कि यह शब्दग्रह किसे कहना है। तत्तद्दर्शनों के विविध सिद्धान्तों के अनुसार इस प्रश्न के अनेक उत्तर दिये गये हैं। साहित्यशास्त्र के इतिहास में आरम्भ के आचार्य इस प्रकार के प्रश्न में अधिक मर्बन्धित नहीं

१. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः ।

शब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी ।

—विश्वनाथ पञ्चानन; न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, कारिका—४।८१। निगण्यसागर प्रेम, बम्बई।

२. पदजन्यपदार्थस्मरणं व्यापारः । शक्तिश्च पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः ।

—वही, वृत्ति—पृ० ३५६ ।

३. शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानं कोशाप्तवाक्याद् व्यवहारतद्वच ।

वाक्यस्य शेषाद् विवृतेर्वेदन्ति साश्रिष्यतः मिद्धपदस्य श्रुताः ॥

—वही, पृ० ३५९ ।

धे । यद्यपि नामह और भट्टोद्भट ने 'अभिधा' एव 'गुणवृत्ति' नामक शब्द के दो व्यापारों का उल्लेख किया है,^१ तथापि वहाँ शब्दार्थ-सम्बन्ध विषय पर विशेष विवेचन का अवसर नहीं उपस्थित हुआ । आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में व्यञ्जना व्यापार की प्रतिष्ठा के लिए शब्द की अभिधा एवं लक्षणा नामक शक्तियों का उपन्यास अवश्य किया है, किन्तु सक्तेनग्रह की प्रक्रिया पर प्रकाश बिलकुल नहीं डाला ।

साहित्यशास्त्र के इतिहास में सबसे पहले महिमनट ने शब्दार्थ-सम्बन्ध की साम्प्रदायिक रीति में सीमायों की । क्योंकि आनन्दवर्धन की व्यञ्जना शक्ति एव व्यञ्ज्य अर्थ की अनुपादेयता तथा जगन्वीरता का प्रदर्शन इसके बिना अनम्भव था । उन्होंने लक्षणा और व्यञ्जना के शब्द-शक्तित्व का खण्डन कर मनी प्रकार के शाब्दव्यवहार के गर्भ में साध्यसाधनभाव की प्रक्रिया दिखलाने हुए उसे अनुमान रूप ही निश्चित किया ।^२ इन्हीं में साहित्यशास्त्र में शब्दार्थ एव उनके सम्बन्ध के विस्तृत विवेचन की परम्परा का श्रीगणेश हुआ तथा अपने पक्ष की पुष्टि में अनेकानेक युक्तियों का उपन्यास किया गया । महिमनट के उत्तन्वालीन आचार्यों में मम्मट और त्रिन्व-नाथ कविराज ने प्रमुखरूप से शब्दार्थ-सम्बन्ध या सक्तेनग्रह की प्रक्रिया का विवेचन विस्तारपूर्वक किया है । मम्मट ने सक्तेनग्रहविषयक दार्शनिकों के मतमतान्तरों का उपन्यास बड़ी उत्तमता के साथ वाच्यप्रकाश के द्वितीय उल्लेख में किया है । वाचक पद का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है कि—जो साक्षान् सक्तेन अर्थ का अभिधान करे वही वाचक शब्द है ।^३ सक्तेनग्रह क्रिममे होता है या साक्षान् सक्तेन अर्थ क्या है ? यह प्रश्न इनके समझ में था । इस प्रश्न के समाधान का मदन सरल एवं व्यावहारिक उत्तर यह दिया गया कि शब्द को सुनकर हमारी प्रवृत्ति एव निवृत्ति या जो आप्द होना है उसे ही साक्षान् सक्तेन समझना चाहिए और वह है ध्वनि । क्योंकि दृग्नादिप्रयोजन रूप अर्थ के लिए गवानयानादिरूप श्रिया की कारिता अर्थान् निर्वाहक होने में गोच्यक्ति ही प्रवृत्ति निवृत्ति योग्य है । तथापि अन्तर्गोच्यक्तियों की एक साथ अमम्भव उपस्थिति रूप आनन्द तथा त्रिष गोच्यक्ति में सक्तेनग्रह स्वीकृत होगा उसमें अतिरिक्त गोच्यक्तियों का जो पद से ज्ञान न होने से व्यभिचार दोषों के कारण व्यक्ति में सक्तेनग्रह नहीं बनना । मान ही अत्र सभी शब्द व्यक्ति का ही दोष करायेंगे तो गौ, शुकल, चल और स्थित्य में परस्पर ज्ञान, गुण, क्रिया, मजा का भेद नहीं हो पायेगा । उन वैदाकरणों ने व्यक्ति की ज्ञानिगुण क्रिया एव यदृच्छा नामक जातिधियों में ही पद का सक्तेनग्रह माना है । सीमायों ने इन मत्र उपायियों को ज्ञान में ही अन्तर्हित कर ज्ञान को ही सक्तेनग्रह कहा है तथा लक्षणा के द्वारा ज्ञान में व्यक्ति का ग्रहण माना है ।^४ नैयायिकों ने ज्ञान में सक्तेनग्रह अमम्भव बनाकर ज्ञानिद्विगिष्ट ध्वनियों

१. शब्ददृष्टन्वोभिधानार्थाः ।

—नामह—काव्यालङ्कार, ११९ ।

शब्दानाम् अभिधानम् अभिधाव्यापारो मुख्यो गुणवृत्तिदत्त ।

—भट्टोद्भट ।

२. सर्व एव हि शाब्दव्यवहारः साध्यसाधनगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽभ्युपगन्तव्यः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २१ ।

३. साक्षात्पङ्केतिर्न योऽर्थमभिप्रते स वाचकः ॥

—वाच्यप्रकाश, २१० ।

४. गौरनुब्रज्य इत्यत्र. . . इति जात्य व्यक्तिः

आशिष्यते (लक्ष्यते) नतु शब्देनोच्यते ।

—काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लेख ।

मे ही संकेतग्रह मान्य है। बौद्धों ने जाति नाम की किसी नित्य वस्तु की सत्ता में कोई प्रमाण न पाकर अतद्भाववृत्ति या तद्भिन्नभिन्नत्व को ही संकेतग्रह का विषय कहा है।^१ मम्मट ने वैयाकरणों के उपाधिवाले तथा मीमांसकों के जातिवाले पक्ष से अपनी सहमति व्यक्त की है।^२

(ख) महिमभट्ट और संकेतग्रह—शाब्दव्यवहार की अनुमानरूपता

महिमभट्ट का कथन है कि शाब्दव्यवहार प्रायः दूसरों की प्रवृत्ति-निवृत्ति के लिए होता है। क्योंकि अपनी प्रवृत्ति और निवृत्ति तो शाब्दव्यवहार के बिना भी सम्भव है। शब्द के अभाव में दूसरे के साथ व्यवहार सम्भव नहीं।^३ चूंकि निखिल शाब्दव्यवहार दूसरों की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति का कारण है अतः उसमें साध्यसाधनभाव अन्तर्निहित अवश्य है, यह मानना पड़ेगा। शब्द ही साधन है और अर्थ उसका साध्य है। ऐसा मान लेने पर यह स्पष्टतया निन्द्य हो जाता है कि शाब्दव्यवहार अनुमानस्वरूप या अनुमानात्मक होता है। वहाँ साध्य अनुभाष्य और साधन अनुभाषक होता है। प्रवृत्ति और निवृत्ति तो ज्ञानानामूलक है। अनुमान के बिना प्रवृत्ति और निवृत्ति का सम्पादन कहीं सम्भव नहीं। अतएव कहा है कि युक्ति अर्थात् अनुमान के बोध के बिना कोई भी विद्वान् वचनमात्र से किसी भी विषय के ज्ञान का भागी नहीं हो सकता।^४ कहने का आशय यह है कि शाब्दव्यवहार से हमें जो अर्थ विशेष की प्रतीति होती है उससे पीछे अनुमान की प्रक्रिया काम करती रहती है। प्रवृत्ति और निवृत्ति ही सम्प्रत्यय और जगत्प्रत्यय के रूप में अनुमान की सिद्धि में युक्तिरूपनिमित्त हैं। जिनका विवेचन अनुमान के बिना कथन सम्भव नहीं, अन्यथा शंकासु अवस्था में प्रवृत्ति निवृत्ति नहीं होती। शाब्दव्यवहार में अनुमान की सत्ता न मानने पर शब्द से प्रवृत्ति निवृत्ति का होना कथमपि सम्भव नहीं। अतः शाब्दव्यवहार से प्रवृत्ति एवं निवृत्ति की सम्पद्यमानता के लिए उसमें साध्यसाधनभाव गन्तव्य अनुमान की प्रक्रिया का आश्रय अपरिहार्य है। यह साध्यसाधनभाव अस्पष्ट होने से पद मात्र में सम्भव नहीं अपितु वाक्य में ही रहता है। इसीलिए अर्थप्रतीति के लिए पद-समूहात्मक वाक्य का हो

१. यद्यपि अर्थप्रियाकारितया प्रवृत्तिनिवृत्तिभोग्या व्यक्तिरेव तथापि आनन्दयाद् ध्वनि-चाराच्च तत्र संकेतः कर्तुं न युज्यते इति गौः शुबलश्चलोदित्य इत्यादीनां विषय-विभागो न प्राप्नोतीति च तदुपाधावेव संकेतः। गौः शुबलश्चलोदित्य इत्यादीचतुष्टयो शब्दानां प्रवृत्तिः इति महाभाष्यकारः १. . गुणत्रियापहच्छानां वस्तुत एकहृषाणामपि आश्रयभेदात् भेद इव लक्ष्यते. . इति सर्वेषां शब्दानां जातिरेव प्रवृत्तिनिमित्तम् इत्यन्ये। तद्वान् अयोहो वा शब्दावयः। —काव्यप्रकाश, द्वितीय उल्लास, सू० १० पर वृत्ति।

२. संकेतितश्चतुर्भेदो जात्यादिजातिरेव वा। —काव्यप्रकाश, वार्० २।८।

(ख) महिमभट्ट और संकेतग्रह—शाब्दव्यवहार की अनुमानरूपता

३. शब्दप्रयोगः प्रायेण परार्थमुपयुज्यते।

नहि तेन विना शक्यो व्यवहारयितुं परः।

—ध्वनिविवेक, पृ० १०७।

४. सर्व एव हि शाब्दव्यवहारः साध्यसाधनगर्भतया प्रायेणानुमानरूपोऽन्युपगन्तव्यः, तस्य च परप्रवृत्तिनिवृत्तिनिबन्धनत्वात्, तयोश्च सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययात्मनोः अन्यथा कर्तुंमदशक्यत्वनः। नहि युक्तिमनवगच्छन् कश्चिद् विपश्चिद् वचनमात्रान् सम्प्रत्ययनामवनि।

—ध्वनिविवेक, पृ० २१-२२।

साध्यपण किया जाता है। साध्यसाधन नाव पद में न रहकर वाक्य में ही इसलिए होता है कि अक्षरपङ्क रूप से बानव ही अर्थ की प्रतीति कराता है।^१

शाब्दव्यवहार की अनुमान-रूपता का प्रतिपादन करने में महिमनदट्ट का विशेष अवि-
प्राय है। उन्हें यह दिखाता है कि अर्थ के दो ही भेद होते हैं—वाच्य एवं अनुमेय। वाच्य में
अनुमेयार्थ की ही प्रधानता होती है यही इनका मत है। जहाँ वाच्य शक्ति से अनुमेयार्थ की
स्फुटनया प्रतीति हो वही वाच्य है।^२

शब्द से अर्थ की प्रतीति कैसे होती है? इस पर विचारकों के विविध मत हैं। कोई
अर्थ को शब्द का कार्य मानता है तो कोई अर्थ को व्यञ्जक या अनिव्यक्त तथा शब्द को अविभ्यञ्जक
कहता है। कतिपय अन्य विद्वान् शब्द को अर्थ का प्रकाशक या ज्ञापक कहते हैं। अर्थ पूर्वतः
विद्यमान रहना है और शब्द शीपक के समान उसे प्रकाशित करता है। इमी सन्दर्भ में महिम-
नदट्ट का कहना है कि शब्द से अर्थ की अनुमिति होती है।^३ शब्द हेतु है और अर्थ साध्य। जब
कोई कुछ कहता है तो हम उसके अर्थ का अनुमान करके ही किसी कार्य में प्रवृत्त या उससे निवृत्त
होते हैं। इसीलिए गद्शाबली और व्यक्ति के एक होने पर भी अनुमान की प्रक्रिया में कहीं
चूक हो जाने में निद्र अर्थ की प्रतीति होने प्रायः देखी जाती है। अतः आचार्य महिमनदट्ट का
कथन है कि युक्ति ज्ञान् अनुमान के प्रयोग के बिना व्यक्ति की किसी कार्य में न प्रवृत्ति होती
है, न उन्में निवृत्ति ही। अतः शाब्दव्यवहार साध्यसाधन-नाव गमिन होना है यह मानना ही
युक्तिपुन है।^४

१. इह यः कश्चित् शाब्दो व्यवहारः स सर्वः परप्रवृत्तिनिवृत्त्यर्थः स्वप्रवृत्तिनिवृत्त्योः
शाब्दव्यवहारमन्तरेण वचनमानादेव सिद्धत्वात् । प्रवृत्तिनिवृत्तौ च सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययो
युक्तिरूपानुमाननिमित्तौ तेन बिना निर्निग्रन्धने, अन्यथा सशकत्वे प्रवृत्तिनिवृत्त्योः अप्रवृत्ति-
निवृत्तिरूपत्वात् । सम्प्रत्ययासम्प्रत्ययो च युक्तिरूपानुमाननिमित्तौ तेन बिना निर्निग्रन्ध-
नत्वात् शाब्दव्यवहारे वचनमानात् तयोरनुपपत्तेः । अनुमानं च साध्यसाधननावांगी-
कारेणव्यवस्थितम् । तच्च परप्रवृत्तिनिवृत्तिकलम् । शाब्दव्यवहारमाश्रयता तत्र साध्य-
साधनभावः अवश्यम् अंगीकार्यः । स च अलम्बत्वात् पदान्त्रे न सम्भवति इति पदसमूहा-
त्मकं वाच्यम् अवलम्बते । —रघ्यः—व्यक्तिविवेक व्याख्यान, पृ० २१-२२ ।

२. तस्मान् स्फुटतया यत्र प्रधानेनाग्यथापि वा ।
वाच्यसाधनानुमेययोर्था भाति तत्काव्यमुच्यते ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ३२ ।

३. वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति व्यंग्यव्यञ्जकताययोः ।
तयोः प्रतीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात् ॥३३॥

परवर्तनत्वसम्बन्धप्रव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षनात् ।
युक्तत्वाप्रत्ययोर्यद्दृग् यद्वृत्तानलघूनयोः ॥३४॥

अनुमानत्यमेवान् युक्तं तल्लक्षणान्वयात् ।
जतनश्चेन्न चापादेः का व्यक्तिः हृतिरेव सा ॥३५॥

कार्यत्वं हृत्तनोऽपीष्टं हेतुत्वं तु विरध्यते ।
सर्वज्ञामव्यविगमाद् गगनेन्द्रीवरादिव ॥३६॥

४. न च युक्ति निरासंसात्ततः कश्चित् प्रवर्तते ।
निवर्तते वेदाद्येष्टा साध्यसाधनगर्भता ॥

—व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श ।

—व्यक्तिविवेक, कारिका १।३८ ।

शाब्दव्यवहार में अनुमान की प्रक्रिया की मान्यता दर्शनशास्त्र के लिए नयी नहीं है। प्राभाकर तथा भाट्टमत मीमांसकों का अन्विताभिधान एवं अहिमितान्वयवाद का विवाद शास्त्रान्तरो में भी प्रसिद्ध है। भाट्टमत मीमांसक कुछ अंश में वेदान्तिनों से प्रभावित हैं। शब्दार्थ के संबंध में उनका अनिहितान्वयवाद है। उनके अनुसार आकांक्षा, योग्यता और सन्निधि-वशा, पद अभिधावृत्ति से अपने-अपने संकेतितार्थ का प्रतिपादन करते हैं। अनन्तर तात्पर्यावृत्ति से उन अभिधाप्रतिपादित अर्थों का परस्पर अन्वय हो कर जो अर्थ निकलता है वह वाक्यार्थ होता है जिसे तात्पर्याय कहते हैं और जो पदों के अर्थ से सर्वथा भिन्न होता है।^१ अभिधावृत्ति ने ही तात्पर्याय या वाक्यार्थ की प्रतीति इसलिए नहीं हो सकती कि इस सम्बन्ध में एक न्याय है जिसकी मान्यता सर्वत्र है कि शब्द बुद्धि एवं कर्म का एक बार कही भी विराम होने पर पुनः व्यापार का अभाव हो जाता है।^२

अभिधावृत्ति आकांक्षादिवशा पदों के अर्थ का प्रतिपादन कर विरत हो जाती है और इसलिए जब उसके व्यापार का अभाव हो जाता है तो पुनः कार्य करने के लिए व्यापारान्तर की योजना होती है। उसे ही तात्पर्यावृत्ति कहते हैं। इस शक्ति से पदार्थों का परस्पर अन्वय होकर उनका तात्पर्याय ही वाक्यार्थ के रूप में निकल जाता है। इसी अभिधा से अर्थ भेद का परिणाम कराते हुए मम्मट ने काव्यप्रकाश में कहा है कि जिन्हीं वाक्यों के मत में तात्पर्याय भी होता है।^३

अन्विताभिधानवादी प्राभाकर मीमांसक ठीक इसके विपरीत दाक्ष्य को ही वाक्यार्थ कहते हैं।^४ उनका कहना है कि शब्द पहले परस्पर अन्वित होने हैं। अनन्तर अभिधावृत्ति से परस्पर की आकांक्षा, योग्यता एवं सन्निधिवशा, अन्वयानुरूप ही अपने अर्थ का प्रतिपादन करते हैं। इसलिए अभिधा से प्रतिपादित वाक्यार्थ ही वाक्य का भी अर्थ है, उमसे भिन्न नहीं। उनका कथन है कि पद अकेले अर्थात् दूसरे किसी शब्द के सान्निध्य के अभाव में निरपेक्ष रूप से अपने अर्थ का प्रतिपादन नहीं कर सकता। वास्तव में वाक्य में प्रयुक्त शब्द ही अपना कुछ अर्थ रखता है जो उसी वाक्य में प्रयुक्त शब्दान्तरों के अर्थ से सम्बद्ध होता है। स्वयंरूप में पद का अपना कोई अर्थ ही नहीं होता। बालक की व्युत्पत्ति का उदाहरण देने हुए उन्होंने बताया है कि जिन प्रकार एक बालक देखता है कि उत्तम वृद्ध मध्यम वृद्ध को गाय लाने, उसे बांधने और पुनः अद्व ल आने के आदेश श्रमशः देता है। बालक अनापान में ही अनुमान की प्रक्रिया में यह समझ लेता है कि गाम् आनय, और नय पदों का क्या अर्थ है। बालक की इस तरह की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में दो कारिकाएँ प्रस्तुत की हैं जो इस बात का विधान करती हैं कि प्रत्यक्ष, अनुमान और अर्थापत्ति तीन प्रमाणों के सहारे ही शब्द के अर्थ का अवधारण होता है। दाक्ष्य प्रत्यक्ष रूप में उत्तम वृद्ध का शब्द मुनता है तथा उत्तम-मध्यम वृद्ध तथा गो आदि जनिधियों को

१. आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यायोंविशेषवपुर पदार्थोऽपि वाक्यार्थः समुल्लसति इत्यनिहितान्वयवादिनांमतम् । —काव्यप्रकाश, २।७ ।
२. शब्दबुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापारभावः ॥ —प्रकीर्ण ।
३. तात्पर्यायोंऽपि केषुचित् । —काव्यप्रकाश ३।० २।६ ।
४. दाक्ष्य एव वाक्यार्थ इति अन्विताभिधान वादिनः । —काव्यप्रकाश, वृत्ति २।६ ।

साक्षान् अर्थों से देखता है। यह कार्य इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष प्रमाण से होता है। अनन्तर श्रोता की आगिक चेष्टाओं पर आवृत्त अनुमान से वह यह जानने का प्रयत्न करता है कि श्रोता ने वक्ता के शब्दों का क्या अर्थ समझा है। अर्थात् चेष्टारूप अनुमितजनक ज्ञान विपयक हेतु से बालक यह समझ लेता है कि प्रयोक्ता ने आदेष्टा के किस शब्द का क्या अर्थ समझा है। अन्त में अन्ययानुपपत्ति रूप अर्थापत्ति प्रमाण से वाचकत्व एव वाच्यत्वरूप सञ्ज्ञेतापरनामक शब्द की द्विविधव्यक्ति को पहचानता है। इस प्रकार उक्त रीति से प्रत्यक्षानुमान एव अर्थापत्ति रूप प्रमाणत्रय के योग से ही किस शब्द का किस अर्थ में सञ्ज्ञेता है यह समझना चाहिए।^१

भाट्ट मौनान्तको की उक्त दोनों कारिकाओं को व्याख्या आचार्य मम्मट ने भी काव्य-प्रकाश में की है। 'देवदत्त गामानय' इत्यादि उत्तम-वृद्ध के वाक्य-प्रयोग से जब मध्यम-वृद्ध सास्नादिमान् किसी प्राणी को ले आना है तो उसकी चेष्टाओं से यह अनुमान करके कि इतने उक्त वाक्य का यही अर्थ समझा है, व्युत्पित्तु बालक अर्थापत्ति से वाक्य तथा वाक्यार्थ में वाचक-वाच्य-भाव लक्षण सम्बन्ध का स्वतः निर्धारण कर लेता है। तत्पश्चात् 'चैत्र गाम् आनय', 'देवदत्त गानय', 'अन्वम् आनय' इत्यादि अनेक वाक्यों के प्रयोग होने पर ही वाक्य में प्रयुक्त गवादि पदों के अलग-अलग अर्थ का निश्चय करता है। इस प्रकार वाक्य में प्रयोग से ही शब्दार्थ का ज्ञान, वाक्य में प्रयुक्त होने के अभाव में शब्दार्थ के ज्ञान का अभाव, इस अन्वय व्यतिरेक से हम इस निश्चय पर पहुँचते हैं कि वाक्य ही प्रवृत्तिनिवृत्तिकारी है अतः वही प्रयोग के योग्य है। सञ्ज्ञेताग्रह उन्हीं पदों में होता है जो वाक्य में स्थित पद के अर्थों से परस्पर अन्विन हो।^२

यहाँ हम केवल इतना ही बताना चाहते हैं कि शब्दव्यवहार में अनुमान की प्रक्रिया अवश्य लगती है ऐसा अन्विताभिधानवादी भी मानते हैं। महिममट्ट ने भी यही कहा है। अन्तर इतना ही है कि अन्विताभिधानवादी अर्थापत्ति प्रमाण का भी यहाँ प्रयोग करते हैं। प्रत्यक्ष तो जहाँ अनुमान होता है सर्वत्र रहता है। अर्थापत्ति को नैयायिक अनुमान से पृथक् नहीं मानते अपितु प्रत्यक्ष और अनुमान को मिलाकर ही अर्थापत्ति होती है। इस प्रकार महिममट्ट का पक्ष दार्शनिकों से भी सम्मत है।

१. शब्दवृद्धाभिधेयांश्च प्रत्यक्षेणात्र पश्यति ।

श्रोतुश्च प्रतिपन्नत्वमनुमानेन चेष्टया ॥१॥

अन्ययानुपपत्त्या तु बोधेच्छावित् इत्यात्मिकाम् ।

अर्थापत्त्यावबोधेत् सम्बन्धं त्रिप्रमाणकम् ॥ २ ॥

—काव्यप्रकाश, पञ्चम उल्लास, पृ० २१९ ।

२. 'देवदत्त गामानय' इत्याद्युत्तमवृद्धवाक्यप्रयोगात् देशात् देशान्तरं सास्नादिमन्तमर्थं मध्यम-वृद्धे नयति सति' अनेनास्माद् वाक्यादेवं विधोऽर्थः प्रतिपन्न' इति तच्चेष्टया अनुमाय तयोः अलङ्कारवाच्यवाच्यार्थयोः अर्थापत्त्या वाच्यवाचकभावलक्षणं सम्बन्धमवधार्य बालस्तत्र व्युत्पद्यते । परतः 'चैत्र गामानय, देवदत्त अश्वमानय, देवदत्त गाम् नय' इत्यादि वाक्य प्रयोगे तस्य तस्य शब्दस्य तंतमर्थमवधारयति इति अन्वयव्यतिरेकान्यां प्रवृत्तिनिवृत्तिकारि वाक्य-मेव प्रयोगयोग्यम् इति वाक्यस्थितानामेव पदाना-अन्वितैः पदार्थैरन्वितानामेव सञ्ज्ञेता गृह्यते इति विशिष्टा एव पदार्था वाक्यार्थः न तु पदार्थानां वैशिष्ट्यम् ।

—काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० २२१-२२ ।

(ग) साध्यसाधनभाव

शाब्दव्यवहार की अनुमानरूपता के साधक जित तत्त्व की व्यक्तिविवेककार ने अनेक स्थलों पर चर्चा की है, वह है साध्यसाधनभाव । शब्द और अर्थ के बीच के सम्बन्ध को ही साध्यसाधनभाव कहते हैं । बिना किसी साधन के साध्य की निष्पत्ति नहीं होती । साध्यसाधनभाव को कार्यकारणभाव मूलक कहा है । इसकी सिद्धि अविनाभाव सम्बन्ध अर्थात् व्याप्ति के निश्चय के अनन्तर ही होती है । व्याप्तिग्रह का निश्चय मनमानी नहीं अपितु लोक, वेद तथा अध्यात्म इन तीन प्रमाणों के आधार पर ही होता है, जो परोक्ष रूप से साध्यसाधनभाव के मूल में निहित होते हैं ।^१ कोई भी वाक्यार्थ नहीं लोकसम्मत, वही वेदादिशास्त्रसम्मत तो वही आध्यात्मिक-कार्यविषयक होता है ।

अध्यात्म से प्रत्यक्ष प्रमाण का ग्रहण होता है । आध्यात्मिककार्यविषयक प्रमाण ही अध्यात्म है । सकलशास्त्र में वेदों का अर्थ प्रसिद्ध है । अथवा यह कहना ही श्रेयस्वर है कि यहाँ वेद शब्द सकलशास्त्र के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । लोक में प्रसिद्ध अर्थविषयक प्रमाण को लोक कहा है । इस प्रकार प्रकारान्तर से प्रत्यक्ष एव आगम दोनों प्रमाणों को लोक, वेद अध्यात्म त्रिविध रूप में ग्रहण कर लिया है । आगम में ही लोक वेद दोनों आ जाते हैं । वेद वे आगम प्रमाण हैं जिनका निवन्धन तो नहीं हुआ है किन्तु लोकपरम्परा से वे वातें प्रमाण रूप में चली आ रही हैं । व्याख्यानकार रय्यक ने इसका यही अर्थ किया है और बताया है कि इनमें अनुमान की गणना इसलिए नहीं की है कि उपकारक न होकर वह तो स्वयं उपकार्य है । अर्थात् जिसके मूल में ये त्रिविध प्रमाण प्रस्तुत किये गये हैं वह साध्यसाधनभाव रूप अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।^२

कुछ उदाहरण देकर शाब्दव्यवहार में साध्यसाधनभावगर्भित अनुमानरूपता की सत्ता को प्रमाणित करना परम आवश्यक है । लोकप्रमाणमूलक साध्यसाधनभाव का उदाहरण दिया है—

चन्द्रं गता पद्मगुणात्र भुंक्षते, पद्माधिता चान्द्रमसीमभित्याम् ।

उमामुखे तु प्रतिपद्य लोला द्विसंधया प्रीतिमवाप लक्ष्मीः ॥ —६० सं०, १।४३ ।
कुमारसम्भव के इस पद्य में जो यह बताया है कि लक्ष्मी के लिए चन्द्रमा और कमल दोनों की शोभा का एक साथ उपनोग करना सम्भव नहीं था । किन्तु उस चञ्चला ने जब से उमा के मुख का आश्रयण किया है वह उमयाश्रित शोभा का युगपत् भाजन हो गई है, और उन्ने उनपद्म शोभा के आश्रयण का आनन्द लिया है । यहाँ पर उमा के मुख की शोभा चन्द्र और कमल दोनों

१. साध्यसाधनभावश्चानयोः अविनाभावावसायकृतो घगन्तव्यः । स च प्रमाण मूलः । तच्च त्रिविधम् । यदाहूः —लोकवेदस्तथाध्यात्मं प्रमाणं त्रिविधं स्मृतम् ।

—व्यस्तिविदेह, पृ० ४२ ।

२. प्रमाणं च त्रिधा लोकवेदाध्यात्मरूपत्वेन । तत्राध्यात्मं प्रत्यक्षम् । निवन्ध प्रतिस्वरूपं वेदः । अनिवन्धप्रतिस्वरूपत्वेन लोकः । भंग्या प्रत्यक्षागमद्वयं प्रमाणद्वयं स्थीकृतम् । आगमस्य निवन्धानिवन्धप्रतिस्वरूपत्वेन द्विविधम् । अनुमानमत्र भगवन्निर्णयोपवाच्यत्वेन प्रस्तुतवान् ।

—रय्यक—व्यस्तिविदेह, व्याख्यान, पृ० ४२ ।

से बढ़कर है यह व्यतिरेक ही कवि को विवशित है, जिसकी प्रतीति कमल के रात्रिसंकीर्ण एवं चन्द्रमा के दिवन में उदय न होने की बात पर ही निर्भर है, जो लोक-प्रसिद्ध है। अतः यहाँ लोक-प्रमाणभूलक साध्यसाधनभाव से व्यतिरेकालंकार ही अनुमेय है।

वैदप्रमाण से तन्मूलक इतिहासपुराण एवं धर्मादि सभी शास्त्रों का ग्रहण हो जाना है। उदाहरणस्वरूप—

अपाचितारं न हि देवमद्रिः सुतां प्रतिग्राहयितुं शक्नाक ।

अभ्यर्थनानंगनयेन साधुनाध्यस्त्यमित्येऽप्यवलम्बनेऽर्थे । —कृमारसंभव, १।५२ ।

हिमालय भगवान् शिव को अपनी कन्या पार्वती देने की ऋणियों की वान को तब तक स्वीकार करना नहीं चाहता जब तक शकर स्वयं आकर पाचना न करें तथा नूतनमान नोत्प्रेयाय भी जाकर पाचना इसलिए नहीं करने कि वहाँ उनकी अभ्यर्थना ठुकरान दी जाय। अतः मध्यस्थ के द्वारा ही वानचीन ठीक समझी गई। यहाँ पर वारणभूत भगवान् शिवगन सम्प्रदानता का निवन्धन पाचना के अभाव में नूधरेग्रमन कार्य कन्यादान के सामर्थ्य के अभाव का उपनिवन्धन शास्त्रमूलक है। दोनों में कार्यकारणभाव शास्त्रैवप्रमाण समविगम्य है कि बिना पाचना के चाहे नर्वस्व भले दे दे किन्तु कन्याएं नहीं देना चाहिए। वहा भी है—

अपाचितानि देयानि सर्वद्वेष्याणि भारत ।

अत्रं विद्या तथा कन्या अनयिन्यो न दीयते ॥

भरतकुल में उपर्युक्त हे मुविष्टिर लोगों को चाहिये कि वे सभी बन्धुओं को बिना मांगे दे दें पर अन्न, विद्या तथा कन्या उठे नहीं देनी चाहिये उठे मांगता नहीं। आध्यात्मिकार्थविपयक साध्यसाधनमूलक प्रमाण का उदाहरण दिया है।

पशुपतिरपि तान्यहनि ऋच्छ्राद्दगमपदत्रिस्तुतासमागमोत्कः ।

कमपरमवशं न विप्रकुर्येवभुमपि तं यदमी स्पृशन्ति भावाः ॥ —कृ० सं०, ६।१५।

पार्वती ने मिलने के लिये उत्कण्ठित भगवान् शिव के लिये भी उन दिनों को बिजाना बड़ा कष्टिग हो गया। वस्तुतः ये भाव ही ऐसे हैं कि जब समर्थ शिव को भी अपने प्रभाव से विचलित कर देते हैं तो फिर ऐसा दूसरा कौन है जिसे ये अपने बस में न कर लें। यहाँ पर भगवान् पशुपतिगत कठिनता से दिवसतिवाहन रूप अद्रिस्तुतानमागन की उत्कण्ठा का कार्यकारणभाव प्रत्यक्ष सिद्ध है। एतन्मूलक ही इन दोनों का साध्यसाधनभाव है। शिव दिन को बड़े कष्टपूर्वक विज्ञाते थे क्योंकि वह पार्वती के समागम के लिए समुत्कण्ठित रहते थे। दिवसतिवाहन एवं समागनोत्कण्ठा दोनों का हेतु-हेतुनान्भाव सम्बन्ध है।

साध्यसाधनभाव के मुख्य रूप से दो भेद होते हैं—शाब्द और आर्थ।^१ यहाँ पर 'यदा' आदि हेतुक्रमात्मक शब्दों का प्रयोग होता है वह शाब्द है। इनके अभाव में वह आर्थ होता है।^२ दोनों

१. स हि द्विविधः शाब्दश्चाथर्वचेति ।

—अभिनविवेक, पृ० ४५ ।

२. स हि साध्यसाधनभावः यथेत्यादिहेतुत्वप्रकाशकशाब्दप्रयोगे शाब्दः तद्वनामे च आर्थः ।

—विद्वति व्यक्तिविवेक, पृ० ४५ ।

ही प्रकार के साध्यसाधनभाव के पुनः पदार्थ और वाक्यार्थ दो भेद होते हैं। पदार्थ के भी जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य भेद से, धर्मधर्मा भेद से एवं सामानाधिकरण्य वैयाधिकरण्यभेद से अनेक भेद प्रभेद होते हैं। वाक्यार्थ के भी क्रियार्थक होने के कारणों की विचित्रता के आधार पर तथा उनके परस्पर के साक्यं से अनेक भेद-प्रभेद होते हैं।^१ व्यक्तिविवेक में इन सबके उदाहरण प्रत्युदाहरण देकर साध्यसाधनभाव का विस्तृत विवेचन किया गया है। प्रकृत स्थल में उपपन्न न होने से उसका सविस्तर वर्णन नहीं किया जा रहा है।

१. सोऽपि च साध्यसाधनयोः प्रत्येकं पदार्थवाक्यार्थरूपत्वान्, पदार्थस्य च जाति-गुण-क्रिया-द्रव्यभेदेन भेदान् धर्मधर्मितया च, धर्मस्यापि सामानाधिकरण्यवैयाधिकरण्यभेदान्, ;वाक्यार्थस्य च क्रियात्मनः कारक-वैचित्र्येण वैचित्र्याद् यमायोग्यमन्योन्यसांबन्धाद् बहुविधः ।

तृतीय-विमर्श

शब्द-शक्ति

(क) शब्द की तीन वृत्तियाँ—शक्ति, भक्ति एवं व्यक्ति

द्वन्द्वप्रयोगों में जिसे वृत्ति कहा है साहित्यसाम्प्रदाय में उसी को शक्ति पद में अभिहित किया गया है। 'वर्तते शब्दोऽर्थे प्रवर्तते अनया इति वृत्ति' इन अर्थ में बाहुलकान् करण में चिन् प्रत्यय होकर वृत्ति पद निष्पन्न होना है। वृत्तिशोधिकाकार मौनि श्री कृष्णभट्ट ने वृत्ति की परिभाषा करते हुए कहा है कि—शब्द और अर्थ के उस सम्बन्ध को वृद्धि कहने हैं जो शब्दबोध के हेतु-नून शब्दार्थ की उपस्थिति के अनुकूल हो।^१ वृत्तियाँ तीन मानी गयी हैं—शक्ति, भक्ति एवं व्यक्ति। शक्ति पद की व्युत्पत्ति है—शक्तते साक्षान् अभिधीयते अनया इति शक्ति। धातुओं के लनेकार्यक होने से यहाँ पर शक् धातु का अर्थ साक्षान् अभिधान है। 'शक्ति' अभिधा को ही कहते हैं। 'नज्यते शक्कार्यं खण्ड्यते अनया इति भक्ति' इन व्युत्पत्ति से 'भक्ति' लक्षणा का अपरपक्ष्याय है। 'व्यक्ति' का अर्थ व्यञ्जना वृत्ति है जिनकी व्युत्पत्ति—'व्यज्यते प्रकटीकियते अनया इति व्यक्तिः' है। आशाधर भट्ट ने शक्ति को गङ्गा, भक्ति को यमुना एवं व्यक्ति को गूढनिर्जरा सरस्वती कहा है।^२ न्यायमुक्तावली में वृत्ति को शक्ति-लक्षणान्तर सम्बन्ध के रूप में लक्षित किया है तथा पद से पदार्थ के सम्बन्ध को ही शक्ति कहा है।^३ साहित्यदर्पणकार विरव-नाथ कविराज ने वृत्ति के स्थान पर शक्ति पद का प्रयोग अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना शब्द की तीनों वृत्तियों के लिए किया है,^४ जो महिमभट्ट का अनुकरणमात्र है। महिमभट्ट ने इन सबके लिए शक्ति पद का प्रयोग साहित्यशास्त्र में सबसे पहले किया। बाव्यादि में शब्दजन्य अर्थ का ज्ञान त्रिविध माना गया है—चारु, चारुतर एवं चारुतर। अभिधाजन्य अर्थ चारु होता है। यथा—'पाकं कुरन्व पाकार्यम्' वाक्य में प्रयुक्त द्वितीय पाक शब्द का अर्थ किशू होता है। वाक्य के अन्वयबोधपूर्वक द्वितीय पाक शब्द के जित् अर्थ का बोध विभी व्युत्पन्न को ही सम्भव है। अतः यह चारु है 'चण्डकारुवर्षति गालि च ददाति' इत्यादि से अर्थज्ञान ग्राम्यवाक्य जन्य होने से चारु नहीं है अतः कवि समादृत भी नहीं। लक्षणजन्य अर्थज्ञान चारुतर माना गया है।

१. शब्दबोधहेतुशब्दार्थोपरिपत्यनुकूलशब्दवृत्तिसम्बन्धो वृत्तिः।

—श्रीकृष्ण भट्ट, वृत्तिशोधिका, पृ० १।

२. शक्तिभक्तिव्यवितर्गगायमुनानुद्दिनिर्जराः ॥

—आशाधर भट्ट, त्रिदेनिका, पृ० १।

३. शक्तिदत्त पदेन सह पदार्थस्य सम्बन्धः ॥

—न्यायमुक्तावलीकारिका ८१ पर वृत्ति।

४. वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्योलक्षणाया मतः।

ध्वंग्यो व्यञ्जनया ताः स्तुस्तितः शब्दस्य-शक्तयः ॥

—साहित्यदर्पण, २।३।

'गंगाया घोषः' में गंगा पद से शीतत्व पावनत्व विधिष्ट, गङ्गाप्रवाह से जतिदाय निवृत्त तट ह्य चारुतर अर्थ की प्रतीति होती है। व्यञ्जनाजन्य अर्थज्ञान को चारुतर कहा गया है। किन्ती की उचित—'गतोऽन्तमर्कः' से वाच्यार्थ प्रतीतिपूर्वक बक्ता जादि के वैधिष्ट्य से तत्तद् दिन ज्यों की प्रतीति होती है उन्हें चारुतर इसलिए माना जाता है कि वह एकमात्र विदग्ध-जनबोध होते हैं, सर्वसानान्यगम्य नहीं।

इन तीनों वृत्तियों के विषयभूत अर्थ भी तीन प्रकार के होते हैं। अग्निधा प्रतिपादिन अर्थ को शक्य, वाच्य, अग्निधेय तथा मुख्यार्थ इन चार नामों से जनिहित किया गया है। लक्षणा-प्रतिपादिन अर्थ की लक्ष्य, लाक्षणिक, भावन एवं औपचारिक चार संज्ञायें हैं तो व्यञ्जना से अग्निव्यक्त अर्थ के व्यञ्ज्य, गम्य, प्रतीत्य, ध्वनित एवं प्रतीयमान पाँच व्यपदेश्य हुए हैं। अर्थत्रय के अनुसार शब्द के भी तीन ही प्रकार होते हैं। प्रथम को वाचक, शक्य या अग्निवाचक; द्वितीय को लक्षक, लाक्षणिक या औपचारिक तथा तृतीय प्रकार को व्यञ्जक, द्योतक, प्रत्यापक आदि नाम से व्यदहृत किया गया है। शब्द की प्रथम वृत्ति को शक्ति, अग्निधा या मुल्या कहा गया है। द्वितीय के भक्ति, लक्षणा एव उपचार तीन नाम हैं तो तृतीय वृत्ति को व्यञ्जना, द्योतना तथा व्यक्ति प्रनृति संज्ञायें हैं। इनकी परिभाषा करते हुए आशाधर भट्ट ने कहा है कि—अग्निधा वह वृत्ति है जिसका कारण सचेतप्रह होता है।^१ सचेत व्यक्ति के लक्ष्य अर्थविषयक अज्ञान से दूर कर उसमें ज्ञातृता नामक धर्म को उत्पन्न करता है। उन ज्ञातृता के प्रति जिन प्रकार शब्द कारण है उसी प्रकार तद्गत त्रिया भी। वही त्रिया ही शक्ति या अग्निधा है। योग, रति एवं योगरति इसके तीन भेद होते हैं।

शक्य सम्बन्ध सहकारिणी वृत्ति को लक्षणा कहते हैं।^२ वह शब्द का ही व्यापार होने से शब्दनिष्ठ होती है तथा मुख्यार्थ का बाध होने पर तत्प्रत्यक्षी जय को पदज्ञान का विषय बनाती है। लक्षणा के भी जहत्, जजहत् एवं जहदजहत् तीन भेद होते हैं। शक्य एवं लक्ष्य से व्यतिरिक्त अर्थ की बोधिका वृत्ति का नाम व्यञ्जना है।^३ वह मुख्यार्थ वाधादि के दिना तथा शक्य एव यथामन्वय लक्ष्य अर्थ के बोध के अनन्तर ही प्रवृत्त होती है। अग्निधामूला-विवक्षितान्वय-वाच्य एवं लक्षणामूला-अविवक्षितवाच्य, व्यञ्जना के दो मुख्य भेद होते हैं। वही-वही व्यञ्जना-मूला व्यञ्जना का भी विधान हुआ है। शब्द की तीन शक्तियों के स्वरूप लक्षण एवं उदाहरण का उपर्युक्त विवेचन ध्वनिमिद्धान्त की सरणि पर हुआ है।

(ख) महिमभट्ट द्वारा अग्निधा के अतिरिक्त शब्दव्यापार की सूत्रा का गूढग

महिमभट्ट ने शब्द की एकमात्र अग्निधाशक्ति को ही स्वीकार किया है। उनका कहना है कि शब्द में यह मामध्य नहीं है कि वह एक बार में ही अनेक अर्थों की जनिव्यक्ति करे। अतः स्वार्थप्रकाशनस्वरूप अग्निधाव्यापार के अतिरिक्त लक्ष्य, व्यंग्य आदि अर्थों की जनिव्यक्ति के लिए जो लक्षणा व्यञ्जना आदि व्यापारान्तर की कल्पना की जाती है और उन्हें शब्दव्यापार या शब्दशक्ति कहा जाता है वह मुक्तिपुत्र नहीं। हमें अग्निधा में निहित जिन व्यापार की प्रतीति

१. सङ्केतप्रहकारणा शक्तिः ॥

—आशाधर भट्ट, त्रिवेदिका, पृ० ४।

२. शक्यसम्बन्धसहकारिणीवृत्तिर्लक्षणा ।

—वही, पृ० १२।

३. शक्यलक्ष्यातिरिक्तार्थबोधिका वृत्तिर्व्यञ्जना ॥ —आशाधर भट्ट, त्रिवेदिका, पृ० २४।

होती है वह शब्द का न होकर वस्तुतः अर्थ का ही व्यापार है। शब्द का तो एकमात्र अभिधा-व्यापार ही सम्भव है। क्योंकि शब्द में अनेक-विध अर्थ की प्रत्यायिका शक्तियों के समाश्रयण में कोई प्रमाण नहीं।^१ शब्द में अनेक शक्तियों की मान्यता के खण्डन में युक्ति देने हुए व्यक्ति-विवेककार कहते हैं कि—जहाँ पर अनेक शक्तियाँ एकाश्रय होती हैं वहाँ तीन बातें मुख्यरूप से परिलक्षित होती हैं—

१. वे शक्तियाँ अन्योन्यनिरपेक्ष होती हैं।
२. उनमें पूर्वापरभाव जैसा कोई नियम नहीं होता।
३. वे कभी-कभी युगपत् ही अपना कार्य करने लगती हैं।

उदाहरणस्वरूप दाहकत्व तथा प्रकाशकत्व अग्नि की दो शक्तियाँ हैं। दाहिका शक्ति न तो प्रकाशिका को प्रवृत्त होने से रोकती है, न ही प्रकाशिका दाहिका को। इसी प्रकार वहाँ ऐसा कोई नियम नहीं है कि पहले दाहिका शक्ति प्रवृत्त हो तदनन्तर ही प्रकाशिका अथवा प्रकाशिका के अनन्तर ही दाहिका। अपितु प्रायः दोनों की प्रवृत्ति युगपत् भी पायी जाती है। शब्दाश्रित अभिधा, लक्षणा एवं व्यञ्जना नामक शक्तियों में उक्त प्रकार से—अन्योन्यानपेक्षप्रवृत्ति, पूर्वापरभाव की विरहिता एवं युगपत् कार्यकारित्व न देखा जाना है और न कहीं ऐसा अनुभव ही होता है। किसी भी आचार्य ने उनका ऐसा होना स्वीकार नहीं किया है। अपितु वस्तुस्थिति इसके विपरीत ही है। अभिधाशक्ति के प्रकरणादि से नियन्त्रित होने पर ही दूसरी शक्तियों की प्रवृत्ति मानी गयी है। इनकी प्रवृत्ति परस्पर सापेक्ष होती है। तात्पर्य तथा लक्षणा अभिधा की अपेक्षा करती हैं तो व्यञ्जना अभिधा एवं लक्षणा उभयमूला होती हैं। यही नहीं, इनमें पूर्वापर का नियम भी माना गया है। युगपत् कार्यकारित्व तो इनमें किसी भी प्रकार नहीं बन पाता। क्योंकि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापारानावः' न्याय से किसी भी वृत्ति के एक बार अपना कार्य पूरा कर विरत हो जाने पर ही दूसरी की प्रवृत्ति उभय स्वयं पर हो सकती है, ऐसा साक्षात् अनुभव किया जाता है। उक्त विप्रतिपत्तियों के कारण इन शक्तियों को मित्राश्रय ही मानना चाहिए, शब्दमात्र एकाश्रय नहीं। अतः ये शक्तियाँ शब्दनिष्ठ हैं ऐसा नहीं समझना चाहिए।^२

इन प्रकार जब शक्तियों के तयाकथित आश्रय एकमात्र शब्द की अपेक्षा अर्थ आदि विभिन्न आश्रय सिद्ध हो जाने हैं तो अभिधा से भिन्न जो शक्ति है उसे शब्द-शक्ति न कहकर अर्थ-शक्ति ही मानना चाहिए। अर्थशक्ति का अनुमान में अन्तर्भाव तो सुनरा सिद्ध है। अतएव व्यक्ति-विवेककार कहते हैं कि—शक्ति का भिन्न आश्रय अर्थ ही हो सकता है, शब्द नहीं। फलतः वे विविध व्यापार अर्थ के ही हैं, शब्द के कदापि नहीं।

१. यत्पुनरनेकशक्तिसमाश्रयत्वान् व्यापारान्तरपरिचल्पनं तदर्थस्यैव उपपद्यते न शब्दस्य, तस्यानेकशक्ति-समाश्रयत्वासिद्धेः ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० १०८, १०९।
२. तथाहि एकाश्रयाः शक्तियोन्योन्यानपेक्षप्रवृत्तयोऽप्राप्तपूर्वापर्यनियमाः युगपदेव स्वकार्य-नारिष्यो दृष्टाः यथा दाहकत्वप्रकाशकत्वादयो अग्नेः । न च शब्दाश्रयाः शक्तयः तथा दृश्यन्ते अन्युपगम्यन्ते वा, नियोगतो अभिधा शक्तिपूर्वकत्वेन इतरशक्ति-प्रवृत्ति दर्शनात् । तस्माद् भिन्नाश्रया एव ताः न शब्देकसमाश्रयाः इत्यवसेयम् —व्यक्तिविवेक, पृ० १०९।

(ग) अर्थ ही अर्थान्तर का विनिगमक

शक्तिपों के निम्नाश्रयत्व व सिद्धान्त को निष्ठ कर उनके अनुमान में अन्तर्भाव को सिद्धि में युक्ति देते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि शक्ति का जो शब्द से निम्न आश्रय निष्ठ हुआ है वह अर्थ ही हो सकता है। अर्थगत व्यापार का अनुमान में अन्तर्भाव किसे स्वीकार नहीं। अर्थात् अर्थ के शक्तिपों का आश्रय होने पर उसके व्यापार का अनुमान में अन्तर्भाव मुमुक्षु हो सकता है। उदाहरण के लिये, 'गौर्वाहीकः' (वाहीक देसवासी व्यक्ति बल होता है) इत्यादि स्थलो में गोआदि अर्थ की वाहीकादि अर्थ के साथ तादात्म्य या सामानाधिकरूप्येन अन्वय इत्यादि बाधित है कि गोत्व और वाहीकत्व उनके धर्म निम्न हैं और वाहीक में गोगत धर्म के स्वीकार न होने पर असङ्गति होती है। अतः जो हम जाड्यनाद्यादि कुछ अर्थों में ही वाहीक को गो से अनिम्नता का बोध करते हैं वह प्रकारान्तरसे अनुमान नहीं तो और क्या है 'गोगत जाड्यमांद्यादि धर्म हेतु के रूप में उपलब्ध होकर व्यापित का कार्य करते हैं और इन्हीं के आधार पर गो की वाहीक से आशिक समानता एवं गोगत जाड्यमांद्यादिविशिष्ट वाहीक अर्थ की अनुमिति होती है।^१

यदि यह कहें कि यहाँ पर गो और वाहीक में अनेदबुद्धि वदापि अनीष्ट नहीं, अस्तु लक्षणा के द्वारा दोनों में सादृश्यातिशय का बोध ही वाक्यार्थ के रूप में अनीष्ट है, जो लक्षणा ज्ञान का प्रयोजन या फल है। और अनुमितिवादी की यह बात समज में इत्यदि नहीं आती कि अनुमान तो एकमान उन दोनों के अनेद द्वारा ही सम्भव है, अन्वया ठीक नहीं क्योंकि कोई भी व्यक्ति जो जन्मत नहीं हो गया है वही पर किसी प्रकार की समानधर्मता को बिना परखे ही अवस्मात् किसी वस्तु में वस्तुन्तर के तादात्म्य का आरोप नहीं करता। यहाँ दक्षता के जनिप्राय का परिशीलक बोधा वाहीक के गो के साथ अनेद-अन्वय का कारण जाड्यादि धर्मवृत्त सादृश्य को ही समझता है, गोत्व को नहीं।^२

अतः 'गौर्वाहीकः' इस वाक्य से गो शब्द के अनिष्ठा प्रतिपादित अर्थ की ही प्रतीति सबको होती है। अनन्तर वाहीक के साथ उसके अन्वय का बाध होने पर गो शब्द से गोत्व अर्थ की प्रतीति का भी बाध होता है। और उसमें यह नाव कि वह गोत्व अर्थ की प्रतीति कराता है, अन्त तक बना नहीं रहता। इस प्रकार के उपक्रम का निमित्त 'वाहीक' और 'गो' के धर्म (गुण) समान हैं—यह प्रतिपादित करना है न कि वाहीक गो अनिम्न है यह। अर्थात् उनमें साधर्म्यमात्र की प्रतीति करना अनिष्ट है, तादात्म्य की प्रतीति नहीं। इसका प्रयोजन है—नधेप में वाहीक में गोगत जाड्यादि धर्म का क्षटिति प्रतिपादन। क्योंकि अर्थान्तर में शब्द का वह प्रयोग अनिश्चय प्रतिपादन का एक ढंग या प्रकार है।^३ वहा भी है कि जाति के बिना भी जाति प्रवृत्तिनिमित्तक शब्द का तुल्य सम्बन्धी धर्म से जहाँ प्रयोग

१. यदवासी आश्रयो निम्नः सोऽर्थ एवेति तद् व्यापारस्य अनुमानान्तर्भावोऽनुपपत्तव्य एव ।
तथाहि—'गौर्वाहीकः' इत्यादौ तावद् गवादयो अर्थाः बाधितवाहीकाद्यर्थान्तरात्मिन्य-
तादृश्यविधानान्यन्यानुपपत्त्या केनचिदंशेन तत्र तत्त्वमनुमापयन्ति न सर्वात्मना ।

—व्यक्तिविदेक, पृ० ११० ।

२. व्यक्तिविदेक, पृ० ११० ।

३. वही, पृ० ११० ।

होना है उसे अन्य आचार्य गौण ही कहते हैं ।^१ प्रकृत स्थल 'गौर्वाहीक' में वाहीक के गो जाति का न होने पर भी उसके विशेषण के रूप में गो शब्द का जो प्रयोग हुआ है वह उसके सम्बन्धी (विशेषण) 'गो' में पाये जाने वाले जाड्य मान्य आदि गुणों (धर्मों) के आधार पर गो के साथ उसके सादृश्य को व्यक्त करने के लिये ही हुआ है—अर्थात् वाहीक में भी वे ही जाड्य मान्य पाये जाते हैं जो किसी बाल में जन्मजात विद्यमान होते हैं । इसी को साधर्म्य भी कहते हैं । क्योंकि समान धर्म (गुण) के आधार पर दो सर्वथा भिन्न वस्तुओं को अभिन्न बहने की प्रथा सर्वत्र उपलब्ध होती है । पर 'गो' शब्द वाहीक अर्थ की अभिव्यक्ति कैसे करा सकता है क्योंकि उसमें उसका सकेतब्रह्म नहीं है । इसलिए गो शब्द से वाहीक अर्थ की या जाड्यामांशादि विशिष्ट वाहीक अर्थ की प्रतीति मुख्यतः में न होकर गौणी-वृत्ति से होती है ।

आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि 'गौरिव वाहीक' न कहकर गौर्वाहीक की उक्ति में जो सामानाधिकरन्ध से तादात्म्य का आरोप किया गया है उसका अभिप्राय गो और वाहीक के बीच साम्य या सादृश्य की प्रतीति कराना नहीं हो सकता क्योंकि उनके लिये तो गौरिव वाहीक के रूप में उपमा का प्रयोग ही पर्याप्त था । गौर्वाहीक में तो रूपक के प्रयोग द्वारा वाहीक पर गोत्व का आरोप किया जाता है । किसी वस्तु पर दूसरी वस्तु के आरोप करने का एक विशेष प्रयोजन होता है । यहाँ पर भी वाहीक पर गोत्व के आरोप का कोई विशेष प्रयोजन अवश्य होना चाहिए और वह है गो और वाहीक के गुण सादृश्य की अनुमिति । इस प्रकार उत्वारोप (वाहीक में गोत्व का आरोप) ही गो एक वाहीक के बीच साधर्म्य का साधक हेतु है अन्यथा तत्त्वरोप की कोई साधकता नहीं । उसकी अनुपपन्नता ही साधर्म्य की साधिका है । अतः अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से निश्चित वाहीक में गो के साधर्म्य की प्रतीति अनुमान-जन्य ही है, लक्षणा आदि तथाकथित शब्द-व्यापारजन्य नहीं । आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि अनुमान का इससे अधिक ज्वलन्त उदाहरण और क्या हो सकता है । क्योंकि वाहीक में गो के साधर्म्य की प्रतीति का कारक यह जो वाहीक पर गोत्व का आरोप है उसकी साधकता साधर्म्य को अनुमान का विषय बनाने में ही है । इस प्रकार यह स्थल शब्द-व्यापार का न होकर अनुमान का ही ठहरता है ।^२

इसी अभिप्राय से निम्नलिखित सग्रहकारिका में कहा है—

गोत्वारोपेण वाहीके तत्साम्यमनुमीयते ।

को ह्यतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशेद्गुणः ॥१॥

अर्थात् वाहीक पर गोत्व के आरोप के कारण ही उनकी गो के साथ सहधर्मिता का

१. जातिशब्दोऽन्तरेणापि जातिं यत्र प्रयुज्यते ।

सम्बन्धिसदृशाद्धर्मात् तं गौणमपरे विदुः ॥

—व्यक्तिविवेक, कारिका १४५ ।

२. तस्माद्योऽयं वाहीकादौ शब्दादिसाधर्म्यावगमः स तत्वारोपान्यथानुपपत्ति-परिकल्पितो अनुमानत्वेन विषयः न शब्द-व्यापारस्येति स्थितम् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ११२ ।

३. व्यक्तिविवेक, -कारिका १४७ ।

अनुमान किया जाता है क्योंकि अतिदेश प्रकार विशेषतः ऐसा बौध विद्वान् है जो किसी वस्तु से किसी ऐसी वस्तु का व्यवहार करेगा जो उससे सर्वथा भिन्न हो तथा जो न तो सर्वथा बड़ी हो तथा न उसके समान ही ।

लक्षणा के मानने वाले विद्वानों के समझ में 'गौर्वाहीकः' में प्रयुक्त गो शब्द के लक्ष्यार्थ के विषय में अनेक विसम्बन्ध हैं । यहाँ समस्या यह है कि गोपद की लक्षणा विचित्र की जाय । यदि सीधे वाहीक में लक्षणा करते हैं तो मुख्यार्थ 'गो' और लक्ष्यार्थ 'वाहीक' के बीच कौन-सा सम्बन्ध होगा ? क्योंकि बिना किसी सम्बन्ध के गो की वाहीक में लक्षणा नहीं की जा सकती । मुख्यार्थ का बोध होने पर मुख्यार्थ से सम्बन्धित ही किसी अर्थ में लक्षणा की जाती है । इसके समाधान का एक प्रकार यह हो सकता है कि गो पद की गोगत-जाड्यमान्यादि गुणों में गुणगुणी (समवाय) सम्बन्ध से लक्षणा कर दी जाय और उसी सम्बन्ध से जाड्यमान्यादि गुण विशिष्ट वाहीक है, यह लक्ष्यार्थ समझ लिया जाय ।^१ इस प्रकार गोपद से लक्षित जाड्यमान्यादि गुण ही गोपद के वाहीक अर्थ में प्रयुक्त होने के निमित्त बन जाते हैं अर्थात् गो शब्द से लक्षणा के द्वारा पहले जाड्यादि गुणों की उपस्थिति होती है, अनन्तर अनिधा से ही वाहीक अर्थ का बोध होता है ।

किन्तु यहाँ कुछ अरचियाँ हैं । पहली तो यह कि गोपद का वाहीक में संकेत न-होने से अनिधा के लिये यहाँ कोई अवकाश नहीं । दूसरी अरचि यह है कि जाड्यादि गुण स्वतंत्र लक्ष्य हैं अतः वे गोपद के वाहीक अर्थ में प्रवृत्ति के निमित्त होने में समर्थ नहीं हो सकते । तीसरी यह कि गो में रहने वाले जाड्यादि गुणों का आश्रय वाहीक वैसे ही सकता है ! अतः इसका दूसरा समाधान यह दिया गया कि गो पद की लक्षणा गोगत जाड्यमान्यादि से अनिधाय वाहीक गत जाड्यमान्यादि गुणों में करके गुणी वाहीक का उनके साथ समवाय सम्बन्ध के द्वारा बोध हो जाता है ।^२ पर यहाँ पर भी अरचि यह है कि इस प्रकार गुणों में गोगत एवं वाहीकगत भेद-बुद्धि स्थापित हो जाती है । फिर गो एवं वाहीक के एक धर्मों का बोधक न होने से 'गौर्वाहीकः' में उनका सामानाधिकरण्य नहीं बन सकेगा । अतः तृतीय समाधान यह प्रस्तुत किया गया है कि जाड्यमान्यादिविशिष्ट गो पद की जाड्यमान्यादिविशिष्ट वाहीक अर्थ में लक्षणा करेंगे । दोनों के बीच साधारण गुणाश्रयत्व ही सम्बन्ध होगा और इस प्रकार लक्षणा बन जायगी ।^३ अर्थात् गो का वाच्य जाड्यमान्यादिविशिष्ट गो एवं लक्ष्य अर्थ जाड्यमान्यादिविशिष्ट वाहीक होगा । समान गुण के दोनों आश्रय हैं, अतः यही उनका परस्पर का सम्बन्ध है ।

इसी प्रकार 'वृशाङ्गाः सन्तापं वदन्ति विमिनीपत्रगयन्तम्' (वमलिनी के पत्तों की गंधा ही उस वृशाङ्गी के सन्ताप की अधिकता को बता रही है) इत्यादि उदाहरणों में 'वदन्ति' पद

१. अपरिह स्वार्थसहचारिणो गुणा जाड्यमान्यादयो लक्ष्यमाणा अपि गोशब्दस्य परार्थानिधाने प्रवृत्तिनिमित्तत्वमुपयान्ति इति केचित् । —वाच्यप्रकाश, पृ० ४९, पृ० १ ।
२. स्वार्थसहचारिणो गुणाभेदेन परार्थगता गुणा एवं लक्ष्यन्ते न परार्थोऽभिधीयन्ते इत्यप्ये । —वाच्यप्रकाश, पृ० ४९, पृ० १ ।
३. साधारण गुणाश्रयत्वेन परार्थ एव लक्ष्यते इत्यपरे । —वही, पृ० ४९ ।

के विरुद्ध प्रयोग के आधार पर 'प्रकटयति' अर्थ अनुमान में ही निकलता है। क्योंकि अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्तिनिरचयपूर्वक हेतु से साध्य की प्रतीति, एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति-रूप अनुमान ही है।^१ उक्त उदाहरण में 'वदति' का अर्थ वाक्य में ठीक नहीं बैठता क्योंकि शैया के निर्जीव होने से उसमें वदनात्मक सचेतन का धर्म कदापि सम्भव नहीं। अतः कथन का बाध होने से उससे प्रकाशन अर्थ ही निकलता है। इसीलिये यहाँ लक्षणा मानी गयी है कि शयन के अचेतन होने में यहाँ तत्कृतवचनरूपी अन्वय की अनुपपत्ति होती है, और इन प्रकार मुख्यार्थ का बाध होने पर सादृश्य सम्बन्ध से वदन पद का प्रकाशन या प्रकटीकरण अर्थ में लक्षणा होती है, जिनका प्रयोजन नायिका के सन्तान की स्फुटीकरण प्रतिपत्ति है।^२ महिममूढ का कहना है कि—वदति आदि में उनके मुख्य अर्थ कथयति में निम्न प्रकाशयति अर्थ की जो प्रतीति होती है वह इन दोनों वदन् और प्रकाशयति अर्थों में कार्यकारणभाववृत्त ही है। वदन अर्थात् कथन से ही किन्हीं वस्तु का प्रकाशन होना है अतः प्रकाशन वदन का कार्य होना है ऐसी ही प्रतीति है। यहाँ कार्यकारणभाव दोनों के बीच अविनाभावसम्बन्धरूप व्याप्ति का निरचायक होता है। यदि यह कहे कि जब जड़मैया में वदन की क्रिया सम्भव है तो वदति का प्रकाशयति अनिश्चय अर्थ ही क्यों नहीं है। इनका खण्डन करते हुए कहते हैं कि सकेतग्रह के अभाव में वदन का प्रकाशन अर्थ अनिश्चय नहीं माना जा सकता। इस पर यह कहा जा सकता है कि घट और कलश के समान 'वदति' क्रिया भी प्रकाशयति का अपरपर्याय हो सकती है और सकेतग्रह के अभाव में भी वदति का प्रकाशयति अर्थ बिना किसी बाधा के निकलने लगता है। यह कथन भी इसलिये ठीक नहीं कि प्रकाशन, स्वरूप एवं प्रकार उभयतः वदन से सर्वथा निम्न होता है। फिर भी यदि दोनों को एक-दूसरे का अपरपर्याय मानने लगे तो नील, पीत आदि गुणों के एककारण होने से ये भी एक-दूसरे के पर्याय हो जायेंगे और इन दोनों में परस्पर भेद की प्रतीति नहीं होगी। यदि यह कहे कि जैसे अन्योक्तियों में बं तनो का भी वार्तालाप होता है उसी प्रकार यहाँ पर भी वाक्य में व्यवस्था हो जायेगी और वदति का 'स्वार्थमेव प्रतिपादयति' अर्थ होने से वही भी अर्थ का बाध नहीं होगा। तो इनका खण्डन करते हुए कहते हैं कि यह युक्ति यहाँ इसलिये ठीक नहीं है कि अन्योक्तियों में अचेतन में चेतन का अध्यारोप होने से अर्थ की प्रतीति में बाधा नहीं होती। यहाँ पर अचेतन शयन में बिना किसी चेतन के अध्यारोप के कथन क्रिया का होना सर्वथा विरुद्ध है, अतः यहाँ मुख्यार्थ का बाध है, यह मानना ही युक्तिमंगल है ?^३

१. एवं 'कृन्नाङ्गायाः सन्तापं वदति विसिनोपत्रशयनम्' इत्यादावद्वगन्तव्यम् । अविनाभाव-सायपूर्विकाहि अन्यतोऽप्यस्य प्रतीतिः अनुमानमित्यनुमानलक्षणमुक्तम् ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० १११ ।

२. अत्र शयनस्य अचेतनस्य मुख्यार्थवचनकृतत्वान्वयानुपपत्त्या मह्यार्थबाधेन जापनं सादृश्या-लक्ष्यते । स्फुटीकरण प्रतिपत्तिश्च प्रयोजनमुक्तम् ॥ —वाच्यप्रकाश, पंचम उल्लास ।

३. तथाहि वदतीत्यादौ वदनादेः अर्थान्तरस्य प्रकाशादेः प्रतीतिः तनोरच अविनाभावः, कार्यकारणभाववृत्तः प्रकाशनस्त्वदनकार्यत्व प्रतिद्धेः । न च वदतेः प्रकाशो वाच्यः इति शक्यं वक्तुं तस्य तत्र असमितत्वात् प्रकाशस्य च अतत्वात् । न चायं स्वार्थमेव प्रतिपादयति तस्य च बाधोपपत्तेः ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० १११-१२ ।

यदि यह कहें कि वदन् क्रिया का प्रयोग सादृश्यार्थक प्रकाशन नाम के क्रियान्तर में होने से गौणतया अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से वदति का प्रकाशयति अर्थ स्वतः सिद्ध हो जाता है, तो वह अनुमान ही है क्योंकि अर्थापत्ति भी व्याप्तिज्ञानाधीन ही होती है। व्याप्ति-ज्ञानपूर्विका अर्थ प्रतीति होने से अर्थापत्ति का अनुमान में ही अन्तर्भाव इष्ट है। इस प्रकार अन्यथानुपपत्तिरूप अर्थापत्ति से वदन् से प्रकाशन अर्थ की प्रतीति अनुमिति ही है।^१ अतः शब्द में लक्षणासक्ति की बलना व्यर्थ है। अन्य दर्शनों में भी लक्षणा की मान्यता अविचारितानिधान ही है। क्योंकि युगपत् कार्यकारित्वादि शक्ति वा उपर्युक्त लक्षण लक्षणा में वही नहीं सिद्ध होता।

‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादि अन्य स्थलों में भी यही सरणि अपनायी जानी चाहिए। यहाँ गङ्गा पद का मुख्य अर्थ गङ्गाप्रवाह है जो घोष का आश्रय नहीं हो सकता। अतः मुख्यार्थ बाध रूप अन्यथानुपपत्ति होने से सामीप्य या सयोग सम्बन्ध से गङ्गा पद का गङ्गान्त में लक्षणा करने है और उसका प्रयोजन शीनत्व पावनत्वातिशय की प्रतीति मानते हैं। लक्षणा के सहारे वाक्य का अर्थ ठीक-ठीक बैठ जाता है, साथ ही वक्ता के प्रयोग का प्रयोजन भी हल हो जाता है। किन्तु महिममट्ट ने इसे भी पूर्वोक्त प्रक्रिया के अनुसार अनुमान का ही विषय सिद्ध किया है। उनका कहना है कि—‘गङ्गाय घोषः’ इत्यादि स्थलों में गङ्गादि अर्थ से अर्थान्तर तटादि का अनुमान होता है। क्योंकि घोषादि का अधिकरणभाव गङ्गादि के अर्थ में स्वयं बाधित है। अतः उपादान सामर्थ्य से सामीप्यादि सम्बन्धमात्र में गङ्गा का आरोप घोषाधिकरण योग्य एक दूसरी वस्तु तट में करते हैं। बहने का आशय यह है कि जब गङ्गा पद का प्रवाहरूप अर्थ घोष का आधार हो ही नहीं सकता तो गङ्गायां घोषः’ ऐसा प्रयोग ही क्यों किया गया? अतः इस प्रकार के शब्द का प्रयोग इस बात का निमित्त है कि श्रुता उक्त वाक्य में गङ्गा पद का अर्थ वह समझ ले जिसमें घोष के साथ आधाराधेय भाव बन जाय। गंगा प्रवाह से सम्बन्धित सभी अर्थों में तट ही एकमात्र ऐसा है जो समीपतर है तथा जिसमें घोष के साथ आधाराधेयभाव बन जाता है। अतः सामीप्य सम्बन्ध से गंगा प्रवाहरूप अर्थ से तट अर्थ का अनुमान होता है।^२ घोषाधारत्व तो नौका आदि में भी बन सकता था किन्तु उनके साथ गङ्गा प्रवाह का अविनाभाव सम्बन्ध के अभाव में तद्रूपव्याप्ति के न बनने से उनका ग्रहण नहीं होता। लक्षणा की सत्ता स्वीकार करने पर गङ्गा पद की उसी संयोग सम्बन्ध से नौका में लक्षणा कर देने से भी अन्यथानुपपत्ति का परिहार हो जाता है। जहाँ तक प्रयोजन की प्रतीति का प्रश्न है नौका में तट की अपेक्षा शीनत्वपावनत्वादि की उपलब्धि अधिक मात्रा में ही होती है।

१. अयोपचारत उपादानान्यथानुपपत्त्या वदनक्रियायाः सदृशे प्रकाशनाख्ये क्रियान्तरे वदन्ते अर्थे वदतिरित्युच्यते। तद्व्यन्यथानुपपत्त्या वदनादेः प्रकाशादिः प्रतीयमानो अनुमेय एव भवितुमर्हति, अर्थापत्तेरनुमानान्तर्भावान्युपगमान् इत्युक्तम्। —ध्वनिविवेक, पृ० ११२।
२. ‘गङ्गायां घोषः’ इत्यादावपि गङ्गादयो अर्थाः स्वात्मन्युपपत्तिर्वापिनघोषाद्यधिकरणभावाः तदुपादानसामर्थ्यात् सम्बन्धभात्रपरिचल्पिततटदारीषं तदधिकरणभावोपगमयोग्यमर्थान्तरमेव तटादिरूपं अनुमापयन्ति। —ध्वनिविवेक, पृ० ११३।

आरोप के निमित्त के विषय में आचार्य का कहना है कि—सादृश्य ही एकमात्र तत्त्वारोप का निमित्त नहीं होना अपितु सम्बन्धादि अनेक निमित्त हो सकते हैं। अतः गङ्गा सम्बन्ध-मात्र से आरोपित गङ्गात्व से युक्त तटादि ही घोषादि के अधिकरण के रूप में विहित हुए हैं। इस प्रकार पूर्ववत् अन्यथानुपपत्तिरूप अनुमान से गङ्गादि अर्थों से तटादि अर्थ अनुमेय ही हो सकते हैं।

(घ) गुणवृत्ति लक्षणा की अनुमान में गतार्थता

‘गङ्गाया घोषः’ इत्यादि सभी स्थलों में प्रयुक्त गङ्गादि पद की शक्ति के स्वार्थभिधान मात्र व्यापार में समाप्त हो जाने से वह (गङ्गादि पद) तटादि की वान ही सहन नहीं कर सकते, उनसे सम्बद्ध होकर अर्थबोध कराने का तो प्रश्न ही नहीं उठता। फिर सवाल यह उठता है कि इस प्रकार की विचित्र उक्ति का प्रयोजन ही क्या है कि अन्य शब्द से अन्य अर्थ का बोध किया जाय। इसका उत्तर देते हुए महिममट्ट कहने हैं कि आरोप्य विषय तटादि वस्तु में आरोप्यमाण गङ्गादि वस्तुगत पुष्पत्वशीतलत्वादि धर्म का बोध कराना ही प्रकृत ‘गङ्गायां घोषः’ की उक्ति का प्रयोजन है। पूर्ववत् ‘गौर्वाहीक’ की तरह सादृश्यबोध नहीं। उससे यही इसकी विशेषता है। उभयत्र अनुमेयार्थ का हेतु तत्त्वारोप अर्थान् एक वस्तु में दूसरी वस्तु का आरोप ही है। वह हेतु अभिधेय के साथ सादृश्य, सामीप्य, कार्यकारण-नावादि सम्बन्धों से उपनिबद्ध होकर अनेकविध होना है।^१ कहा भी है—

अभिधेयेन सम्बन्धात् सादृश्यात् समवायतः ॥

वैपरोत्यात् त्रियायोगात् लक्षणा पञ्चधा मता ॥

इस कारिका में लक्षणा के जो पाँच सम्बन्ध माने गये हैं वही अनुमेयार्थ के साथक हेतु हैं।

यहाँ एक और प्रश्न उठता है कि—केवल हेतु साध्यभाव के अवधारण से तो अनुमेयार्थ की प्रतीति सम्भव नहीं। अपितु व्याप्तिग्रह के बिना उक्तकी प्रतीति कैसे हो सकती है? व्याप्तिग्रह के लिये प्रमाण की अपेक्षा होनी है। लक्षणा के उक्त स्थलों में अनुमान की प्रक्रिया मानकर लक्ष्यार्थ को अनुमेय कहने में क्या प्रमाण है? इसका उत्तर देते हुए व्यक्ति-विवेककार कहते हैं कि—तत्त्वारोप का साम्यादि के साथ जो अविनाभाव सम्बन्ध है, वही व्याप्ति है। उसका निरन्तर्य लोक से ही सो जाता है। अतः उनकी सिद्धि के लिये प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं होती। शब्दार्थ-सम्बन्ध के विषय में साध्यसाधनभाव का विवेचन करते हुए उनके मूल में लोक, वेद एवं अध्यात्म नामक त्रिविध प्रमाणों की सत्ता का निरूपण पहले

१. न हि तत्सादृश्यमेवैकं तत्त्वारोपनिबन्धनमिष्यते, किं तर्हि, तत्संबन्धादिरपि, इति तत्सम्बन्ध-मात्रसमारोपिततद्भावः तटादिरेव घोषाद्यधिकरणभावोपादानान्यथानुपपत्त्या गंगादीना-मर्थानामनुमेय एव भवितुमर्हति।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ११३।

२. शब्दः पुनः स्वार्थभिधानमात्र-व्यापारपर्यवसितसामर्थ्यो नार्थान्तरस्य तटादेः वार्तामपि वेदितुमुत्सहने, किं पुनः संस्पृशमित्युक्तम्। प्रयोजनं पुनरस्य एवं विधस्य उक्तिवैचित्र्य-परिग्रहस्य तटादावारोपविषये घस्तुनि आरोप्यमाणगंगादिगतपुष्पत्वशीतलत्वादिधर्म-प्रतिपत्तिः न सादृश्यमिति पूर्वस्मादस्य विशेषः। उभयत्रापि च तत्त्वारोपएव हेतुः। स हि तत्साम्यतत्सम्बन्धादिनिबन्धनत्वाद् बहुविध इष्टः ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ११४।

ही किया जा चुका है । तन्मूलक ही व्याप्तिग्रह होता है । अतः लोक में जो रटियाँ या परम्पराएँ प्रचलित हैं वही वे साधारण धर्म हैं जिनके आधार पर व्याप्ति का ग्रहण हो जाता है । देखा जाता है कि लोग किमी वस्तु का उसके सदृश या तत्सम्बन्धित दूसरी वस्तु के नाम से व्यवहार करते हैं । उदाहरणस्वरूप—शीर्षप्रोव एवं विकटकाय किसी व्यक्ति को देखकर उसे ऊँट या हाथी कहकर प्रायः सम्बोधित किया जाता है । तथा किसी के मचान पर चिल्लाने से 'मंचाः श्रोशन्ति' ऐसे प्रयोग लोक में बहुधा होते हैं ।^१

इस प्रकार जो अर्थ सकेतग्रह का विषय नहीं हैं उसकी प्रतीति मुख्यतया न होकर गौणतः या उपचारतः होती है । इस गुणवृत्ति का, जिसे अन्य आचार्यों ने उपचार वृत्ति या लक्षणा की संज्ञा दी है, महिमनट्ट ने अनुमान में ही अन्तर्भाव किया है । उपर्युक्त विवेचन का उपसंहार करते हुए उन्होंने कहा है कि इस उपचार वृत्ति के स्थलों में शब्द में अति-व्याप्ति दोष न हो इसके लिये किसी न किसी निमित्त का माध्यम अवश्य होना चाहिए । अर्थान्तर की प्रतीति में किमी निमित्त का माध्यम स्वीकार न करने पर शब्द अपने संकेतित अर्थ से भिन्न किसी अर्थ की प्रतीति बिना किमी सम्बन्ध या निमित्त से कैसे कर सकता है? अतः यह सिद्ध हो गया कि शब्द जब कभी किमी असंकेतित अर्थ का प्रत्यायक होता है तो उसका कुछ न कुछ निमित्त अवश्य होता है । जो निमित्त होता है उनी को व्यक्तिविवेकार ने लिग की संज्ञा दी है । यह ठीक भी है; क्योंकि अर्थान्तर के प्रत्यायन में शब्दव्यापार का सर्वथा अभाव इसलिये होता है कि अर्थान्तर में शब्द के साथ सकेतग्रह जैसा कोई सम्बन्ध नहीं होता । इसी निमित्तरूप लिग से अर्थान्तर-साध्य की प्रतीति को अनुमान नहीं तो और क्या कहेंगे ? अतः गुणवृत्ति अर्थात् लक्षणा से अर्थान्तर लक्ष्यार्थ की प्रतीति शाब्दी बयमति नहीं होती । उक्त विवेचन से यह सिद्ध हो गया कि अर्थान्तर की प्रतीति वाचकाशय नहीं होती ।

मुकुल नट्ट ने भी लक्षणा को अर्थ का ही व्यापार माना है । उनका कथन है कि अभिधा के दो व्यापार होने हैं—मुख्य और लाक्षणिक । मुख्य शब्द का व्यापार होता है और लाक्षणिक अर्थ का । अतएव शब्दव्यापार से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह मुख्य तथा अर्थ व्यापार से प्रतीत होने वाले अर्थ को लक्ष्य या गौण भी कहते हैं । लक्ष्य की प्रतीति शब्द-व्यापार से ज्ञायमान अर्थ के पर्यालोचन से होती है ।^२

१. तस्य च तैरविनाभावनिषमो लोकेत एवावसित इति न तत्र प्रमाणान्तरापेक्षाप्रयासः । लोको हि तत्सदृशमर्थं तत्सम्बद्धं च तत्त्वेन व्यवहरन् दृश्यते, तद्यथा—शीर्षप्रोवं विकटकायं च क्वचित् पश्यन् करन इति व्यपदिशति, यत्र सम्बद्धांश्च वादिचत् शोशतो मंचाः श्रोशन्तीनि ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ११५ ।

२. शब्दव्यापारतो यस्य प्रतीतिस्तस्य मुख्यता ।

अर्थावसेयस्य पुनर्लक्ष्यमाणत्वमच्यते ॥१॥

शब्दव्यापाराद्यस्यावगतिस्तस्य मुख्यत्वम् ।..यस्य तु शब्द—

व्यापारावगम्यार्थपर्यालोचनपावगतिस्तस्य लाक्षणिकत्वम् ।

मुकुल_भट्ट; अभिधावृत्तिमानुषा; कारिका १ एवं उक्त पर वृत्ति ।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर कि लक्षणा नामक वृत्ति शब्दवृत्ति नहीं अपितु अर्थ का ही व्यापार है उसका अनुमान में अन्तर्भाव इसलिये साधित हो जायेगा कि अनुमान एक व्यापक विषय है जिसमें गुणवृत्ति जैसे उन तत्त्वों का अन्तर्भाव हो जाता है जो अल्प-विषय होने हैं । अतः जब-लक्षणा नामक शब्द-व्यापार का खण्डन हो गया जिसकी सत्ता मोक्षसादि दर्शनों में भी स्वीकृत की गई है तो व्यंजना नामक शब्द-व्यापार की सिद्धि तो इसलिये भी और दूरोपेत है कि व्याकरण एवं दर्शन के किसी भी सिद्धान्त में उसकी मान्यता नहीं है । इसी उपर्युक्त विवेचन को ग्रन्थकार ने निम्नलिखित कारिकाओं में सगृहीत कर दिया है—

यः सतत्त्वतमारोपस्तत्सम्बन्धनिबन्धनः ।

मुह्यार्थेबाधे सोऽप्यार्थं सम्बन्धमनुमापयेत् ॥४६॥

किसी वस्तु पर दूसरी वस्तु का जो आरोप है उसका आधार उन दोनों वस्तुओं का परस्पर का सम्बन्ध ही होता है । मुह्यार्थ का बाध होने पर उसी तत्वारोप के द्वारा उक्त सम्बन्ध की अनुमिति होती है जो सम्बन्ध अर्थ से सम्बन्धित होता है ।

तत्ताम्पतत्सम्बन्धौ हि तत्वारोपेकारणम् ।

गुणवृत्तेर्द्विरुपायास्तत्प्रतीतिरतोऽनुमा ॥४७॥

किसी वस्तु पर दूसरी के आरोप का एकमात्र कारण दोनों वस्तुओं का साम्य या उनका परस्पर का सम्बन्ध होता है । क्योंकि गुणवृत्ति के ये दो प्रकार होने हैं अतः उससे होने वाली प्रतीति को अनुमिति ही कहना चाहिए ।

मुह्यवृत्तिपरित्यागे न शब्दस्योपपद्यते ।

विहितोऽर्थान्तरे ह्यर्थः स्वताम्पमनुमापयेत् ॥४८॥

इसका एक कारण यह भी है कि शब्द के लिये यह सम्भव नहीं कि वह अपने मुख्य व्यापार अर्थात् सर्वथा परित्याग कर दे । फिर एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति का विधान उन अर्थ के द्वारा अर्थान्तर से अपने सादृश्य की अनुमिति करा देने के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

तुल्यादियु हि लोकोऽर्थेष्वर्थं तद्दर्शनस्मृतम् ।

आरोपयेन्न शब्दस्तु स्वार्थमात्रानुपायिनम् ॥४९॥

किसी वस्तु को देखकर लोगों को उसके समान ही किसी अन्य वस्तु की स्मृति स्वतः ही आती है; फिर लोग उस दृष्ट वस्तु में तत्सदृश वस्त्वन्तरका आरोप करने लगते हैं, अर्थात् आरोप एक वस्तु में अन्य वस्तु का होता है; किसी अर्थ में अर्थान्तरका होता है, न कि शब्द का अर्थ में । शब्द तो अपने प्रतिपाद्य अर्थ का अनुगमन मात्र करता है क्योंकि वह केवल अपने सकेतित अर्थ का ही बोध करा सकता है, अन्य का नहीं ।

इत्यमर्थान्तरे

शब्दवृत्तेरनुपपत्तितः ।

फले लिङ्गकाम्ये स्यात् वृत्तः शब्दः स्वतद्गतिः ॥५०॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीति से अर्थान्तर के बोध के विषय में शब्द-शक्ति असमर्थ है अर्थात् शब्द-शक्ति के द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति नहीं कराई जा सकती । पर लिङ्गालिगी भाव (हेतुमाध्यमात्) से वही शब्द अपने वाच्य अर्थ के माध्यम से उस प्रयोजन की प्रतीति करा सकता है जिसकी अभिव्यक्ति के लिये तत्वारोप का आश्रय लिया गया होता है । कहने

का आशय यह है कि जिस प्रयोजन फल को ध्यान में रखकर लक्षणा का आश्रयण विदा जाता है उसकी प्रतीति कराने में शब्द की गति स्खलित नहीं होती । क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति तो शब्द के तत्वारोपात्मक उस विशेष प्रकार के प्रयोग के कारण ही होती है ।

व्यापारोऽर्थे ध्वनेः साक्षान्मुण्या वृत्तिरदाहृता ।

अर्यारोपानुगस्त्वेष गौणी तद्व्यवधानतः ॥५१॥

ध्वनि अर्थात् शब्द का अर्थ की अनिव्यक्ति में जो साक्षाद् व्यापार है उसे ही मुख्य-वृत्ति कहा गया है । एक अर्थ में दूसरे के आरोप के बाद के व्यापार को गौणी वृत्ति के नाम से कहा जाता है क्योंकि उसके और शब्द के बीच में अर्थ का व्यवधान बड़ा जाता है ।

आशुनाभावनालक्ष्यं किन्त्वर्यारोपमन्तरा ।

लोको गौश्चैत्र इत्यादी शब्दारोपमवस्यति ॥५२॥

किन्तु एक अर्थ पर दूसरे अर्थ के आरोप की प्रक्रिया इतनी सूक्ष्म है कि लक्षित नहीं होती, अतएव लोग 'गौश्चैत्र' (चैत्र वैल है) इत्यादि स्थलों में शब्द का ही आरोप समझने लगते हैं ॥५२॥

प्रधानैतरभावेनावस्थानादर्थशब्दयोः ।

समशीर्षिकयारोपो न तयोरुपपद्यते ॥५३॥

अर्थ में शब्द का आरोप हो भी नहीं सकता । क्योंकि जयं प्रधान और शब्द संबन्धी गौण होता है । आरोप तो तदा समनाव में होता है, मुख्य गौणनाव में वदापि नहीं ॥५३॥

आरोपविषये यत्र विशेषः सम्प्रतीयते ।

अर्यावारोपितात् तत्र गुणवृत्तिरदाहृता ॥५४॥

गुण-वृत्ति का स्थल वही माना गया है जहाँ आरोपित अर्थ से आरोप-विषय अधिक गुणशाली हो या उसमें वैशिष्ट्य की प्रतीति होती हो ॥५४॥

गुणवृत्ती गिरां यावत् सामग्रीष्टा निवन्धनम् ।

सैव लिङ्गतयास्माभिरिष्यतेऽर्थान्तरं प्रति ॥५५॥

गुणवृत्ति लक्षणा में जिसे वाणी या शब्द का व्यापार कहा जाता है, मुख्यार्थवान, मुख्यार्थ से सम्बन्ध एव रटि-प्रयोजनान्यतर रूप जिन सामग्री का होना अनिवार्य माना जाता है, हम उसी सामग्री को अर्थान्तर की प्रतीति के प्रति लिए (साधक हेतु) मानते हैं ॥५५॥

न हि तत्समयाभावाद् वाच्यं शब्दस्य कल्पते ।

प्रतीयमानतायां च व्यक्तमस्थानुमेयता ॥५६॥

उन अर्थान्तर को शब्द का वाच्य इमलिये नहीं कह सकते कि वह भवेतिन नहीं होता । यदि उसे प्रतीयमान कहते हैं तो वह स्पष्टतया अनुमेय ही है क्योंकि जिन प्रतीयमान को व्यंग्य की संज्ञा दी जाती है उसकी अनुमेयता सिद्ध हो चुकी है ॥ ५६॥

तस्मात्स्वार्थातिरेकेण गतिर्नार्यान्तरे गिराम् ।

वाचकत्वाश्रयेणातो गुणवृत्तेरसम्भवः ॥५७॥

इमलिये शब्दों में अपने मकेतिन अर्थ की अनिव्यक्ति कराने के अनिश्चित और कोई शक्ति होती ही नहीं । अतः तत्प्रायदिन गुण-वृत्ति लक्षणा का आश्रयवाचक शब्द कथन ही नहीं हो सकता ॥५७॥

(इ) आर्यों व्यञ्जना की असम्भाव्यता एवं अनुमानरूपता

शब्दशक्ति-विवेचन के अवसर पर यह सिद्ध हो चुका है कि शब्द में अभिधा के अतिरिक्त व्यापारान्तर का सर्वथा अभाव होता है। लक्षणा एवं शाब्दी-व्यञ्जना के उदाहरण देकर हम बात की पुष्टि भी कर दी गई है कि अर्थान्तर की प्रतीति में शब्द कथमपि कारण नहीं होता। अपितु अर्थ ही वह तत्त्व है जो प्रकरणादिवश अर्थान्तर की प्रतीति कराने में समर्थ होता है। इस पर यह कहा जा सकता है कि शाब्दी व्यञ्जना की अनुपपत्ति होने से उसकी भाव्यता का खण्डन मान्य हो नगता है। किन्तु वाच्य के अर्थान्तर के व्यञ्जक होने से आर्यों-व्यञ्जना को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। अतः व्यञ्जना नाम की वृत्ति के बिना काम नहीं चल सकता। इसका उत्तर व्यक्तिविवेककार देते हैं कि—प्रकाशमान् सत् या असत् अर्थ का, ऐसे प्रकाशक के द्वारा जो सम्बन्ध-स्मरणादि की अपेक्षा नहीं रखना, सहभाव से प्रकाशन ही अभिव्यक्ति अर्थान् व्यञ्जना है।^१ प्रकाशक दीपादि वस्तु पर पदार्थ के संबन्ध की गवेपणा नहीं करते। उनका तो केवल प्रकाशनमात्र व्यापार है। जिस समय प्रकाशक का ज्ञान हो उसी समय प्रकाश्य-वस्तु का बोध होना ही ध्वनि का स्वरूप है। सत् अर्थ तीन प्रकार का होता है। एक तो कार्य रूप से कारण में विद्यमान, जैसे मृत्तिका में घट, बीज में वृक्षादि एव दुग्ध में दधि। दूसरा पूर्वोत्पन्न किन्तु अन्यकारादि प्रतिबन्धक वश अप्रकाशित, जैसे दीपक से घट। तीसरा संस्कारात्मक, जैसे घूमवहिन साहचर्य नियम से घूम को देखकर वहिन के अनुमान का कार्य। इन तीनों की अभिव्यक्ति भी तीन प्रकार से होती है।^२

मृत्तिका अथवा बीज आदि कारण में अर्थ, शक्ति के रूप में अन्तर्निहित रहता है। उसका इन्द्रियगोचरात्मक आविर्भाव ही प्रथम प्रकार की अभिव्यक्ति है। यथा क्षीरादि कारणावस्था में निरोद्ध दध्यादि अर्थ की उस रूप में अभिव्यक्ति होती है तो उसका साक्षात्कार सभी कर सकते हैं। कुछ लोग इस अभिव्यक्ति को कार्यजनक रूप शक्ति का ही आविर्भाव कहते हैं। क्योंकि वह कार्य को शक्ति के रूप में कारण में विद्यमान नहीं मानते। जिस प्रकार मृत्तिका में विद्यमान घट का आविर्भाव ही उत्पत्ति है, उसी प्रकार कारण रूप में विद्यमान तत्त्वों का आविर्भाव ही उत्पत्ति या अभिव्यक्ति के नाम से विवक्षित है।^३ ध्वन्य की इस प्रकार से अभिव्यक्ति तो कदापि नहीं मानी जा सकती, न ध्वनिकार को ही यह इष्ट है।

अभिव्यक्ति का दूसरा प्रकार यह है कि कार्य का आविर्भाव या उसकी उत्पत्ति तो पहले हो चुकी हो किन्तु किसी प्रतिबन्धकवश वह प्रकाशित न हो पाता हो, उसका किसी प्रकाशक के द्वारा प्रकाशन होता है। ऐसे स्थलों में प्रकाशक सर्वदा गौण रहता है। क्योंकि कार्य को

१. नापि वाच्यप्रतीयमानयोर्भूत्ववृत्त्या ध्वन्यव्यञ्जकभावः सम्भवति, व्यक्तिलक्षणानुपपत्तेः।

तथा हि सतोऽसत् एव कार्यस्य प्रकाशमानस्य सम्बन्धस्मरणावधिप्रकाशकेन सहैव प्रकाशावियमनापत्तिरभिव्यक्तिरिति तत्तत्क्षणमावक्ष्ये। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७६।

२. तत्र सतोऽभिव्यक्तिः त्रिविधा, तस्य त्रैविध्यात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

३. तदकारणात्मनि कार्यस्य शक्त्यात्मनावस्थानात् निरोद्धस्येन्द्रियगोचरत्वात्पत्तिलक्षण आविर्भाव एका, यथा क्षीराद्यवस्थायां दध्यादेः। तथावस्थानानुपपत्तेः तु संबोध्यतिरित्युच्यते कैश्चित्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

उत्पत्ति तो किसी अन्य कारण से पूर्वतः ही हुई रहती है। प्रकाशक केवल उसके प्रतिबन्ध को दूर भर कर देता है। दूसरी बात यह है कि वस्तु या कार्य वा यह प्रकाशन, प्रकाशक के ज्ञान के साथ-साथ उसी प्रकार होता है। जिस प्रकार दीपक घट को उत्पन्न नहीं करता अस्तित्व मूर्त्तिकारि से उत्पन्न घट की प्रतीति में प्रतिबन्धक अन्धकार को दूर भर कर देता है, साथ ही घट का प्रकाशन भी दीपक के आविर्भाव या प्रकाशन के साथ-ही-साथ होता रहता है, पूर्वोत्तर भाव से नहीं। जतएव वह व्यञ्जक या प्रकाशक है। पूर्वोत्तर भाव में प्रकाशन करने पर वास्तव और प्रकाशक में अन्तर नहीं किया जा सकता।^१ कहा भी है कि अर्थ के पूर्वतः विद्यमान होने पर ही व्यञ्जक अपने ज्ञान के साथ व्यंग्य के ज्ञान का हेतु है। वह व्यञ्जक इतनीलिए है कि अपने बोध के समकाल ही इतर अर्थ का बोध कराता है। अन्यथा पूर्वापर-भाव से अर्थान्तर का बोधक होने पर कारण से व्यञ्जक की निश्चिता ही क्या होगी? ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने भी कहा है कि व्यञ्जक, दीपक के समान अपने स्वरूप का प्रकाशन करता हुआ ही घटादि पदार्थों का अवभासक होने से व्यञ्जक कहलाता है।^२

सत् की अनिव्यक्ति का एक तीसरा भी प्रकार है। किन्ही स्थलों के एक पदार्थ के दूसरे पदार्थ के साथ अव्यभिचरित रूप से सवध का बोध हो जाने पर उनमें से एक पदार्थ के साक्षात्कार या उसके कथन से अनुभूतपूर्व दूसरे अर्थ की सत्त्वात्प्रबोधोपात्मक प्रतीति ही अनिव्यक्ति है; जैसे धूम से अग्नि की अथवा आलेख्य, पुस्तक, प्रतिविम्बानुकरण एव शब्द से गवादि अर्थों की प्रतीति होती है।^३ कहने का आशय यह है कि पर्वतादि पर अविच्छिन्नमूला धूमरेखा को देखकर यदि किसी व्यक्ति को महानसादि में बहुधा, साक्षात्कृत धूम एवं अग्नि के अनिव्यचरित साहचर्य नियम का स्मरण हो जाय और धूम से उस बह्वि की सत्ता की प्रतीति होने लगे जो इन्द्रियगोचर नहीं है, तो यह भी एक प्रकार की अनिव्यक्ति ही है।

असत् अर्थ की प्रतीति तो एकमात्र मूर्त्त के प्रकार से इन्द्रियगोचर की प्रतीति के ममान एक ही प्रकार की होती है।^४ क्योंकि असत् में प्रकारान्तर संभव नहीं।

व्यक्तिविवेककार, अनिव्यक्ति के इन प्रकारों की मीमासा करते हुए कहते हैं कि—
दास्य मे व्यंग्य अर्थ की अनिव्यक्ति का उपर्युक्त लक्षण टीक-टीक घटित नहीं होता। व्यंग्यार्थ की प्रतीति इनमें से न तो प्रथम प्रकार के समान सम्भव है और न द्वितीय प्रकार की अनिव्यक्ति

१. तस्यैवाविर्भूतस्य कृतश्चित् प्रतिबन्धात्प्रकाशमानस्य प्रकाशकेनोपसर्जनीकृतात्मना सदैव प्रकाशो द्वितीया, यथा दीपादिना घटादेः । —व्यक्तिविवेक, पृ०, ७७।

२. तदुक्तम्—स्वज्ञानेनाग्यधोहेतुः मिद्वेष्ट्य व्यञ्जको मतः ।

यथा बोधोऽन्यथानावे को दिशोपोऽस्य कारकान् ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

३. ध्वनिज्ञारेणानुक्तम्—स्वरूपं प्रकाशयन्नेव परार्थान्नासतो व्यञ्जक इत्युच्यते यथा प्रदीने घटादेः । इति । —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

४. तस्यैवानुभूतपूर्वस्य संस्कारात्मनान्तरिपरिवर्तितः कृतश्चित्तव्यभिचारिणोऽर्पितान् तद्व्रतिपादकाद्वा संस्कारप्रयोषणानं तृतीया, यथा घूमाराग्नेः, यथा घातेऽन्युत्तरप्रतिविम्बानुकरणादिभ्यः, शब्दाच्च गवादेः । —व्यक्तिविवेक, पृ० ७७।

५. अनतस्त्वैकप्रकारैव, तस्य प्रकारान्तरामग्नयाद्, यथार्थाशोरादिनेन्द्रवाग्नादेः इति । —व्यक्तिविवेक, पृ० ७८।

के समान ही। क्योंकि उनका लक्षण एवं स्वरूप जो ऊपर बताया गया है, वह व्यंग्यार्थ के साथ रचनात्र भी नहीं घटता। उदाहरणस्वरूप प्रथम पक्ष में इने दध्यादि के समान इन्द्रियगोचर होना चाहिए। व्यङ्ग्यार्थ की इन्द्रियगोचरता ध्वनिकार को भी इष्ट नहीं है। अतः अभिव्यक्ति के प्रथम प्रकार को व्यक्ति मानने से वह भी सहमत नहीं होंगे। द्वितीय प्रकार ध्वनिकार को अवश्य मान्य है। किन्तु उसे वैसा ही स्वीकार करने पर दीपक से घटादि-अर्थ की समकाल-प्रतीति के समान वाच्य से ध्यम्य की भी एक कालावच्छेदेन प्रतीति होनी चाहिए, जो होती नहीं। ध्वनिकार ने अनेक स्थलों पर स्पष्टतया कहा है कि वाच्य और व्यङ्ग्य में भेद का एक मुख्य कारण यह भी है कि व्यङ्ग्य की प्रतीति वाच्यार्थपूर्विका होती है, युगपत् नहीं। जिस प्रकार पदार्थ-ज्ञान, वाक्यार्थ-ज्ञान का कारण है और उसके अनन्तर ही वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, उन्ही प्रकार उक्त प्रतीयमान वस्तु की प्रतीति वाच्यार्थबोध के अनन्तर ही होती है।^१ व्यक्ति-विवेककार का कथन है कि व्यक्ति के उपर्युक्त दोनों भेदों में किसी भी प्रकार वाच्यार्थ के द्वारा व्यङ्ग्यार्थ की युगपत् प्रतीति सम्भव नहीं। इन प्रकार जो लक्षण लक्ष्य-वस्तु के स्वरूप का स्पर्श तक न करे वह उसके साथ घट सकेगा, यह कदापि नहीं माना जा सकता। किसी भी वस्तु या विषय का लक्षण ऐसा नहीं होना चाहिए जो लक्ष्य-वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ही संस्पर्श न करे।^२

उपर्युक्त प्रकार से व्यक्ति के आद्य दोनों प्रकारों के न घटने पर, तृतीय संस्कारात्मक प्रकार ही शेष बचता है जिसके अनुसार घूम से बहिन की प्रतीति होती है। इसे ही व्यक्ति का लक्षण कहा जा सकता है और वह अनुमान ही है। कहने का आशय यह है कि सत् के तीसरे प्रकार की जो अभिव्यक्ति है उसका विवेचन करने पर वह अनुमान का ही लक्षण घटित होनी है व्यञ्जना का नहीं। कहा भी है कि त्रिरूप लिय से लिंगी अनुभव का जो ज्ञान है वह अनुमान ही है। यहाँ पर भी वाच्यार्थरूप हेतु से व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति अनुमान के अनिश्चिन् और किसी भी प्रतिया से सन्नव नहीं। उपमान आदि से जो अर्थान्तर की प्रतीति होनी है वह भी अनुमानमूलक ही है। क्योंकि उपमानादिका भी अन्तर-अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है।^३ कहा भी है कि अन्य वस्तु को देखकर उसमें भिन्न वस्तु की उपमानादि में कल्पना उचित नहीं। नान्तरीयकता

१. यथा पदार्थद्वारेण वाच्यार्थः सम्प्रतीयते ।

वाच्यार्थपूर्विका तद्वत् प्रतिपत्तस्य वस्तुनः ॥ —ध्वन्यालोक, का० ११० ।

यथा हि पदार्थद्वारेण वाक्यार्थबोधमस्तथा वाच्यार्थप्रतीतिपूर्विका व्यङ्ग्यार्थस्य प्रतिपत्तिः ।

—ध्वन्यालोक-वृत्ति ११० ।

२. न घेतल्लक्षणं वाच्ये सङ्गच्छते । तथा हि—सतोऽभिव्यक्तिराद्ययोर्यथोर्लक्षणं न तत्प्रतीयमानेऽप्येकमपि संस्पृष्टं धनते तस्य दध्यादेरिवेन्द्रियदियनवापत्तिप्रसङ्गाद् घटादेरिव वाच्यार्थसहभावेनेकताप्रतीतेरसम्भवान् । न च स्वरूपार्थस्यैव लक्षणं भवति ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७८ ।

३. तृतीयस्थास्तु यत्लक्षणं तदनुमानस्यैव संगच्छते, न व्यक्तेः । यदुक्तं—'त्रिरूपान्तिलगाद्यदनुमेये ज्ञानं तदनुमानमिति ।' तद्वचनानुमानमेव । न ह्यर्थान्तरप्रतीतिरनुमानानन्तरेण अर्थान्तरनुपपद्यते । उपमानादीनां च तर्नवान्तर्भावात् । —व्यक्तिविवेक, पृ० ७८ ।

अर्थात् अवश्यंभाविता की दशा में ही अन्य से अन्य की कल्पना युक्त होती है। सादाकृत वस्तु-विशेष उसी प्रकार की दूसरी वस्तु के सन्निधान का साक्षात् बोध नहीं कराता अपितु सादृशादि किसी न किसी सम्बन्ध के माध्यम से ही वह दूसरी वस्तु का बोध कराने में समर्थ होता है। नियम भी है कि एक सम्बन्धी का ज्ञान दूसरे सम्बन्धी का स्मारक होता है। आकर ग्रंथ का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि सामान्य सम्बन्धी के द्वारा अर्थ की प्रतिपत्ति ही अनुमान का लक्षण है। अतः शब्द एवं अनुमान दो प्रमाण ही वास्तव में प्रमाण हैं।^१ वाच्यार्थ से अर्थान्तर की प्रतीति अविनाभाव सम्बन्ध रूप व्याप्ति के स्मरण के बिना संभव नहीं। अन्यथा बिना किसी निश्चित सम्बन्ध के ही अर्थान्तर की प्रतीति मानने पर, एक ही अर्थ से सभी प्रकार के अर्थान्तरों की प्रतीति होने से दोष होगा। वाच्य से अर्थ की सहभावेन प्रतीति भी सम्भव नहीं। अपितु घूम से अग्नि की प्रतीति के समान ही वाच्य एवं व्यङ्ग्य की प्रतीति में भी अभाव का ज्ञान अवश्य होता है। व्यक्ति के उपर्युक्त लक्षण में इसका अभाव होने से उसमें असंभव दोष की प्रसक्ति होती है।^२

यदि यह कहें कि वाच्य एवं व्यङ्ग्य के सहभावेन प्रकाशित होने का विधान रसादि व्यङ्ग्य को लेकर ही है तो व्यक्ति के उपर्युक्त लक्षण में व्याप्ति दोष आपतित होगा। क्योंकि तब वस्तुध्वनि एवं अलंकारध्वनि के स्थल व्यञ्जना का विषय होने से वचित रह जायेंगे। क्योंकि उनका प्रकाशक के साथ सहभावेन प्रकाशन कदापि संभव नहीं।^३ रसादि में भी विनावादि के साथ सहभावेन प्रकाशवत्ता संभव नहीं। क्योंकि विनावादि रसादि के कृत्रिम कारण हैं। बाव्यरमानुमति में रत्यादि भी वास्तव में विद्यमान नहीं होते। कृत्रिम विभावादि से प्रतिबिम्ब-कल्प रत्यादि का जब कवियों की वाणी द्वारा प्रकाशन होता है तो वह स्थायिभाव बड़े जाते हैं और थोड़ा के अनुभव का विषय होने पर एक विशेष प्रकार के चमत्कार का आधान करते हैं। रत्यादि स्थायिभाव ही इस प्रकार सहृदय-हृदय के आस्वाद का विषय होने पर रस बड़े जाते हैं। प्रतिबिम्बकल्प रत्यादिनायं कृत्रिम विभावादि के साथ सहभावेन प्रकाशित नहीं हो सकते। क्योंकि ऐसा मानने पर उनमें निहित कार्य-कारण भाव ही समाप्त हो जायेगा। पहले कारण होता है तब कार्य, ऐसा नियम है। सहभावेन प्रकारान से उनके पूर्वापर के नियम के भंग होने से कार्य-कारण भाव भी भंग हो जायेगा। इसलिए जहाँ पर व्यङ्ग्य से सहभावेन प्रकाशित होने का 'व्यक्ति' (व्यञ्जना) का निर्दिष्ट लक्षण मुख्यतया संभव है अर्थात् जिस स्थल में व्यङ्ग्य

१. यदाहुः—'न चान्यदर्शनेऽन्यकल्पना युक्ता अतिप्रसंगान् । तस्य नान्तरीयकतायां स्यात् । न हि यथाविषयिष्ठः तयाविषयसन्निधानं सूचयति । सामान्येन च संबन्धिनार्यप्रतिपत्तिरनुमानमिति द्वे एव प्रमाणे' इति ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ७९ ।

२. न च वाच्यार्थादर्थान्तरप्रतीतिरदिनागदसम्बन्धस्मरणमन्तरेणैव । सप्तमयति, सर्वस्यापि तत्प्रतीतिप्रसङ्गात् । नापि सहभावेन, घूनाग्निप्रतीत्योरिव तत्प्रतीत्योरपि अभावसंदर्भ संवेदनाद् इत्यसंभवो लक्षणदोषः ।
—अग्निविवेक, पृ० ७९ ।

३. अथ रसाद्यनेशया तयोः सहभावेन प्रकाशोऽभिमत इत्युच्यते, अत्यापिस्तर्हि रसाद्यदोषः । वस्तुमात्रालंकारप्रकाशस्य प्रशासकासहभावेनाव्याप्तेः । —व्यक्तिविवेक, पृ० ७९ ।

की वाच्य के साथ सहभाव से प्रतीति होती है, वह काव्य ही नहीं हो सकता, फिर उसका काव्य-विशेष ध्वनि होना तो दूर की बात है ।^१

प्रकाशक अर्थ दो प्रकार का होता है—उपाधिरूप एवं स्वतंत्र । उपाधिरूप प्रकाशक के तीन भेद होते हैं—ज्ञानरूप, शब्दरूप एवं प्रतीतिरूप । ज्ञानरूप स्वप्रकाश होता है, जो स्व एवं पर भाव से प्रकाशक है । दूसरे प्रकार के प्रकाशक अर्थ धूमादि हैं जो स्वतंत्र होते हैं । इनमें वाच्यादि व्यञ्जक को उपाधिरूप प्रकाशक नहीं माना जा सकता । क्योंकि ऐसा मानने पर प्रत्यक्ष एवं अनिश्चय अर्थ ही काव्य कहे जायेंगे, और व्यञ्जक अर्थ काव्य होने से ही बचिन रह जायेगा, उतका उत्तम कार्य होना तो दूर की बात है । स्वतंत्र रूप से प्रकाशनात्मक दूसरे प्रकार को तो लिंग ही कहना ठीक होगा, व्यञ्जक नहीं । क्योंकि वहाँ व्यक्ति के उस लक्षण की निश्चि नहीं हो सकती जिसका निर्देश ऊपर किया जा चुका है^२ तथा जो ध्वनिकार को भी असोष्ट है ।

यामे स्वयं ध्वनिकार की उक्ति में अन्तर्विरोध का निरूपण करने हुए ग्रन्थकार कहे हैं कि—वस्तुमात्र, अलंकार एवं रमादि व्यञ्जक रूप त्रिविध ध्वनि का प्रकाशक स्वरूप व्यञ्जक के द्वारा सहभावेन प्रकाशन ध्वनिकार को भी अभिमत नहीं है । उन्होंने कहा भी है कि विभावानुभाव व्यभिचारिभाव ही रस है ऐसा जो विनी का कथन है वह भ्रान्तिमूलक है । विभावादि की प्रतीति से अविनाभाविनी रस की प्रतीति होती है, यह सत्य है । किन्तु दोनों की प्रतीति में कार्यकारणभाव अवस्थित रहना है । अतः उनमें क्रम अवश्यभावी है । शीघ्रतावत् वह क्रम प्रकाशित या लक्षित नहीं होता । इसीलिए रसादि व्यञ्जक अनलक्ष्यकम कहे गये हैं ।^३

इन पर पूर्व पक्ष का उद्भावन करते हुए आचार्य महिमनट्ट कहे हैं कि लक्ष्यों में अस-मन्वयरूप दोष के भय से यदि व्यक्ति के लक्षण में सहभाव का अभाव मानते हैं और अनुमान

१. न च रसादिष्वपि विभावादिप्रकाशनसहभावेन प्रकाशनमुपपद्यते । यतस्तरैव कारणादिभिः कृत्रिमविभावाद्यभिधानैरसन्त एव रत्यादयः प्रतिविम्बकल्पाः स्थापिभावव्यवदेशभाजः कविभिः प्रतिपत्प्रतीतिपयमुपनोयमानाः सहृदय-हृदयसंबादादास्वाद्यारवमुपयन्तः सन्ती रसा इत्युच्यन्ते । न च कारणादिभिः कार्यादयः प्रतिविम्बकल्पाः सहैव प्रकाशितुमुत्सहन्ते, कार्यकारण-भावावसायस्यैववसादप्रसङ्गाद् । यत्र तु तल्लक्षणं मुख्यतया सम्भवति तत् काव्यमेव न भवतीति कूत एव तद्विशेषध्वनिरूपता स्थ्यात् । —व्यक्तिविवेक, पृ० ८० ।
२. द्विविधो हि प्रकाशकोऽयं उपाधिरूपः स्वतंत्रश्चेति तत्र ज्ञानशब्दप्रतीतिरुपाधिरूपः, तदुक्तं—‘त्रयः प्रकाशाः स्वपरप्रकाशा’ इति । अन्यः स्वतंत्रो धूमादिः । तत्राद्यस्तावद् भवद्भिर्नान्युपगमन्य एव प्रत्यक्षाभिधेयदोरेवार्ययोः काव्यतापत्तिप्रसंगात् । अन्यस्य तु लिङ्गत्वमेवोपपद्यते न व्यञ्जकत्वं ध्वनितेरनुपपत्तेः । —व्यक्तिविवेक, पृ० ८० ।
३. न च त्रिविधस्यापि व्यंग्याभिमतस्वार्थस्य प्रकाशकसहभावेन प्रकाशस्तस्यापि ध्वनिकार-स्थाभिमतः । यदयमाह—न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः । तत्र एव च तत्प्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेताव-स्थानान् क्रमः अवश्यभावी । सतु लाघवात् प्रकाशन इति अलक्ष्यमा एव सन्ती व्यंग्या रसादय इति । —व्यक्तिविवेक, पृ० ८० ।

में उमका अन्तर्भाव करते हैं तो लक्ष्य का अतिक्रमण कर अलक्ष्य में भी व्यक्ति के लक्षण के जाने से अतिव्याप्ति दोष आपतित होता है। अनुमान में भी उपसर्जनीवृत्तात्म रूप धूमादि से प्रकाश्य अग्नि का प्रकाशन होता ही है। लक्षण में असत् ग्रहण करने से भी अव्याप्ति का निराकरण नहीं हो सकता। क्योंकि प्रदीप से सद् रूप घट की अनिव्यक्ति होती है, असद् की नहीं। अतः पुनः अतिव्याप्ति-दोष पड़ता है। और यदि लक्षण में असद् ग्रहण नहीं करते तो सूर्यालोका एवं इन्द्र-घनुष आदि में अव्याप्ति होती है। क्योंकि जिस प्रकार इन्द्रघनुष आदि अमत् ही होते हैं उन्ही प्रकार व्यक्ति भी असत् ही है।^१ उक्त अव्याप्ति, अतिव्याप्ति दोषों के परिहार के लिए यदि सत्-जसत् दोनों में से किसी का भी लक्षण में उपादान न करें तो उस लक्षण का अनुमान में ही पर्यवसान हो जाता है, व्यक्ति में नहीं। यही हमें इष्ट भी है। वाच्य एवं प्रतीयमान सत् होते हैं और उनके प्रकाशन में क्रम अवश्य ही रहता है। इसीलिए व्यक्ति के निदिष्ट लक्षण में असंभव दोष जहाँ का वही है।^२

उपर्युक्त विवेचन का सारास यह है कि लक्षणा की तरह ही व्यञ्जना भी शब्द की शक्ति होने में समर्थ नहीं। लक्षणा में तत्वारोप (वाच्य पर लक्ष्य का आरोप) निमित्त होता है। वही लिङ्ग है और उससे लिङ्गीनूत साधर्म्य आदि जिन जयों की प्रतीति होती है वे अनुनेत्र ही होते हैं। एक पदार्थ से अन्य पदार्थ का ज्ञान लिङ्ग से लिङ्गी अर्थात् हेतु से साध्य का ज्ञान ही है जिसकी प्रतीति में अनुमान की प्रक्रिया ही काम करती है।

व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना का भी परिष्कार करने पर जो लक्षण बनता है वह अनुमान से सर्वथा अनिष्ट है। किसी भी अर्थ की अनिव्यक्ति कार्य-कारण, प्रकाश्य-प्रकाशक एवं ज्ञाप्य-ज्ञातक, इन तीन भावों से ही सम्भव है। मृत्तिका से घट की उत्पत्ति की तरह कार्यकारणभाव से व्यंग्य अर्थ का प्रकाशन न होता है और न सम्भव ही है। घटप्रदीप न्याय से प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध से भी व्यञ्जना नहीं बन पाती। क्योंकि प्रकाश्य और प्रकाशक की स्थिति एवं प्रतीति एक ही बाल में होती है, वहाँ पूर्वापरभाव अनपेक्षित होता है। अतः दोष तृतीय प्रकार ज्ञाप्य-ज्ञातक भाव से ही व्यंग्य अर्थ की प्रतीति सम्भव मानी जा सकती है जो एक अर्थ से दूसरे अर्थ की प्रतीति कराने वाली अनुमान की प्रक्रिया से सर्वथा अनिष्ट है। अतः अनुमान ही व्यञ्जना है। इन प्रकार व्यक्ति (व्यञ्जना) के लक्षण का परिष्कार एवं उसकी गहन मीमांसा करने पर उक्त अन्तर्भाव अनुमान में ही साधित हो जाता है, फिर व्यञ्जना को अनिव्यक्ति का एक स्वतंत्र प्रकार मानने से क्या लाभ; जब कि अनुमान की प्रक्रिया शास्त्र में पूर्वतः विद्यमान एवं सर्व-मान्य है !

१. अर्थतद्दोषभयात् सहभावानपेक्षमेतल्लक्षणमुच्यते। तत्राप्यनुमाने अतिव्याप्तिः। तत्राप्यनुसर्जनीवृत्तात्मना धूमादिना प्रकाश्यस्य प्रकाशो अस्त्येव। अथ असद् घटणेन सा निरस्तेषु-च्यते तर्हि घटप्रदीपयोस्तस्याव्याप्तिः घटस्य सत्त्वात्। अथासद् घटं न करिष्यते इति तर्हि अर्कालोकेन्द्रचापादी अव्याप्तिः। इन्द्रचापादेरसत्त्वात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ८१।
२. अयोभयोरपि ग्रहणं न करिष्यत इति तदर्थानुमानस्यैव तल्लक्षणं पर्यदस्यति, न व्यक्तेः। तच्चेष्टमेव नः, वाच्यप्रतीयमानयोः सतोरैव च ऋमेर्नैव प्रकाशोपगमात्। तस्मान् तदवश्य एवाप्तमनवो लक्षणदोषः। —व्यक्तिविवेक, पृ० ८१।

इन समूचे विवेचन को आचार्य महिममद्व ने ग्रन्थ-प्रपचन की अपनी विशिष्ट शैली] के अनुसार निम्नलिखित चार संग्रह-कारिकाओं में उपनिबद्ध कर दिया है ।

वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति ध्वंङ्गव्यञ्जकतार्थयोः
तयोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रकाशनात् ॥१।३३॥

वाच्य एव प्रत्येय (ध्वंग्य) अर्थों में व्यञ्ज्यव्यञ्जकभाव नहीं बन सकता अर्थात् वाच्य प्रतीयमान अर्थ का व्यञ्जक नहीं माना जा सकता । क्योंकि प्रकाशक प्रदीप एव उसमें प्रकाशित घट दोनों जिस प्रकार एक साथ भी प्रकाशित होने रहते हैं उसी प्रकार वाच्य एवं प्रतीयमान युगपत् प्रतीति के विषय नहीं हो सकते ॥१।३३॥

पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात् ।
वृक्षत्वाम्रत्वयोर्दृष्टं यद्वृक्षानलधूमयोः ॥१।३४॥
अनुमानत्वमेवात्र युक्तं तल्लक्षणाव्यात् ।

अतः पक्षधर्मता (हेतु धर्म की पक्ष आश्रय में उपलब्धि) के सम्बन्ध से व्याप्ति की निधि की अपेक्षा समाप्त हो जाती है और वृक्षत्व एव आम्रत्व के समान अथवा अग्नि एवं धूम के समान यहाँ भी अनुमेयता ही स्वीकार करना युक्तियुक्त है । इसी में व्यक्ति (व्यञ्जना) के लक्षण का ठीक-ठीक अन्वय बन पाता है ।

असत्श्चेन्द्रचापादेः का व्यवितः कृतिरेव सा ॥१।३५॥
कार्यत्वं दृष्यसतोऽपीष्टं हेतुत्वं न विश्रम्यते ।
सर्वसामर्थ्यविगमाद् गगनेन्द्रीवरादिवत् ॥१।३६॥

इन्द्रधनुष आदि के समान सत् से असत् की प्रतीति को व्यक्ति (व्यञ्जना) नहीं कहा जा सकता अपितु उनके विपरीत उभे उत्पत्ति ही माना जाता है ।

अमन् वस्तु ही कार्य होने की क्षमता रखता है किन्तु वहाँ हेतुता नहीं बन सकती । क्योंकि उनमें हेतु होने की शक्ति कथमपि नहीं है, जैसे आकाश-बुलबुल । यह बुलबुल असत् होते हुए भी कार्य तो है ही । कभी उसमें इतनी ही है कि वह कारण-भाव से व्यवस्थित नहीं हो सकता ।

चतुर्थ-अध्याय

प्रथम-विमर्श

तात्पर्यायं एवं अनुमेयायं

वैयाकरण और मीमांसक शब्दार्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं। उनके अनुसार किसी भी शब्द के उच्चारण के अनन्तर जितने अर्थों की प्रतीति होती है वह सब शब्दव्यापार का विषय है। नैयायिक इसके विपरीत शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सामयिक मानते हैं^१। अतः सञ्चन ही उनके मत से एकमात्र शब्दव्यापार है। इस शब्द से इस अर्थ का बोध करना चाहिए, इत्याचारक-ज्ञान या इच्छा ही मन्वेत है। अतः मन्वेत ही शक्ति है और वह एकमात्र अभिधा ही है। अर्थान्तर की प्रतीति चूँकि सञ्चन से नहीं होती, अतः वह शब्दव्यापार का विषय न होकर अनुमान का विषय है।

इसके अतिरिक्त जानन्दवर्धन आदि आलङ्कारिकों ने व्यंग्यायं या प्रतीयमान रूप के होने का भी विधान किया है और इन प्रकार वाच्यार्थ, लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ नामक शब्द के तीन प्रकार के अर्थों की सत्ता प्रमाणित की है तथा सबको शब्दव्यापार का विषय माना है। महिमभट्ट ने अपने पूर्ववर्ती सभी प्रकार के आचार्यों की शब्दव्यापारविषयक मान्यताओं पर विचार किया है और एकमात्र अभिधा को ही शब्दव्यापार स्वीकार किया है। इनका विवेचन पूर्व-परिच्छेद में हो चुका है। इस अध्याय में हम 'महिमभट्ट कृत मीमांसकों के तात्पर्यायं, आलङ्कारिकों के व्यंग्यायं एवं वञ्चोक्ति के सिद्धान्त का खण्डन एवं उन सबके अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया का निरूपण करेंगे।

(क) विषयक्षय वाक्य की अनुमानरूपता का विधान

अब तात्पर्यवादी उन मीमांसकों के सिद्धान्त का विवेचन करते हैं जो उन बात को बनी स्वीकार नहीं करते कि अभिधा के अतिरिक्त शब्दाश्रित अन्य कोई व्यापार ही नहीं होता और मन्वेतितार्यं से निम्न अर्थों की प्रतीति शब्दाश्रित नहीं बल्कि अर्थोश्रित ही होती है। उनका कहना है कि अनुमितिवादी का यह मत कि अर्थान्तर का प्रदायक अनुमान के अतिरिक्त अन्य कोई व्यापार सम्भव ही नहीं, युक्तियुक्त नहीं है। क्योंकि जिन तात्पर्य को ध्यान में रखकर शब्द का प्रयोग किया जाता है, वही शब्दार्थ है। कहा भी है—यत्परः शब्दः स शब्दार्थः। अर्थात् वचना जिन अभिधाय को मन में रखकर शब्द का प्रयोग करता है वह अभिधाय उन शब्द का वाच्य अर्थ ही है। शब्द में अर्थान्तर के बोध कराने की शक्ति ही नहीं होती, यह बात भी पूर्ववत् युक्तिमग्न प्रतीति नहीं होती। क्योंकि "विषं ग्रथय, मा चाम्य गृहे मुट्कयाः" (विष गा ली पर उनसे घर खाने मन जाओ) उक्ति का यह अर्थ कि 'इसके घर भोजन करना दिव

१. सामयिकः शब्दार्थसम्बन्धः, न तु स्वाभाविकः।—न्यायसूत्र २।१।५६ पर आन्यायननाम् ।

खाने से भी अधिक बुरा है' वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के अतिरिक्त वहाँ से निकलता है। सकेतग्रह के अनाद्य में उक्त अर्थ की प्रतीति अभिधाव्यापारजन्य नहीं मानी जा सकती। फलतः वह अर्थ भी वाच्य नहीं कहा जा सकता। यहाँ वाच्यार्थ तो विधि रूप जयान् 'विष खाओ' है। अतः इस प्रकार अतकेंतित अर्थों की अभिव्यक्ति के लिए अभिधा के अतिरिक्त किसी न किसी शब्द-व्यापार का मानना परम आवश्यक एवं सर्वथा युक्तिसंगत है।

इसी प्रश्न का उत्तर देते हुए महिममदट ने कहा है कि 'विष भक्षण, मा चास्य गृहे नुःक्याः' (विष खा लो पर उसके घर खाने मत जाओ) इत्यादि स्थलों में अर्थान्तर की प्रतीति वाक्य के अर्थ प्रकरणादि के आधार पर ही होती है, साक्षात् शब्द से नहीं। यह वाक्य एक मित्र की उक्ति है। वह व्यक्ति जो उन्नत नहीं है, मित्रादि के प्रति हिन की कामना से वहाँ पर भोजन के निषेध का विधान करता हुआ अकस्मान् विष खाने की आज्ञा या सलाह नहीं देता। अतः वक्ता एवं प्रकरणादि का स्वरूप बोद्धा के ध्यान में है। फिर विषभक्षण की अनुज्ञा से ही वह अनुमान कर सकता है कि उसके घर कथमपि भोजन नहीं करना चाहिए। इन प्रकार विषभक्षण की आज्ञात्प वाक्यार्थ का उपन्यास अप्रासंगिक है जो पूर्वोक्त न्याय से प्रन्तुन से मित्र या विरुद्ध अर्थ के प्रतिपादन में परावण है। अतः उमको ही भोजन के निषेध में हेतु समझना चाहिए। इस तरह वह भी अनुमान का ही विषय है, शब्द से निकला हुआ अर्थ नहीं।

आज यह है कि एक मित्र जब यह कहता है कि विष खाओ बल्कि इसके घर मत जाओ तो वाक्य का अर्थ प्रसंग-विरुद्ध है यह सबको स्पष्ट है। क्योंकि मित्र को ऐसा नहीं कहना चाहिए। लेकिन वह कहता है यह भी सत्य है। यह वाक्यार्थ ही हमें इस बात के लिये वाच्य करता है कि इस वाक्य का कोई अन्य आशय है। अतः वह वाक्यार्थ ही अर्थान्तर की प्रतीति का निमित्त है। यह निश्चय होते ही कि इन अनुचित वाक्यार्थ के कारण ही हमें दूसरे अर्थ की प्रतीति होती है, यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि यहाँ अनुमान की प्रक्रिया ही काम कर रही है। अतः इसे शब्दव्यापार मूलकर भी नहीं कहना चाहिए। इन प्रकार जयान्-नर की यह प्रतीति अर्थी है, तात्पर्यायंनित्तवृत्त नहीं। इसी नाव को निम्नलिखित मन्त्रार्थाओं में व्यक्त किया है :

विषभक्षणोऽपि परामेनद् गृहभोजनस्य दाहणताम् ।

वाच्यादतोऽनुमिते प्रकरण-यन्नु-स्वरूपज्ञाः ॥१॥६७॥

प्रकरण एव वक्ता के स्वरूप को जानने वाले विषभक्षणतामक वा य के वाच्यार्थ से ही अनुमान कर लेते हैं कि वक्ता का अनिप्राय है—इसके घर भोजन करना विष खाने में भी बुरा है।

१. 'विषं भक्षण मा चास्यगृहे नुःक्याः' इत्यादावपि यदेतद्विषभक्षणानुज्ञानं तदर्थप्रकरणादिसहाय-मेतद्गृहे भोजनस्य ततोऽपि दाहणतत्परिणामत्वमनुमापयति । न ह्यनुमत्तः सुहृदादी-हितकामः सन्नस्य यच्चिद् भोजननिषेधं विदधानः अकस्माद्विषभक्षणमनुज्ञानानीत्यव-गतवस्नुप्रकरणोऽद्विस्वरूपः प्रतिपत्ता विषभक्षणानुज्ञानादेव तद्गृहभोजनस्यात्यन्तमकरणीय-त्वमनुमातुमर्हति । विषभक्षणानुज्ञानादेर्वाक्यार्थस्याप्रस्तुतस्यैवोपन्यासो हि पूर्वोक्तेन नयेन प्रस्तुतानिर्विवादात्प्रतिपादनपरत्वान् तत्र हेतुनयान्तव्य इति न शब्दस्य तत्र व्यापारः परिकल्पनीयः ।

विपक्षणमनुमनुते न हि कश्चिदकाण्ड एव सुहृदि सुधोः ।

तेनात्रार्थान्तरगतिसार्या तात्पर्यशक्तिजा न पुनः ॥१॥६८॥

विपक्षणात्मक वाक्य से अन्य अर्थ की अनुमिति इसलिए भी कर लेते हैं कि कोई मन्त्र बिना किसी उचित प्रसंग के विपक्षण की सलाह नहीं दे सकता । इसलिए इस विपक्षणात्मक वाक्य के एक अर्थ (वाच्य) से अर्थान्तर की प्रतीति आर्या ही है तात्पर्य-शक्ति से प्रतिपादित शब्दी नहीं । यहाँ भी अर्थ ही दूसरे अर्थ की प्रतीति का हेतु है न कि मीमांसाको की तात्पर्य-शक्ति जिसका कार्य शब्दार्थों के परस्पर अन्वय द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराना मात्र है ।

(ख) दीर्घदीर्घतर इपुव्यापार का उदाहरण

तात्पर्यवादी कुमारिलनट्ट के ही शिष्य प्रभाकर प्रभृति मीमांसकों के एक दूसरे वर्ग की मान्यता है कि—शब्दोच्चारण के अनन्तर जितने प्रकार के अर्थों की प्रतीति होती है उन सबका निमित्त एकमात्र शब्द ही है । क्योंकि शब्द ही उनके अव्यवहित पूर्व में नियत रहता है । नियत रूप से कार्य के पूर्व होना ही कारण का लक्षण है । 'यावत्तलं तावद् व्याख्यानम्' न्यायसे जहाँ तक कार्य है सब कारण मूलक है चाहे वह दीर्घ, दीर्घतर या दीर्घतम क्यों न हो । चूंकि वाच्य एव अर्थान्तर सबकी प्रतीति शब्दमूलक है अतः शब्द एकमात्र अमिधा में ही सभी प्रकार के अर्थों की अभिव्यक्ति में समर्थ होता है । व्यञ्जना, अनुमिति एवं भोजकत्व आदि व्यापार मानने की कोई आवश्यकता नहीं । अथ च आरब्ध का अन्तगमन ही वृद्धि का लक्षण है । वाच्यार्थ के बोध के लिए प्रवृत्त ज्ञानरूपा अमिधा उन सभी अर्थों का बोधकरा सक्ती है, जिन्हें तात्पर्य, प्रतीयमान, व्यंग्य या अनुमेय आदि पदों से कहा गया है । अतः जिन प्रकार चलवान् व्यक्ति के द्वारा प्रतिन एक ही वाण रिपु के धर्मछेदन, धर्मभेदन और अन्त में प्राणहरण में भी समर्थ होता है उन्हीं प्रकार मुक्तिप्रयुक्त शब्द एकमात्र अमिधाशक्ति से ही स्वार्थानिधान के साध-नाय सभी प्रकार के अर्थान्तरो का भी बोध कराने में सर्वथा समर्थ है ।^१ वह केवल एक वाच्य अर्थ की प्रतीति कराकर ही विरत नहीं हो जाता अपितु तब तक सशक्त बना रहता है जब तक कि विवक्षितार्थ अर्थान् वक्ता के अभिप्राय की पूर्णरूपेण अभिव्यक्ति न हो जाय । अतः शब्द के व्यापार-भेद की कल्पना उचित नहीं । 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' (शब्द जिस परक होता है वही उनका अर्थ है) की उक्ति का प्रयोग इसी अभिप्राय से हुआ है कि इस व्यापार को शब्द का ही मानना न्यायमंगत है- अर्थ का नहीं ।^२ अतः वक्ता का वह मूढातिगूढ़ अभिप्राय भी, जिसको मन में रख कर वह शब्द का प्रयोग करता है, वाच्य ही है ।

१. यदप्यन्ये मन्यन्ते—वाच्यावगमोपक्रमः प्रतीयमानार्थान्तरावसायपर्यन्तोऽप्यनेक एव दीर्घ-दीर्घःशब्दस्वेषोरिच व्यापारः, न पुनरर्थान्तरस्य कश्चित् संवेद्यने । यथा हृषिक एवेयुर्बलवता पनुष्मता मुक्तः शत्रोश्चरदृष्टदमुश्च भित्वा जातिमपहरति, न च तस्य वृत्तिभेदः, तथा शब्दोऽपि सत्कविना सहृत् प्रयुक्त एव क्रमेण स्वार्थानिधानमर्थान्तरप्रतीति संशयं प्रवृत्त्या वितनोति । न च तस्य व्यापारभेदः कश्चित् । —व्यक्तिविवेक, पृ० १२२-२३ ।

२. किञ्च यत्परःशब्दः स शब्दार्थ इति शब्दस्यैवास्तीव्यापारो न्याय्यो नार्थस्येति ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १२३ ।

आचार्य महिमभट्ट ने भाट्ट भीमांसकों के तात्पर्याय के साधक उक्त तर्कों को युक्ति-संगत नहीं बताया। उनका कथन है कि—शब्द साक्षात् रूप से अर्थान्तर की प्रतीति नहीं करा सकता क्योंकि साक्षात् तो वह अपने अर्थ का भी अभिधान नहीं कर पाता। संकेत की सहायता से ही वह स्वार्थमिधान में समर्थ हो पाता है, अन्यथा नहीं। अतः वह शब्द जब अपने वाच्यार्थ की प्रतीति का ही साक्षात् हेतु नहीं होता तो अर्थान्तर की अभिव्यक्ति के प्रति उसमें साक्षात् हेतुता कैसे आ सकती है, जहाँ संकेतग्रह आदि सहायक तत्त्व भी नहीं होते, और 'शब्दबुद्धिकर्मणा विरम्य व्यापारभावः' न्याय से स्वार्थमिधान में ही 'उसकी शक्ति क्षीण हो जाती है' अतः शब्द साक्षात् अर्थात् बिना व्यवधान के अर्थान्तर की प्रतीति का हेतु कथमपि नहीं हो सकता। यदि यह कहे कि साक्षात् नहीं तो परम्परया तो शब्द अर्थान्तर के प्रति हेतु हो सकता है। अर्थात् शब्द अर्थ का हेतु होता है और अर्थ अर्थान्तर के प्रति हेतु होता है। अतः परम्परया शब्द भी अर्थान्तर के प्रति हेतु कहा जा सकता है। किन्तु सिद्धान्त-विरुद्ध होने से यह कथन भी ठीक नहीं। परम्परा से हेतु होने वाले पदार्थों के साथ वस्तुओं में हेतु-फलभाव का व्यवहार नहीं होता। मधुमास में कुसुम-विकास के प्रति सिचन का साधन होने से घट में हेतुता है और घट का साक्षात् निमित्त-कारण कुलाल होता है, अतः परम्परया कुलाल को भी कुसुम-विकास के प्रति हेतु मानना पड़ेगा। परन्तु वास्तव में ऐसा होता नहीं। जो साक्षात् हेतु है उसी के साथ कारणता का व्यवहार उपयुक्त होता है। अन्यथा पुत्र के क्रियाकलापों के प्रति परम्परया हेतु होने से पिता में कारणता आ जायेगी और पिता-पुत्र दोनों के परस्पर के व्यवहार में सांकर्य होने लगेगा।^१

किंच बाण के दीर्घदीर्घतर व्यापार के दृष्टान्त का यह उपन्यास यहाँ सर्वथा अननुत्प एवं अत्यन्त ही विषम है। जिस प्रकार बाण स्वभाव से ही छेद्य भेद्य आदि अर्थ के विषय में एक ही प्रेरणा से अनेक कार्य सम्पन्न करता है, शब्द की क्रिया उसी प्रकार नहीं होती। अपितु संकेत-ग्रह की सहायता से ही शब्द स्वार्थमिधानरूप अपने व्यापार को सम्पन्न करना है, स्वभावतः अर्थात् निरपेक्षरूप से नहीं। अतः शब्द का जहाँ संकेत होगा वही उसकी प्रवृत्ति या व्यापार भी। चूँकि अभिधेयार्थ के विषय में ही उसका संकेत होता है इसलिए उसी के साथ शब्द का व्यापार बन सकता है, अन्य के साथ नहीं। संकेतग्रह के बिना, अर्थान्तर के साथ भी शब्द के व्यापार की बात स्वीकार करने पर, किसी भी शब्द से अभिधेयार्थ की तरह ही अर्थान्तर की भी प्रतीति होनी चाहिए। किन्तु ऐसा होना नहीं। इसलिए जहाँ पर संकेत की अपेक्षा होनी है वही पर शब्द का व्यापार होता है, तथा अर्थान्तर की प्रतीति में अर्थ को ही कारण समझना युक्तियुक्त एवं तर्क संगत है।^२

१. तद्व्युक्तम् । साक्षाच्छब्दस्यायं प्रतीतिहेतुत्वात्तद्धेः । परम्पर्येण तु तस्य हेतुत्वोपपत्तेः वस्तूनां हेतुफलभावव्यवहारनियमो न व्यवतिष्ठते । ततश्च कुलालोऽपि सेकसलिलोपकरणभूतकुम्भं क्वेन् भाग्यमास इव कुसुमविकासहेतुरिति भूष्यतया ध्यायेत् । इत्ययं सर्व्व व्यापारोऽन्युप-गन्तुं युक्ती न शब्दस्य । न हि यः पुत्रस्य व्यापारः स पितुरेवेति भूष्यतया शक्यते चवतुम्, तपोरन्योन्यव्यापारसांकर्यदोषप्रसंगात् ।
—व्यक्तिविदेक, पृ० १२३ ।

२. किंचायं विप्रमः शरदृष्टान्तोपन्यासः । नहि यथा सायकः स्वाभावत एव छेद्यभेदाद्यर्थविषय-मेकर्येव वृत्त्या तत्तत्कार्यं करोति, तथा शब्दः । स हि संकेतसाक्षेः स्वव्यापारमारभते न

(ग) तात्पर्यापार्थ की वाच्यता का खण्डन

तात्पर्यापार्थ को लेकर भाट्टमज्जिमोक्षजीवी मीमांसकों की शब्दाप-विषयक कुछ मान्यताएँ हैं। इनके मत से तात्पर्यापार्थ नाम की एक शब्दशक्ति होती है जो अनिघा से निम्न होती है और वाच्यार्थ से निम्न तात्पर्यापार्थ नामक अर्थ को व्यक्त करती है जिनका दूसरा नाम वाच्यार्थ है। तात्पर्यापार्थ के साथ ही ये लोग अर्थापत्ति प्रमाण भी मानते हैं तथा अर्थान्तर की प्रतीति में तात्पर्यापार्थ के साथ ही अर्थापत्ति का भी योग होता है, ऐसा उनका सिद्धान्त है। महिमनट्ट नैयायिकों की तरह अर्थापत्ति को व्यतिरेक अनुमान में ही अन्तर्नूत मानते हैं। अतः अनुमेयार्थ की सिद्धि के लिए इन प्रतिपक्षियों के मतों का उपन्यास प्रपञ्चर को परम आवश्यक प्रतीत हुआ। यह विवाद महिम और कुमारिल का नहीं अपितु व्याकरण, न्याय और मीमांसा का है, जो बहुत बाल से चला आ रहा था। महिमनट्ट ने दर्शन के अन्य तत्वों के समान ही शब्दाप-सम्बन्ध एवं शब्दशक्ति विवेचन पर मीमांसकों के तात्पर्यवाद का खण्डन कर वहाँ न्याय की अनुमिति की प्रक्रिया का मण्डन किया है, जिसमें लाभ भी है। अद्वैतारशास्त्र के इतिहास में महिमनट्ट को ही यह श्रेय है कि उन्होंने सर्वप्रथम शब्दाप एवं शब्दशक्ति का विवेचन व्याकरण एवं दर्शन के स्तर पर किया, तथा उनकी मान्यताओं का उद्धरण देकर उनकी प्रवृत्ति को गहन मीमांसा की। अनन्तर मम्मट, विद्वनाथ कविराज एवं पण्डितराज अगस्त्य प्रभृति उत्तरकाण्ठीन प्रायः सभी आलम्कारिकों ने इन्हीं प्रश्नों को उठाकर इनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया तथा मीमांसकों के पक्ष का खण्डन कर ध्वनि या व्यञ्जना की प्रस्तापना में बड़ी सब युक्तियाँ दीं, जिनका उपन्यास महिमनट्ट 'व्यक्तिविवेक' में पहले ही कर चुके थे।

वाच्यप्रकार के द्वितीय उत्थान में मम्मट ने शब्द के वाच्यत्व का निरूपण करते हुए वही बान बही है जो यहाँ पर महिमनट्ट ने अर्थान्तर की प्रतीति में शब्द-व्यापार का मण्डन करते हुए बही है कि—शब्द, संकेत की सहायता से ही अपने अर्थ की अनिव्यक्ति करता है।^१ तथा पञ्चम उत्थान में व्यञ्ज्यार्थ की सत्ता की सिद्ध करने के लिए तात्पर्यवादियों के 'यत्परः शब्दः सः शब्दापः', 'सोऽग्निपोरिव दीर्घदीर्घतरव्यापारः' एवं 'विषं नक्षय मा चास्य गृहे नुट्कपाः' आदि युक्तियों का 'व्यक्तिविवेक' में प्रतिपादित मर्याप पर ही उपन्यास पर व्यञ्ज्यार्थ की तात्पर्यापार्थ से निम्न बताते हुए उसकी प्रतीति में अनिघा व्यापार की अनमयता दिमायी है।^२ महिम-

स्वभावत एवेति धर्मवास्तु संकेतस्तत्रैव व्याप्रियते । तद्वद्वानिधेयार्थविषय एवास्तु व्यापारो
युक्तो नार्थान्तरविषयः, तत्र संकेतान्नावान् । तदभावेऽपि तत्र तत्परिबल्लने सर्वैः कृतश्चिद-
भिधेयार्थवदर्थान्तरमपि प्रतीयान् । तस्माद्यत्र संकेतावेशा तत्रैवास्तु व्यापार इत्यवगन्तुं युक्तं,
नार्थान्तरे, तत्र यदयमागन्तयेनार्थस्यैव तदुपपत्तिसमर्पनादिति ।

—वही, पृ० १२३-१२४ ।

१. इह अगृहीतसंकेतस्य शब्दस्य अर्थ-प्रतीतिः अनाशान् संकेत-सहाय एव शब्दः अर्थ-विशेषं प्रतिपादयति ।

—वाच्यप्रकार, वृत्ति २।७।

२. 'यत्परमिदमपि सोऽग्निपोरिव दीर्घदीर्घतरव्यापारः' इति 'यत्परः शब्दः सः शब्दापः' इति च...। यत् विषं नक्षय मा चास्य गृहे नुट्कपाः इत्ययम् । यदि च शब्दशब्देतरन्तरं व्यापारो

दण्डकार बविराज विश्वनाथ ने भी अभिधा का लक्षण करते हुए उसे तत्केनितार्थ की ही बोधिका कहा तथा व्यञ्जना की परिभाषा यह की है कि अभिधा आदि व्यापार के विरक्त होने पर जिसने अर्थान्तर की प्रतीति हो, वही व्यञ्जना है । इसमें शब्द के साय-हो-भाव अर्थ आदि की भी शक्ति निहित होती है ।^१ क्योंकि शब्द, बुद्धि और कर्म इनमें विराम के अनन्तर पुनः व्यापार नहीं होता । पण्डितराज जगन्नाथ ने भी वृत्तिवार्तिक में अप्यन्दीभिनन्दित अभिधा के लक्षण का सन्देह करते हुए महिमन्दट के इसी निदान्त का मर्ममय किया है कि शब्दवच्य अर्थबोध में जो कारण हो, ऐसी अभिधा से निम्न कोई शक्ति प्रमाणित नहीं ।^२

मीमानकों की 'इषुवन् दीर्घदीर्घतर व्यापार', 'यत्पर' शब्दः सः शब्दार्थः' तथा 'विप-नभ्रगवाक्च' ये तीन मुक्तियाँ हैं जिनके आधार पर वे तात्पर्यायं रूपवाक्यायं से व्यतिरिक्त किन्ती अन्य अर्थ की सत्ता नहीं मानते । इनमें से 'इषुवन् दीर्घदीर्घतर व्यापार' प्रमाकर के अनुयायी अक्षिता निधानवादियों का पक्ष है तो 'यत्पर. शब्द' न शब्दार्थ' के प्रतिपादक अभिहितान्वय-वादी नाट्ट मीमानक बड़े जाते हैं । इनके अनुसार शब्दार्थ ही वाच्यार्थ होता है, उनकी प्रतीति अभिधा में होती है । वाक्यार्थ वाच्य या शब्दार्थ से भिन्न होता है । उनकी अभिव्यक्ति पदार्थों के परस्पर के अन्वय से होती है । इसीलिए उसे नात्ययं भी कहते हैं और तात्पर्यशक्ति की अभिधा से निम्न मानते हैं ।

आचार्य महिमन्दट मीमानकों के इन दोनों पक्षों के विरोधी हैं क्योंकि वह वाच्यार्थ के जतिरिक्त अनुमेयार्थ को भी मानते हैं और उनकी प्रतीति को शब्दों न कहकर आर्षी कहते हैं । चूँकि अनुमेयार्थ की प्रतीति के हेतु वाच्यार्थ की अनुपपत्ति होती है अतः वाच्य ही हेतु बन कर अर्थान्तर की अनुमिति कराता है, जो अनुमान का विषय होने से अनुमेय ही हो सकता है । तात्पर्यायं इसलिए नहीं कि तात्पर्य नामक शब्दशक्ति की सत्ता में कोई प्रमाण नहीं । यदि तात्पर्यायं को अनुमेय और तात्पर्य-शक्ति को अनुमान बड़े तो महिमन्दट को कोई आपत्ति नहीं । उक्त विवेचन से यह निष्कर्ष निकला कि महिमन्दट शब्द की एकमात्र शक्ति अभिधा को ही मानते हुए भी अन्वितानिधानवादी मीमानकों के इषुवन् दीर्घदीर्घतर व्यापारके पक्ष में इसलिए सहमत नहीं हैं कि अनुमेय अर्थ की सत्ता उन्हें अभीष्ट है जिसे अभिधेय में किन्ती भी प्रकार ममाहित नहीं किया जा सकता । दूसरी ओर तात्पर्यवादियों के पक्ष में भी इसलिए अनहमत है कि वे लोग तात्पर्य नामक शक्ति को शब्द का ही एक व्यापार मानते हैं । महिमन्दट के अनुसार अभिधा ही शब्द का एकमात्र मन्भव व्यापार है ।^३ अर्थान्तर की प्रतीति जहाँ भी होती है वह शब्दों न होकर आर्षी होती है जिनकी व्याख्या के लिए अनुमान की प्रक्रिया पहले में ही विद्यमान है ।

कल्पते तावति शब्दस्य अभिधेय व्यापारः ततः कथं मित्यन्विताभिधानवादेऽपि विधेरपिस्तिद्धं व्यङ्ग्यत्वम् । काव्यप्रकाश, पृ० २२५-२० ।

१. विरनास्वभिधायास्तु ययार्थो बोध्यते परः ।

सा वृत्तिव्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ॥ —साहित्यदर्पण, २।१२१३ ।

२. न च अभिधानः शक्तिरतिरिक्ता शब्दजन्यप्रतिपत्तिप्रयोजिका काचिदस्तीत्यत्र प्रमाणमस्ति ।

—रत्नगंगार, पृ० १७६, (काव्यमाला, बम्बई) ।

३. शब्दस्यैवाभिधाशक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गता ।

—व्यक्ति विवेक, का० १।२७ ।

उपर्युक्त व्याख्यान के निष्कर्ष का एक ही संग्रह-श्लोक में निरूपण करते हुए ग्रन्थकार ने कहा है कि शब्द की एकमात्र शक्ति अभिधा ही इष्ट है । लक्षणा, व्यञ्जना एवं तात्पर्या नाम की शक्तियाँ शब्द में सम्भव नहीं । अभिधेय से भिन्न अर्थों की जहाँ भी प्रतीति होती है वह सब अर्थों का व्यापार है और इसलिए अनुमान का विषय है—

अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने ।

व्यापार एक एवेदो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽखिलः ॥—व्य० दि०, पा० ११७१।

द्वितीय-विमर्श

ध्वनि-सिद्धान्त-विमर्श

(ख) ध्वनि-संज्ञा की अनुपपन्नता

महिमनष्ट की प्रतिज्ञा है कि वह ध्वनि-सिद्धान्त का अनुमान में ही अन्तर्भाव सिद्ध करेंगे। इसीलिए उन्होंने व्यक्तिविवेक ग्रन्थ की रचना की है। अतः उन्होंने ध्वनि के प्रत्येक पहलू पर विचारविमर्श किया है और उसकी सत्ता की सम्भाव्यता का अपलाप करने के लिए उनमें दोष खोज निकाले हैं। ध्वनि-सिद्धान्त की गहन सीमाता एव उसके अनुमान में अन्तर्भाव की निम्न के प्रसंग में सबसे पहले ग्रन्थकार ने वाच्य की ध्वनि-संज्ञा पर आपत्ति उठायी है और उसे अनुपपन्न ठहराया है।

वाच्यविशेष के लिए ध्वनि के व्यपदेश का शीघ्रपेश आनन्दबर्धन ने ध्वन्यालोक में किया है। वही पर ध्वनि-संज्ञा के विधान का रहस्योद्घाटन करते हुए उन्होंने कहा है कि—वाच्य में ध्वनि पद का प्रयोग सर्वथा नवीन है और व्याकरणों से लिया गया है। व्याकरण शास्त्र में ध्वनिपद पारिभाषिक रूप में प्रयुक्त हुआ है। व्याकरण के स्फोट सिद्धान्त के अनुसार शब्द दो प्रकार के होते हैं—नित्य एव अनित्य। लोक में सतत प्रयुज्यमान घटपटादि शब्द अनित्य हैं, स्फोट नित्य। व्याकरणदर्शन के अनुसार कोई भी वर्ण उच्चरित होने पर प्रथम क्षण उत्पन्न होता है, द्वितीय क्षण तक बना रहता है और तृतीय क्षण में नष्ट हो जाता है। सतत प्रयुज्यमान घटपटादि सभी शब्द ऐसे ही हैं। अतः क्षणनगुर एव विनाशशील होने में ये अनित्य कहलाते हैं। ये अनित्य घटपटादि शब्द आत्मरूप में अवस्थित नित्य-शब्दों के प्रतीक होते हैं। प्रतिक्षण विनाशशील इन अनित्य शब्दों से अर्थ की प्रतीति इसीलिए होती है कि वे जिन नित्य शब्दों के प्रतीक होते हैं वही अर्थ की अभिव्यक्ति में समर्थ होते हैं। क्योंकि अर्थ के साथ उनका ही साक्षात् सम्बन्ध होता है, अनित्य घटपटादि शब्दों का नहीं। इसका रहस्य यह है कि लोक में प्रयुज्यमान घटपटादि शब्दों का अर्थ से सम्बन्ध नहीं होना क्योंकि इसके लिए स्थायित्व की अपेक्षा होती है, जो इनमें किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। इन्हीं में नित्य शब्दों को स्फोट एवं अनित्य शब्दों को ध्वनि की संज्ञा दी गयी है।

'स्फोट' नामकरण का निमित्त इसकी व्युत्पत्ति भी है। 'स्फुटयति अर्थं ध्वनक्ति' इस अर्थ में स्फुट क्रिया से करण में घञ् प्रत्यय होकर स्फोट शब्द व्युत्पन्न होता है। वाक्य में यही प्रधान होता है क्योंकि अर्थ की अभिव्यक्ति इसी के द्वारा होती है। इस स्फोट की प्रतीति साक्षान् नहीं होती, न ही हो सकती है। अपितु यह व्यंग्य होता है। घटपटादि अनित्य पद ही इसकी सत्ता के व्यञ्जक होते हैं। चूँकि लोक में प्रयुज्यमान अनित्य घटपटादि शब्द ही स्फोट की सत्ता

को ध्वनित बग्ने है इसलिए इनको ध्वनि की संज्ञा दी गयी है। ध्वनिवार आनन्दबर्धन का बयन है कि—विद्वान् वैयाकरणों ने श्रूयमाण शब्दों को स्फोट के व्यञ्जक होने से ध्वनि कहकर व्यवहार किया है। इसी प्रकार उनके अनुयायी वाचस्पत्यवैतानों ने भी उन शब्दों और शब्दों से संबंधित वाच्य को ध्वनि की संज्ञा दी है जो प्रतीयमान शब्द की प्रभावतया अनिर्व्यक्ति बग्ने हैं। इस प्रकार व्यञ्जकत्व साम्य से ही वाच्य-विशेष की ध्वनि-संज्ञा हुई है।^१ व्याकरण से वाच्य का नेद इतना ही है कि व्याकरण में घटपटादि प्रत्येक पद ध्वनि होते हैं जबकि वाच्य में केवल प्रतीयमान के अनिर्व्यञ्जक ही ध्वनि कहलाते हैं। ध्वनिकाव्य की एक विशेषता और है कि वहाँ प्रतीयमान का व्यञ्जक होने से शब्द भी ध्वनि कहा जाता है, जबकि व्याकरण में केवल शब्द ही ध्वनिव्यपदेश्य होते हैं।

इस पर व्यक्तिविवेकवार का कहना है कि 'व्याकरण में श्रूयमाण शब्दों की ध्वनि-संज्ञा, व्यञ्जकत्व के आधार पर हुई है' यह बयन ही मान्य नहीं। क्योंकि घटपटादि शब्दों के अनिर्व्य होने से उनमें स्थायित्व नहीं है, पूर्वोक्त क्रम से जिन प्रकार वे शब्दों की अनिर्व्यक्ति में सम्मर्पण हैं उसी प्रकार 'स्फोट' की भी अनिर्व्यक्ति उनसे कदापि नहीं हो सकती। अतः 'स्फोट' के व्यञ्जक होने के शब्द में ध्वनि की संज्ञा का विधान हुआ है, यह बात सर्वथा अमंगल है। प्रकृत वहाँ पर भी हेतुहेतुमद्भाव से अनुमान की ही प्रक्रिया काम करती है। फलतः व्याकरण की ध्वनि संज्ञा के व्यञ्जकत्व के साम्य पर वाच्यविशेष के लिए ध्वनि की संज्ञा अर्थ, निराधार एवं बगोल-कल्पित है। इसके अतिरिक्त यदि ध्वनि को स्फोट का व्यञ्जक मान लें तो वहाँ पर 'जिन प्रकार व्यंग्यव्यञ्जक भाव है, वाच्य में उसका अभाव होने से, उसके लिए ध्वनि का अनिर्व्यक्ति किम प्रकार होगवता है? अतः जब ध्वनिपद से व्यपदेश्य श्रूयमाण शब्द एवं उसमें अन्तःशक्ति-विष्ट स्फोटानिमित्त जहाँ में पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार व्यंग्यव्यञ्जक भाव ही सम्भव नहीं, तो व्यञ्जकत्वसाम्य में शब्दार्थ में ध्वनि का व्यपदेश्य सर्वथा अनुपपन्न है। अनिर्व्य की संज्ञा करने पर वहाँ पर भी कार्यकारणमूलक सम्बन्धमङ्गल ही उपलब्ध होता है।^२

वैयाकरणों की ध्वनि का आनन्दबर्धन के प्रयोग से नेद अन्य प्रकार से भी है।

१—व्याकरण में शब्द-मात्र को ध्वनि कहा गया है क्योंकि प्रत्येक शब्द उच्चस्वित्वात् श्रूयमाण होकर स्फोट को ध्वनित बग्ने में समर्थ है जबकि आनन्दबर्धन के ध्वनि मिद्वान् के अनुसार शब्द वे ही शब्द जिनमें अन्य शब्दों की अनिर्व्यक्ति होती है ध्वनि कहे जाने के भागी है। वह भी तब जब

१. प्रथमे हि विद्वान्सी वैश्वरणाः, व्याकरणमूलत्वान् संबंधिताताम् । ते च श्रूयमाणेषु बग्न्यु ध्वनि-रिति व्यग्रहरन्ति । तथैव तन्मतानुसारिभिः सूरिभिः काव्यरत्नवायुर्दशभिः वाच्यवाचरसंनिधः शब्दान्ना वाच्यमिति व्यपदेश्यो व्यञ्जकत्वसाम्याद् ध्वनिरित्युच्यते ॥

आनन्दबर्धन—ध्वन्यालोक (का० सं० सी०), पृ० १३५ (वाराणसी) ।

२. अतएव श्रूयमाणानां शब्दानां ध्वनिव्यपदेश्यानाम् अन्तःशक्तिवैशानरुच स्फोटानिमित्तः अर्थस्य ध्वन्यव्यञ्जकभावो न सम्भवतीति व्यञ्जकत्वसाम्याद् यः शब्दार्थमिति वाच्ये ध्वनि-व्यपदेशः सोऽपि अनुपपन्नः । तत्रापि कार्यकारणमूलस्य सम्बन्धमङ्गलस्योपगमात् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ५० ।

उनके वाच्य अर्थ की अपेक्षा व्यंग्य अर्थ अधिक चमत्कारपूर्ण हो। व्यंग्य के प्रत्यायक होने मात्र से उन्हें ध्वनि नहीं कहा जा सकता। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि व्यञ्जकत्व शब्द में है और उसे व्यञ्जक मान भी लिया जाता है। पर उसे ध्वनि की मजा नहीं दी जाती, यदि उनके द्वारा व्यक्त अर्थ उनके वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारशायी नहीं होता। फिर 'व्यञ्जकत्व के नाम्य से ये ध्वनि कहलाने हैं अर्थात् व्याकरण एक साहित्य उभयत्र ध्वनि की संज्ञा का प्रयोजक व्यञ्जकत्व मान है'^१ आचार्य-आनन्दवर्धन का यह कथन कहाँ तक उपयुक्त है ?

२—व्याकरण में केवल शब्द ही ध्वनि के आम्बद होते हैं जबकि ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार वे अर्थ भी ध्वनि कहे जाते हैं जिनमें अन्य अर्थ की अभिव्यक्ति प्रधानतया होती है। यहाँ पर भी केवल व्यञ्जक होने से ही कोई अर्थ चाहे वह वाच्य, लक्ष्य या व्यंग्य कोई भी हो, ध्वनि नहीं कहा जा सकता यदि उनके द्वारा अभिव्यक्त अर्थ अपने चाम्बर न हो।

३—ध्वनि के वन्तु, अलंकार एवं रमादि भेदों पर दृष्टिपात करने से तथ्य उक्त सिद्धान्त के सर्वथा विपरीत ही प्रतीत होता है कि व्यञ्जकत्व में ही ध्वनित्व है। अपितु वह व्यंग्यत्व में ही निहित होता है। वन्तु, अलंकार एवं रम जब व्यंग्य होने हैं और वाच्य में चाम्बर होने हैं तो इनकी ध्वनिमजा होती है^२। अर्थात् जो व्यंग्य है वही ध्वनि हो गया है, उन्हीं की महत्ता अधिक है न कि व्यञ्जक की। अतएव उन्हीं व्यंग्य का ही ध्वनि के नाम से विनाद विवेचन आनन्दवर्धन, अभिनवगुप्त एवं मम्मट प्रभृति ध्वनिवादी आचार्यों के ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। व्युत्पत्ति भी दी जाती है—ध्वन्यते प्राधान्येन अभिव्यजने इति रमादिलक्षणे अर्थः ध्वनिः।^३ यही नहीं, 'वाच्यस्यात्मा ध्वनिः' ध्वनिकार की इन उक्ति में भी ध्वनि का अर्थ व्यंग्य ही है, उसे ही वह अलंकार्य भी कहते हैं न कि व्यञ्जक को। क्योंकि व्यञ्जक में वाच्य की आत्मा होने की क्षमता कहाँ है ? अभिनवगुप्त ने अपनी टीका 'लोचन' में और स्पष्ट करने हुए कहा है—'वाच्यार्थपरामर्शको ध्वनि-लक्षणोऽर्थः वाच्यस्यात्मा।'^४ मम्मट ने भी 'इदमुत्तममतिरायिनि व्यंग्ये' में व्यंग्य को ही प्रधानता में वाच्य को ध्वनि कहा है, न कि व्यञ्जक की। फिर व्यञ्जकत्व के नाम्य से इसे ध्वनि की संज्ञा मिली है—यह कथन कहाँ तक यथार्थ है ?

आचार्य महिमनन्द ने ध्वनिमजा की अनुपपत्तता का अत्यन्त मौलिक रूप में विवेचन किया है। स्कोटाभिनव अर्थ के प्रति श्रुतमान पदों या वर्णों की व्यञ्जकता का अभिधान ध्वनिकार में ही किया था। जिन्हीं भी वैराकरण ने उनका प्रतिपादन इन्हीं रूप में नहीं किया है। महिमनन्द के उत्तरवर्ती ध्वनिमार्गी आचार्य मम्मट ने आनन्दवर्धन की ध्वनिवाच्य-संज्ञा विषयक उक्ति

१. व्यञ्जकत्वसाम्बन्धान् ध्वनिरित्युक्तः ॥

—ध्वन्यालोक, वृत्ति १।१३ ।

२. व्यङ्ग्यस्य प्रतिभा मात्रे वाच्यार्थानुगमेऽपि वा ।

न ध्वनिर्मत्र वा तस्य प्राधान्यं न प्रतीयते ॥

—ध्वन्यालोक का० १।११ पर परिकरलोक ।

३. ध्वन्यालोक-कारिका १।१ पर लोचन-टीका ।

४. वही—कारिका १।१ पर लोचन टीका ।

का ही पिष्टपेपन प्रायः उन्हीं शब्दों से किया है ।^१ उन्होंने महिमनट्ट द्वारा उक्त्याति युक्ति एवं तर्कों के प्रति गजनिमीलन ही कर लिया है । विश्वनाथ बविराज तथा पञ्चिनराज जगन्नाथ ने भी सम्भवतः इन ओर ध्यान नहीं दिया । आचार्यों का यह मान व्यक्तिविवेककार के पक्ष की प्रौढता का ही सूचक है ।

(आ) ध्वनि-लक्षण-विमर्श

महिमनट्ट ने व्यक्तिविवेक ग्रथ के आरम्भ में ही ध्वनिधार-वृत्त ध्वनि के लक्षण की विस्तृत मीमांसा की है और उसमें नापा तथा भावनन्वन्धो दम एते दोषों की उद्घाटना की है जो दुष्परिहार्य हैं । ध्वनि-लक्षणनिरूपण के प्रसंग में इन दोषों का यथावत् प्रदर्शन इन्द्रि भी आवश्यक है कि इनमें काव्यविषयक मान्यताओं पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है । ध्वनिधार आनन्दवर्धन ने ध्वनि का लक्षण किया है—

यत्रार्थः शब्दो वा तमर्ममुपसर्जनीवृत्तस्वार्थः ।

व्यङ्ग्यतः काव्यविशेषः स ध्वनिरिति सूक्तिभिः कथितः ॥^२

‘सर्वनामानः पूर्वपरामर्शिनो ऋचन्ति’ इस न्याय से कारिका के पूर्वार्द्ध में प्रयुक्त ‘तम्’ पद से ‘प्रतीयमान पुनरन्वदेव’ कारिकास्य प्रतीयमान एव उत्तरार्ध के ‘स’ शब्द से इसी कारिका में प्रयुक्त ‘काव्य-विशेषः’ का परामर्श होता है । इस प्रकार लक्षण-कारिका का अर्थ यह निष्पन्न होता है कि—जहाँ पर शब्द अपने अर्थ एवं अर्थ स्वयं अपने को गीय करते हुए किसी प्रतीयमान अर्थ को व्यक्त करें, उस काव्यविशेष को विद्वानों ने ध्वनि कहा है । इनमें प्रदर्शित दोष अर्थो-लक्षित कारिकाओं में उपनिबद्ध हैं—

अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषतस्तदः पुंस्त्वम् ।

द्विवचनवाशब्दो च, व्यञ्जितध्वनिनाम काव्यवशिष्टप्यम् ॥२३॥

वचनंच कथनकर्तुः, कथिता ध्वनिलक्षणाति दश दोषाः ।

ये त्वग्ये तद्भेदप्रभेदलक्षणगता न ते गणिताः ॥२४॥

अर्थ की विशिष्टता, शब्द का (प्रयोग एवं उनका) विशेषण होना, तत्पद का पुंस्त्वम् सः के रूप में प्रयोग, व्यङ्ग्यतः में द्विवचन, वा शब्द का पूयक् प्रयोग, व्यञ्जित अर्थात् व्यञ्जना, ध्वनि-सज्ञा, काव्य की विशेषता, वर्ता सूक्तिभिः में बहुवचन का प्रयोग । ये दस दोष आनन्दवर्धन वृत्त ध्वनि-लक्षण में पाये जाते हैं । इनके अनिश्चित अन्य दोष भी सम्भव हैं जिनका विवेचन ‘व्यक्ति विवेकग्रन्थ’ में हुआ है पर यहाँ उनकी गणना नहीं की गई है ।

१. इदमुक्तममनिशयिनि व्यङ्ग्ये वाच्याद् ध्वनिर्बुधैः कथितः ॥१॥४॥ इदमिति काव्यम् ।

बुधैः वैयाकरणैः प्रपाननूतस्कोटकपथ्यं पथ्यञ्जकस्य शब्दस्य ध्वनिरिति ध्वनहारः इतः ततस्त्वन्मनानुसारिभिरन्यैरपि न्यानावितशाच्यं पथ्यञ्जकस्य शब्दार्थयुगलस्य ।

—काव्यप्रकाश, वृत्ति १४ ।

इन दस दोषों का स्पष्ट रूप निम्नप्रकार से बगता है—

१. अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्वरूप विशेषण का विफल प्रयोग ।
२. शब्द पद के उपादान की अनुपादेयता (अनर्थकता) ।
३. अर्थ पद का अनिश्चित अनिप्राय ।
४. 'तमर्थ' में तत्पद का पुस्लिग में अनिधान ।
५. विकल्पार्थक वा शब्द का असम्भव प्रयोग ।
६. ध्वनः में द्विवचन की अनुपपत्ति ।
७. व्यक्ति (व्यञ्जना) की मिद्धि में दोष ।
८. वाच्यविशेष पद का पाठ ।
९. ध्वनिपद का प्रयोग ।
१०. सृष्टिनिः में बहुवचन का निर्देश ।

१.—अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्वरूप विशेषण का विफल प्रयोग—आनन्दवर्धनकृत ध्वनि-लक्षण में प्रथम दोष अर्थ के उपसर्जनी कृतात्मत्व विशेषण में है । यहाँ ध्वनिकार का आशय यह है कि जहाँ वाच्य व्यंग्य की अपेक्षा अपने को गौण कर ले वही ध्वनि काव्य होता है । यहाँ अर्थ विशेष्य है और 'उपसर्जनीकृतस्वार्थ' पद उसका विशेषण । महिमनदट का कहना है कि इन दोनों में विशेष्यविशेषणभाव ही नहीं बनना क्योंकि यहाँ विशेषण का प्रयोग सार्थक नहीं हुआ है । विशेषण की सार्थकता वही होगी है जहाँ उनमें सम्भव एवं व्यभिचार दोनों सत्ताएँ विद्यमान हों । कहा भी है—

सम्भवव्यभिचारान्यां स्याद्विशेषणमर्थवद् ।

सम्भवसत्ता विशेषण की विशेष्य में पायी जाने वाली सम्भावना को कहते हैं तथा व्यभिचारसत्ता विशेषण की विशेष्य में किसी अवस्था में अनुपलब्धि या अयम्भावना को कहा जाता है । उदाहरणतः 'नील कमल' पद में विशेषण के रूप में प्रयुक्त नील गुण नील कमल में पाया जाना है, साथ ही रक्त एवं श्वेत कमलों में उसका अभाव होता है । अतः यह विशेषण सार्थक प्रयुक्त हुआ है । विशेषण वही प्रयुक्त होना चाहिए जो विशेष्य वस्तु में वही प्राप्त हो तो वही अप्राप्त । जब हम 'उष्ण अग्नि' कहते हैं तब 'उष्ण' विशेषण का प्रयोग ठीक नहीं करते । क्योंकि अग्नि सदा उष्ण ही होता है, अतः यहाँ विशेषण में सम्भवसत्ता तो है पर व्यभिचार सत्ता नहीं है क्योंकि ऐना स्थल उपलब्ध नहीं होगा जहाँ अग्नि उष्ण न हो । इसी प्रकार शीत अग्नि में प्रयुक्त अग्नि के शीत विशेषण में एकमात्र व्यभिचार सत्ता ही है, सम्भवसत्ता नहीं । इसलिए 'उष्ण अग्नि' के समान केवल सम्भव सत्ता में अथवा शीत अग्नि की तरह केवल व्यभिचार-सत्ता में प्रयुक्त विशेषण कदापि सार्थक नहीं होने । अपितु 'नीलोत्पलम्' आदि उन स्थलों में ही विशेषण की सार्थकता होती है जहाँ सम्भव एवं व्यभिचार उभयसत्ता विद्यमान रहती है । अर्थ के उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण में सम्भवसत्ता तो है किन्तु व्यभिचारसत्ता का इसलिए सर्वथा अभाव है कि जहाँ पर भी कोई अर्थ अर्थान्तर को अनिव्यक्त करता है उन सब स्थलों में व्यञ्जक अर्थ व्यञ्जन अर्थ की अपेक्षा गौण ही रहता है अर्थात् उसमें उपसर्जनीकृतात्मत्व ही रहेगा । कोई भी ऐना स्थल नहीं जहाँ वाच्य प्रतीयमान की अपेक्षा उपसर्जनीभूत अर्थात् गौण

न हो। यदि वही भी प्रतीयमान में वाच्य की अपेक्षा गौणता सम्भव होती तो अर्थ का उन्नतवर्ती-
वृत्तात्मक विशेषण उपयुक्त होता। इस बधन की पुष्टि में मुक्तिदेते हुए कहा है कि त्रिभुज प्रकार
हेतु रूप में गृह्यमान घूमादि से अनिबन्धन होने वाला मन्दिष्यवाच्य रूप भी अग्नि घूमादि की
अपेक्षा गौण नहीं माना जाता, उनी प्रकार अनिबन्धन प्रतीयमान अर्थ की अपेक्षा वाच्य गदा
गौण ही रहता है। क्योंकि भाषण होने में घूमादि की तरह वह भी गुण है तथा उन्नत स्वयं
ही दूनरों की निम्न करना है, अतः भाषक होने में वह उदा गौण ही रहेगा।^१ अतः उनके
विशेषण में व्यभिचारमत्ता के अभाव के कारण भाषकता नहीं होगी। समानोक्ति आदि
जलवारो एव गृहीतव्यव्यय के भेद-स्थलो में जो व्यय की अपेक्षा वाच्य की प्रधानता बतों
गयी है वह प्राकरणिक रूप में ही मगन है। इन स्थलो में वाच्यार्थ प्राकरणिक होता है बिना
प्रधानता प्राकरणिकहेतुक ही होती है, प्रतीयमान या अर्थान्तर की अपेक्षा नहीं। उदाहरण-
स्वरूप—

उपोडरागेण विलोलतारकं तथा गृहीतं शशिना निशामुखम् ।

यथा समस्तं तिमिरांशुकं तथा पुरोऽपि रागाद् गलितं न लक्षितम् ॥

निगा जब अनुराग के बनीभूत हो गई और उनके नेत्र की तारिकाएँ चंचल हो उठीं
तो उनकी जवगता का लाम उठाते हुए शशि ने चूमने के लिए उन्नत मुप अपनी ओर मीच
लिया। वन क्या था, निगा ऐसी प्रेमविभोर हो गई कि उनकी वृष्णवर्ण का उत्तरीय उनके मानने
(वक्षस्थल) से जाने कब नीचे खिन्क गया उसे मालूम ही न हुआ।

इन पद्य में प्रतीयमान से अनुगत वाच्यार्थ की ही मुख्य रूप से प्रतीति होती है। क्योंकि
निगाशशिब्यवहार रूप वाच्य तब तक पूर्ण नहीं होता जब तक उस पर नायक-नायिका के
व्यवहार का समारोप न कर दिया जाय; अन्यथा उन अचेतनों में रागाविष्टता, द्रष्टव्यता लभित
करने आदि की संगति नहीं दनेगी। इस प्रकार नायकनायिकाव्यवहाररूप व्यय समारोपित-
निगाशशिब्यवहार ही उक्त पद्य का मुख्य अर्थ हो जाता है जिनमें व्यंग्य अर्थ के गौण और वाच्य
के प्रधान होने का प्रश्न ही यहाँ नहीं उठता। वह तो तब सम्भव था जब वाच्य एवं व्यंग्य दोनों
अर्थों की अनिबन्धन सर्वथा निरपेक्ष एवं स्वतंत्र रूप से होती रहती। यहाँ तो वाच्यार्थ व्यंग्य
से अनुगत है, निरपेक्ष या स्वतंत्र नहीं। इस प्रकार टोकाकार शब्दक ने प्रतीयमान के तीन प्रकारों
का विवेचन करते हुए समानोक्ति आदि अलंकारों में जिन तृतीय प्रकार के व्यंग्य को वाच्य
की अपेक्षा गौण बहकर अर्थ में उपजंजीवृत्तात्मक विशेषण में व्यभिचार की मत्ता का मनपन
करते हुए विशेषण को साभंक कहा है उनका भी उत्तर महिमनष्ट ने पहले से ही दे रखा
है जो मुक्तिपुस्त में है।

इन पर यह कहा जा सकता है कि समानोक्ति अद्रष्टव्य-प्रशंसा आदि अलंकारों में वाच्य
में चाण्डल का प्रवर्ष सर्वनामान्य को भी अनुभवनिम्न है। वाच्य और व्यंग्य में प्राधान्य की
विवक्षा या निबन्धन चारु के उक्त्य पर ही होता है। इस प्रकार समानोक्ति आदि अलंकारों

१. अर्थस्य तावदुन्नतवर्तीवृत्तात्मकमनुपादेयमेव । तस्यार्थान्तरप्रतीत्यर्थमुपात्तस्य तद्रूपनिर्वाता-
नायात् । न दृष्टव्यव्यतिगिद्धी घूमादिरसादीपमानो गुणतामनिवर्तते । तस्य तन्मात्रसम्प-
त्त्वात् ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० १-१० ।

के स्थल में प्रतीयमान की अपेक्षा वाच्य की प्रधानता सुतरा सिद्ध है। अतः अर्थ के उपसर्जनी-कृतात्मत्व विशेषण के ध्वनिचरित होने से उसका उपादान सार्थक ही है। इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है। स्वयं ध्वनिकार ने भी न केवल समा-सोक्ति आदि अलंकार अपितु गुणीभूतव्यंग्य के स्थल में भी वाच्य में काव्यात्मक चारत्व के उत्कर्ष का हेतु प्रतीयमानार्थ के सस्पर्श को ही माना है। उनका तो यहाँ तक कहना है कि काव्य का ऐसा कोई प्रकार ही नहीं सन्तता जिसमें प्रतीयमानार्थ के योग के बिना ही सहृदयाह्लाद-वारिता सम्भव हो।^१ जब चारत्वोत्कर्ष का आधायक एकमात्र प्रतीयमान ही हो सकता है तो जहाँ पर वाच्य में उत्कृष्ट चारत्व की प्रतीति होती है वहाँ भी प्रधानता प्रतीयमान की ही रहेगी, वाच्य की नहीं। क्योंकि जिसके द्वारा चारता का आधान होना है प्रधानता उसी की मानी जाती है।^२ फलतः लक्षण में उक्त अर्थपद का उपसर्जनीकृतात्मत्व विशेषण निरर्थक ही है। उक्त विवेचन का सारांश निम्नलिखित सग्रहकारिका में दिया है—

उक्तं गुणीकृतारम्भत्वं यदर्थस्य विशेषणम् ।

गमकत्वात् तत् तस्य युक्तमव्यभिचारतः ॥७॥

२. 'शब्द' पद का अनावश्यक पाठ—ध्वनिकार कृत काव्यलक्षण में दूसरा दोष 'शब्द' पद के अनावश्यक उपादान में है। चूँकि शब्द में स्वाथामिधान के अनिरिक्त व्यापारान्तर सम्भव ही नहीं, अतः उसके द्वारा अपने अर्थ को गौण कर अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करने की बात बदनोप्याधान नहीं तो और क्या है। दीपक के प्रकाशकत्व-व्यापार के समान ही अज्ञात के ज्ञापन के अनिरिक्त शब्द में जब अर्थान्तर की अभिव्यक्ति की क्षमता ही नहीं है तो उसमें अर्थोपसर्जनी-करणरूप (अपने अर्थ को गौण करने के) व्यापार का होना तो बहुत दूर की बात है। कहने का आशय यह है कि अज्ञात का ज्ञापकत्व (ज्ञान कराना) ही शब्द का स्वरूप है, जिस प्रकार दीपक का स्वरूप प्रकाशकत्व। अज्ञान के ज्ञापनार्थ ही शब्द का उपादान होना है। अतः जिस प्रकार दीपक में प्रकाशन के अनिरिक्त व्यापारान्तर सम्भव नहीं, उसी प्रकार शब्द में भी अज्ञान-ज्ञापन के अनिरिक्त अर्थोपसर्जनीकरण (अर्थ को गौण करने का) नामक व्यापारान्तर कदापि सम्भव नहीं। यदि वही सम्भव है भी तो केवल अनुसरण स्थल में ही। वहाँ पर अनुकार्यत्व, सार्थक एवं निरर्थक दो प्रकार का अर्थ सम्भव होता है। सार्थक मुख्य एवं निरर्थक अर्थ गौण होता है। प्रतीयमानार्थ की प्रतीति इस प्रकार की नहीं होती, अतः वहाँ उपसर्जनीकरण की प्रक्रिया चरि-

१. यदाह ध्वनिकारः सर्वथा नास्त्येव हृदयहारिणः काव्यस्य सप्रकारः यत्र प्रतीयमानार्थसंस्पर्शो-
ण न सौभाग्यम् । तद्विदं काव्यरहस्यं परममिति सूरिनिः विभावनीयम् । हिन्दी ध्व० अ०
पृ० ४०२ (दिल्ली) । मुह्यामहाकविगिरामलंकृतिभूतामपि । प्रतीयमानच्छायया
भूया लज्जेव योयिताम् । इति (ध्वनिकारिका ३।३८) ।

पुनः स एव यथा—प्रकारोऽप्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते । यत्र व्यंग्यान्वये वाच्य-
चारत्वं स्यात् प्रकथं वत् ॥—व्यक्तिविवेक, पृ० १४१ । ध्वनिकारिका, ३।३५ ।

२. चारत्वोत्कर्षनिबन्धना हि वाच्यव्यंग्ययोः प्राधान्यविवक्षा ।—हिन्दी ध्वन्यालोक, प्रथम
उद्योत, पृ० ५९ (दिल्ली) ।

सायं नहीं हो सकती । इनके अतिरिक्त यह कथन भी ठीक नहीं प्रतीत होता कि जो शब्द जिस अर्थ को मुख्यतया अभिव्यक्त करे उसे वही गौण कर दे । इसके विपरीत सर्वत्र अर्थ की अनेक शब्द में ही उपसर्जनीयता या गौणता होती है । गौण एवं मुख्य में गौण ही प्रतिनिधि होता है, मुख्य नहीं । इसीलिए शब्द अर्थ का प्रतिनिधि होता है । जलादपनार्थं प्रदुम्ब घटादि गौण होने से ही जलादि के प्रतिनिधि का कार्य करते हैं, उदकादि नहीं । इसी प्रकार उपसर्जनीयता के शब्द में ही होने से उनमें उपसर्जनीकरण व्यापार सम्भव नहीं । अतः ध्वनिवार के वाच्य-लक्षण में शब्दपद के ग्रहण से उसमें अमन्मद दोष आपतित होता है ।^१

फिर भी यदि लक्षण में 'शब्द' पद का प्रयोग करना ही अनीष्ट है तो यहाँ अग्निधा का भी प्रयोग होना चाहिए था; अन्यथा दीपकादि अलंकारों में जहाँ उपमादि अन्य अलंकारों की प्रतीति होती है, वहाँ ध्वनित्व नहीं होगा । क्योंकि इन सब स्थलों में शब्द या अर्थ की अपेक्षा अलंकार ही उपसर्जनीयता (गौण) होकर अन्य अलंकार के अभिव्यञ्जक होते हैं । इन पर यह कहा जा सकता है कि यह रूप तो तभी सम्भव होता जब अलंकार भी व्यंग्यार्थ के प्रतिपादन में वाच्यार्थ की सहायता की अपेक्षा करते । तभी उनमें उपसर्जनीयता स्वार्थ निर्देश ठीक बनता । किन्तु वास्तव में वाद ऐसी ही है, दीपकादि अलंकारों के भंगोन्निमित्त रूप होने से उनमें अभिव्यक्त या अर्थप्रतिपादनत्व स्वीकृत है । अतः उक्त लक्षण में अग्निधा का भी उपादान होना चाहिए ।^२ इस पर यदि यह कहें कि अर्थप्रतीति की जन्यमानुष्यनि में ही यहाँ अग्निधा की सत्ता मिट्ट है, माय ही अर्थ एवं शब्द के उपसर्जनीयता स्वार्थ-अर्थ सम्बन्ध से ही उनमें अग्निधा के उपसर्जनीयता की भी प्रतीति स्वतः ही जाती है, अतः अग्निधा का शब्दतः उपादान न होना कोई दोष नहीं अपितु गुण ही है । इसका उत्तर देते हुए अलंकार कहते हैं कि यदि ऐसा है तो केवल अर्थ का ही उपादान होना चाहिए था, शब्द का नहीं । अग्निधा के नमान ही शब्द के उपसर्जनीयता की प्रतीति अर्थ के उपसर्जनीयता कथन में ही हो जायेगी । यह सब विचार करके ही लक्षण में शब्द के उपादान को निरर्थक कहा है ।^३ शब्द की अर्थप्रत्याभिधा शक्ति के

१. शब्दः पुनरनुपादेय एव । तस्य स्वार्थाभिधानमन्तरेण व्यापारान्तरानुपपत्तेः । न च तस्यानुकरणव्यतिरेकिणोपसर्जनीयतायत्वं सम्भवति । यो हि सदर्थमुपादीयते, नामो तमेवोपसर्जनीयतरोनीति युक्तं वक्तुं ययोदकाद्युपादानार्थमुपात्ता घटादिस्तदेवोदकादि । अन्यथा प्रयति-तरव्यवस्था निर्निवन्धनैव स्यात् । अत एव घटादिवैव प्रतिनिधौ नोदकादीपमन्मदो लक्षणदीपः ।
—अभिनविदेह, पृ० १५-१७ ।

२. किञ्च यथाभिधेयोज्यस्तद्विशेषणं चोपात्तं तद्वदभिधायानुपादानमर्थस्यैव । अन्यथा यत्र दीपकालंकारादलंकारान्तरस्योपमादेः प्रतीतिस्तत्र ध्वनित्वमिष्टं न स्यात् तत्त्वज्ञानेनाप्यात्रैः । अलंकाराणां चाभिधायित्वमुपात्तं तेषां भंगोन्निमित्तभेदरूपत्वात् ।
—अभिनविदेह, पृ० १८-१९ ।

३. अर्थार्थप्रतीत्यन्यथानुपपत्त्यैव सद्भावाद्यगमः, अर्थशब्दयोरेवमर्जनीयता स्वार्थप्रतिपादन-सामर्थ्याच्च तदुपसर्जनीयतावाङ्गनिः, तस्याः प्राप्यायेन तजोपसर्जनीयतावाङ्गनिः व्यर्थमनु-पादानप्रसंग इति । एवं तदर्थस्यैवोपसर्जनीयतावाङ्गनिधेयो न शब्दस्य, तस्याभिधान इव तदुपसर्जनीयताभिधानसामर्थ्यादेव तदवगतिमिष्टैरिति लक्षणस्यैवैव शब्दग्रहणम् ।
—अभिनविदेह, पृ० २०-२१ ।

स्वार्थान्निधान व्यापार में ही समान हो जाने से उनमें व्यञ्जनादि व्यापारान्तर का जब सम्भाव ही सिद्ध नहीं होना, तो शब्द का अर्थान्तर को अभिव्यक्त करना एवं उसके प्रति अपने अर्थ का उपसर्जनीकरण सम्भव नहीं हो सकते, इसका प्रतिपादन पहले ही हो चुका है ।^१

३. अर्थपद का अनिश्चित अभिप्राय—ध्वनिवाच्य के लक्षण में तृतीय दोष यथार्थः में अर्थ पद के अनिश्चयार्थक प्रयोग में है । ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार अर्थ के तीन प्रकार होते हैं—वाच्य, लक्ष्य एवं व्यंग्य । इन तीनों में यहाँ विनका ग्रहण ही यह एक समस्या है । यदि यह कहें कि अर्थ से सामान्यतः वाच्य का ही ग्रहण होता है अतः ध्वनि-लक्षण में भी अर्थ से ध्वनिकार को केवल वाच्य का ग्रहण ही अनीष्ट है, लक्ष्य एवं व्यंग्य का नहीं तो—

एवं वादिनि देवयोः पार्श्वे पितुरधोमुखी ।

लोलकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥

‘कुमारसम्भव’ के इन श्लोक में जहाँ प्रतीयमान से ही अर्थान्तर का बोध होता है ध्वनि-वाच्यता इसलिए नहीं होगी कि यहाँ व्यंग्य की अभिव्यक्ति वाच्य से नहीं होती । इस प्रकार ध्वनि-लक्षण अध्याप्तिदोषग्रस्त हो जायेगा । अथवा यदि अर्थ पद से वाच्य तथा व्यंग्य दोनों का ग्रहण होना है ऐसा मानें, तो प्रहेलिकादि में भी अर्थान्तर के व्यंग्य होने से ध्वनि-वाच्यता अनिश्चय (अतिव्याप्ति-दोषग्रस्त) हो जायेगी, जो ध्वनिवादी आचार्य को भी अनीष्ट नहीं ।^२

४. तम् पद में पुल्लिङ्ग का अभिधान—लक्षण में प्रयुक्त ‘तमचंम्’ में तत्पद का पुल्लिङ्ग निर्देश भी ठीक नहीं है । क्योंकि तम् सर्वनाम पद है जो सर्वदा पूर्वप्रकान्त के परामर्शक होते हैं । उनमें लिङ्ग वचन आदि का प्रयोग पूर्वप्रोक्त सज्ञापद के अनुरूप ही होता है । लक्षण में प्रयुक्त तत्पद से पूर्व की कारिका में उक्त जिन ‘प्रतीयमान’ शब्द का परामर्श होता है वह नपुंसकलिङ्ग का है पुल्लिङ्ग का नहीं ।

प्रतीयमानं पुनरन्यदेव वत्स्वस्ति वाणीयु महाकवीनाम् ।

यत्तरसिद्धावपवानिश्चितं विभाति लावण्यमिवाङ्गनासु ॥

तथा—‘तरस्वती स्वाम्नु तदर्थवस्तु’ इत्यादि में या तो पाठविपर्यय करके पुल्लिङ्ग का पाठ होना चाहिए अथवा प्रकृत लक्षणकारिका में भी प्रतीयमान के परामर्शक तत्पद का नपुंसकलिङ्ग में ही प्रयोग होना चाहिए था । इन प्रकार पाठविपर्यय होने से पर्यायप्रथम-दोष उपस्थित होता है । पाठविपर्याय में छन्दोभङ्ग का भय नहीं है । महिममट्ट ने ठीक पाठ का विधान तो कर

१. न चास्य स्वार्थान्निधानमात्रसंबन्धितसामर्थ्यस्य व्यापारान्तरमृपपद्यते, येनापमर्थान्तर-
मवगमयेत्, तदर्थे चोपसर्जनीकृतापेत्वमिवात् । अर्थस्यैव तदुपपत्तिसमर्थनात् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २१ ।

२. यद्यर्थ इति वाच्योऽर्थोऽभिमतो व्याप्तिरेव सा ।

येनैवंवादिनीत्यादावर्थस्यार्थान्तराद् गतिः ॥२१॥

अयोभौतहर्षनिव्याप्तिद्वित्रवस्तुव्यवधिनि ।

प्रहेलिकादिरूपेऽपि काव्ये ध्वन्यात्मता यतः ॥२२॥

—व्यक्तिविवेक, प्रथम विमर्श ।

दिया है, लेकिन पाठविपर्याप्त की अपेक्षा तद् पद में नपुंसकलिङ्ग के प्रयोग में ही लापव माना है। अतः यहाँ उक्त रीति से पर्याय-प्रक्रमभेद दोष विद्यमान है।^१

५. विकल्पार्थक 'वा' का असम्भव प्रयोग—लक्षण में 'वा' शब्द का प्रयोग विवक्ष्य या समुच्चय दोनों में से किसी अर्थ में नहीं बनता। इसका विकल्पार्थक होना इसलिए सम्भव नहीं कि यहाँ पक्षान्तर का अभाव है। यदि यह कहें कि अर्थ या शब्द में से एक ओर से ही वाक्य का निर्वाह हो जाने से पक्षान्तर सम्भव है तो 'व्यंक्तः' में द्विवचन का प्रयोग व्यर्थ हो जायेगा। विकल्प में एक वचन ही पर्याप्त होता है। उदाहरणतः 'शिरःश्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' पद्य में विकल्पार्थक 'वा' के प्रयोग से क्रिया में एकवचन का ही प्रयोग हुआ है। द्विवचन के प्रयोग की उपपत्ति समुच्चय में ही है। किन्तु ग्रंथकार को समुच्चय अभीष्ट नहीं है ऐसा माना ही जा सकता है। क्योंकि समुच्चयार्थ में 'वा' का प्रयोग मानने पर जहाँ शब्द एवं अर्थ दोनों ही व्यञ्जक होंगे, उसी काव्य में ध्वनिव्यपदेश हो सकेगा। केवल शब्द अथवा केवल अर्थ की व्यञ्जकता दशा में ध्वनिकाव्यता नहीं होगी; ^२ जो सर्वथा अनभिप्रेत है। इस प्रकार यहाँ वा शब्द का प्रयोग एवं उसके साथ प्रयुक्त व्यंक्तः में द्विवचन, दोनों ही अनुपपन्न हैं।

६. व्यंक्तः में द्विवचन की अनुपपत्ति—ध्वनिलक्षणकारिका में क्रियापद के रूप में 'व्यंक्तः' का प्रयोग हुआ है जो कि विपूर्वक 'अञ्जु व्यक्तिग्रक्षणकान्तिगतिपु' घातु में लट् लगाकार प्र० पु० द्विवचन में निष्पन्न होता है तथा जिसका अर्थ है—दोनों व्यक्त करते हैं। वतृवाच्य की क्रिया के पुरुष और वचन कर्ता के अनुसार प्रयुक्त होते हैं। यहाँ कर्ता के रूप में अर्थ और शब्द दो पदों का प्रयोग हुआ है पर दोनों का अलग-अलग उल्लेख है। इनको वारी-वारी से क्रिया से जोड़ने वाला अव्यय 'वा' है। 'वा' के दो अर्थ होते हैं—समुच्चय और विकल्प। वा के समुच्चय अर्थ को लेकर यहाँ क्रिया में द्विवचन का प्रयोग युक्तियुक्त हो सकता था। किन्तु ध्वनिवार को 'वा' का विकल्प अर्थ ही अभीष्ट है, समुच्चय नहीं। क्योंकि अर्थान्तर व्यंग्य की अभिव्यक्ति जहाँ केवल शब्द से होनी है या केवल अर्थ से होती है वह भी ध्वनिकाव्य होता है। अतः

१. किञ्च तमिति तदः पुंस्त्वेन निर्देशोऽनुपपन्नः । तस्यानन्तरप्रश्नान्तरार्थपरामर्शान्तरस्तल्लिङ्गतापत्तेः ।
[न चात्र तल्लिङ्गताविशिष्टः कश्चिदर्थः प्रकान्तः, यस्तुतो नपुंसकलिङ्गस्थानान्तरं प्रकान्तत्वान् ।
तेन तत्रैव—

“प्रतोषमानः पुनरन्य एव सोऽर्थोऽस्ति वाणीषु महाबधोनाम् ।

योऽस्ती प्रतिहावपवातिरिक्तश्चकास्ति लावण्यमिवाङ्गनाम् ॥”

इति । सरस्वती स्वादुतमं तमर्यमिति च पाठविपर्याप्तः कर्तव्यः । न तत्रैव वस्तुनिति । तत्रैव हि पाठविपर्याप्तः पर्यायप्रक्रमभेदः पुंस्त्वनिर्देशश्च परिहृती भवनः । अत्रत्येक एव तदः पुंस्त्वनिर्देशदोषः । एवं च प्रमेयशय्या श्येसी । —ध्वनितत्रिके, पृ० ९१-९२ ।

२. किञ्चात्र वा शब्दो विकल्पार्थो वा स्यात् समुच्चयार्थो वा । न तावद्विकल्पार्थः पक्षान्तरात्मन-
वस्य व्युत्पादितत्वात् । सम्भवे चास्य द्विवचनानुपपत्तिः, तयोस्समुच्चयाभावात् । यथा 'शिरः-
श्वा काको वा द्रुपदतनयो वा परिमृशेत्' इत्यत्र बहुवचनस्य । समुच्चयार्थत्वे यत्र शब्दार्थ-
योरैकैकस्य व्यञ्जकत्वं तत्र ध्वनित्वमिष्टं स्यात् । —ध्वनितत्रिके, पृ० ८९-९० ।

लक्षणकारिका में 'शब्दो व्यनक्ति वा अर्थो व्यनक्ति' रूप में क्रिया में एकवचन का ही प्रयोग होना चाहिए। यह विचार व्याकरण की दृष्टि से हुआ।

'वा' और 'व्यंक्तः' दोनों का अर्थ परस्पर सापेक्ष है। व्यक्तः के द्विवचन से 'वा' का समुच्चय अर्थ ही करना होगा, किन्तु ध्वनि के निरूपण में वा का समुच्चय अर्थ सर्वथा असंगत होगा। नट्टनायक का कहना था कि ध्वनि के मुख्य दो भेदों—विवक्षितान्यपरवाच्य एवं अविवक्षितवाच्य में पूर्वत्र कही शब्द तो कही अर्थ व्यञ्जक होता है तथा उत्तरत्र तो कही शब्द ही व्यञ्जक होता है। दोनों शब्द और अर्थ एक साथ कही भी व्यञ्जक नहीं हो सकते। अतएव 'वा' का समुच्चय अर्थ नहीं किया जा सकता। विकल्प अर्थ करने पर 'व्यंक्तः' में द्विवचन का प्रयोग सर्वथा अनुद्ध एवं भ्रान्तिमूलक है। आचार्य अभिनवगुप्त का कहना है कि यद्यपि अविवक्षितवाच्य के स्थलों में शब्द ही व्यञ्जक होता है तथापि वहाँ अर्थ की भी सहकारिता होती है क्योंकि यदि वहाँ अर्थ की सहकारिता न हो तो ऐसा शब्द भी व्यञ्जक होने लगेगा जिसका अर्थ ज्ञात नहीं। इसी प्रकार विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के उन सभी स्थलों में जहाँ अर्थ ही व्यञ्जक होता है शब्द की भी सहकारिता अवश्य होनी है। क्योंकि वह अर्थ तब तक व्यञ्जक नहीं हो सकता जब तक कि वह स्वयं विशिष्ट शब्द का अर्थ न हो। इस प्रकार सर्वत्र ध्वनि के स्थलों में शब्द एवं अर्थ दोनों का ध्वनन व्यापार युगपत् होता है।^१ इस प्रकार उक्त विवेचन से 'व्यंक्तः' में द्विवचन की उपपत्ति बन जाती है। फिर नी नट्टनायक का द्विवचन के प्रयोग को दोषयुक्त कहना गजनिमीलन के अतिरिक्त और क्या है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि समस्या का यह समाधान पूर्ण नहीं हुआ। 'व्यंक्तः' के द्विवचन का समर्थन तो हम भी कर सकते हैं पर उस स्थिति में 'वा' का अर्थ विकल्प न कर समुच्चय ही मानना होगा जो ध्वनिकार को अभीष्ट नहीं है। इस पर आचार्य अभिनव का कहना है कि 'वा' के विकल्प अर्थ का अभिप्राय उस स्थल में उसी की प्रधानता से है अर्थात् जहाँ शब्द व्यञ्जक है वहाँ प्रधानता शब्द की रहती है और वहाँ अर्थ गौण होता है, इसी प्रकार अर्थ की व्यञ्जकता में अर्थ प्रधान और शब्द गौण होता है। शब्द-व्यञ्जकता और अर्थ-व्यञ्जकता का अलग-अलग उल्लेख 'प्राधान्येन व्यपदेशाः नवन्ति' न्याय से हुआ है। क्योंकि अनेक के विद्यमान होने पर जो मुख्य होता है उसी के नाम वस्तु की सज्ञा पडती है।^२

आचार्य महिमनट्ट ने अभिनवगुप्त वृत्त ध्वन्यालोक लोचन के इस खण्डन-मण्डनारमक विवेचन को अविकल रूप से समुद्धृत करते हुए कहा है कि अपने को ही पण्डित मानने वाले व्यक्ति (अभिनवगुप्त) के उक्त विवेचन में कोई सार नहीं है बल्कि वह भ्रान्ति-मूलक भी है। ध्वनिकारवृत्त ध्वनिकाव्य लक्षण कारिका में हुए व्यञ्जकः में द्विवचन के प्रयोग के समर्थन की आकांक्षा से उस व्यक्ति (अभिनवगुप्त) का चित्त इतना विक्षिप्त हो गया है

१. व्यञ्जकः इति द्विवचनेनेदमाह—यद्यप्यविवक्षितवाच्ये शब्द एव व्यञ्जकः तथाप्यर्थस्यापि सहकारितान् त्रुट्यति अन्यथा अज्ञातार्थोऽपि शब्दः तद्व्यञ्जकः स्यात्। विवक्षितान्यपरवाच्ये च शब्दस्यापि सहकारित्वं भवत्येव। विशिष्टशब्दाभिधेयतया विना तस्यार्थस्य अव्यञ्जकत्वात् इति सर्वत्र शब्दार्थयोर्द्वयोरपि ध्वननं व्यापारः। ध्व० लो० का० १।१३ पर लोचन।
२. अर्थःशब्दो वा इति तु विकल्पाभिधानं प्राधान्याभिप्रायेण। ध्व० लो० का० १।१३ पर लोचन।

कि वह वाच्य तथा वाचक की प्रतीति के बीच स्थित सर्वमान्य क्रम को भी भूल गया है और उन दोनों की प्रतीति को एक समय में ही होने वाली समझ कर शब्द एवं अर्थ की परस्पर की सहकारिता के द्वारा ही द्विवचन की उक्ति का उसने समर्थन किया है।^१ महिमभट्ट का आशय यह है कि शब्द एवं अर्थ की परस्पर की सहकारिता तभी बन सकती है जब उनकी प्रतीति में योग्यता हो। व्याकरण के स्फोट-सिद्धान्त के अनुसार ध्वन्यात्मक शब्दों से अर्थ की प्रतीति ध्वनि की प्रतीति के अनन्तर ही होती है। पदज्ञान को वाक्यार्थ-ज्ञान का करण तथा पदार्थज्ञान को अवान्तर व्यापार (द्वार) कहा गया है।^२ करण असाधारण-कारण को कहते हैं जिसकी सत्ता द्वार एवं अवान्तर व्यापार से पूर्व नियत होती है।

इसके अतिरिक्त वाच्य एवं व्यंग्य की प्रतीति में क्रम के होने की व्यवस्था देते हुए रदन ध्वनिकार ने कहा है कि वाक्यार्थ के समान ही व्यंग्यार्थ की प्रतीति भी पद में पदार्थ के द्वारा ही होती है,^३ जिसका अभिप्राय यह है कि पहले पद फिर पदार्थ अनन्तर वाक्यार्थ या व्यंग्यार्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार व्यञ्जक पद एवं उसके अर्थ की प्रतीति को एककालिक नहीं समझना चाहिए। इसलिए भी इनको एककालिक नहीं समझना चाहिए कि इनमें परस्पर साध्य-साधन-भाव सम्बन्ध निहित होता है। अर्थ साध्य और शब्द उत्तका साधन माना गया है।^४ साधन की साध्य के प्रति पूर्वकालिकता सर्वशास्त्र सिद्ध है। यही उनके बीच क्रम है। आचार्य महिमभट्ट का कहना है कि शब्द एवं उसके अर्थ में पूर्वापरभाव विद्यमान होने से वे व्यंग्य की प्रतीति कराने में एक-दूसरे के सहकारी नहीं हो सकते। स्वतंत्र रूप से शब्द व्यञ्जक का प्रत्यायक हो सकता है। इसी प्रकार अर्थ को भी स्वतंत्र रूप से व्यञ्जक माना जा सकता है। पर 'दोनों की सहकारिता से अन्वयार्थ व्यञ्जित होता है' अभिनवगुप्त का यह कथन अनगल है। फिर 'व्यंजन' के द्विवचन की सार्थकता का उसी आधार पर समर्थन घूलिप्रक्षेपमान है। अत्र 'यत्रार्थः शब्दो वा' में प्रयुक्त 'वा' का अर्थ यदि विक्लप है ममुच्चय नहीं तो 'व्यंजनः' का द्विवचन सर्वथा सदोप ही है।

१. अत्र केचिद्विद्वग्मानिनो द्विवचनसमर्थनामनोरयाक्षिप्तचित्ततया वाच्यवाचकयोर्विस्मृत-सुप्रसिद्धप्रतीतिक्रमभावाः तयोरेककालिकतां शब्दस्योक्तनयनिरस्तामपि व्यञ्जकतां पश्यप्रस्तनिबन्धनां ध्वनिभेदयोः अविशितविवाहितान्यपरवाच्ययोः ध्वननव्यापारं प्रति पर्यायेण अग्योग्यसहकारितां तदपेक्षां चानयोः प्रधानेतरतामुपकल्प्य सहकारितया ध्वनि-क्रियां प्रति उभयोरपि कर्तृत्वात् तदपेक्षो व्यञ्जक इति द्विवचननिर्देशः प्राधान्यापेक्षक 'यत्रार्थः शब्दो वेति' विकल्प इति मन्ग्यमानाः व्यञ्जकः इति द्विवचनेन दमाह-यद्यपि... इति पदाह-स्तद्भ्रान्तिमात्रमूलं न तत्त्वमित्यलमवस्तुनिबन्धनेन। — ध्वनिविवेक, पृ०, ९०-९१।

२. पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थयोः। शाब्दजोषः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।

— न्यायसिद्धान्तमुक्तावली शारिका; ५।।

३. यथा पदार्थद्वारेण वाक्यार्थः सम्प्रतीयते।

वाच्यार्थपूर्विका तद्वत्प्रतिपत्तस्य वस्तुनः। — ध्व० वा० १।१० ॥

४. सर्वेषु हि शाब्दव्यवहारः साध्यसाधनगर्भनया प्रायोगानुमानरथोऽन्युपगन्तव्यः।

— ध्वनिविवेक ५० २१।

७. व्यञ्जित (व्यञ्जना) की सिद्धि में दोष—लक्षण में प्रयुक्त 'व्यञ्जित' पद से व्यञ्जना नामक शब्दव्यापार की सत्ता का निर्देश हुआ है। किन्तु जब शब्द में अग्निधा के अतिरिक्त किसी अन्य व्यापार की सत्ता ही सम्भव नहीं है तो व्यञ्जनाशक्ति की मान्यता के अभाव में, ध्वनिकाव्यलक्षण ही निमूल एव विमूलक हो जाता है। शब्द में व्यापारान्तर की सत्ता के अभाव का विवेचन विस्तारपूर्वक तृतीय परिच्छेद में हो चुका है।

८. काव्य-विशेष पद का प्रयोग—लक्षणकारिका में प्रयुक्त 'काव्यविशेषः' पद भी अनुपयुक्त ही है, क्योंकि यहाँ पर काव्य में विशिष्टत्व ही नहीं बनता। जब काव्यमात्र को ध्वनिपद से व्यपदिष्ट किया गया है एव सर्वत्र रसात्मकता की प्रतीति का ही विधान हुआ है तो फिर ध्वनि को काव्यविशेष कहना कहा तक उपयुक्त है? स्वयं ध्वनिकार ने कहा है कि—काव्य की आत्मा वही प्रतीयमान अर्थ है जो आदि कवि वाल्मीकि के क्रीच-गुण के विभोग से उत्पन्न शोक की ही श्लोक के रूप में परिणतिस्वरूप है तथा वह रस है। निरतिशय सुखास्वादरूप होने से उसका विशेष कथनपि सम्भव नहीं।^१ कहा भी है कि काव्य के पाठ की सगीतमयी ध्वनि से जब रससत्ता की अनुभूति होने लगती है तो व्यक्ति क्षणभर के लिए आत्मविनोर हो उठता है। उस समय आस्वादकर्ता एकमात्र अपने स्वरूप में अवस्थित होता है। विगलित-वेद्यान्तर होने से उसे चित्त की निर्वृति-रूप आनन्द का वह निष्पद प्रकाशित हो जाता है जिसमें योगी लोग तृप्त हो निरतिशय सुखास्वाद का अनुभव करते हैं।^२ उसके अभाव में तो काव्यता ही नहीं बनती, उसकी विशेषता के वाचान की तो बात ही क्या है। अतः उनका प्रयोग निष्फल है।^३

यहाँ यह कहा जा सकता है कि काव्य रसात्मक है और रस की सत्ता में ही काव्य में ध्वनि का व्यपदेश हुआ है तो भी रसों के वैशिष्ट्य से काव्य में वैशिष्ट्य क्यों न स्वीकार किया जाय? इनका खण्डन करते हुए कहते हैं कि—यह कथन इसलिए ठीक नहीं है कि ऐसा स्वीकार करने पर भी सामान्यतः रसवैशिष्ट्य में काव्यवैशिष्ट्य का कथन ठीक नहीं। क्योंकि रस अनेक हैं वे सब मिलकर एकत्र अवस्थित नहीं हो सकते। प्रत्युत रसवैशिष्ट्य से प्रकरणवदा या प्रवन्धा-नुकूल किसी का कही उपनिबन्धन होता है तो दूसरे का अन्धन। इन प्रकार प्रतिनियत किसी एक का किसी स्थानविशेष पर ही अवस्थान होने से प्रतिनियत रसात्मा काव्य की ही ध्वनि

१. अपि च काव्यविशेष इत्यत्र काव्यस्य विशिष्टत्वमनुपपन्नम्, काव्यमात्रस्य ध्वनिव्यपदेश-विषयत्वेनेष्टत्वान् तस्य रसात्मकत्वोपगमाद्। यत् स एवाह- काव्यस्यात्मा स एवायं: इत्यादि। न च तस्य विशेषः सम्भवति निरतिशयसुखास्वादलक्षणत्वात् तस्य।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ९२-९४।

२. यदाहुः— पाठ्यादय प्रुवागानात् ततः सम्पूरिते रसे।

तदास्वादभरंकाश्री हृष्यत्यन्तमुंक्षः क्षणम् ॥

ततो निविषयस्यास्य स्वहपावस्यती निद्रः।

व्यग्यते ह्लादानिध्वन्दो येन तृप्यन्ति योगिनः ॥इति॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ९४।

३. तदभावे चास्य काव्यत्वं न स्यात् किमुत विशेष इति अनारम्भणीयमेवंतत् प्रेक्षादतां स्याद्

—व्यक्तिविवेक, पृ० ९५।

संज्ञा होगी। प्रकृत से निम्न रसवाले काव्य की ध्वनिमन्त्रा नहीं होगी। लेकिन वहाँ पर भी ध्वनि-संज्ञा अनोप्य है। अतः लक्षण में ही लक्षण के न जाने से वह अव्याप्ति दोषग्रस्त हो जाता है।^१ यदि यह कहें कि वस्तुमात्रादि से रसात्मक काव्य में वैशिष्ट्य उत्पन्न हो सकता है तो ठीक नहीं। क्योंकि वस्तुमात्रादि विभावनादि के रूप में रसानिबन्धित के हेतुमात्र हैं। ध्वज्जको की विशेषता पर व्यंग्य की विशेषता का कथन उन्ही प्रकार ठीक नहीं जिस प्रकार शब्दों, पदों, कृत्वा आदि से गीत में किसी प्रकार की विशेषता का आधान नहीं होता। यदि उक्त प्रकार से ध्वनि-काव्य में विशेषता मानने लगे तो जहाँ पर वस्तुमात्र या अलंकार इन दोनों की या इनमें से किसी एक की ध्वन्यता होगी वहीं ध्वनि का व्यपदेश हो सकेगा। केवल-रसादि के स्थल में ध्वज्ज-कृत वैशिष्ट्य के अभाव के कारण ध्वनिव्यपदेश नहीं हो सकेगा, जो अनोप्य नहीं। इस प्रकार रसादिमानसंबलित काव्य तो काव्यता से वंचित ही हो जायेगा, जिसे ध्वनिकार ने काव्यात्मा कहा है। और प्रहेलिकादि में वस्तुमात्रादि की विशेषता से अनोप्य भी ध्वनिकाव्यता अतिशय ही जायेगी। अतः काव्य-विशेष में विशेष पद का उपादान ठीक नहीं है।^२ मेघदूत आदि विरहग्रन्थ काव्यों में रसों के वैशिष्ट्य से जो काव्य का वैशिष्ट्य देखा जाता है वह अनियोज्य विशेष के अनुरोध से है, मुख्यतः नहीं।^३ इस विवाद का समापन करते हुए कहते हैं कि काव्य की विशेषता के उक्त प्रकार से अस्तिद्ध हो जाने पर ध्वनिकार के काव्यलक्षण और इनसे पूर्व के दृष्टी सामानादि के काव्यलक्षणों में कोई भेद नहीं रह जाता। यदि कोई विशेषता रह जाती है तो वह ध्वनिमन्त्रा-मात्र की जिसकी अनुपपुक्तता का दिवेचन आगे किया जायेगा।^४

१. काव्यलक्षण में ध्वनि पद का व्यर्थ प्रयोग—यदि किसी प्रकार ध्वनि की गता सिद्ध भी हो जाय तो लक्षण-वाक्य में उसका शब्दतः उपादान नहीं होना चाहिए। क्योंकि ध्वनिव्यपदेश से लक्षण में किसी प्रकार की विशेषता का आधान नहीं होना प्रत्युत जो प्रतीति स्वतः हो जाती है उसके लिए शब्द का उपादान करने

१. न च रसानां वैशिष्ट्ये तदात्मनः काव्यस्य विशिष्टत्वमिति युक्तं वदतुम् अव्याप्तेः। एवं हि प्रतिनिधनरसात्मन एव तस्य ध्वनित्वं स्यात्, नान्यस्यान्यरसात्मनः, वैशिष्ट्यपानावात्। इत्यने च तत्रादीत्यव्याप्तिर्लक्षणदोषः। —ध्वनिविदेक, पृ० ९७-९८।

२. न च रसात्मनः काव्यस्य वस्तुमात्रादिनिविशेषः शक्य आधानं, तेषां विभावनादिरूपनया रसानि-ध्वनिहेतुत्वोपगमात्। न च ध्वज्जकानां वैशिष्ट्ये ध्वन्यस्य विशेषोऽनुपपन्नं युक्तः शब्द-लेखादीनामिव गीतस्य। ततोऽस्य विशिष्टत्वोपगमे वा यत्र तयोश्चोरोकेऽस्य वा व्यङ्ग्यता तत्रैव ध्वनिव्यपदेशः स्यात् केवलरसात्मनि काव्ये वैशिष्ट्यपानावात्। इत्यन्ते चार्थो तत्राति। प्रहेलिकादी च नोरते स्यात्। तत्राप्युक्तकमेव वस्तुमात्रादेरनिबन्धेऽप्यन्वेष्टत्वाद् इत्यन्त-ध्वनिरोकान्यां काव्यत्वमात्रप्रयुक्तोऽज्ञावित्यनुमीयते। —ध्वनिविदेक, पृ० ९९-१००।

३. किञ्च मूहुरेतरसात्मनि काव्ये सम्प्रवृत्ति न तस्य गीतस्याप्युक्तं युक्तं गीतस्योपगमोऽस्ये वा। सम्प्रत्यय इति नियमान्। यस्तु मेघदूतादी काव्यविशेषव्यपदेशः सोऽनियोज्यविशेष-मारोप्यतो न मुख्यः। —ध्वनिविदेक, पृ० १०१।

४. इत्थंच काव्यस्य विशिष्टतानुपपत्तादिनरसलक्षणविषयानिभवनिरिक्तं न विचिदनेतानि-हितं स्याद्, अन्यत्र ध्वनिव्यपदेशमात्रान्। न च तेनापि विचिन्। —दृष्टी, पृ० १०१-०२।

से अवाच्य-वचन दोष आपतित होता है। जिस प्रकार राजा की सवारी निकलने का समाचार पाकर राजमार्ग में उपस्थित सामान्यदर्शक भी आगन्तुको में अस्वास्ठ्य व्यक्ति को बिना किसी निर्देश के ही राजा समझ लेते हैं उसी प्रकार ध्वनिविचार के प्रकरण में काव्यलक्षण की ध्वनि-सन्निता स्वतः बोधगम्य है। उसका शब्दतः उपादान अनावश्यक, अतः गौरवास्पद है।^१

१०. सूरिभिः बहुवचन का निर्देश—लक्षण में 'सूरिभिः कथितः' पद से कथन क्रिया और उसके कर्ता सूरिभिः का निर्देश हुआ है। यह निर्देश वतु-सामान्य अथवा कर्तृ-विशेष के रूप में ही हो सकता है। व्यक्तिविवेककार का आशय यह है कि यदि कर्तृ-सामान्य में सूरिभिः का प्रयोग हुआ है तो ऐसा नहीं होना चाहिए था। क्योंकि—'येन विना यदनुपपन्नं तत्तेना-भ्रियते' न्याय से कर्ता के बिना अनुपपन्न क्रिया से ही सामान्य कर्ता का बोध आक्षिप्त हो जाता है। यदि यहाँ कर्तृ-विशेष की विवक्षा है तो भी उसका शब्दतः उपादान इसलिए नहीं होना चाहिए कि अनन्तरोक्त क्रम से व्यापार-विशेष के सम्बन्ध से ही वतु-विशेष की प्रतीति हो जाती है। अतः पूर्वोक्त न्याय से जो अर्थ अन्य प्रकार से प्रतीत हो रहा है उसके लिए वाचकपद का प्रयोग लक्षण को अवाच्यवचनदोषप्रस्त कर देता है।^२

आचार्य ने ध्वनिलक्षण में दोषों की उद्भावना के अनन्तर ही उनका निराकरण कर परिष्कृत ध्वनिलक्षण वाक्य का अर्थ किया है कि—जहाँ पर वाच्य या उससे अनुमिन अर्थ किसी भी सम्बन्ध से अर्थान्तर को प्रकाशित करे वह काव्यानुमिति है—

वाच्यस्तदनुमिती वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।

सम्बन्धतः कृतश्चिन्त् सा काव्यानुमितिर्त्युक्ता ॥—व्यक्तिविवेक, वि० १।२५ । यह ध्वनिकारकृत ध्वनिकाव्यलक्षण का ही दोष-निवृत्तिपूर्वक परिष्कृत रूप है। उनका कहना है कि—ध्वनिकार जानन्दवचन ने जिन बातों को ध्यान में रखकर काव्यलक्षण का निरूपण किया है, उनके लिए उन्हें उक्त लक्षण ही करना चाहिए था। उनके मूल-लक्षण एवं इम परिष्कृत लक्षण में अर्थतः कोई भेद नहीं। इस लक्षण के स्वरूप के विषय में कहते हैं कि यदि विचार कर देखा जाय तो प्रकारान्तर से यह अनुमान का ही लक्षण है। त्रिरूप लिगाह्यान को ही परार्थानुमान कहा गया है। अतः ध्वनि और परार्थानुमान में वस्तुतः कोई भेद नहीं। भेद है तो केवल सजा का।^३ क्योंकि वाच्य का आत्मारूप संज्ञी रम है, इमकी मान्यता में किसी को जिसबाद नहीं। विमति तो वाच्य को सजा के विषय में ही है। ध्वनिकार जिसे व्यंग्य या ध्वनि कहने

१. न च ध्वनिष्यपदेशे नापि किञ्चित् कर्तृचिद्धा तदुपपत्तौ तदवाच्यमेव तस्य तात्पर्यावसायिनो लक्षणविशेषसम्बन्धादेव तदवगतैः । यथा योऽश्वमाह्वः स पुरुषो राज्ञेत्यत्र । अथ पुरुषस्या-द्वविशिष्टस्यैव सनस्तल्लक्षणसम्बन्धो न तु तन एवात्य वैशिष्ट्यमिति, तथाप्यवाच्यं, काव्य-त्वादेव तस्यान्वयगतत्वान् । तच्चोक्तमित्यवाच्यवचनं दोषः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १०२-१०३ ।

२. किं 'सूरिभिः कथित' इति कथनक्रियाकर्तृनिर्देशः पञ्चद्वयेष्यवाच्य एव । कर्तृभात्रविव-क्षायां क्रियायाः कर्तृव्यभिचारात् कर्तृविशेषविवक्षायामनन्तरोक्तकथनेषु व्यापारविशेष-सम्बन्धादेव तद्विशेषावगतिसिद्धिरित्यवाच्यवचनं दोषः । —व्यक्तिविवेक, पृ० १०३-१०४ ।

३. एतच्चानुमानस्यैव लक्षणं नाप्यस्य । यदुक्तं त्रिरूपलिगाह्यानं परार्थानुमानमिति केवलं संज्ञानेदः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १०५ ।

हैं महिमनट्ट उने ही अनुमति बहने हैं । वह भी इसलिए कि व्यञ्जना के योग के बिना व्यंग्य या ध्वनिमंज्ञा कैसे हो सकती है । व्यञ्जना की सत्ता कथमपि सम्भव नहीं ।

उक्तं वृथैव शब्दस्योपादानं लक्षणे ध्वनेः ।

न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्यान्तरे गतिः ॥१२८॥

ध्वनि के लक्षण में शब्द पद का ग्रहण व्यर्थ ही किया है । क्योंकि अपान्तर के बोध की प्रक्रिया में शब्द-शक्ति की गति इष्ट नहीं ।

न धोपसर्जनत्वेन तपोयुक्तं विशेषणम् ।

यतः काव्येगुणीभूतव्यङ्ग्येषोऽप्येवं चारता ॥१२९॥

चूँकि काव्य में गुणीभूत-व्यंग्य को लेकर भी चारता होने वा विधान ध्वनिनिदान-सम्मत है । अतः शब्द और अर्थ के विशेषण उपसर्जनीकृतात्मत्व का प्रतिपादन भी उन्मुक्त नहीं हुआ है । गुणीभूत-व्यंग्य के स्थल में जहाँ वाच्य वा ही चमत्कार-विशेष होता है, अन्ते की गौण बनाने के अभाव में वहाँ ध्वनिकाव्यता उपपन्न नहीं होगी ।

अतएव विशेषस्योपादानमपि नार्यवत् ।

संज्ञासम्बन्धमात्रैकफलं तदिति गम्यते ॥१३०॥

अतएव (उपर्युक्त वारण से) ध्वनिलक्षण कारिका में 'काव्य-विशेषः' पद में विशेष शब्द का वचन भी सार्यक नहीं है । ऐसा प्रतीत होता है कि उसका एकमात्र प्रयोजन ध्वनि-संज्ञा से सम्बन्धमात्र की प्रतीति कराना है न कि ध्वनि की ।

यदा चातिप्रसङ्गः स्यात्संज्ञायां यस्य कस्यचिन् ।

यद्वाक्यवर्तितनोऽन्यस्य विशेषस्य तदापितः ॥१३१॥

यदि ऐसी ही बात है तो ध्वनि-संज्ञा में अतिव्याप्तिदोष प्रसक्त होगा । क्योंकि प्रहेलिका आदि जिस किसी जगह काव्य से सम्बन्धित विशेष का ध्वनि से ग्रहण होने लगेगा; अपान्ति किसी भी वाक्य में स्थितविशेष का ध्वनिपद से ग्रहण होने लगेगा ।

व्यक्तिविवेककारकृत ध्वनि-लक्षण की उपर्युक्त गहन मीमांसा, इस बात का पुनः प्रमाण है कि आचार्य महिमनट्ट को मेधाकाव्यतत्त्व के विषय में भी कितनी परिपक्व एवं सरावण थी । अपने समसामयिकों का विचित्पूर्ववर्ती महामाहेस्वराचार्य अमिनदगुण के मत का भी उन्होंने जो सण्डन किया है, वह इनकी असाधारण विद्वत्ता का परिचायक है । आनन्दकर्मण का ध्वनि-लक्षण विद्वानों में बढ़ा ही लोकप्रिय है । उसमें इतने दोष हो सकते हैं, इनकी सम्भावना तक साहित्यशास्त्र के उत्तमोत्तम आचार्यों के लिए नितान्त असम्भव एवं अत्यन्त दुरह है । इनकी समीक्षा का प्रभाव उत्तरकालीन आचार्यों पर नहीं पड़ा, ऐसी बात नहीं है । यह बात और है कि साझान् तीर पर भी किसी आचार्य ने इनके लिए महिमनट्ट की सराहना नहीं की है । अत्रत्यश रूप से सबने पहले काव्यब्रह्मण्य ने ही इन दोषों की यथार्थता का अनुभव किया और अपना लक्षण काव्य-विशेषद्वारा न बरके काव्य सामान्यपरक ही किया । मम्मट, भोज, हेमचन्द्र, विद्वनाय बहिराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति उत्तरकालीन साहित्यशास्त्र के सभी आचार्यों ने अपनी कृतिषु में काव्यसामान्य का ही लक्षण किया है तथा काव्यविशेष के रूप में ध्वनि का कर्तव्य उत्तम, मध्यम, अधम आदि काव्यविभेद की परिपाटी से किया है । यह निःसंशय व्यक्तिविवेककार

महिममट्ट का ही था। इसके अनिश्चित सबसे बड़ी बात यह हुई कि काव्य के निकृष्ट लक्षण करने की महिममट्ट ने एक ऐसी कसौटी प्रदान की जिसने उत्तरकालीन आचार्यों को सावधान कर दिया और उन्होंने अपने काव्यलक्षण महिममट्टप्रतिपादितनरणि पर ही किये, ध्वनिकार के अनुकरण पर नहीं। पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्यलक्षणों में दोषों की उद्भावना कर अपने निर्दुष्ट काव्यलक्षण की प्रतिस्थापना की परम्परा भी महिममट्ट की ही देल है।

इन सम्बन्ध में जो आश्चर्य की बात है वह यह कि उत्तरकालीन ध्वनिवादी किसी भी आचार्य ने व्यक्तिविवेक में उद्भावित ध्वनिलक्षण के दम मूल्य दोषों में प्रयुक्त युक्ति एवं तर्कों का नमाघान या खण्डन नहीं किया है और न यही कहा है कि महिममट्ट ने ध्वनिलक्षण में जम्क-अनुक दोषों का उद्भावन किया है। यह मौन महिममट्ट की विवेचना की गम्भीरता का ही नायक है कि उनका उत्तर देना सम्भव नहीं था। उनका समर्थन भी इसलिए नहीं किया जा सकता था कि उसने ध्वनिवाद का खण्डन ही होना है। जो भी हो, महिममट्ट का ध्वनिलक्षण-विवेचन बहुत पाण्डित्यपूर्ण एक सारगर्भित है। इसके अध्ययन में काव्य के वास्तविक स्वरूप एवं लक्षण के विषय में स्पष्टता आ जाती है।

(उ) भक्ति एवं ध्वनि की एकरूपता

भक्ति का अभिप्राय गुणवृत्ति लक्षणा से है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की टीका 'लोचन' में भक्ति पद की तीन व्युत्पत्तियाँ दी हैं —

१. भज्यते इति मुख्यस्य अर्थस्य भंगो भक्तिः ।

मूल्याय का भंग होना भक्ति की प्रथम व्युत्पत्ति है। लक्षणा में ही मुख्य अर्थ का भंग (वाच) होना है अतः भक्ति का अर्थ लक्षणा है।

२. भज्यते सेध्वने पश्येन प्रसिद्धतया उत्प्रेश्यते इति भक्तितर्धमः अभिप्रेयेन सामीप्यादिः

शब्द का अर्थ जिसका सेवन करना है अर्थात् अभिप्रेय (वाच्य अर्थ) से जिसकी उत्प्रेक्षा होने लगे वह सामीप्य आदि वह सम्बन्ध ही भक्ति है। इस व्युत्पत्ति के अनुसार लक्षणा की द्वितीय शक्ति मुख्यार्थ से सम्बन्ध का ग्रहण किया है।

३. तीक्ष्णो व्युत्पत्ति है—गुणात्तमुदायवृत्ते शब्दस्य अर्थभागः तीक्ष्ण्यदिः प्रयोजनं भक्तिः

गुणों के आधार पर शब्द का अर्थ करने वाली तीक्ष्ण वृत्ति से प्रतिपादित तीक्ष्णता आदि प्रयोजन ही भक्ति है। अथवा 'प्रतिपाद्ये सामीप्यनैश्च्युदादी श्रद्धानिगतः भक्तिः।' सामीप्यता एवं तीक्ष्णता आदि प्रतिपाद्य व्यंग्यरूप प्रयोजन के प्रति श्रद्धानिगत ही भक्ति है। इन प्रकार मूल्यायवाच, मूल्याय से सम्बन्ध एवं रटि या प्रयोजन के प्रति आदर होने में भक्ति लक्षणा ही है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने ध्वनि के भक्ति में अन्तर्भाव का खण्डन प्रबल तर्क एवं युक्तियों में किया है। उन्होंने 'भावनामाह्वलमय्ये' (अन्य लोग उसे भावना कहते हैं) की उक्ति से ध्वन्या-

लोक की प्रथम कारिका एवं उनके व्याख्यान में ही पूर्व-श्रुत के रूप में ध्वनि के अनादवाद, भक्तिवाद एवं अनिश्चिन्नीयवाद की उद्भासना कर उनका सौंपत्ति स्पष्टन किया है। ध्वनि, भक्ति नहीं है, इसके लिए उन्होंने जो तर्क एवं युक्तियाँ दी हैं वे निम्न प्रकार में हैं। भक्ति में ध्वनि की सम्भासना उन्होंने तीन प्रकार में की है—

१. ध्वनि, भक्ति ही है। जहाँ दोनो एक ही तत्त्व के दो नाम हैं।

२ ध्वनि, भक्ति का लक्षण है।

३ ध्वनि, भक्ति का उपलक्षण है।

ध्वनि की भक्ति के साथ एकरूपता का स्पष्टन करते हुए आनन्दवर्धन ने कहा है कि— ध्वनि की भक्ति के साथ एकता इसलिए समव नहीं है कि दोनों का स्वरूप एक-दूसरे में सर्वथा भिन्न है।^१ वाच्यसे भिन्न अर्थ वा, वाच्यवाचकके द्वारातात्पर्ये विशेष वश प्रकाशन हो ध्वनि है। भक्ति तो उपचारमात्र है। उपचार जनिशयिन व्यापार को कहते हैं। अनिनदगुप्त के अनुसार अतिशयित व्यापार का अनिप्राय उन रंजनात्मक उक्ति में है, जहाँ किसी वस्तु या विषय का प्रतिपादन अनत्य की तरह होता हो।^२ 'मिहो मागदन्.' (बालक मिहू है) की उक्ति इसका उदाहरण है, जहाँ बालक को मिहू कहा जाता है, जो कथमपि मत्व नहीं। ध्वनि तो ऐसा नहीं है। इसलिए ध्वनि और भक्ति एक या अनिन्न नहीं हो सकने।^३

भक्ति ध्वनि का लक्षण भी नहीं हो सकती क्योंकि लक्षण तो वस्तु या विषय का कोई जनाधारण धर्म ही होता है, जो अब्याप्ति, अतिव्याप्ति एवं अनम्नव शेष मूल्य हो। भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानने पर अतिव्याप्ति एवं अब्याप्ति दोनों दोष आगतिन होते हैं।^४ 'दशति विस्तिनीपत्रशयनम्' (कमलिनी पत्र की धँसा बहती है) इत्यादि अनेक ऐसे स्थल हैं जहाँ मुख्यार्थ-बाधरूप अन्वयानुपपत्ति होने से लक्षणा या भक्ति तो है लेकिन व्यंग्यार्थ के अन्वय के बिना वहाँ ध्वनि कथमपि संभव नहीं। जहाँ वहाँ प्रयोजनवती लक्षणा के स्थलों में व्यंग्य होता ही है वहाँ उनकी प्रतीति लक्षणा में न होकर व्यञ्जनावृत्ति से ही होती है।^५ लावण्य आदि पदों में जहाँ रुढ़ि होने से लक्षणा तो है पर व्यंग्य की मत्ता के अभाव में वहाँ ध्वनि की सम्भासना तक नहीं।^६ अतः यदि भक्ति को ध्वनि का लक्षण मानेंगे तो उन सब स्थलों में भक्ति का अन्वय किन्तु ध्वनि का अभाव होने से लक्षण अतिव्याप्ति-शेष-अन्न हो जायगा। यदि किसी

१. भवनया विभक्ति नैकत्वं रूपभेदादयं ध्वनिः । —ध्वन्यालोक १।१४।

२. उपचारो गुणवृत्तिलक्षणा । उपचरणमतिशयितो व्यवहार इत्यर्थः ।

—ध्वन्यालोकः लोचन, कारिका १।१७ पर अनिनदगुप्त की टीका ।

३. अयमुक्तप्रकारो ध्वनिः भवन्या नैकत्वं विभक्ति निद्ररूपत्वान् । वाच्यव्यतिरिक्तमन्वयस्य वाच्यवाचकान्यां तात्पर्येण प्रकाशने ध्वनि व्यंग्यप्राधान्ये स ध्वनिः । उपचारमात्रं तु भक्तिः ।

—ध्वन्यालोकः दृष्टि १।१४।

४. अनिव्याप्येतरव्याप्येतेन चातो लक्षणे तया ॥

—ध्वन्यालोकः का० १।१४।

५. यस्य प्रतीतिमाधानं लक्षणासमुपास्यते ।

कले शब्दशब्दोऽयं व्यञ्जना नापरा क्रिया ॥

—राज्यप्रकाश का० २।१४

६. रुढ़ा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि

लावण्याद्याः प्रयुक्तान्ते न भवन्ति परं ध्वनेः ॥

—ध्वन्यालोकः का० १।१६

प्रकार प्रयोजनवती लक्षणा के स्थलो मे व्यग्य की सत्ता होने से उसे ध्वनि का स्थल मान भी ले तो अनिद्यामूला व्यञ्जना के वे स्थल जहाँ रसादि व्यग्य होते हैं जीर जो ध्वनि का सर्वस्व माने गये हैं, ध्वनिपद-वाच्य होने से बक्ति रह जायेगे । फलतः वहाँ अनिव्याप्तिदोष पड़ेगा ।^१ इसलिए भक्ति को ध्वनि का लक्षण भी नहीं कह सकते । इसीलिए ध्वनि अन्य है और गुणवृत्ति अन्य । गुणवृत्ति का आश्रय वाचकत्व है तो ध्वनि का आश्रय व्यञ्जकत्व । फिर भक्ति ध्वनि का लक्षण कैसे हो सकती है ? अतः भक्ति या गुणवृत्तिध्वनि का लक्षण नहीं हो सकती ।^२

भक्ति ध्वनि का उपलक्षण भी नहीं हो सकती । ध्वनि के किसी भेद मे भक्ति की सत्ता अवश्य रहती है इनने मात्र से, 'काकबडेवदत्तस्य गृहम्' (देवदत्त का घर वही है जिम पर बाँवे बैठे हो) की तरह यदि भक्ति को ध्वनि का उपलक्षण मानकर उमे मात्र कहेंगे तो सभी अलंकारो के वाच्य होने से उनका व्यपदेश अभिप्राय से ही होना चाहिए, उनकी उपमा-रूप-कादि नाना प्रकार की सजाये देने एव उनका लक्षण करने की क्या आवश्यकता है ?^३ जब वहाँ यह लाघव सरणि नहीं अपनायी गई तो यहाँ पर इनके अपनाने की क्या आवश्यकता है ? इसीलिए ध्वनिवादी सभी आचार्यों ने ध्वनि और लक्षणा के विभेद का विवेचन किया है । मम्मट ने तो स्पष्ट ही कहा है कि जित प्रकार अनिवा को सकेतग्रह की अपेक्षा होती है उसी प्रकार लक्षणा भी हेतुत्रय की अपेक्षा करती है और इन प्रकार लक्षणा अनिवापुच्छभूता ही है ।^४

आचार्य महिममड्ट ने आनन्दवर्धन के ठीक विपरीत ध्वनि और भक्ति को एक ही कहा है । ध्वनि की भक्ति के साथ एकता की सिद्धि मे उसी युक्ति का उपनाम किया है जिसमे आनन्दवर्धन ने खण्डन किया है, और वह है—ध्वनि एव भक्ति के स्वरूप का एक होना । क्योंकि ध्वनिकार ने कहा था कि—गुणवृत्ति का आश्रय वाच्यवाचक भाव है तथा ध्वनि व्यग्य-व्यञ्जक भाव से सम्पन्न होता है । महिम का कथन है कि पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार यह सिद्ध हो चुका है कि गुणवृत्ति का आश्रय वाचकत्व नहीं । अपितु अर्थप्रकरणादि के आश्रय पर एक अर्थ से अर्थान्तर की प्रतीति ही भक्ति है । ध्वनि भी यही है । अतः दोनों के गम्यगमकभाव या हेतुहेतुमद्भाव मूलक होने से, दोनों के स्वरूप मे कोई भेद नहीं है ।^५

'अथ च' ध्वनि भक्ति का लक्षण भी है । ध्वनिकार ने जो अव्याप्ति और अनिव्याप्ति दोष दिखाकर भक्ति के ध्वनि का लक्षण होने का निषेध किया है, उसका समाधान करते हुए

१. अव्याप्तिरप्यस्य लक्षणस्य । न हि ध्वनि-प्रभेदो विवक्षितान्यपरवाच्यलक्षणः अन्ये बहवः प्रकाराः भक्त्या व्याप्यन्ते । —ध्वन्यालोक वृत्ति ११८ ।

२. वाचकवाश्रयेणैव गुणवृत्तिर्व्यञ्ज्यता । व्यञ्जकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याल्लक्षणं कथम् ॥ —ध्वन्यालोक का० ११८ ।

३. सा पुनः भक्तिः बक्ष्यमाश्रयभेदमध्याव्ययतमस्य भेदस्य यदि नामोपलक्षणतया सम्भाव्येत, यदि च गुणवृत्तैव ध्वनिर्लक्ष्यत इत्युच्यते तदभिधाय्यापारेण तदितरो अलंकार-वर्गः समग्र एव लक्षण इति प्रत्येकमलंकाराणां लक्षणकरणवैयर्थ्यप्रसंगः ॥ —ध्वन्यालोकवृ० ११९ ।

४. यथा च समयतत्त्वनेशा अभिप्राय तथा मुख्यायवाधादित्रयसमयतव्यपेक्षा लक्षणा अतएव अभिवापुच्छभूता संस्यद्गुः । काव्यप्रकाश, पंचम उल्लास, पृ० २४८ । (सिलकीकर पूना)

५. भक्त्या विनर्ति चैतत्वं रूपानेदादयं ध्वनिः ॥ —व्यक्तिविवेक, १५८।

महिन यह कहते हैं कि भक्ति अव्याप्ति एवं अतिव्याप्ति दोषशून्य होने से ध्वनि का लक्षण ही है। 'सुवर्णपुष्पां पृथिवीम्' एवं 'वदति विसिनीपत्रगपनम्' में कोई अन्तर नहीं है। उनपत्र वाक्य में लक्षणा होती है। अतः पूर्वत्र ध्वनि एवं अपरत्र लक्षणा मानना वहाँ तत्र न्याय्य है। क्योंकि यदि वाक्य में लक्षणा का होना स्वीकार नहीं करते तो लक्षणमूला ध्वनि भी वैसे निष्पन्न होती? जनः वाक्य में भी लक्षणा इष्ट होनी चाहिए। लक्षणा पदार्थ एवं वाक्यार्थ भेद में दो प्रकार की कही गयी है।^१ 'अतस्मिस्तत्समारोपः' जो वस्तु जो नहीं है उची का उच पर आरोप (शे मित्र वस्तुओं में से एक का दूसरे पर आरोप) भक्ति का नहीं सामान्य लक्षण है जो अपान्तर की प्रतीति का एक प्रकार है। ध्वनि भी उन्ही तरह अपान्तर की प्रतीति का प्रकार होने से भक्ति अर्थात् गुणवृत्ति से पृथक् वधमपि मान्य नहीं।^२

इन प्रकार ध्वनि-मिद्वान्त की सीमांसा करके उनकी भक्ति अर्थात् लक्षणा के नापएक-रूपता की सिद्धि हो जाने पर लावण्य आदि वह शब्द जो अपने वाक्य में निम्न ज्ये में रह हैं तथा ध्वनिवारने जिनमें ध्वनित्व का निषेध किया है, क्या ध्वनि के आन्तर नहीं हैं? अतः अवश्य है। क्योंकि जिन प्रयोजन की प्रतीति के लिए गुणवृत्ति अन्विष्टा का परिष्कार कर गुणवृत्ति लक्षणा का आश्रयण किया जाता है, उस प्रयोजन-विशेष की प्रतिवृत्ति में, वाक्य शब्द की गति कदापि स्थलित नहीं होती। ऐसा स्वयं ध्वनिवार ने ही कहा है।^३

ध्वनि और गुणवृत्ति की एकनिष्ठता में दूसरी भुक्ति का उन्मत्त करते हुए व्यङ्ग्य-विवेकवार कहते हैं कि—गुणवृत्ति का आश्रय जो वाचकत्व कहा गया या वह संगत नहीं होने से अब मान्य नहीं। अपितु अमिद्ध होकर वह गमकत्व के रूप में ही स्वीकार्य हुआ है। इनो प्रकार ध्वनि के व्यञ्जकत्व का लण्डन करके उसे भी गम्यगमकभाव में ही व्यङ्ग्यिष्ठ किया है। अतः एकमात्र गमकत्व मूलक होने में क्या गुणवृत्ति ध्वनि का विषय नहीं हो जाती? अर्थात् अवश्य हो जाती है। क्योंकि उनपत्र आश्रय रूप में गमकत्व ही दृष्ट होता है।^४

१. न च नाव्याप्यनिव्याप्योरभावात्लक्ष्यते तथा ॥

सुवर्णपुष्पानित्यादी न चाव्याप्तिः प्रसज्यते ।

यतः पदार्थवाक्यार्थभेदाद् भक्तिद्विधोदिता ॥

—व्यक्तिविवेक ११५९ ।

२. अतस्मिस्तत्समारोपो भक्तेर्लक्षणमिष्यते ।

अर्थान्तरप्रतीत्यर्थः प्रकारः सोऽपि शस्यते ॥

—व्यक्तिविवेक ११६० ।

३. रडा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।

लावाध्यायाः प्रसक्तनास्ते न भवन्ति पदं ध्वनेः ॥

—भवन्त्येवैतन्मयः । पत्र—

मूल्यां वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यर्थदर्शनम् ।

यदुद्दिश्य फलं तत्र शब्दो नैव स्थलद्वगनिः ॥

—व्यक्तिविवेक, ११६१, ६२ ।

४. वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिरमंगता ।

गमकत्वंकमूलस्य ध्वनेः स्याद्विषयो नृं किम् ॥

व्यञ्जकत्वंकमूलत्वमसिद्धं च ध्वनेर्मतः ।

गमकत्वाश्रयापीष्टा गुणवृत्तिस्तदाश्रयः ॥

—व्यक्तिविवेक, ११६३, ६४ ।

समिन् एवं इध्म आदि पद गुणवृत्ति के प्रसिद्ध स्थल हैं, अतएव शब्दराजत्वपुत्र्यध्वनि के भी उदाहरण के रूप में प्रयुक्त हुए हैं ।^१

धृतिः क्षमा दया शौचं कारणं वागनिष्ठुरा ।

मिमाणां चानभिद्रोहः सर्पताः समिधः श्रियः ॥

इस पद्य में धृति आदि के लिए समिन् शब्द का प्रयोग लक्षणात्मक है । साथ ही इससे धृत्यादि भावों का अन्वेषणव्यतिरिक्त व्यञ्जकत्व ध्वनि होना है । इसी प्रकार इध्म शब्द का प्रयोग गुणवृत्ति का विषय होने हुए ध्वनि का भी विषय है । इस प्रकार ध्वनिकार की सरणि पर ही व्युत्पत्ति एवं शक्ति से सम्पन्न स्खलद्गति शब्द का जो प्रयोग है, उसे ही ध्वन्यादि के समान अनुमान का विषय समझना चाहिए । ध्वनिकारोक्तन्याय में भी अल्पविषय ध्वनि का महाविषय अनुमान में अन्तर्भाव ही ठीक है ।^२

उक्त प्रकार के ध्वनि और शक्ति को एक मिद्ध कर उनका अनुमान में अन्तर्भाव ही व्यक्तिविवेककार को अभीष्ट है । ध्वनि को शक्ति कहने से यह नहीं समझ लेना चाहिए कि महिनमट्ट शक्ति को शब्द-व्यापार के रूप में स्वीकार करते हैं । अपितु उनके द्वारा ध्वनि को शक्ति कहने का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार शक्ति या लक्षणा नामक शब्दव्यापार सर्वथा वगन्भव है, उसी प्रकार ध्वनि भी । अर्थ के व्यापार के रूप में शक्ति के समान ध्वनि का भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है । क्योंकि अनुमान, ध्वनि एवं शक्ति की अपेक्षा महाविषय है और उत्तरी मान्यता सर्वत्र पूर्व से ही है ।

उपर्युक्त समूचे विवेचन का सारास्य देने हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि—शब्द की एकमात्र शक्ति अभिधा ही होती है तथा अर्थ में एकमात्र लिंगता या हेतुता की ही शक्ति निहित है । शब्द एवं अर्थ दोनों में ही व्यञ्जकत्व सम्भव नहीं, यह अच्छी तरह से मिद्ध हो गया । अतः ध्वनि के लक्षण में शब्द का ग्रहण ध्वनिकार ने व्यर्थ में ही किया । क्योंकि अर्थान्तर की प्रतीति में शब्दशक्तिमूलक विनी भी प्रकार की गति या व्यापार अभीष्ट नहीं ।^३ इसलिए ध्वनिलक्षण को सुधारकर इस प्रकार कहना चाहिए कि जहाँ पर वाच्यार्थ या वाच्य से अनुमित अर्थ सामीप्य आदि विनी भी सम्बन्ध से अर्थान्तर को प्रकाशित करे उसे वाच्यानुमिति कहते हैं ।

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।

सम्बन्धतः कुतश्चित् सा वाच्यानुमितिर्निरूप्यता ॥

१. समिद्विध्मादयः शब्दाः प्रसिद्धा गुणवृत्तयः ।

ध्वनेः पदादिव्यङ्ग्यस्य येनोदाहरणकृताः ॥

—व्यवित्तविवेक, ११६५ ।

२. तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिन्यां निद्रन्धो यः स्खलद्गतेः ।

शब्दस्य सौर्ज्य विज्ञेयो अनुमान-विषयोऽन्यवत् ॥

—व्यवित्तविवेक, ११६६ ।

३. शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैव लिङ्गयता ।

न व्यञ्जकत्वमनयोः समस्तोल्युपपादितम् ॥

उक्तं धर्मैश्च शब्दस्योपादानं लक्षणं ध्वनेः ।

न हि तच्छक्तिमूलेष्टा काचिदर्थान्तरे गतिः ॥

—व्यवित्तविवेक, ११७७, २८ ।

इसलिये जहाँ पर प्राधान्य या अप्राधान्य जिस किसी रूप में वाच्यशक्ति से अनुमेयार्थ की स्फुट प्रतीति होती है वही काव्य है अन्य, नहीं ।^१

(ऋ) शब्द में व्यंजकत्व का निषेध तथा अर्थव्यञ्जकता का अनुमान में अन्तर्भाव

ध्वनिवाच्य के लक्षण की अनुपपन्नता का विवेचन एवं उसकी वाच्यानुमितिपरकता के विधान के अनन्तर अब व्यक्तिविवेकके अनुसार शब्द में व्यञ्जकत्व का निषेध कर अर्थ-व्यंजकता की अनुमानरूपता का निरूपण किया जावेगा । अभिधा के अनिश्चित शब्द का अन्य कोई व्यापार नहीं होता इसका निरूपण शब्दशक्तिविमर्श के अवसर पर तृतीय परिच्छेद में ही चुका है । अतः जब व्यञ्जना व्यापार ही नहीं बनता तो 'मूलं नास्ति कुतः शब्दा' न्याय से तदाश्रित ध्वनि की उपपत्ति कैसे सम्भव हो सकती है । व्यञ्जना की मिद्धि के अभाव में भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति स्वीकार करने पर, कारण के अभाव में शब्द का अर्थ के माय नियत-सम्बन्ध नहीं बनेगा । शब्द से जहाँ भी अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ शब्द कारण और अर्थ कार्य होता है , एवं शब्दविशेष से अर्थविशेष का निश्चय होने पर अनुक्त शब्द से अनुक्त अर्थ बोद्धव्य है, इस प्रकार का जो विशिष्ट कार्यकारणभाव होता है, उसकी उपलब्धि यहाँ पर व्यञ्जना में नहीं होती ।^२ इस पर यह प्रश्न उठता है कि यहाँ विशिष्ट कार्यकारणभाव चारों भले न हो, शब्दार्थ के नित्य-सम्बन्ध के सिद्धान्त के अनुसार स्वभावप्राप्तकारणभाव तो सामान्यरूप से है ही । अतः व्यञ्जना की मान्यता के बिना भी व्यंग्यार्थ की प्रतीति मानने में क्या हानि है ? इस उक्ति का खण्डन करने हुए आचार्य महिमनट्ट कहते हैं कि गेय वस्तु का पङ्खादि रागों के साथ जैसा स्वाभाविक सम्बन्ध है कि उसने आपामरतियंक् मन्वको रमानुभूति होने लगती है, शब्द का प्रतीयमान वस्तुमानादि के साथ वैसा ही स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं होता । इसमें यही प्रमाण है कि शब्द से उन अर्थ-विशेष की प्रतीति आपामरतियंक् व्युत्पन्न, अव्युत्पन्न सबको नहीं होती, केवल तत्तद् वामना वासित महदर्थों को ही होती है । अतः यहाँ शब्दार्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध स्वीकार करने योग्य नहीं ।^३

इस पर यह कहा जा सकता है कि शब्द की व्यञ्जकता के स्थल में व्यक्ति (व्यञ्जना) को नहीं मानते तो न मही, शब्द और प्रतीयमान अर्थ में स्वाभाविक के अनिश्चित कोई अन्य सम्बन्ध अवश्य मानना होगा । मुख्यार्थ-श्राव्य आदि हेतुत्रय के अभाव में लक्षणा की प्रवृत्ति भी वहाँ सम्भव नहीं । अतः अभिधा ही वह सम्बन्ध है ऐसा मानना चाहिए । इस पर व्यक्तिविवेक-

१. तस्मात्स्फुटतया यत्र प्राधान्येनान्यथापि वा ।

वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तस्काव्यमुच्यते ॥ —व्यक्तिविवेक, भा० १।३२ ।

२. नापि शब्दस्य अभिषाव्यतिरेकेण व्यञ्जकत्वं व्यापारान्तरमुपपद्यते, येन अर्थान्तरं प्रत्या-
यवेद् व्यक्तेरनुपपत्तेः सम्बन्धान्तरस्य चासिद्धेः । तदभावेऽपि तदन्युपपत्तेः तदर्थान्तियमो न
स्याद् निबन्धनाभावात् । —व्यक्तिविवेक, पृ० १२७-१२८ ।

३. न ह्यस्य गेयस्यैव रत्यादिभिर्भावः स्वाभाविकः एव सम्बन्धः, सर्वस्यैव तत्प्रतीति-
प्रसङ्गात् । —व्यक्तिविवेक, पृ० १२८ ।

कार कहते हैं कि नहीं, अभिया ने उनका बोध इसलिए नहीं हो सकता कि वह एकमात्र मञ्जेत-सहाया है और मन्वन्व्य औपाधिक अर्थात् प्रकरणादिगत है। उपाधि वह है जो व्यञ्जक में विलक्षणता का आशान करती हो। उपाधिके देन, काल एव पात्र के अनुसार अनन्त तथा जतिप्रमित होने के कारण वह मञ्जेतग्रह का विषय नहीं हो सकती, क्योंकि पय-पय पर मञ्जेतग्रह एवं शब्दानु-मानन का विधान मभव नहीं है। अत एकमात्र मञ्जेतग्रह की अपेक्षा करने वाली अभिया ने उन मन्वन्व्य-विशेष की प्रतीति मभव नहीं। एव औपाधिक होने से व्यञ्जकत्व मन्यहृत भी नहीं माना जा सकता।^१ क्योंकि एकही शब्द, प्रकरणादि-नामग्री की विशेषता से विविध अर्थों का बोधक होता है।

- यथा— १. रामोऽस्मि सर्वं सहे ।
 २. रामेण प्रियजीवितेन तु हृत प्रेम्णः प्रिये नोचितम् ।
 ३. रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भं लिङ्गसोताविवासनपदोः कृत्वा कुतश्चे ।
 ४. रामे तच्छान्तवसनी कुशतल्पशायिन्यद्यापि नास्ति भगवन् भवतो व्यपेक्षा ।

इन सब स्थलों में प्रयुक्त एक ही राम शब्द प्रकरण-भेद से नाना अर्थों का बोधक है। इस प्रकार हम इन निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि शब्द का अर्थान्तर के माय मन्वन्व्य, मानदिक अर्थान् मञ्जेतग्रह-हृत् भी नहीं। क्योंकि उन्मत्त सभी स्थलों में मञ्जेतग्रह का विधान शब्द-मान्त्र के मानार्थ की बात नहीं। ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने गमकत्वलक्षण व्यञ्जकत्वमन्वन्व्य के विषय में कहा है कि— गन्दायं में जो प्रसिद्ध वाच्यवाचकभाव मानक मन्वन्व्य है उनका अनुशीलन करते हुए ही गमकत्व या व्यञ्जकत्वलक्षणव्यापार की नत्ता है। और वह व्यापार प्रकरणादि अन्त अनेक मानदियों पर निर्भर होने से औपाधिक रूप में प्रवृत्त होता है। जनिना ने उनके भेद का यही द्विविधानक है। प्रत्येक शब्द के माय निश्चय रहना ही वाचकत्व अर्थात् जनिना वा स्वरूप है। मञ्जेतग्रहादि की व्युत्पत्ति के समय से लेकर उनके माय वह वाचकत्व अविनाभाव मन्वन्व्य में रहता है। प्रकरणादिके निश्चय के अनन्तर ही उनकी प्रतीति होती है अन्वया उनकी प्रतीति नहीं होती।^२

चूँकि व्यञ्ज एव व्यञ्जक का औपाधिक के अनिश्चित कोई अन्य मन्वन्व्य मभव नहीं जतः प्रकरणादि रूप मानग्री के मन्वन्व्य से ही व्यञ्जक में व्यञ्जकता या अर्थान्तर की गमकता दल मञ्जेतो, शब्द के मन्वन्व्य में नहीं। अर्थ के कारण भी उनमें कोई विशेषता नहीं है। आनन्द यह है कि व्यञ्जना वृत्ति में जिन ध्वन्यायं की प्रतीति की बात कही गई है, उन अर्थ का बोधक शब्द नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द के माय मञ्जेतग्रह के रूप में उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु उनका

१. नापि समपहतः व्यञ्जकत्वस्योपाधिकत्वाद् उपाधीनां चायं प्रकरणादिनामग्रीरुपाणां मान-न्यासिनियतत्वाच्च प्रतिपदमिव शब्दानुशासनस्य समपत्य कर्तुं भक्षयत्वात् । एक एव हि शब्दः सामग्रीवैविध्यव्याङ्गिभिन्नानर्थात्तद्वगमयति । —व्यक्तिविवेक, पृ० १२८ ।

२. यथाह ध्वनिकारः—शब्दार्थयोर्हि प्रतिद्वो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावाख्यस्तदनुसंधान एव गमकत्वलक्षणो व्यापारस्तामप्रधन्तरत्तद्भावादीपाधिकः प्रवर्तते । अत एव च वाच-कत्वान् तस्य विशेषः । वाचकत्वं हि शब्दविशेषस्य नियत आत्मा, सङ्केतव्युत्पत्तिशाला-दारम्य तदविनाभावेन तस्य प्रतिद्वत्वात् । स त्वनियत औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्वचच्छेदेन तस्य प्रतीतेरि (तरया त्वप्रतीनेरिति) । —व्यक्तिविवेक, पृ० १२९ ।

सम्बन्ध वाच्यार्थ में अवश्य है। अब वाच्य ही प्रकरणादिवग व्यंज्य की अनिश्चयिता बरता है तो उसी को व्यंग्यार्थ की प्रतीति का निमित्त मानना चाहिए, शब्द की बरतान नहीं। फिर लिङ्-विगिनाव के सम्बन्ध होने में वह व्यंज्य अव्यं अनुमेय ही होता है। अतः शब्द के व्यंज्य होने के पक्ष का उपन्यास ही व्यर्थ है।^१

इस पर पुन यह कहा जा सकता है कि यदि अव्यं-निरपेक्ष शब्द में व्यंजकत्व नहीं है तो 'प्रातम्' आदि पदों में प्रमुख प्रादि उभयोंके वाचकत्व का निषेध कर उन्हें स्वर्णविशेष का चोत्रक क्यों कहा गया है? चोत्रक, प्रकाशक या व्यञ्जक, यह सब एक-दूसरे के पर्याय ही होते हैं। जब प्रादि चोत्रक हो सकते हैं तो अन्यशब्द चोत्रक या व्यञ्जक क्यों नहीं हो सकते? इनका उत्तर देते हुए प्रथमकार कहते हैं कि ठीक है पर प्रादि में चोत्रकत्व का विधान उपचारतः (गौगन) हुआ है, परमायं नही। वास्तव में चोत्रक तो वह है जो पूर्वलिङ्गवन्तु का प्रयोग करता हो। प्रतीति ही नहीं अव्यं में चोत्रक है। क्योंकि वह पूर्वत विद्यमान अवधार में त्रिरो-हित षटादि पदार्थों का चोत्रक करने है। शब्दार्थ में कृत्वा के समान षटादि अव्यं को उत्तरक करने का सामर्थ्य नहीं है। अज्ञान के ज्ञापक न होना से वे प्रादि, चोत्रक भी नहीं हो सकते। जन्म तथा चोत्रक में भिन्न कोई हेतु व्यंज्य में नहीं होता। अतः प्रादि के लिए चोत्रकत्व का प्रयोग आन्वयिकनात्र है। क्योंकि प्रतीति निष्ठ चोत्रकता का शब्दार्थ के विषय में संशय अभाव होता है।^२

इस पर पूर्वपक्ष का पुन उन्नापन करते हैं कि—पञ्च आदि धातुएँ त्रिधानामान्य के अव्यं में पड़ी गयी हैं। सामान्य में सकल विगेष अन्वयित्व रहते हैं। सामान्य की प्रतीति के माय ही अव्यंभाव ने विगेषों की भी प्रतीति स्वतः सिद्ध है। कहा भी है—'निदिगेषं न सामान्यं भवेच्छाविषाणवत्'। इस प्रकार त्रिधा के सामान्य अव्यं के सामर्थ्य में विगेष की मत्ता की प्रतीति के लिये उनमें चोत्रकता की अपेक्षता क्षुण्णिकार्थ है। अतः चोत्रक-मात्र परक होने से प्रादि त्रिधा में उत्कर्षादि विगेषों के चोत्रक ही सिद्ध होते हैं वाचक, बरतान नहीं।^३

१. न वातयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवतीति तदथाः सामग्रया एव सम्बन्धवत्त्वान् तद्गुणवत्त्वमुपपन्नं न शब्दस्येति, तार्क्यपक्षादस्य कश्चिद्विशेष इति व्यर्थस्त्वशोधन्यासः ।

—व्यक्तिविशेष, पृ० १२९ ।

२. ननु यदि शब्दस्यार्थनिरपेक्षस्य व्यञ्जकत्वं नेष्यते, तन् कथं प्राप्तिव्यापारी प्रादीनां चोत्रकत्व-मुक्तं न वाचकत्वम् । वाचकत्वं हि हलादिगोत्रादीनां ह्यदिप्रसङ्गः स्यात् । चोत्रकत्वं प्रकाशकत्वं व्यञ्जकत्वं चेत्येकं शब्दार्थं इति । सत्यम् । उक्तमुपचारतो न परमायं इति तस्य प्रतीतिनिष्ठस्य वास्तवस्य शब्दार्थविषयत्वस्य प्रतिशेषात् ।—व्यक्तिविशेष, पृ० १२९ ।

३. व्योच्यते—पक्षपादयः त्रिधासामान्यवचनताः । सामान्यानि चातोश्चिजगत्सामान्यानि च भवन्तीति तत्रप्रतीतिनाल्लोच्यतेयैव विशेषसद्भावः सिद्ध एव । यदाहः—'निदिगेषं न सामान्यं भवेच्छाविषाणवत्' इति । केवलमर्थसामर्थ्यमिदोऽपि विशेषो चोत्रकत्वोपपन्न इति तन्मात्रव्यापाराः प्रादयो चोत्रका एव भवितुमर्हन्ति न वाचका इति ।

—व्यक्तिविशेष, पृ० १३० ।

इनका उत्तर देने हुए कहते हैं कि—ठीक है किन्तु जहाँ विशेष की प्रतीति के अभाव में सामान्य की प्रतीति सम्भव न हो वहाँ पचादि सामान्य से विशेष मात्र की प्रतीति होती हो तो ही पर विशेष को लेकर किसी प्रकार के व्यवहार की मिडि तो होंगी नहीं दीवनी । क्योंकि व्यवहार में उनकी मिडि का कारण तो प्रकरणानुसार विशेष का ज्ञान या निश्चय ही होना है । उन विशेष का अवधारण पचादि सामान्य से न होकर प्रादि से ही होता है । अर्थात्पति से भी विशेषों की प्रतीतिरूप व्यवहारमत्ता मिडि नहीं हो सकती क्योंकि वह तो प्रत्येक विशेष के ज्ञान या निश्चय के साथ ही होती है ।^१ इसलिये जिन धातु से प्रादि के प्रयोग में अव्ययव्यतिरेकपूर्वक जिन अर्थ की प्रतीति होती है उन दोनों (धातु और अर्थ) में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध ही मानना ठीक है । अभिव्यक्ति का वा व्यञ्जकत्व आदि का विषय वह उभी प्रकार नहीं होता जैसे घट शब्द और उनका अर्थ । घट शब्द में उनके अर्थ की प्रतीति अव्ययव्यतिरेक में निश्चय रूप में होती है अतः वह वाच्य ही होता है, व्यञ्जक नहीं । इन प्रकार घट शब्द घट अर्थ का वाचक ही कहा जाता है, व्यञ्जक नहीं । इसी प्रकार उनमर्ग-विशेष से अन्वित धातु में जब किन्हीं विशिष्ट अर्थ की निश्चय प्रतीति होती है तो वह अर्थ व्यञ्जक न होकर वाच्य ही होता है तथा उनमर्ग-विशिष्ट वह धातु उस अर्थ-विशेष का व्यञ्जक होकर वाचक ही होता है । पच् आदि धातुओं में प्रकृप आदि विशेषार्थों की जो प्रतीति होती है वह प्र आदि के प्रयोग के अन्तर्ग ही होती है । अतः पूर्वोक्त प्रकार में प्रादि में वाचकत्व ही है । अन्यथा वाचकत्व आदि में जन्वप्रत्ययतिरेक की व्यवस्था को अस्वीकार करने पर नीलोत्पल आदि उदाहरणों में जहाँ नील पद की विशेषता तथा उत्पल की विशेषता सर्वमान्य है, वहाँ विशेषविशेषण भाव ही माना हो जानता । क्योंकि वहाँ पर भी द्योतकत्व का विधान लागू किया जा सकता है । उत्पलादिशब्द सामान्य उक्तिर्वा है । सामान्य में सभी विशेष अन्वितिहित होते हैं । अतः वहाँ पर उनकी मत्ता मिडि होंने पर नीलादि शब्द भी प्रादि की तरह तत्तद् विशेषणों के द्योतकभाव हैं, अभिव्यञ्जक नहीं । और फिर सामान्य में विशेष के द्योतकत्व को सिद्धान्तरूप में स्वीकार कर लेने पर घटादि पद भी, जिनकी मत्ता सामान्य रूप से पहलेसे ही मिडि है, द्योतक ही कहे जायेंगे, वाचक नहीं । और इन प्रकार वाच्यवाचक-भाव सर्वत्र सर्वथा के लिये समान हो जायेंगे । अतः द्योतकत्व की मात्र अर्थात् गौण ही मनसना चाहिए, मुख्य नहीं । भक्ति का प्रयोजन ही यही है कि जिनमें वाच्यार्थ को स्पष्ट प्रतीति हो । उनका निमित्त, विशेषण और विशेष्य

१. सत्यम् । किन्तु यदप्रतीती सामान्यप्रतीतिरेव न पर्यवस्यति तद्विशेषमात्रं तेभ्यः प्रतीयतां नाम । न तु तावता व्यवहारसिद्धिः काचिन् । तस्याः प्रतिनियतविशेषावसायनिवृण्णनत्वान् । स त्वपूर्वतया प्रादिभ्य एवोद्भवव्यवधार्यन्ते । न पक्षत्यादिभ्यः । नार्यादिवि तत्सद्भाससिद्धिः काचिन् । अस्याः प्रतिनियतविशेषावसायनिवृण्णनत्वान् ।

—ध्वनिविदेक, पृ० १३० ।

२. तस्माद्यत्प्रयोगान्बन्धतिरेकानुविधापिनी यस्य प्रतीतिस्तयोर्वाच्यवाचकभादव्यवहारविषयत्वमेवोपगन्तुं युक्तं नाभिव्यक्तिविषयत्वम् । मया घटशब्दतदर्थयोः ।

—ध्वनिविदेक, पृ० १३० ।

की शीघ्रतापूर्वक ऐसी प्रतीति होना है कि उनमें क्रम का ज्ञान न हो, अपितु योग्यता ही का ज्ञान ही ।^१

विशेषण-विशेष्यभाव संबंध को और स्पष्ट करते हुए अंधकार कहते हैं कि—विशेषण दो प्रकार के होते हैं—अन्तरंग एव बहिरंग । अन्तरंग अव्यवहित रूप में ही गुणकारी होता है । अर्थात् विशेष्य के पूर्व या पश्चान् मन्निहित होकर ही काम करता है और विशेषण का आधात्रक उन्नी प्रकार होता है जैसे स्फटिक में लाजा रत्नस्वरूप विशेषण की प्राधान्यता होती है । जो विशेषण व्यवहित एवं अव्यवहित उभयरूप से काम करता है, वह बहिरंग कहलाता है । जैसे जयस्वात्म-मणिलोहे से व्यवहित होने पर भी उसे अपनी शक्ति से अपने समीप खींच लेता है । यह उभयविध विशेषण नमानाधिकरण एव निम्नाधिकरण भेद से दो प्रकार का होता है । विशेष्य भी धात्वर्थ एव नामार्थ भेद से दो प्रकार का होता है । उपमर्गों का विषय प्रायः सात्वर्थ ही होता है, नामार्थ नहीं । निपातगुणक चादि अव्यय उभयविषयक होते हैं । दोनों में अन्तर इतना ही है कि विशेष्यो से उपमर्गों का पूर्व में एव चादि का पश्चान् प्रयोग होता है ।^२ एव विशेषण-विशेष्य के स्वरूप का अवधारण हो जाने पर यह दो अन्तरंग विशेषण कहा है वह विशेष्य में उन्नी प्रकार अन्तर्भूत होता है जैसे गवादि में गोत्वादि । शीघ्रता के कारण उन्नी प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता । अपितु महनाव के कारण उनमें द्योत्य-द्योतक भाव का क्रम ही जाना है, न कि वाम्बु में इनमें द्योत्य-द्योतक भाव होता है ।^३ अतएव ननु हरि प्रभृति बृद्ध विद्वानां ने तो इन प्रादि उपमर्गों को धातु में ही अन्तर्हित मानते हुए कहा है—

अडादीनां व्यवस्थार्यं पृथक्त्वेन प्रकल्पनम् ।

पादुपमर्गयोः शास्त्रे पातुरेव च तादृशः ॥ वाक्य० २।१८०

(व्याकरणशास्त्र में धातु और उपमर्गों का अलग-अलग पाठ कल्पितरूप से अद् आदि प्रत्ययों की व्यवस्था के लिये किया गया है । वस्तुस्थिति तो यह है कि सौमर्ग मन्त्रद्वय—वह स्वरूप धातु का ही है ।)

१. प्रादिप्रयोगान् विधासिनो तत्र पचनीत्यादी प्रकृत्यादिप्रतीतिरिति तेषां तथा भदितुमहंत्वेव । अन्यथा नीलोत्पलादी सर्वस्यैव विशेषणभिमतस्वनीत्यादिशब्दस्य विशेष्यत्वादिनदद्योत्यनादे-विशेषणविशेष्यभावव्यवहारोऽस्तमुपगच्छेत् । तत्रापि ह्येतेच्छवयं यत्तुम् । उत्पलादयः शब्दाः सामान्यवचनाः । सामान्यानि च गर्भोक्तृविशेषाणि भवन्तीति तेषां तत्र सद्भाव-सिद्धौ सत्यां नीलादिशब्दा अपि तदद्योतनमाश्रय्यपारताः प्रादिदद् द्योतका भवितुमहंति नामिधापरा इति ।

—प्यबिनविशेष, पृ० १३०-१३१ ।

२. एवंवान्तर्माश्रयिपरिवर्तितजामिद्धमन्मानानां षटादीनां षटादिशब्दा अपि द्योतका एव स्युर्त वाचका इति वाच्यवाच्यव्यवहारोऽस्मिन्मिदान् । तस्माद् भावनेन द्योतकत्वमुपगन्तव्यं न मुपगन्, नचनेद्वय प्रयोजनं वाच्यत्वार्थस्य स्फुटत्वप्रतिपत्तिः । निमित्तं च विशेषणविशेष्य-प्रतीत्योराशुभासितया अमानुपलक्षणान् सत्त्वाद्यन्तीतिः ।—प्यबिनविशेष, पृ० १३१ ।

३. तदर्थं विशेषणविशेष्यस्वरूपेऽवगिते यदेतदन्तरङ्गं विशेषणमुच्यते तद् गवादी गोत्वादिद-द्विशेष्यस्वरूपान्तर्भूतमिदं च तत्प्रतीत्योराशुभासितया अमानुपलक्षणान् सत्त्वादावपयो द्योत्य-द्योतकभावगमहेतुः ।

—प्यबिनविशेष, पृ० १३२ ।

विशेषण के रूप में प्रयुक्त चादि अक्षरों के विषय में विशेष नियम यह है कि वे विशेषण के रूप में ही प्रयुक्त होते हैं और विशेष्यों से उनका व्यवधान उसी प्रकार बना रहता है जिन प्रकार निर्मल स्फटिक पत्थर से लाजा का। वे जिनके अनन्तर उपाधिरूप से प्रयुक्त होते हैं उन्हीं में ही विशेषता का आधान करने में समर्थ होते हैं, अन्यत्र नहीं। अतः जहाँ वही भी उनका प्रयोग उक्त क्रम को भंग करके हुआ है, वह स्थल निर्दोष नहीं है। क्योंकि अनुचित स्थान पर उनका प्रयोग प्रकरणविरुद्ध एव अनिश्चित अर्थ का ही प्रत्यायक होगा जिससे प्रस्तुत अर्थ में अनामंजस्य होने लगेगा। यदि यह कहें कि महाकवियों के प्रबन्धों में अनेकत्र इनके प्रयोग भिन्न क्रम से हुए हैं और वहाँ अभिमत अर्थ की प्रतीति भी सुतराँ होनी है तो ठीक नहीं।^१

क्योंकि चादि के भिन्न क्रम से उपादान करने पर भी कथञ्चित् अभिमतार्थ की प्रतीति होती है ऐसा स्वीकार करने से प्रस्तुतार्थ की प्रतीति में पड़ने वाली बाधा का निराकरण तो होना नहीं, प्रस्तुतार्थ की प्रतीति में बाधा पड़ने से उन रचना में रमास्वाद का भंग हो जाना अत्यन्त स्वाभाविक हो जाता है। क्योंकि वहाँ शब्ददोष रूप अनौचित्य की प्रसक्ति होने लगनी है, जो रसभंग का सबसे बड़ा हेतु है।^२ आचार्यों ने भी कहा है—

अनौचित्यादृते नान्यद् रसभङ्गस्य कारणम् ।

प्रतिद्वौचित्यबन्धस्तु रसस्योपनिषत् परा ॥ (ध्वन्यालोक)

उपभुक्त व्याख्यान से यही निष्कर्ष निकला कि शब्द में व्यञ्जकत्व जित्नी भी प्रकार नहीं बनता। अतः व्यन्ध्वञ्जकभाव की निम्न के अभाव में ध्वनि का अभाव स्वतः निम्न ही जाता है। अर्थ में व्यञ्जकत्व न होकर हेतुत्व ही रहता है। अतः जहाँ भी अर्थान्तर की प्रतीति होती है वे स्थल अनुमान से निम्न हो जाते हैं। फलतः ध्वनि-सिद्धान्त अनुमान में हो अन्तर्भूत हो जाना है।

ध्वनिकार आनन्दवर्धनकृत ध्वनिलक्षण का विवेचन करने पर उनका सारांश यही निकलना है कि सद्द्वयस्वात्म्य वह अर्थ जिते वाच्य की संज्ञा दी जाती है दो प्रकार का होता है—वाच्य एवं प्रतीयमान। वाच्य अर्थ का सद्भाव उपमादि अलंकारों से सिद्ध है। अभिप्रा से वाच्यार्थ की प्रतीति हो जाने के अनन्तर वक्ता, श्रोता एव प्रकरण आदि के वैशिष्ट्य से उसी वाच्य से अर्थान्तर की भी प्रतीति होती है। उसी को प्रतीयमान या व्यंग्य अर्थ कहा गया है। यह प्रतीयमान वस्तु, अलंकार एव रमादि तीन प्रकार का ही होता है। सभी प्रतीयमान अर्थ व्यंग्य अक्षर्य होने हैं पर सभी ध्वनिव्यन्देश के भागी नहीं होते। अपितु वही ध्वनि बहें जाते हैं, जिनमें वाच्य अर्थ या वाच्य अलंकार की अपेक्षा चाटता अधिक होती है।

१. चादीनां चोपाधीनां विशेष्येभ्यो निर्मलेभ्यः स्फटिकोपलेभ्य इव लाक्षार्दीनामव्यवधानमेव । तेन ते यदनन्तरमुपाधीयन्ते, तेष्वेव विशेष्यमाधातुमलं नान्यत्रेति यत्तेषां भिन्नरमतया क्वचिदुपादानं तदनुपपन्नमेव अयथास्थानविनिवेशिनो हि तेष्वन्तरमनभिमतमेव स्वोपरामोषोपरञ्जयेयुः । तदस्य प्रस्तुतार्थत्वात्तान्तरस्यप्रसङ्गः । —ध्वनिविशेष, पृ० १३२ ।

२. कथञ्चिद्वा िन्नरमनयाप्यभिमतार्थसम्बन्धोपवृत्त्यने प्रस्तुतार्थप्रतीतिविहितत्वात् तद्विबन्धने रसास्वादोऽपि विहितः स्यात् शब्ददोषाणामनौचित्योपगमात्तस्य च रसभङ्गहेतुत्वात् । —ध्वनिविशेष, पृ० १३३ ।

जिस प्रकार शब्द एव उसके वाच्य अर्थ में वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध होता है और संकेतग्रह से ही उम सम्बन्ध का निर्धारण होता है, उसी प्रकार शब्द और अर्थ प्रतीयमान के व्यंजक होने हैं तथा प्रतीयमान एव उनके बीच व्यंग्यव्यंजकभाव सम्बन्ध होता है। यह व्यंग्य-व्यंजकभाव सम्बन्ध क्या है? इस पर प्रकाश डालते हुए ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने कहा है कि—वह सम्बन्ध गमकत्व ही है जो वाच्यवाचकभाव सम्बन्ध के अनुसार बनता है। अर्थात् वक्ता, श्रोता और प्रकरणादि वैशिष्ट्य से प्रतीयमानार्थ का जो अवधारण होता है वह औपाधिक ही होता है।^१

महिमभट्ट शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक के अतिरिक्त अन्य किसी भी सम्बन्ध को स्वीकार करने के लिए इसलिए प्रस्तुत नहीं है कि उसमें कोई प्रमाण नहीं है। अर्थात्तर व प्रतीयमान के प्रति शब्द की कारणता या गमकता संभव नहीं। प्रत्युत प्रकरणादि 'विशिष्ट वाच्यार्थ' की ही कारणता वहाँ पर होती है। अतः अर्थान्तर या प्रतीयमान की प्रतीति शब्दगम्य न होने से वह शब्द-व्यापार का विषय कदापि नहीं हो सकती।^२

प्रतीयमान या अर्थान्तर की प्रतीति शब्दी न होकर एकमात्र अर्थी है। अर्थ के अर्थान्तर का गमक होने से प्रतीयमान की प्रतीति शब्दव्यवहार का विषय न होकर एकमात्र अर्थ-व्यवहार का विषय है जो एक अर्थ से अर्थान्तर का लिगलिगी रूप अनुमान ही हो सकता है। ग्रंथकार की इस उक्ति का पूर्वप्रकरणों में अनेक बार प्रतिपादन हुआ है। स्थूणासनन न्याय से ही यहाँ पर भी उसका पुनः प्रतिपादन किया गया है। महिमभट्ट को प्रतीयमानार्थ की प्रतीति के विषय में कोई विप्रतिपत्ति नहीं। न वह अर्थ की व्यंजकता के ही विरोधी है। उनका विरोध तो केवल शब्द की व्यंजकता से है जो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। यही आनन्द और महिम का प्रतीयमान या अर्थान्तर की प्रतीति के विषय में मतभेद का स्थल है। शब्द की व्यंजकता के असिद्ध हो जाने पर व्यंजना का अनुमान में एवं व्यंग्य का अनुमेय अर्थ में अन्तर्भाव अत्यन्त सरल एव स्वतः सिद्ध हो जाना है। इसीलिए उन्होंने शब्द के व्यंजकत्व के खण्डन में ही अनेक युक्तियाँ एवं तर्क उपस्थापित किये हैं। इसी विस्तृत विवेचन को व्यक्तिविवेचनकार ने निम्नलिखित संग्रहकारिकाओं में संकलित किया है।

स्वाभाविकं ध्वनेयुंक्तं व्यंजकत्वं न दीपवत् ।

धूमयत् किन्तु कृतकं सम्बन्धादेरपेक्षणात् ॥१७४॥

१. शब्दार्थयोर्हि प्रतिद्वो यः सम्बन्धो वाच्यवाचकभावात्स्वयः तन्नुत्पन्न एव गमकत्वलापो व्यापारसामग्र्यन्तरसद्भावात् औपाधिकः प्रवर्तते। अतएव चाचकत्वात् तस्य विरोधः। याचकत्वं हि शब्दविरोधस्य निषेधं संकेतप्युत्पत्तिशालादारभ्य ताविनाभायेन तस्य प्रतिद्वयान्। सत्वनियतः औपाधिकत्वात् प्रकरणाद्यच्छेदेन तस्य प्रतीतेरन्यथा तु अप्रतीतिरिति।

—ध्वन्यालोक, पृ० ४३६ (भा० ३:३३ पर वृत्ति)।

२. न धानयोरन्यः सम्बन्धः सम्भवतीति तस्याः सामग्रया एव सम्बन्धयत्नान् तद्गमकत्वमुपपन्नं न शब्दस्येति, नार्थपशादस्य कश्चिद्विरोध इति 'ध्वनेरतत्पक्षोपगमात्'।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १२९।

दोषक से घट के प्रकाशन के समान ध्वनि में व्यञ्जकता स्वाभाविक नहीं है अपितु घूम से अग्नि के अनुमान के समान सम्बन्ध आदि की अपेक्षा करके ही व्यञ्जकता तथा व्यञ्जक का परस्पर सम्बन्ध होता है ।

प्रादीनां द्योतकत्वं यत् कँश्चिदन्युपगम्यते ।
तद्भाक्तमेव तत्रेष्टं न मुख्यं तदसम्भवात् ॥११७५॥

कुछ लोगों ने प्रादि उपसर्गों को जो द्योतक माना है वह कथन मामान्यतया गीण है, मुख्य नहीं । क्योंकि प्रादि में मुख्य वृत्ति से द्योतकता सम्भव नहीं ।

तथा हि यस्य शब्दस्य भावाभावानुसारिणी ।
यदर्थबुद्धिस्तस्यासौ वाच्योऽर्थ इति कथ्यते ॥ ११७६॥
गोशब्दस्यैव गौरथः साम्यया त्वव्यवस्थिता ।
वाच्यत्वव्यवहारश्च न स्यादर्थस्य कस्यचिद् ॥ ११७७॥

अन अन्वय एव व्यतिरेक के अनुसार शब्द में जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अर्थ शब्द का वाच्य ही कहा जाता है जैसे गो शब्द का अन्वय-व्यतिरेक से प्रतीति होने वाला गाय रूप अर्थ गोपद का वाच्य ही होता है । अन्यथा नियत रूप से किसी अर्थ के बोधक होने पर भी यदि उस शब्द में व्यञ्जकत्व या द्योतकत्व मानेंगे तो वाच्य-वाचक भाव से होने वाली प्रतीति अव्यवस्थित हो जायगी और किसी भी अर्थ को वाच्य कहना कठिन हो जायगा ।

प्रादिप्रयोगानुपगम्यतिरेकानुसारिणी ।
प्रकथयिती मतिस्तेन तस्य तद्वाच्यता न किम् ॥११७८॥

प्र आदि उपसर्गों के प्रयोग से क्रियाओं में प्रकथं आदि विशिष्ट अर्थ की प्रतीति अन्वय-व्यतिरेक के अनुसार ही होती है अतः वह प्रकृष्ट अर्थ वाच्य नहीं तो और क्या है ? अर्थात् वह वाच्य ही है ।

विशेषावगमस्याशुभावादनुपलक्षणात् ।
क्रमस्य सहभावित्वं श्रमो भक्तेर्निबन्धनम् ॥११७९॥

भक्ति अर्थात् लक्षणा के स्थलो में भी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति इनकी शीघ्र होती है कि वाच्य से लक्ष्य की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता । अतएव उनमें सहभाव (एक साथ ही प्रतीति होने के भाव) का क्रम उत्पन्न होने लगता है ।

विशेषणं तु द्विविधमान्तरं बाह्यमेव च ।
तत्राव्यवहितं सद्यदर्पकारि तदान्तरम् ॥११८०॥
स्फटिकस्यैव लाक्षादि, द्वितीयमुभयात्मकम् ।
आयसस्यैव तत्कान्तं, तदपि द्विविधं मतम् ॥११८१॥
असमानसमानाधिकरणत्वविभेदतः ।

विशेषण दो प्रकार का होता है—आन्तरिक और बाह्य । आन्तरिक वह है जहाँ अर्थ की प्रतीति में कोई व्यवधान नहीं होता, जैसे स्फटिक मणि में लाक्षा की प्रतीति ।

द्वितीय बाह्य प्रकार का विशेषण विशेष्य के साथ व्यवधान-रहित एवं व्यवधान-सहित उभय प्रकार से व्यवस्थित होता है। पहला स्फटिक मणि के पास बिना व्यवधान के स्थित लाक्षा की तरह और दूसरा लोहे से दूरी पर स्थित चुम्बक की तरह। दोनों प्रकार के बाह्य विशेषण व्यधिकरण एवं समानाधिकरण भेद से पुनः दो-दो प्रकार के होते हैं।

विशेष्योऽपि द्विधा ज्ञेयो धातुनामार्थभेदतः । १।८२॥

शब्दत्वार्थत्वभेदेन नामार्थोऽपि द्विधा मतः ।

तत्रोपसर्गाणां प्रायो धात्वर्थो विषयो मतः ॥१।८३॥

विशेष्य भी धातु और नामार्थ भेदों से दो प्रकार का होता है। शब्दत्व और अर्थत्व भेद से नामार्थ के भी दो प्रकार होते हैं। इनमें धातु का अर्थ वह है जो प्रायः उपसर्गों का विषय होता है।

धादीनां तु निपातानामुभयं परिकीर्तितम् ।

केवलं तु विशेष्यान् स्पुः पूर्वपश्चाच्च ते श्रमात् । १।८४॥

विशेषणानामग्वेषां पूर्वोपर्यमयन्त्रितम् ।

ज आदि निपातमज्ञक अव्ययों के विषय धात्वर्थ एवं नामार्थ दोनों ही कहे गये हैं। इनमें भेद इतना ही है कि जहाँ धात्वर्थ बोधकत्वादि विशेष्य में पूर्व में प्रयुक्त होते हैं वहाँ नामार्थबोधक विशेष्य के बाद। अन्य विशेषणों में पूर्वपश्चात् नाव का कोई श्रम निपत नहीं होता। विशेष्य के कभी पूर्व तो कभी अनन्तर भी उनका प्रयोग होता है।

इत्थं स्थिते स्वरूपेऽस्मिन् विशेषणविशेष्ययोः ॥१।८५॥

यदन्तरङ्गमुद्दिष्टमुभयात्मा विशेषणम् ॥

विशेष्ये मग्नमिव तद् गतिं गोत्वमिव स्थितम् । १।८६॥

विशेषण एवं विशेष्य के स्वरूप के इस प्रकार निश्चित हो जाने पर जो विशेषण अन्तरंग है वह विशेष्य से व्यवहित एवं अव्यवहित उभयात्मक नहीं होता अपितु गो में अव्यवहित रूप से मग्न गोत्व के समान अन्तर्हित-भा रहता है।

अतएवानुभावित्वात् तत्प्रतीत्योः श्रमापहः ।

यन्मूलरचायमनयोर्द्योत्तकृताग्रमः ॥१।८७॥

इनांलिप् घोघना मे होने के कारण उनकी प्रतीति में पूर्वोपरनाव का श्रम लक्षित नहीं होता पर होता अवश्य है। यही कारण है कि प्रादि एवं उनके विशेष्य मूल-धात्वर्थ में घोघ-योत्तकृताग्रम का ग्रम हो जाता है।

प्रादीनां धातुगर्भत्वोपगमाच्च यदुपतयान् ।

अहादीनां व्यवस्थापर्मित्यादि विदुषां यतः ॥१।८८॥

प्र आदि उपसर्गों के धातु के गर्भ में ममा जाने से ही विद्वानों में श्रेष्ठ मन् हरि ने 'अहादीनां व्यवस्थापर्म' इत्यादि कहा है; जिनका जनिप्राय यह है कि अन्य शब्दों की तरह उपसर्गों में भी योत्तरता या व्यंजकता नाम की कोई शक्ति या व्यापार काम नहीं करता जिन ध्वनिविद्वान्त की व्यापारनिष्ठा व्यंजना की निद्रि के लिये दृष्टान्त के रूप में उपस्थापित किया जा सके।

अतएव व्यवहितैर्बुधा नेच्छन्ति चादिभिः ।

सम्बन्धं ते हि शक्ति स्वामुपदध्युरनन्तरे ॥१८९॥

अतएव विद्वान् लोग वाक्य में व्यवहित अर्थान् दूरस्थ 'च' आदि के द्वारा विनोप्य और विशेषण में सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहते । अपितु वे अपनी सम्बन्ध-बोधिनी शक्ति को अव्यवहित पद के अर्थ में ही निहित रखते हैं ।

सान्तरत्वे तु तां शक्तिमन्यत्रैवादधःश्रमो ।

ततश्चार्यासामंजस्यादनीचित्यं प्रसज्यते ॥१९०॥

ये चादि विनोप्य से व्यवहित होने पर अपनी अर्थ प्रत्यायिका शक्ति का आधान अन्यत्र ही करने लगते हैं उससे वाक्य के अर्थ में अनामजस्य पैदा होना है जिसमें अनौचित्य (दोष) की प्रसक्ति होने लगती है ।

तृतीय-विमर्श

ध्वनिभेदों की अनुपपत्तिपूर्वक अनुमेयता

(क) गुणीभूत व्यंग्य की अनुपपन्नता

ध्वनिवार आनन्दवर्धन ने ध्वनिकाव्य के दो भेद किये हैं—ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य। ध्वनि के लक्षण एवं उमकी अनुमेयता का विवेचन पूर्वविमर्श में ही चुका है। प्रवृत्त म्यल में हम गुणीभूत व्यंग्य का निरूपण कर ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्य के प्रधानेतर-भाव की असम्भाव्यता का प्रदर्शन करेंगे। व्यक्तिविवेकवार महिममदृष्ट का कहना है कि काव्य के स्वरूप की व्युत्पत्ति के लिए ही ध्वनिकार ने ध्वनि एवं गुणीभूत व्यंग्य नामक भेद एवं उनके प्रभेदों का निरूपण किया है। किन्तु मन्त्रमें पहले उन्हें काव्य का सामान्य-लक्षण करना चाहिए था, उक्त प्रकार में विशेष लक्षण नहीं। किन्तु ऐसा न कर ध्वनिकार ने जो प्रधानेतर भाव की बन्ना करने हुए काव्यविशेष का ही निरूपण किया है, और ध्वनि तथा गुणीभूतव्यंग्य नामक काव्य के जो दो भेद किये हैं उनको कोई आवश्यकता नहीं थी। विशेष की प्रतीति के लिए, निमित्त के रूपमें जिसका आश्रयण किया जाता है, उसका प्रतिपाद्य वह विशेष ही होता है, अन्य नहीं। अन्वया अनिप्रमग द्रोप की सम्भावना होती है। उदाहरणस्वरूप दण्डी-व्यक्ति की प्रतीति के लिए दण्ड का प्रयोग होने पर, वहाँ प्रतिपाद्य होने में व्यक्ति की ही प्रधानता होती है, दण्ड की नहीं।^१ इसी प्रकार व्यंग्य की प्रतीति के लिए निमित्त-रूप में जिस काव्य का आश्रयण होता है, वहाँ व्यंग्य का प्रतिपाद्य नहीं हो सकता। गुणीभूत-व्यंग्य काव्य में यही होता है। वहाँ व्यंग्य की अपेक्षा वाच्य में चारुत्व के अधिक होने में वाच्य की ही प्रधानता होती है, और उस चारुत्वानिगम का निमित्त व्यंग्य ही होता है। ध्वनिकार ने स्वयं कहा है—

प्रकारोऽप्यो गुणीभूतव्यंग्यः काव्यस्य दृश्यते ।

यत्र व्यङ्ग्यान्वये वाच्यचारुत्वं स्यात्प्रशयंवेत् ॥

(गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्य का एक दूसरा भेद है जहाँ व्यंग्य के सम्बन्ध में वाच्य में चारुत्व का प्रशय होता है।)

१. किञ्च काव्यस्य स्वरूपे व्युत्पादयितुं कानेन प्रतिमता तन्लक्षणमेव सामान्येनाह्वयान्वयम्, यत्र चारुप्रशयोपमानयोगेभ्यगमकभावसंस्पर्शान्त् काव्यमिति, तावन्तव व्युत्पत्तिमिदं: । यत्तु तदनाप्यार्येव तपोः प्रधानेतरभावकल्पनेन प्रकारदृश्यमुक्तं तदप्रतीत्यमेव । यो हि यद्विशेषप्रतीती निमित्तभावेन तिदिचतः स एव तद्विनतः प्रतिपाद्यो भवति नाप्यः, अनि-प्रसंगान् । यथा दण्डिप्रतीती दण्डः ।

वस्तुतः काव्य में चारत्व का आधान, अन्य-व्यतिरेक से उम अनुमेयार्थ के संस्पर्शमात्र से ही होता है जिसको ध्वनिवादी प्रतीयमान कहते हैं। अतः इस रहस्य का अवधारण हो जाने पर, उसे ही ध्वनि-काव्य कहना चाहिए, न कि प्राधान्याप्राधान्यरहित किसी विरोध को। अपि च वस्तुमान, अलंकार एव रसादि, काव्य की तीनों विधाओं में प्राधान्याप्राधान्य या सामान्य-विशेष विषयक ऐसी कोई विशेषता प्रतीत नहीं होती जो सहृदयहृदयाह्लादजनक हो।^१ कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ पर प्रतीयमान अर्थान् अनुमेय-अर्थ होता है वहाँ वस्तुमान, अलंकार या रसादि की प्रतीति प्रचानतया होगी हो या अप्रचानतया, वह उत्तम-काव्य है। प्रतीयमान के अप्रचान होने से काव्य की उत्तमता में कोई व्याधान नहीं होता। वस्तुमात्र की प्रचानता से उत्तम काव्य का उदाहरण है—

वज्र मर्मर्बकस्याः भवन्तु निःश्वासरोदितव्यानि ।

मा तदापि तथा बिना दाक्षिण्यहृतस्य जनिपत ।

नायक मज-धजकर वहाँ जा रहा है। नायिका जानती है कि इस समय वह अपनी किसी अन्य प्रेयसी के पास जाना चाहता है। किन्तु नायिका को निद्रा देवकर वह रुक जाता है। इस पर नायिका कहती है कि—जहाँ जा रहे थे जाओ। जिससे जकेले भेगे ही भाग्य में सिसकना-रोना रहे। न जाकर उसके बिना तुम्हें भी न रोना पड़े। यहाँ पर नायक का नायिकान्तर में अनुराग का अनिगद्यरूप वस्तु व्यंग्य है और उमी की प्रचानता भी है। किन्तु—

लावण्य सिन्धुरपरंब हि केयमत्र

यत्रोत्पलानि शशिना सह सम्प्लवन्ते ।

उन्मग्नजति द्विरदकुम्भतटी च यत्र

यत्रापरे कदलिकाण्डमृणालदण्डाः ॥

नदी के तट पर स्नान के लिए आयी सुन्दरी नायिका को देखकर कोई रसिक कहता है—सौन्दर्य की एक दूसरी नदी यह कौन है जिसमें चन्द्रमा के माथ कमल तैर रहे हैं और गोता लगाये हुए हाथी का मम्मक उनका हुआ दिखाई दे रहा है, तथा जहाँ कूट और ही प्रकार के बदलीमन्मन और मृणालदण्ड प्रतीत हो रहे हैं।

इस पद्य में नवयौवनपरिष्कृतलावण्यवती किमी कामिनी को देखकर संज्ञानामिलायक नायक उसका वर्णन करता है। इस वर्णन में नायिका के शरीर, मुग्ध, नयन, स्तन, उर एव भुजाओं का लावण्यसिन्धु, शशि इत्यादि के माथ तादात्म्य स्थापित किया गया है और इस प्रकार यह पद्य अनेकाव्यवसायात्मिका जनिशयोक्ति का उदाहरण है। किन्तु आदि पदार्थों को नायिका में अनुपपत्ति होने से यहाँ अत्यन्त निरन्तरवाच्य ध्वनि है जिसमें लावण्य में प्रवहमानादि लक्षित होने हैं और नायिका के अंगों की परिपूर्णता रूप वस्तु ध्वनित होता है। किन्तु वह वाच्य अति-

१. अनुमेयार्थसंस्पर्शमात्रं चान्वयध्वनिरेकान्यां काव्यस्य चारुत्वहेतुनिश्चितम् । अतस्तदेव वचनव्यं भवति न त्वस्य प्राधान्याप्राधान्यरहितो विरोधः । न हि तयोः सामान्यविशेषयोस्त्रि-त्वपि वस्तुमात्रादिध्वनुमेयेषु चेतनवमत्कारकारी कश्चिद्विशेषोऽवगम्यते ।

दोषोक्ति अलंकार की अंक्षा अप्रधान है, फिर भी यहाँ उत्तमभाव्यता का व्यापार नहीं होता। इसी प्रकार—

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरस्सरः ।

अहो दंबगतिश्चित्रा तथापि न समागमः ॥

संध्यारूपी नायिका दिवसरूपी नायक से प्रेम करती है। नायक भी उसी ओर ही अप्रमत्त है। पर विधि की विचित्र गति है कि फिर भी दोनों का मिलन नहीं हो पाता।

इस पद्य में समासोक्ति अनुप्राणित अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्ति अलंकार है। तथा गुम्बजों की परतयनावश अनुरक्त प्रेमियों का मिलन न हो सकना, अर्थ ही व्यंग्य है जो कारण के रहते हुए भी कार्याभावरूप विशेषोक्ति अलंकार की सृष्टि करता है। इस अलंकार रूप व्यंग्य की अपेक्षा, संध्यादिवससमागम रूप वाच्य ही उत्कृष्ट है, अतएव ध्वनिकार ने इसे गुणीभूत व्यंग्य का उदाहरण कहा है। यद्यपि यहाँ व्यंग्यार्थ प्रधान नहीं है, फिर भी उसकी अप्रधानता के कारण वाच्य की चारुता का लेशमात्र भी अपवर्ण्य नहीं होता। अलंकार की प्रधानता का उदाहरण है—

वीराणां रमते घुसुणारुणे न तथा प्रियास्तनोत्सङ्गे ।

दृष्टो रिपुगजकुम्भस्थले यथा बहलसिन्धूरे ॥

यहाँ पर प्रियास्तनोत्संग एव रिपुगजकुम्भस्थल के दर्शन समान रूप में आवर्षक है। किन्तु गज पक्ष के गजों के कुम्भस्थल के दर्शन में वीरों के लिए जो आवर्षण है, वह प्रिया के स्तनों के उदाह के प्रति नहीं है। यह ध्वनिरैक ही व्यंग्य है। उन्नयन आदरविषयक सादृश्य की प्रतीयमानता से यहाँ उपमाध्वनि है और वही प्रधान भी है। अलंकारव्यंग्य की अप्रधानता में भी वाच्य की उत्तमता का लोप नहीं होता। इसका उदाहरण है—

चन्द्रमपूर्णः निशा, नलिनी कमलैः, कसुमगुच्छैलता ।

हंसैः शारदशीभा, काव्यकथा सज्जनैः क्रियते गुर्वी ॥

यहाँ पर गुरकरूप समानधर्म, चन्द्रमपूणप्रभृति एव निशादि उपमान कोटि के पदार्थों में जंमा है, वाच्य कथा में उपमेय कोटिक पदार्थ सज्जन में भी बँसा ही है। इस तरह वह समान धर्म उपमेयकोटिक पदार्थ में अन्विता होता हुआ प्रकृत पद्य में दीपवालंकार का विधान करता है। यहाँ पर उपमालंकार अवश्य व्यंग्य है, किन्तु जैसी चारुता का अनुभव वाच्यालंकार दीपक में होता है, प्रतीयमान उपमा से बँसा न होने के कारण उसकी प्रधानता नहीं है, फिर भी यहाँ व्यंग्य अलंकार की अप्रधानता में भी वाच्य की उत्तमता की हानि नहीं होती।

रसादि की अप्रधानता के उदाहरण कुमारसम्भव के मधु-प्रसंग में पुष्पाभरण में विनूयित देवी के आगमनादि में लेकर कामदेव के शम्भुध्यान पर्यन्त घटनाओं, एवं शम्भु की धैर्यरहित चेष्टाओं के वर्णन आदि हैं। वहाँ पर वाच्य की उत्तमता में विभी की किसी भी प्रकार का मन्देह नहीं है। रसादि की अप्रधानता शुद्ध एव सर्वोपेक्ष्य दो भावों में सम्भव है। शुद्ध रूप में उसकी अप्रधानता का उदाहरण है—

किं हास्येन न मे प्रयास्यमि पुनः प्राप्तिश्चिराद्दर्शनं
केयं निष्कन्द ! प्रवागरक्षिता बेनामि दूरीकृतः ?

स्वप्नान्तो ध्विति तेजवद् प्रियतमव्यासवनकण्ठप्रहो,
बुद्ध्वा रोदिति रिक्तबाहुवलयस्तारं रिपुस्त्रोजनः ॥

कोई कवि किसी राजा की स्तुति करते हुए कहता है—हे राजन् ! आपके शत्रुओं की हथियां अपने पतियों को स्वप्न में पाकर उनके गले में हाथ डालकर कहती हैं कि इस तरह का मजाक क्यों करते हो ? आज तो बहुत दिनों के बाद मिले हो। अब तो फिर नहीं जाओगे न ? निष्पुत्र कहीं के ! यह तो बताओ कि तुम अब इतना बाहर क्यों रहने लगे हो ? किन्तु तुम्हें मुझसे दूर कर दिया था ? किन्तु जब उनका स्वप्न भंग हो जाता है और वे अपनी भुजाओं से बने घेरों को रिक्त पानी हैं तो जोरों से रोने लगती हैं। यहाँ पर रिपुस्त्री के स्वप्नविनाश से किसी राजा के प्रभावानिश्चय का वर्णन हुआ है। स्वप्न में पतिदर्शन से उद्दीपित शुद्ध कण्ठरस उस प्रभावानिश्चय का अंग है, अतः अप्रधान है। सकीर्ण-रमादि की अप्रधानता का उदाहरण है—

शिक्षितो हस्ताबलानः प्रसन्नमनिहृतोऽप्याइशानोऽशुकालं
गृह्यन् केशोऽध्वयान्तश्चरभनिपतितो नैशिनः सम्प्रमेगः ।
आलिङ्गन्वोऽवधूतस्त्रिपुरपुवतिभिः साधुनेत्रोत्पलाभिः

— कार्त्तवीर्यापराधः स बहनु दुरितं शान्मवो वः शरान्निः ॥ (अमरकालक)

अग्नि-रूपी शिव का वह बाण आप लोगों के पापों को जला दे जो परनायिकोंपभाग आदि अपराध किये हुए कामी नायक के समान त्रिपुर की युवतियों को हाथ लगाने पर उनके द्वारा जटक दिया गया, जोरों से प्रताड़ित होने पर भी उनके आँचल की छोर को पकड़ने के लिये मचलता रहा, उनके केशों को पकड़ने पर किसी तरह मुश्किल से दूर हटाया गया, उनके धरणों पर पड़ने पर भी क्रोध एवं धवराहट के कारण उनके द्वारा देखा तक नहीं गया तथा हृदय आलिङ्गन करने पर उनके द्वारा अपने कमलवन् नेत्रों में आँसू भर कर तिरस्कृत किया गया। यहाँ पर त्रिपुरारि में शिव का प्रभावानिश्चय ही वाक्यार्थ है तथा श्लेषानुप्राणित रूपाँ और विप्र-लम्ब उत्तके पोषक है। अतः प्रभावानिश्चय की अप्रधानता सकीर्ण है। फिर भी यहाँ काव्य की उत्तमता में किसी प्रकार की कमी नहीं है। इस प्रकार ध्वनि के बन्धुमान, अलंकार एवं रमादि तीनों भेदों में अनुमेयार्थ के सम्पर्श को ही काव्य की चारता का हेतु समझना चाहिए, चाहे वह प्रधान हो अथवा अप्रधान।^१ आचार्य महिममष्ट का यही मत है।

इस तथ्य को स्वयं ध्वनिकार ने भी स्वीकार किया है। उनका कहना है कि—महृदय-हृदयाह्लादक काव्य का ऐसा कोई भी प्रकार सम्भव नहीं, जहाँ चास्त्व के आधान का हेतु, प्रतीपमान का सम्पर्श न हो। अतः विद्वानों को सम्बोधित-का करते हुए उन्होंने इस बात को काव्य का परम रहस्य कहा है।^२ यही नहीं, उन्होंने तो यहाँ तक कहा है कि महाकवियों की

१. सर्वत्र प्रकारप्रप्रेषि अनुमेयार्थ संस्पर्श एव काव्यस्य चास्त्वहेतुः इत्यवगन्तव्यम् ।

ध्वनिविवेक, ५० ४०-१४१ ।

२. सर्वथा नास्त्येव महृदयहृदयहासिणः काव्यस्य स प्रकारो यत्र प्रतीपमानार्थसंस्पर्शो न सीमायम् । तद्विदं काव्यरहस्यं परमिति सूरिभिः विनाशनीयम् ।

—ध्वनानोक वृत्ति ३३७, ५० ४२० (विलो) ।

अलंकारप्रधान रचनाओं में भी प्रतीपनानार्थ की छाया अर्थात् व्यंग्यरूप सौन्दर्य ही चन्कार का मुख्य आधापक-तत्व उनी प्रकार होता है जिस प्रकार नानाविध कलाकार में सुशिक्षित नायिका का लज्जानाव ही मुख्य रूप में उनमें सौन्दर्य का आधान करता है।^१ गुणीभूत व्यंग्य नामक काव्यभेद का स्वरूप-निरूपण करते हुए ध्वनिवार ने स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है कि वहाँ भी वाच्य में चारत्वातिशय का आधान व्यंग्य के अन्वय से ही होता है।^२

इसका अनिप्राय यह नहीं है कि ध्वनि या प्रतीपनान के प्राधान्याप्राधान्य से वाच्य में चारत्व के उत्कर्षार्थक्यं का अनुभव ही नहीं होता। अतः वहाँ प्रधानेतरभाव से प्रतीपनान का उपनिबन्धन ही सक्ता है। यहाँ प्रधानेतर भाव के खण्डन करने का अनिप्राय यह है कि इनमें ध्वनि के स्वरूपमात्र का प्रतिपादन होता है। उनके चारत्व के विषय में कोई विवेक जावकारी नहीं होती। स्वरूपमात्र के प्रतिपादन को ही इस विवेचन का फल इसलिए स्वीकार नहीं किया जा सकता कि फिर ध्वनिवाक्यदत्तों पद, वर्ण, सत्या आदि के स्वरूप का निरूपण भी इतिवृत्तव्यता की कोटि में आ जायगा। इस प्राधान्याप्राधान्य निरूपण का मुख्य प्रयोजन तो सजासद्विषयक व्युत्पत्ति है, वाच्यविशेष की प्रतिपत्ति नहीं। किंच ध्वनि के प्रधानेतर भाव को उनी रूप में स्वीकार कर लेने पर भी अनुमेधार्थ की निश्चि में किसी प्रकार की दाया नहीं पड़ती। उक्त विवेचन को ही प्रयकार ने निम्नलिखित मरुहकारिकाओं में उपनिबद्ध किया है।

यदि वाच्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टं चारता ।

प्रकथंशालिनि तर्हि व्ययं एवादरो ध्वनी ॥११९६॥

यदि गुणीभूतव्यंग्य नामक भेद में भी वाच्य का उत्कर्षार्थी सौन्दर्य अभीष्ट है तो ध्वनिवार ने ध्वनि के प्रति इतना आदर कि वही वाच्य की आत्मा हो सकता है, व्यंग्य ही में प्रदर्शित किया। क्योंकि बिना आत्मा के किस प्रकार जीवन की मत्ता जनमभव है उनी प्रकार वाच्यआत्मा ध्वनि के बिना वाच्य का कोई भी प्रकार नन्त्र नहीं होगा।

नहि वाच्यमभूतस्य ध्वनिस्तयास्ति सम्भवः ।

तेन निजैर्विर्वासास्य स्यान् प्रकथं कथं वा ॥११९७॥

वहाँ (गुणीभूतव्यंग्य के स्थलों में) वाच्य के आत्मभूत तन्त्र ध्वनिकी मत्ता कथनरि

१. मुरया महारविगिरामल्लङ्कृतिभूतामपि ।

प्रतीपमानच्छापिषा भूषा लज्जेव योविनाम् ॥

—ध्वन्यालोक, भा० ३।३८।

२. प्रकरोऽप्यो गुणीभूतव्यङ्गयः वाच्यस्य दृश्यते ।

यत्र व्यङ्गयपान्धवे वाच्यचारत्यं स्यात्प्रकथंयन् ॥

—ध्वन्यालोक, भा० ३।३५

३. सम्भवोपेक्षया चास्य ध्वनेः स्वरूपमात्रप्रतिपादनार्थत्वोपगमेऽपेक्षामपि तद्व्याप्यवर्तितां पद वर्णमंस्वारादीनां तदुपदर्शनप्रगट्णो विमोषाभावादिनिमित्तामन्त्रिमन्व्यङ्ग्यप्रतिमाप्रकथं येन पदंस्वरूपीति न वाच्यविशेषव्युत्पत्तिकथम् । न चायं प्रधानेतरभावेनोपनिबद्धस्तेषां अनुमेधनां प्रतिबन्धनाति ।

—ध्वनिविवेक, पृ० १४१ ।

सम्भव नहीं। अतः गुणीमूतव्यंग्य काव्य अपनी आत्मा ध्वनि के अभाव में सर्वथा निर्जीव ही ठहरता है, उसके उत्तम या मध्यम काव्य होने की तो बात ही क्या? कहने का आशय यह है कि काव्य का कोई भी भेद पहले काव्य होना चाहिए अनन्तर उसका उत्तम, मध्यम या अधम भेद। काव्यात्मा ध्वनि के अभाव में कोई भी रचना ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार काव्य ही नहीं कही जा सकती, फिर उसके एक भेद होने की तो बात ही क्या?

अतोऽतद्वत्तमभूतस्य योऽभावं जगदुर्ध्वनेः ।

ते मूर्धन्य प्रतिक्षिप्ताः स्वोक्तिभावमपश्यता ॥११९८॥

अब जिन लोगों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा होने का विधान किया है उन्होंने अपनी उक्ति के भाव को न देखने हुए अपनी ही दूसरी उक्ति का खण्डन कर दिया है। यर्थात् गुणीमूतव्यंग्य को काव्य का एक भेद कहने से ध्वनि की काव्यात्मता का स्वन-अपलाप हो जाता है।

अयेष्यते स तत्रापि रसादिव्यक्त्यपेक्षया ।

काव्यमेवान्यथा न स्याद्रसात्मकमिवं मतः ॥११९९॥

सिद्धान्तपक्ष तो यह है कि यदि गुणीमूतव्यंग्य आदि स्थलों में काव्यत्व अभीष्ट है तो वह रसादि की अभिव्यक्ति को लेकर ही बन सकता है क्योंकि काव्य मदा रसात्मक ही होता है।

इत्यञ्च गम्यमानार्थस्पर्शमात्रमलङ्कृतिः ।

वाच्यस्येत्येतदुक्तं स्यान्मता संवानुमा ततः ॥११९०॥

इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्धन के ध्वनि का अमिप्राय यदि यही है कि प्रतीयमान के संस्पर्श मात्र से वाच्य अलङ्कृत हो उठता है तो वह अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है।

(ख) लक्षणा एवं अभिधामूलक ध्वनिभेदों की अनुपपत्ति

ध्वनिकार ने ध्वनि के अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य नामक दो भेद किये हैं। अविवक्षितवाच्यध्वनि लक्षणामूलक होता है जहाँ वाच्य अर्थ विवक्षित नहीं होता। इसका उदाहरण है—

सुवर्णंपुष्पां पृथिवीं चिन्वन्ति पुरुषात्त्रयः ।

शूरश्च कृतविद्यश्च यश्च जानाति सेवितुम् ॥

यहाँ न तो पृथ्वी कोई लता है, न सुवर्ण पुष्प, और न उमका चपन ही हो सकता है। अतः सुवर्ण पुष्पा पृथ्वी का चपन यह वाक्य यथाश्रुत रूप में अन्वित नहीं हो सकता। इसलिए मुख्यार्थवाच्य होने से लक्षणा द्वारा वह विपुल धन और उसके अनायास उपार्जन में व्यक्ति का सरलतापूर्वक समृद्धिशाली होना व्यक्त करता है। लक्षणामूलक होने से इसे अविवक्षितवाच्य ध्वनि कहते हैं। जहाँ पर वाच्य अर्थ विवक्षित होता है किन्तु वह ध्यंग्यपरक होता है उसे विवक्षितान्यपर-वाच्य ध्वनि कहते हैं। यह अभिधामूलक होता है। इसका उदाहरण है—

शिलरिणि क्व नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।

सुमलि येन तवाघरपाटलं ददाति बिम्बफलं शुक्रशावकः ॥

यहाँ पर अधरान्वित तव पदार्थ का प्रयोजकत्वसम्बन्ध से विम्बफलकर्मक दशन के साथ भी अन्यत्र होकर, तुम्हारे अधरारम्भलाभ से गवित विम्बफल का तुम्हारे सम्बन्ध से ही, मुख्यतः तुमको लक्ष्य में रखकर ही, दशन कर रहा है। यह अर्थ विवक्षित है, इसीलिए 'तवाधरपाटल' इस समस्तपद का प्रयोग किया है। शुक्रशाब्दक को उचित तात्पर्यकाल पर उसकी प्राप्ति और रसज्ञता, यह सब पुष्पातिशयलम्ब्य है, यह अर्थ और इसके साम अनुरागी का स्वामिप्रायस्यात अर्थ व्यंग्य है।

व्यक्तिविवेककार महिममट्ट ने ध्वनि के इन दोनों भेदों की सत्ता का सङ्गन किया है। उनका कथन है कि—ध्वनिकार ने ध्वनि के अविवक्षितवाच्य एवं विवक्षितान्यपरवाच्य नामक जो दो भेद किये हैं, वहाँ अविवक्षितत्व का तात्पर्य क्या है? क्या वह वाच्य की अनुपादेयता है या अन्यपरता? यदि वहाँ वाच्य अनुपादेय है तो पूर्ण रूप से या अंशतः? वाच्य की सर्वात्मना अप्राहृष मानने पर उसका व्यञ्जकत्व भी अनुपादेय (अप्राहृष) ही होगा और इसका प्रयोग वाच्य में उसी प्रकार सदोष होगा जैसे पुनरुक्तआदि का।^१ क्योंकि जब वाच्य ही विवक्षित नहीं तो उसके अधीन व्यंग्य तो सुतरां अविवक्षित होगा। यदि यह कहें कि अर्थ के दो स्वरूप होते हैं—वाच्यारम्भक एवं व्यङ्ग्यात्मक। यहाँ पर अंशतः अविवक्षित पक्ष में अर्थ की वाच्यारम्भकता ही अविवक्षित है, व्यङ्ग्यात्मकता नहीं, तो ठीक है, किन्तु उस अविवक्षित अंग का शब्दतः उपादान होना चाहिए। विचार करने पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि निरूप्यमाण होकर उसका पर्यवसान उसकी स्वयं की अप्रधानता में ही होता है। इस प्रकार अविवक्षितत्व, अन्यपरत्व एक उपसर्जनीकृतस्वार्थत्व सब एक-दूसरे के अपरपर्याय हैं और इन सबका एक ही अर्थ है। प्रकारान्तर से इन सबसे ध्वनि के स्वरूप का ही कथन होता है उसके प्रकार या भेद पर प्रकाश नहीं पड़ता।^२ पदार्थ के धर्म का अनुसरण करने पर अवान्तर-विषय का जो सङ्गण होता है वह उसका प्रकार या भेद कहा जाता है। जैसे शाबलेय आदि गोत्व के भेद होते हैं। कोई वस्तु या विषय अपना ही प्रकार बदापि नहीं हो सकता, अन्यथा अनवस्था-दोष पड़ेगा। उक्त विवेचन के अनुसार अविवक्षित-वाच्य एवं विवक्षितान्यपर-वाच्य नामक ध्वनि-भेदों में किसी विशेष का ग्रहण नहीं होना। अतः वह ध्वनि के प्रकार किस प्रकार हो सकते हैं।^३

१. किञ्च, यदविवक्षितवाच्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्चेति ध्वनेः प्रकारद्वयमुक्तं, तत्र किमिदमविवक्षितत्वं नामेति तात्पर्यतोऽस्पायो वक्तव्यः। किमविवक्षितत्वमनुपादेयत्वमन्यपरत्वम्। अनुपादेयत्वं च किं सर्वात्मना अंगेन वा। सर्वात्मनानुपादेयत्वे व्यञ्जकत्वमप्यस्यानुपादेयं तस्य तदाश्रितत्वात्। ततश्च प्रयोग एवास्त्य दुष्टः स्याद् यथान्यस्य पुनरुक्तादेः।

व्यक्तिविवेक, पृ० १४३।

२. अपाशोनेत्युच्यते। वक्तव्यस्तद्व्यर्थसाधनः। स च निरूप्यमाणः स्वाप्राधान्य एव पर्यवश्यति ततश्चाविवक्षितत्वमन्यपरत्वमुपसर्जनीकृतात्मत्वं चेत्येक एवायं इत्यनया अंग्या स्वरूपमेव ध्वनेरुक्तं भवति न तु तस्य प्रकारभेदः।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १४३-४४।

३. यस्य हि यत्तत्तत्तानुगमे सत्यवान्तरविशेषसंस्पर्शः, स तस्य प्रकार इत्युच्यते यथा गोत्वस्य शाबलेयादि न तु तस्यैव स एक प्रकारो भवितुमर्हति तदनेवापान्तङ्गात्। न चात्र विशेषसंस्पर्शः कश्चिदिति कथमस्य ध्वनिप्रकारयोर्विनिर्मुक्तिमती। —व्यक्तिविवेक, पृ० १४४।

ध्वनि का दूसरा भेद जो विवक्षितान्यपरवाच्य है, उसकी सत्ता तो और भी अन्यत्र एवं मन्देशास्पद है। क्योंकि यदि विवक्षितत्व प्राधान्य को कहते हैं तो उसका अन्यपरत्व कैसे सम्भव है? अन्यपरता का अनिप्राय दूसरे का अग होना है। तथा जिसके अगनाय का विधान होगा वह उसी समय किस प्रकार विवक्षित होने से प्रधानता का अनुभव कर सकता है? अतः वाच्य के विवक्षितत्व अर्थात् उसकी प्रधानता एवं अन्यपरत्व अर्थात् अप्रधानता, युगपत् प्रत्यक्ष अनुभवविरुद्ध होने से, विवक्षितान्यपरवाच्य भेद की अनुपपत्तता स्वतः सिद्ध हो जाती है।^१ एकाश्रयत्वेन प्रधानेतरनाय मानने से भी इसलिए काम नहीं चलता कि एकाश्रयत्वेन प्राधान्या-प्राधान्य सम्बन्धवत्ता उन्नी अर्थ में ही ठीक होती है जो विगोपण के रूप में अभिमत होने हैं, अन्य विषय में नहीं। वही एक वस्तु, प्रधान और अप्रधान दोनों हो सकती है, जो विगोपण है। विगोप्यवस्तु तो सबंदा प्रधान ही होती है। 'रामस्य पाणिरसि' इत्यादि वाक्य में 'पाणि' में कठोरता रूप उन्वय के आधान के कारण ही राम की प्रधानता है, अन्यथा राम पद पाणि का विगोपण होने से अप्रधान ही है।^२ किंच विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनि की सत्ता को स्वीकार कर लेने पर भी वाच्य की अन्यपरता का कथन नहीं होना चाहिए था। क्योंकि ध्वनि का प्रभेद होने से ही उममें अन्यपरता स्वतः सिद्ध है। अन्यपरता ही उपसर्जनीकृतात्मना है जो ध्वनि के प्रत्येक भेदप्रभेद में सामान्य रूप से स्वतः विद्यमान है।^३

यदि विवक्षितान्यपरवाच्य नामक ध्वनिभेद में से अन्यपरत्व अग निकालकर उसका विवक्षितवाच्य मात्र नाम रखा जाय, तो जहाँ पर वाच्य ही विवक्षित अर्थात् प्रधान होता है, ऐना गुणोमून व्यंग्य भी ध्वनिवाच्य हो जायगा। और इन प्रकार गुणोमूनव्यंग्य में वाच्य की उत्तमता का निषेध नहीं होगा। इस पर व्यक्ति विवेककार कहते हैं कि—यदि विवक्षितान्यपरवाच्य में अन्यपरत्व का प्रयोग करते हैं तो अविवक्षित वाच्य में भी अन्यपर पद का प्रयोग क्यों नहीं करते? क्योंकि यही दोष वहाँ पर भी उपस्थित होता है। अथवा यदि अविवक्षितवाच्य में अन्यपर का प्रयोग नहीं करते तो विवक्षितान्यपरवाच्य में भी उसका प्रयोग नहीं होना चाहिए। क्योंकि अनुमेयार्थसम्पन्न में ही अन्वयव्यतिरेक में वाच्य की चास्ता निहित होती है

१. किञ्चेदं विवक्षितान्यपरवाच्यत्वप्राप्तं न बुध्यमानहे। यदि हि विवक्षितत्वं नाम प्राधान्य-मुच्यते तन् कथं तस्यान्यपरत्वं घटते। अन्यपरत्वं हृष्यस्याङ्ग भावो भव्यते। यस्य चाङ्ग-भावः स कथं तदेवं विवक्षितत्वात् प्राधान्यमनुभवेदिति यद्वाच्यस्य विवक्षितत्वमन्यपरत्वं चोपगतं तद्विप्रतिपिद्धं विवक्षितान्यपरत्वयोविरोधात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० १४४।

२. एकाश्रयत्वेन हि प्राधान्येतरयोगित्वं विशेषणाभिमतार्थविषयमेव संगच्छते नान्यविषयम्। तदेव हि विशेष्यस्योत्कर्षाधाननिबन्धनभावेन विवक्षितत्वात् प्राधान्यम् उपाधिभावाच्च वास्तवाद्प्राधान्यमनुभवितुमलं यथा 'रामस्य पाणिरसि निर्भरगर्भंस्त्रिप्रसोताविवासनपटोः वरुणा कुतस्ते' इत्युच्यते। —व्यक्तिविवेक, पृ० १४५।

३. किञ्चास्य विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनिप्रभेदत्वेऽन्युपगम्यमाने वाच्यस्यान्यपरत्वमनु-पादेयमेव तस्य तत्प्रभेदत्वादेव सिद्धेः। अन्यपरत्वं हृष्यपमर्जनीकृतात्मत्वम्। तच्च ध्वनेः सामान्यं रूपमुच्यते। —व्यक्तिविवेक, पृ० १४५।

प्रधानेतरभाव की चर्चा में किमो प्रकार का मन्वार विगेष मिड नहीं होता तथा दोनों ही ध्वनि के सामान्य नेद है ।^१

(ग) ध्वनि अवान्तरभेदों का नष्टन एवं उनकी अनुमेयता का विधान

ध्वनिवार ने अविचक्षितवाच्य अर्थात् लक्षणात्मक-ध्वनि के अर्थान्तर संश्रमितवाच्य एवं अत्यन्तनिरन्वृत-वाच्य नामक दो प्रभेद किये हैं। दोनों प्रमथ. उपादान एवं लक्षणलक्षणा-मूलक होते हैं। व्यक्तिविवेकवार महिममट्ट का कथन है कि—उक्त दोनों नेद सर्वथा अनुप-पन्न है। अर्थान्तर संश्रमितवाच्यध्वनि का जो उदाहरण 'अग्निमार्गववः' दिया गया है उसमें यही मिड होता है कि अर्थान्तरसंश्रमित-वाच्य गुणवृत्ति लक्षणा का नेद है न कि ध्वनि का। उसमें लक्षणा के एक भेद गौणी का ही समर्थन होता है। उपचारतः अर्थात् सादृश्यसम्बन्ध से ही गौणी लक्षणा होती है। अन्त्य एवं अनतिरिक्त (न कम न अधिक होने के) भाव से निहित माधर्म्य के बोध के लिए एक वस्तु का दूसरी वस्तु पर जो आरोप होता है, उसी को उपचार कहते हैं। आरोप्यआरोपकभावस्वरूप होने से वह उपचार, आरोप्य एव आरोपक उनवार्थविषयक होता है।^२ जब शब्द का वही अर्थ सामान्यविशेषभाव की कल्पना में उनवर्ण्य में इस उपचार का विषय होना है, तो वहाँ पर अर्थ प्रकरणादि से निश्चित विशेषांश ही उत्तरार्थवचन से समा-रोपित हो माधर्म्य के बोध का हेतु होता है, सामान्य अंग नहीं। जैसे 'तदमृतम् अनृतम्', (वह अमृत अमृत ही है) इत्यादि स्थलों में द्वितीय अमृत पद का अर्थ परसंज्ञीवनायावकस्वरूप विशेष ही है। तथा 'म इन्दुरिन्दुः' (वह चन्द्रमा चन्द्रमा ही है) में प्रयुक्त द्वितीय इन्दु पद का अर्थ मनापनिवृत्तवत् विशेष ही है। कहने का सारांश यह है कि 'सामान्यं विशेषात् नातिरि-च्यते। निविशेप न सामान्यम्' (सामान्य विशेषों में बाहर नहीं है, न विशेष ही सामान्य में रहित हो सकते हैं) इत्यादि न्याय से विशेष की कृति में ही सामान्य का पाठ सम्भव है। अतः किसी वस्तु में उसी का आरोप सर्वथा सम्भव है।^३

यही नहीं अर्थान्तरसंश्रमितवाच्य ध्वनि का तो अनुमान में मात्रात् अन्तर्भाव सम्भव है। उदाहरणस्वरूप—'रामोऽस्मि सर्वं महे' इत्यादि स्थलों में प्रयुक्त रामादिपद, प्रकरण विशेष में निश्चित उत्तरार्थवचनलक्षण धर्म विनिष्ट संज्ञा का ही बोध कराते हैं, संज्ञा मात्र का

१. अथवा तदुपादीयते पूर्ववर्ति तदुपादीयताम् उक्तवर्ति वा भोपादायि उनयोरेपि तद्वार-त्वाविशेषात् ।
—रश्मिबिबेक, पृ० १४६ ।

२. किञ्चाथान्तरसद्व्यमितवाच्ये तदुदाहरणं तदग्निमार्गवक इतिवद् गुणवृत्तेरेव संगच्छते तस्य गुणवृत्तिप्रकारत्वमर्थनान् । तथा हि प्रसिद्धान्पूर्वानतिरिक्तभावस्यान्यस्य माधर्म्य-प्रतिपत्त्यर्थमन्यवारोप उपचारः । म चाप्यभारोप्यारोपकभावभावमकतया उनवार्थविषयो वेदिन्यः ।
—रश्मिबिबेक, पृ० १४६ ।

३. तत्रैव पर्येक एवार्थ एक शब्दाभिधेयः सामान्यविशेषांशपरित्यजेतोन्नयस्वरोऽप्यतिप्रय-भावं भजते, तदाथप्रकरणाद्यप्यवितोन्वर्थावकयो विविधांश एव मयारोपितस्तत्र माधर्म्यव-र्गितहेतुर्भवति यथा 'तदमृतममृतं म इन्दुरिन्दुः' इति । न तु सामान्यांशः विशेषस्य सामा-न्याप्यभिधारात् ।
—रश्मिबिबेक, पृ० १४६-१४७ ।

नहीं। यहाँ पर जो अर्थ वाच्य होता है वही आश्रयभाव से अनुमित होकर धर्मरूप अर्थांतर में संक्रमित अर्थात् परिणत हो जाता है।^१ अनुमेय दो प्रकार का होता है—धर्मरूप एवं धर्मो-रूप। धर्मरूप अनुमेयार्थ ही अर्थांतर संक्रमितवाच्य ध्वनि का विषय होता है। वहाँ पर धर्म की ही वाच्यार्थगतत्वेन प्रतीति होती है। धर्मोत्प अनुमेयार्थ तो 'पवंतो वह्नित्मान् धूमात्' आदि की तरह शास्त्रीय अनुमान का विषय होता है, काव्य का नहीं। धर्मविशेष की प्रतिपत्ति में प्रकरणादि ही हेतु के रूप में आते हैं, रामादि शब्द नहीं।^२

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक ध्वनिभेद तो 'गोर्वाहीकः' की तरह पदार्थों का सादृश्य-मात्र है, जिसके अनुमान में अन्तर्भाव का विवेचन शब्दसक्तिविभक्तों के अवसर पर पहले ही हो चुका है। पृष्ठतस्थल में उसका निरूपण चर्वितचर्वणमात्र होने से नहीं किया गया है।^३

विवक्षितान्यपरवाच्यध्वनि के भी दो भेद किये गये हैं—अलक्ष्यक्रम-व्यंग्य और संलक्ष्यक्रम-व्यंग्य। आचार्य महिममट्ट का कहना है कि शब्दसक्तिमूल अनुरूपण रूप संलक्ष्य-क्रम-व्यंग्य तो किसी भी प्रकार सम्भव नहीं। क्योंकि शब्द का अनिघा के अतिरिक्त अन्य व्यापार सर्वथा असंभव एव अस्वीकार्य है। इनका भी विवेचन पूर्वाध्यायों में विस्तारपूर्वक हो चुका है। तथा अलक्ष्यक्रम व्यंग्य रूप रसादि ध्वनि का विवेचन आगे 'रननिरूपण' के अवसर पर किया जायगा।^४ इन प्रकार ध्वनि के सन्तो प्रकार के भेदों की अनुपपन्नता एवं उनके अनुमान में अन्तर्भाव का विवेचन, ग्रन्थकार ने बड़ी ही विद्वत्तापूर्वक किया है। ध्वनिकार की मान्यताओं की गहन मीमांसा कर महिममट्ट ने यह दिखाने का सफल प्रयास किया है कि ध्वनि के भेद-प्रभेद कपोल-कल्पित एव प्रवादमात्र हैं। इस समूचे व्याख्यान का सार निम्नलिखित सग्रहकारिकाओं में ग्रथकार ने स्वयं संकलित कर दिया है।

नाविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेयुंक्ता प्रकरता ।

न हि प्रकारस्तस्यैव स एवेत्युपपद्यते ॥१।१०१॥

अविवक्षितवाच्य ध्वनि के अर्थांतर संक्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य-नामक भेद भी ठीक नहीं हैं क्योंकि कोई वस्तु स्वयं अपना ही प्रकार नहीं हो सकती।

भक्तिः पदार्थवाच्यार्थरूपत्वात् द्विविधा मता ।

तद्बुद्धिश्चानुमानान्तर्भूता यदुपपादिता ॥१।१०२॥

१. अर्थांतरसंक्रमितवाच्योऽप्यनुमान एवान्तर्भवति । रामादिशब्दा हि प्रकरणाश्वसितोत्सर्ग-पर्यलक्षणधर्मविशिष्टं संज्ञितं प्रत्यापयन्ति, न संज्ञिमात्रम् । अर्थांतरं यदनुमितं धर्मरूपं तत्र संक्रमितमाश्रयभावेन परिणतं वाच्यमस्येति कृत्वा । —व्यक्तिविवेक, पृ० १४७ ।

२. द्विविधो ह्यनुमेयोऽर्थो धर्मरूपो धर्मरूपश्चेति । तत्राद्योऽप्यविषयः । तस्यैव वाच्यार्थनिष्ठ-तया प्रतीतेः । अन्यस्त्वन्यस्य यथा अग्निरत्र धूमादिति । ततो धर्मविशेषप्रतिपत्तौ प्रकरणा-दिवेव हेतुतयावगन्तव्यः, न रामादिशब्दा इति । —व्यक्तिविवेक, पृ० १४७ ।

३. अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यस्तु पदार्थोपचार एव यथा गोर्वाहीकः इति । तस्याप्यनुमानान्तर्भावः समर्थित एव । —व्यक्तिविवेक, पृ० १४७ ।

४. शब्दसक्तिमूलानुरूपणरूपव्यङ्ग्यस्तु न सम्भवत्येव । शब्दस्यानिघादादित्यनिरिकेण शक्त्य-न्तरानुपपन्नमादित्येतदुक्तं, वक्ष्यते च । —व्यक्तिविवेक, पृ० १४७ ।

पदार्थ एवं वाक्यार्थ रूप दो प्रकार की जो भक्ति बही गई है उसमें उक्त दोनों भेदों का अंतर्भाव हो जाता है। भक्ति (गुणवृत्ति) के अनुमान में अन्तर्भाव का निरूपण हो चुका है।

ततिरस्मृतवाच्यस्य ध्वनेर्भक्तेरच का भिदा ।

द्वितीयोऽपि प्रकारो यः सोऽपि संगच्छते कथम् ॥११०३॥

परस्परविरुद्धत्वाद् विवक्षात्परत्वयोः ।

अब अत्यन्ततिरस्कृत-वाच्य ध्वनि और भक्ति (लक्षणा) में क्या अन्तर है ? विवक्षितान्यपरवाच्य मन्त्रक ध्वनि का जो दूसरा (अग्निधामूल) भेद है वह भी विवक्षा और अन्यपरत्व के परस्पर विरुद्ध होने से कैसे संभव हो सकता है ?

यः शब्दशक्तिमूलोऽन्यः प्रभेदो वर्णितो ध्वनेः ॥११०४॥

सोऽप्युक्तोऽन्यत एवासी तत्रोऽप्यान्तरे मतिः ।

शब्दे शक्त्यन्तराभावस्यासकृत् प्रतिपादनात् ॥११०५॥

शब्दशक्तिमूल विवक्षितान्यपरवाच्य ध्वनि का जो दूसरा भेद सलक्ष्य एवं अलक्ष्य क्रम नाम से वर्णित किया गया है वह भी युक्त नहीं क्योंकि विवक्षित अन्य अर्थ का बोध दूसरे प्रकार से ही होना है तथा शब्द में अग्निधा के अनिश्चित अन्य शक्ति के संभव न होने का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में अनेक बार किया जा चुका है ।

चतुर्थ-विमर्श

ध्वनि के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या

व्यक्तिविवेककार महिमनट्ट ने ग्रथ के अन्तिम तृतीय विमर्श में ध्वनि के उन उत्कृष्ट उदाहरणों की व्याख्या अनुमान की प्रक्रिया से की है जिनको ध्वनिकार आनन्दवर्धन ने ध्वन्यालोक में मुख्यरूप से उदाहृत किया है। ध्वनि के अन्न नैदप्रभेदों में तीन को मुख्य माना गया है—वस्तु ध्वनि, अलंकार ध्वनि एवं रसादि ध्वनि। शेष इन्हीं के अवान्तर नैद होते हैं। अतः इन तीनों के ही प्रख्यात उदाहरणों की व्याख्या, अनुमान की प्रक्रिया से यथोचित रूप से सम्पादित कर देने पर 'स्थाली पुलाक' न्याय से ध्वनि के अशेष उदाहरणों का अनुमान की प्रक्रिया में अन्तर्भाव सुतरां सिद्ध हो जायेगा।

(ब) वस्तु-ध्वनि के उदाहरण की अनुमानरूपता

ध्वन्यालोक में वस्तु-ध्वनि के अनेक उदाहरण-श्रुतुदाहरण दिये गये हैं किन्तु ध्वनिकार को जो उदाहरण परम अमीष्ट है, तथा अग्निवगुप्त ने लोचन में विग्रह व्याख्या कर जिसे वस्तु-ध्वनि का विशुद्ध उदाहरण बताया है वह हाल की गाय-सप्तशती की निम्न गाय है—

अम धामिकविलम्बः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।

गोदानदीकच्छकुहरवासिना दृप्तसिहेन ॥^१

१. अम धम्मिअ बीसद्धो सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।

गोलाणइकच्छकुडंग वासिणा दरिअसीहेण ॥

(गाहासत्तसई)

गाया सप्तशती की यह गाय ध्वन्यालोक, व्यक्तिविवेक, काव्यप्रकाश, काव्यानुशासन, साहित्यदर्पण तथा रसगंगाधर प्रभृति अलङ्कार-शास्त्र के प्रायः सभी मूर्धन्य ग्रन्थों में उद्धृत की गई है। सर्वत्र टीकाकारों ने इसकी संस्कृत छाया दी है जिनमें पर्याप्त अन्तर भी है। ध्वन्यालोक की टीकालोचन में इसकी संस्कृत छाया विलक्षण ही उपलब्ध होती है—

अम धामिकविलम्बः स शुनकोऽद्य मारितस्तेन ।

गोदावरी नदी कूललतागहनवासिना दृप्तसिहेन ॥

कहीं 'विलम्बः' के स्थान पर 'विश्वस्तः' तथा 'शुनको' के स्थान पर 'शूनको' या 'शवाद्य' पाठान्तर भी उपलब्ध होता है। उत्तरार्ध के 'गोलाणइ कच्छ कुडंग वासिणा' का एक दूसरा संस्कृत पाठ 'गोदा-नदी-कच्छ-कुहर-वासिना' तथा तीसरा कुहर के स्थान पर कुत्र पद्य निकृञ्ज पाठ भी उपलब्ध होता है।

ध्वनि के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या

साध्यसाधनभाव अन्तर्निहित है, यही समझना चाहिए। साध्य-साधनरूप इन दोनों अर्थों के बीच अविनाभाव-नियम रूप व्याप्ति का आधार, इनका वैपरीत्य सम्बन्ध ही है, जो लोक-प्रमाण से सिद्ध है^१। इस प्रकार उपर्युक्त पद्य का निषेधात्मक द्वितीय अर्थ अनुमेय ही है, यह सिद्ध हो जाता है। अतः उक्त रीति से विदग्ध मुग्धा नायिका की उक्ति का, विश्वध्व धार्मिक को उसके हित निषेदन के ब्याज से विधि मुख से भ्रमण के प्रतिषेधात्मक अर्थ में ही पर्यवसान होता है, और वह अनुमेय ही होता है।

इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि यदि उक्त पद्य से दो अर्थों की प्रतीति होती है तो निषेधात्मक अपर अर्थ में ही वाक्य की विश्रान्ति क्यों मानते हैं, पूर्व विधि अर्थ में अथवा विधि-निषेधात्मक उभय अर्थ में क्यों नहीं? क्योंकि दोनों ही अर्थ समानरूप से प्राकरणिक है। इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि वाच्य या उभय अर्थ में वाक्य की विश्रान्ति इसलिए नहीं मान सकते कि वाच्य एवं अनुमेय दोनों अर्थों की प्रतीति समुच्चयरूप से नहीं होती। 'भ्रम, माच भ्रमीः' इस विधिनिषेध का आश्रय एक कदापि नहीं हो सकता। अतः एकाश्रय के विरोध के कारण दोनों अर्थों की प्रतीति एक साथ समुच्चयरूप से कथमपि समभव नहीं। विकल्पात्मकरूप से भी दोनों की एकाश्रय प्रतीति इसलिए नहीं हो सकती कि 'भ्रमण करो या भ्रमण मत करो' उपपन्न न होने के कारण उन दोनों अर्थों की प्रतीति अगागिभाव के रूप में भी नहीं हो सकती। अपितु इनकी प्रतीति केवल एक ही प्रकार से समभव है। भ्रमण की विधि में हेतु रूप से उपन्यस्त जो यह दृष्ट-संचानन का व्यापार है वही विदग्ध बोद्धा के द्वारा विमृश्यमान होकर परम्परया भ्रमण के निषेध की प्रतीति कराने में पर्यवसित हो जाता है। इसका कारण यह है कि भ्रमण की विधि एवं उसके निषेध में बाध्यबाधकभाव है। ऐसा कौन व्यक्ति होगा जो उन्नत नहीं है और कृत्त के भय से भ्रमण का परित्याग कर बैठे है, वही पर दुर्दान्त सिंह के सद्भाव को जानकर भी विलम्बपूर्वक भ्रमण करेगा। अतः यहाँ पर दोनों अर्थों का बाध्यबाधकभाव ही वह विशेष तत्त्व है जो वाक्यार्थ की अनुमेयार्थ में विश्रान्ति का हेतु होता है।^२

१. द्वितीयस्त्वत एव हेतोः पर्यालोचितगिज्ञयस्य विवेकिनः प्रतिपत्तुः प्रयोजकस्वरूपनिरूपणेन सामर्थ्यात् प्रतीतिमवतरति। तच्च सामर्थ्यंमृतेऽपि कौलेयके क्रूरतरस्य सत्त्वान्तरस्य तत्र सद्भावावेदनं नाम नापरम्। तदेव च साधनम्। तयोश्च साध्यसाधनयोरविनाभावनियमो विरोधमूलः। स घानयोलोकप्रमाणसिद्ध इत्युक्तम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० ४००।
२. ननु यद्यतो वाक्यादर्थद्वयावगमस्तत् कथमुत्तरस्मिन्नेव नियमेन विश्रान्तिर्न पूर्वस्मिन् उभय-त्रापिवा, तयोः प्राकरणिकत्वेन विशेषाभावात्। उच्यते। न तावदन वाद्यानुमेययोरर्थयोः समुच्चयेन अवगतिरुपपद्यते भ्रम मा च भ्रमीरिति विधिनिषेधयोरैकाश्रयत्वविरोधात्। नापि विकल्पेन, भ्रम वा मा वा भ्रमीरिति वचनोच्चारणानर्थक्यप्रसङ्गात्। नाप्यङ्गा-ङ्गिभावेन, विधिनिषेधयोस्तदसम्भवात्। केवलं याज्ञी भ्रमणविधौ हेतुभावेन दृष्टपञ्चान-नव्यापारस्तत्रोपात्तः स एव विमृश्यमानः परम्परया धार्मिकस्य तन्निषेधे पर्यवस्यति तयोर्बाध्यबाधकभावेनावस्थानात्।

अनन्तर आचार्य महिमभट्ट ने सम्बलपूर्वक कहा है कि विधिनिषेधात्मक इन दोनों अर्थों का वाध्यबाधक भाव से होना मानना ही पड़ेगा अन्यथा शक्ति में रजत की भ्रमपूर्वक प्रतीति में भी यही दोष उपस्थित होगा। शक्तिवा में पहले चाक-चिक्कयवरा रजत की प्रतीति का भ्रम होना है। पश्चात् यथार्थ-प्रतीति से उस भ्रान्त-प्रतीति का वाय होता है। इस प्रकार मुक्तिरजत प्रतीतियों का भी वाध्यबाधकभाव में ही पर्यवसान होता है। अन्यथा इन स्थलों में वाध्यबाधक-भाव को अस्वीकार करने पर शक्तिरजत-प्रतीति भी इस पर्यनुयोग का विषय हो सकती है कि— उत्तरकालीन शक्ति की प्रतीति में ही वाक्य की नियमपूर्वक विधान्ति क्यों होनी है? पूर्वकालीन रजत की प्रतीति में अथवा उभयत्र दोनों की भ्रान्त प्रतीति में क्यों नहीं? इसलिए विधिनिषेधात्मक दोनों प्रतीतियों में वाध्यबाधकभाव के निश्चयपूर्वक ही, निषेधात्मक द्वितीय अर्थ में, 'ग्रम-घामिक' इत्यादि वाक्य की विधान्ति होती है, यह बात सिद्ध हो गई।^१ कहने का अभिप्राय यह है कि उत्तरार्थ में वाक्य की विधान्ति का नियामक दोनों अर्थों के बीच वाध्यबाधकभाव के होने का निश्चय ही है। जैसे ही यह निश्चय हो जाता है कि दोनों अर्थों में वाध्यबाधकभाव है, वाक्य की विधान्ति स्वतः वाचक अर्थ में ही जाती हो, जो सर्वदा द्वितीय अर्थ ही होता है।

इस पर यह कहा जा सकता है कि पूर्व अर्थ में वाक्य की विधान्ति नहीं बनती तो न सही, उभयत्र उभयकी विधान्ति न मानने में क्या हेतु है? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि सिद्ध्युक्त प्रदेश में निर्भयग्रमण सुकर नहीं होता। अतः निर्भयग्रमण रूप साध्य एवं सिद्ध्युक्तभावार्थक हेतु में सामानाधिकरन्ध न होने से दोनों का परस्पर विरोध स्पष्ट है। इसलिए इन दोनों में एक के सद्भाव के ज्ञान से दूसरे की स्वभाव-विरुद्ध उपलब्धि स्वतः होती है और इस प्रकार साध्य हेतु के सहानवस्थान रूप अर्थापत्ति से निर्भयग्रमण की विधि के प्रतिषेध की जानकारी होने पर विधिनिषेधात्मक दोनों अर्थों की तुल्यत्वेन प्रतीति ही सम्भव नहीं है। अतः उभयत्र विधान्ति के प्रदत्त के लिए यहाँ कोई अवसर ही नहीं। इसलिए भ्रमण का निषेधरूप अर्थ अनुमेय ही है, ध्यंग्य नहीं। इसी अनुमेयता उमी प्रकार सिद्ध है, जिस प्रकार 'नात्रशीतस्पर्शोऽग्नेः' इस वाक्य में शीत स्पर्श के निषेध का अर्थ अनुमेय ही होता है, ध्यंग्य नहीं^२। यहाँ पर यदि यह कहें कि प्रथम विधि अर्थ में ही बोद्धा की वृद्धि मंदेह-रहित हो जानी है तो इस प्रकार भ्रमण रूप विधि अर्थ के

को ह्यनुमत्तः कृष्णरमाश्रसद्भावभावात् परिहृतग्रमणस्तत्रैव दृष्टसिद्ध्युक्तभावार्थ-
श्रद्धाकायामपि सखिलम्भं भवेदित्यनुमेयार्थविधान्तिनियमहेतुर्वाध्यबाधकभावोऽस्त्येवात्र
विशेषः ।

—ध्वनिविवेक, पृ० ४००-०१ ।

१. अददयं चैतदभ्युपगन्तव्यम् । अन्यथा शक्तिरजतप्रतीत्योरपि भ्रमभाविग्योरेतत्पर्यनुयोग
प्रसङ्गः केन वार्यते । तस्माद् वाध्यबाधकभावावसापकृत एवात्रोत्तरार्थविधान्तिनियम इति
स्थितम् ।

—ध्वनिविवेक, पृ० ४०१ ।

२. तद्व्याख्य हेतोः साध्यस्य च निर्भयग्रमणविधिलक्षणस्य सहानवस्थानलक्षणो विशेषः प्रसिद्ध
एवेत्येकरस्य सद्भाववेदनेनापरस्य स्वभावविद्वेदोपलक्ष्या प्रतिषेधे विज्ञापमाने सति सम-
शीतस्पर्शोऽभ्युपगन्तव्योऽग्नेरित्यत्र न सप्रतीति तद्विधान्तिपर्यनुयोगो निरवकाश एव ।
तेनानुमेय एव भ्रमणस्य नियंधो न ध्यंग्य इत्यवगतं यथा नात्र शीतस्पर्शोऽग्नेरित्यतः
शीतस्पर्शात् ।

—ध्वनिविवेक, पृ० ४०२ ।

धर्म के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या

अतिरिक्त नियेधात्मक द्वितीय अर्थ के लिए यहाँ कोई अवसर ही नहीं है। अतः उसकी सम्भावना करना व्यर्थ है। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'भारितः' में निजर्ज्य के प्रयोग का पर्यालोचन करने पर विधिरूप अर्थ के प्रति सशय पैदा होना स्वाभाविक है और फिर वस्तु के स्वरूपादि प्रकरण का ध्यान होने ही पूर्व-अर्थ के प्रति व्यापक विरुद्धोपलब्धि होने से वाक्य का पर्यवसान स्वतः द्वितीय अर्थ में उसी प्रकार हो जाता है जिस प्रकार 'नात्रतुपारस्पशोऽग्नेः' इस वाक्य का तुपार-स्पर्श के निषेध में ही पर्यवसान होता है।^१

अनुमान की प्रक्रिया का विवेचन करते हुए व्यक्तिविवेककार ने कहा है कि यहाँ पर उक्त पद्य में 'भ्रम धार्मिकवित्यर्थः' वाक्य का अर्थ भ्रमण की विधि ही वाच्य है। 'स मुनकोऽयमारि-तस्तेन' इत्यादि से दृप्तसिंह के द्वारा वृत्ते का मारण रूप वाक्यार्थ ही आर्थ हेतु होता है। भ्रमण का प्रतिषेधरूप अर्थ तो सर्वथा अनुमेय ही है, वाच्य कदापि नहीं। क्योंकि यहाँ पर 'गोदावरी कच्छ-कुञ्जवासिना' से धर्म पक्ष का, दृप्तसिंह से भ्रमणभाव रूप साध्य के निमित्त दृप्तसिंह सद्भाव रूप हेतु का, तथा कुञ्जवासिना से धर्म के धर्मो पक्ष में सद्भाव का निर्देश हुआ है। अतः भ्रमण का निषेध अर्थ अनुमेय ही है, व्यर्थ नहीं।^२ अनुमान की प्रक्रिया निम्न प्रकार से है—

गृहं भयकारणेन निवृत्तिम्, भीरुभ्रमणयोग्यत्वान् ।
यद्यद्भीरुभ्रमणं तत्तद् भयकारणनिवृत्त्युपलब्धिपूर्वकम्,
यथा नगरोद्यानादि ।

स्वार्थानुमान की इस अन्वयव्याप्ति से भ्रमण का विधान होता है जो वाच्यार्थ है। अनुमेयार्थ की प्रतीति के विषय में अनुमान निम्नलिखित व्यक्तिरेकव्याप्ति के प्रकार से होता है—

१. गोदावरीतटे भीरुभ्रमणाभावः, सिंहोपलब्धेः (भयकारणनिवृत्त्यभावान्)

२. यत्रयत्र भयकारणनिवृत्त्यभावः (भयकारणोपलब्धिः) तत्र तत्र भीरुभ्रमणाभावः यथा महदरण्यम् ।

३. गोदावरीतटेऽपि भयकारणसिंहोपलब्धिभावोऽस्तत्रापि धार्मिकवित्यर्थभ्रमणाभावः ।
इम व्यापक विरुद्धोपलब्धि से गोदावरीतट पर धार्मिक के भ्रमण न करने का अर्थ अनु-
मेय ही है ।

आचार्य मम्मट ने वाच्यप्रकाश के पञ्चम उल्लास में महिमनट्ट के मन का पूर्व पक्ष के रूप में उपन्यास करते हुए उपर्युक्त माथा को ही उदाहृत किया है। तथा अनुमान की प्रक्रिया

१. यदि वा प्रेक्षावतां प्रवृत्तिर्यमंशयाभावनिश्चयेन व्याप्ता, तद्विरुद्धश्चात्रानर्थसंशयोऽस्मा-
द्विधिवाक्याग्निजर्ज्यपर्यालोचनयावसतीयत इति व्यापकविरुद्धोपलब्ध्या यथा नात्र तुपार-
स्पशोऽग्नेरित्यतः तुपारस्पशस्य ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ४०१ ।

२. तत्र 'भ्रम धर्मिभ्र, वीरुदो' इति वाक्यार्थरूपो भ्रमणविधिर्वाच्यः तस्य 'सोऽनुभ्रो अज्र
मारिभ्रो देव' इत्यादिना मूककुरमारणं दृप्तसिंहविहितं वाक्यार्थरूपमेवायो हेतुः ।
तत्र प्रतिषेधस्त्वनुमेय एव न वाच्यः तस्योक्तनयेनाशेषान् । तत्र 'गोलागईकच्छकुटंगवासिना'
इति गोदावरीकच्छकूरस्य धर्मत्वनिर्देशः । 'द्विरसो हेणे'ति इवमारणकारणानिधान-
द्वारेणोनात्तस्य दृप्तसिंहसद्भावस्य हेतुभावः । कटुंगवासिनेति तद्विशेष्येन तस्य
धर्मिणि सद्भावोपपादनम् ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ४०१-४०२ ।

में दोष दिग्गलाते हुए कहा है कि यहाँ पर द्वितीय अर्थ की प्रतीति अनुमान से इसलिए नहीं हो सकती कि उसके हेतु के रूप में भयकारण, जिस मिहोपलब्धि का उपन्यास हुआ है उसमें सद्-हेतुता ही नहीं बनती। शास्त्रीय प्रक्रिया के अनुसार मीमांसा करने पर उसमें अनैकान्तिक, विरुद्ध और असिद्ध तीनों प्रकारों के हेतुभास दोष विद्यमान हैं। उनका कहना है कि भय भी गुरु या प्रभु की आज्ञा, प्रियानुराग अथवा इसी प्रकार के अन्य हेतुओं से, भयकारण के विद्यमान होने पर भी, भययुक्त स्थान में भ्रमण करता हुआ देखा जाता है। अतः भ्रमणाभाव का हेतु भयकारण साध्याभाववदवृत्ति होने से अनैकान्तिक है। अथ च कुत्ते से डरकर भी कोई वीर सिंह से नहीं डरता। अतः हेतु के साध्याभाव में व्याप्त होने से विरुद्ध नामक हेतुभास भी यहाँ पर है। इसके अतिरिक्त गोदावरी तीरपक्ष में भयकारण सिंह रूपी हेतु का सद्भाव न तो प्रत्यक्ष से निश्चित है न अनुमान से ही, अपितु वचनमात्र से। किन्तु जिसके वचन से वहाँ सिंह के होने की प्रतीति होती है वह एक स्वरिणी नायिका है जिसके वचन का कोई प्रामाण्य नहीं। अतएव नायिका रूप तीसरा हेतुभासि स्वरूपासिद्ध भी यहाँ विद्यमान है। अतः इस प्रकार के दुष्ट हेतु से साध्य की अनुमिति कैसे हो सकती है।

इस सम्बन्धमें महिमभट्ट का कहना है कि काव्य में, जहाँ गम्यगमकभाव से अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ सत्यासत्य का विचार नहीं होता। काव्यानुमिति पक्ष का अभिप्राय इतने में ही है कि प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति, चाहे वह वस्तु मात्र हो, अलंकार हो, या रसादि, अनुमान की प्रक्रिया से ही सम्भव है। व्यंग्य पक्ष में भी अर्थ के सत्यासत्य का विचार नहीं होता, न ही हो सकता है। स्वयं ध्वनिकार ने अनेक स्थलों पर इस बात को स्वीकार किया है कि व्यंग्य के रूप में प्रतीत होने वाला अर्थ यथार्थ है, ऐसा नहीं कहा जा सकता। जब ध्वनि-सिद्धान्त के अनुसार अर्थान्तर की प्रतीति में सत्यासत्य का विचार सम्भव नहीं तो काव्यानुमिति पक्ष में ही उसके प्रामाण्याप्रामाण्य का विमर्श क्यों किया जाता है? न्याय-सिद्धान्त के अनुसार भी ज्ञान का ग्रहण स्वतः प्रामाण्य से होता है तथा उसके प्रामाण्य का ग्रहण परतः। काव्य में जिस अर्थ की प्रतीति प्रतीयमान के रूप में होती है उसके प्रामाण्य-ग्रहण का अवसर ही नहीं होता। अतः काव्य में प्रामाण्याप्रामाण्य का शास्त्रीय विचार सम्भव नहीं। अथ च गान्धि-ज्ञान भी सम्बन्ध विशेष से प्रमात्मक ज्ञान हो जाता है। काव्य में यही होता है। हम गान्धि को ही प्रमाण समझ बैठते हैं तथा उसमें ही चमत्कार विशेष का अनुभव करने लगते हैं। इसका विशद विवेचन रम-निरूपण के प्रसंग में पञ्चम परिच्छेद में किया जायगा।

उपर्युक्त विवेचन के अनुसार ही ध्वनिकार द्वारा उदाहृत वस्तु व्यंग्य के 'कस्यवान् भवति रोषो, गुवर्णपुष्पां पृथिवीम्, गिस्तरिणि वव नु नाम, स्निग्धयामलवान्तिल्पिवितो, तदा जायन्ते गुणाः, गगनं च मत्तमेधम्, इत्यादि पद्यों में भी अर्थान्तर की प्रतीति अनुमान की प्रक्रिया से ही होती है। व्यक्तिविवेकवार ने इन सभी उदाहरणों में पक्ष, साध्य एवं हेतु भाव का निरूपण तर्कगुप्त शैली से किया है तथा तद्विषयक सम्भावित शंकाओं का भी समाधान किया है। विस्तारभय एवं प्रष्टानुपयोगी होने में हम उसका उसी रूप में विवेचन नहीं कर सकते।

(३) अर्थकारध्वनि के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या

ध्वन्यालोक में प्रस्तुत अर्थकारध्वनि के उदाहरणों में महिमभट्ट ने विशेष ध्यान है यह ध्वनिकार आनन्दवर्धन की स्वयं की रचना है। यह है—

ध्वनि के उदाहरणों की अनुमानपरक व्याख्या

लावण्यकान्तिपरिपूरितदिङ्मुखेऽस्मिन्
स्मेरेऽधुना तव मुखे तरलायनाक्षि ॥
क्षोभ पदेति न मनागपि तेन मन्ये
सुव्यक्तमेव जडराशिरय पयोधिः ॥

यहाँ पर प्रसंग यह है कि कोई परम सुन्दरी नायिका किमी युवक पर मूग्ध है और उसे अपनी ओर आकृष्ट करने के लिये अपने हावभाव कटाक्षादिप्रदर्शन करती है। किन्तु उस व्यक्ति पर जब उनका कृत्र भी प्रभाव नहीं होता तो वह अपना निरस्कार ममझनी है और उसका मुख कोपरजिन हो उठता है। उसे ही मानवना देने हुए कोई मली या द्रष्टा कह रहा है कि—हे तरलनयाक्षि ! लावण्य-कान्ति से परिपूरित प्राची दिशा के समान तुम्हारे मुख की इस मुस्कराहट पर यदि यह समुद्र क्षुब्ध नहीं हो उठता तो उस पर बुरा मानने की क्या बात है ? क्योंकि इस प्रकार उसने यह स्पष्टनया व्यक्त कर दिया कि वह वास्तव में जैसा उसका जलराशि नाम है वैसा ही जडराशि है भी। उसमें चैन्य का लेश तक नहीं, फिर उसमें किसी भी प्रकार की प्रतिक्रिया की आशा ही क्यों की जाय ?

लोचनकार ने इसको टीका करने हुए कहा है कि क्रोध के कारण रक्त वर्ण का तथा मन्द-ममकान से युक्त तुम्हारा यह मुख मन्व्याकालीन अग्निमा से पूर्ण चन्द्रमा का मण्डल ही है। जब उसे देखकर महदय के हृदय-रूपी मागर में क्षोभ अवश्य होना चाहिए था। ऐसा नहीं होना, इसमें उसकी अन्वयता ही व्यक्त होती है कि जलराशि जडता का सचय ही है। यहाँ पर महदय को तुम्हारे मन्द-ममकानयुक्त मुख का अवलोकन करने से मदनविकारात्मक क्षोभ होना है इस अर्थ का बोध कराकर ही अभिजा की विश्रान्ति हो जाती है। अतः यहाँ रूपक अत्रकार ध्वनि ही होता है। श्लेषात्रकार यहाँ अवश्य वाच्य है किन्तु वह व्यञ्जक नहीं है। जपिनु ज्वंशक्ति के द्वारा ही अनुरणनरूप ध्वनि की प्रक्रियामें रूपकालकार की व्यञ्जना होती है तथा उसी को लेकर ही इनमें काव्यगत चारता का जाधान होता है। जनएव यहाँ पर अत्रकारध्वनि में ही काव्यता का व्यपदेश हुआ है।^१

आचार्य महिमभट्ट ने इसी पद्य की अनुमानपरक व्याख्या प्रस्तुत की है। उनका कहना है कि जिस प्रकार पूर्ण-चन्द्र को देखकर जलराशि समुद्र में क्षोभ न हो तो उसे जडराशि ममझकर उसकी अवहेलना ही करती होगी उसी प्रकार यदि विविधगुणों में समन्वित नायिका के मुख के मीन्द्रं को देखकर युवक-हृदय विचलित न हो गया तो वह निम्नन्देह जड है। यही श्लोक का वाक्यार्थ है। यहाँ नायिका के परम मुन्दर मुख को देखकर (पयोधि) समुद्र में होने वाले स्वाभाविक क्षोभ के अभाव का वर्णन नायिका के अनिन्ध मुन्दर मुख में पूर्ण-चन्द्र के

१. कौपक्यायपाठल स्मेर च तव मुखं सख्याहणपूर्णशरपरनेवेति भाव्यं क्षोभेण चलचित्ततया सहृदयस्य । न चैनं तस्म्युव्यक्तमन्वर्थतायं जलराशिः जाड्यसञ्चयः । अत्र च शोभा मदनविकारात्मा सहृदयस्य त्वन्मुखादलोकनेन भवतीतीपत्यभिधायः द्विधान्ततया रूपकं ध्वन्यमानमेव । वाच्यालङ्कारदवात्र श्लेषः, स च न व्यञ्जकः । अनुरणनरूपं यद्वरूपकम् अर्थशक्तिद्वयं तदाश्रयेणैह काव्यस्य सारत्वं ध्यवनिष्ठने । तत्तस्मैव व्यपदेश इति सप्रबन्धः ।

—लोचन, ध्वन्यालोक टीका, द्वितीयोद्योत, पृ० २६२-६४ ।

आरोप के बिना मिट नहीं होता। अतः वही द्रम आरोप का हेतु हो जाना है। मुख पर पूर्णन्दु का आरोप रूपक अलंकार है जो माध्य है। नायिका के सुन्दर मुख को देखकर भी समुद्र में धोम का न होना (ज्वागभाटे का न जाना) यह अर्थ वाच्य है जो हेतु के रूप में उपन्यस्त हुआ है। द्रम ही मुख एव चन्द्र में रूप्यरूपक भाव रूपी रूपकालंकार की अनुमिति होती है। एव वाक्यायं तथा प्रतीयमान अर्थ में हेतुहेतुमद्भाव के यथावत् बँट जाने से यहाँ अनुमान की प्रविष्टा ही काम करती है। इस प्रकार ध्वनिकारकृत अलंकार-ध्वनि के द्रम स्थल में रूपकादि अलंकार की अनुमिति ही होती है।

यहाँ पर विचार करने की बात यह है कि—“शोभ यदेति न मनागपि”, इसमें पञ्चि शोभपद का क्या अर्थ है? यदि यह कहे कि मल्लोल्लाम ही शोभ का आशय है, तो कहना होगा कि, यदि मुखचन्द्र को देखकर समुद्र का जल उल्लसित नहीं होता तो इसके जलरागि होने का परम अर्थ मल्लिल समूहमात्र ही समझना चाहिए। किन्तु यहाँ पर तो हममें केतन-चमत्कार की कोई कृपिका भी नहीं है। अतः इस अभिप्राय को लेकर जलरागि का उपादान नहीं हुआ है, यही मानना चाहिए। अन्यथा मल्लिलममूह तो समुद्र में सदैव मन्निहित होता है, फिर पूर्णचन्द्र के उदय होने पर उस समय भी उसमें जलरागित्व के ममान होने में शोभ नहीं होना चाहिए। किन्तु तब तो शोभ होता है, अतः उक्त द्रम में अर्थ में अन्तर्विरोध होने पर, हमें वाच्य होकर ही मुख एव चन्द्र में रूप्यरूपकभाव की अनुमिति करनी पड़ती है।^१ एव रूपकाकार अनुमेय ही उद्गता है। तथा जैसा कि अभिनवगुप्त ने कहा है—यदि सहृदय में मदनोन्माद-लक्षण शोभ के आविर्भाव के निवन्धन की वृद्धि से जाड्य प्रतिपादन के लिये उसे मदमद्विवेक विवकल जट रहा है, तो द्रम प्रकार भी सौन्दर्यानिशयशाली मुख के सौभाग्यातिरेक की ही अनि-व्यक्ति होगी है, उसकी पूर्णरूपता की नहीं।^२ हमारा तो कहना है कि मुख में पूर्णन्दुरूपता की प्रतीयति तभी ही मानी है जब समुद्रमशोभ रूपी स्वनायं के प्रति पूर्णन्दु में अविकल वारणता हो। उग वारणता ने म.शोभ की उत्पत्ति सम्भावित थी। किन्तु किसी प्रतिवन्धकबल नहीं हो पाती। अन्यथा यदि पूर्णन्दु में समुद्रमशोभ के प्रति वारणता अविकल रूप से नहीं होती तो अनुमान के लिये कोई अवसर नहीं था। उदाहरणतः यदि इसी पद्य में निम्नप्रकार से पाठ का विपदान कर दिया प्राय तो मुद्र में पूर्णचन्द्ररूपता का अनुमान नहीं हो सकता।

यन् प्रह्वभावमुपयाति न तेन मये ।

मुख्यतमेव जलरागिरयं पयोपिः ॥

१. केवलमिदमत्र विचार्यते-यदेतद्ददनेन्दुबिम्बमद्भावे सत्यपि पयोपेस्सलिलोल्लामलक्षण-शोभाविर्भावनिवन्धनपिषा सलिलसमूहमात्रपरमार्थः “अप्राप्त्य काचन चेतनचमत्कार-कृपिका समन्तीत्ये” यमर्थतात्पर्येण जलरागित्वमुपात्तं तत् तस्य सदैव सन्निहितमिन्दुना-रोपितरूपयामिनीरमणोदयसमयेऽपि नास्य संशोभाविर्भावो भवेत् तदापि जलरागित्वाविरो-पान् ।

—ध्वनिविवेक, पृ० ४३१ ।

२. अपमदनोन्मादलक्षणशोभाविर्भावनिवन्धनवृद्ध्या सदसद्विवेकविकलोल्लामं जट इति जाड्य-प्रतिपादनपरतया तदुपादानमिति । एवमपि वदनस्य सौन्दर्यानिशयशालिनः सौभाग्यातिरेक-एवानुमितो भवति ।

—ध्वनिविवेक, पृ० ४३२ ।

इस प्रसंग में एक दूसरा दृष्टान्त उपस्थित करने हैं—

भवति न गुणानुरागो जडानां केवलं प्रसिद्धिसारणानाम् ।

किल प्रसीति शशिमणिशब्दो न प्रियामुखे दृष्टे ॥

पूर्वोक्त के सन्निकर्ष में चन्द्रकान्तमणि में अवश्य प्रवचन होने लगता है। इस साधारण नियमके अनुसार प्रिया के मुखरूपी चन्द्रमा को देखकर उनमें प्रवचन होना चाहिए था, किन्तु नहीं होता। इसका कारण यही है, कि आखिर वह मणि भी तो उन्हीं जडों में से है जिनमें केवल अपनी ह्य्याति की मूल रूढ़ी है, गुणके प्रति अनुगम नहीं होता। यहाँ पर प्रियामुख के मन्त्रिधान से चन्द्रकान्तमणि में धीरे प्रवचन की सम्भावना थी। किन्तु जडों के उस प्रकार के विश्वास के कारण सम्भव नहीं होती। हेतुमूल इन उक्ति में मुख की चन्द्ररूपता का अनुमान बलान् होता है। वह कथन कि 'बन्तुन्मुखि तो ऐसी ही है किन्तु जड नहीं मानने' मुख पर चन्द्र के आरोप के बिना किन प्रकार सम्भव हो सकता है।'

इस पर यदि यह बहे कि यहाँ पर चन्द्रबिम्बरूपी कार्य का प्रतिबन्धक कोई भी नहीं बहा गया है, अतः मुख की पूर्वोक्तरूपता का अनुमान कैसे हो सकता है? इसका उत्तर यह है कि—जहाँ किन्ती बन्तु का त्रिम कार्य के प्रतिबन्धक के रूप में उपादान होता है वहाँ उन्हीं मन्त्रणी का प्रहण होता है दूसरे का नहीं, अन्यथा अतिप्रसंग रूपी दोष आपत्ति होता है।^२

पूर्वोदाहृत पद में मुख को देखकर पर्यायि क्षुब्ध नहीं होता, इसका कारण इसका अचेतनत्व एवं परमार्थनः जलरानि होना ही है। यहाँ शोभ कार्य है "उनकी उत्पत्ति में प्रतिबन्धक का कथन होना चाहिए" अथवा, 'उनके अभाव का कारण बताया जाना चाहिए'। दोनों प्रकार की उक्ति का आनन्द एक ही है। मन्त्र की अचेतनता एवं जलरानि होने की बात का उपादान करने पर मुख में उन सौभाग्यातिरेक की ही प्रतीति होनी चाहिए, चन्द्र आदि की नहीं। क्योंकि यदि बिना किन्ती मन्त्रण के ही उनमें चन्द्रत्व आदि अन्य की प्रतीति मानेंगे तो फिर चन्द्र की ही क्यों? कमल आदि की भी प्रतीति क्यों न मानो जाय, यहाँ पर भी न्याय नमान है। चन्द्रत्व में किन्ती भी प्रकार की ऐसी विशेषता नहीं है जिनके आशय पर उनकी ही प्रतीति जानी जाय, अन्य की नहीं।^३

इसलिए उन्मार्थ साधारण शोभपद के प्रयोगमान में ही मूल और इन्दु-बिम्ब में रूप-

१. इत्यत्र प्रियामुखस्य पूर्वोक्तरूपत्वं तत्कार्यस्य चन्द्रकान्तमणिप्रस्तुतिरक्षणाय सम्भाव्यमानो-
त्पादस्य सती जाड्यजनितप्रसिद्धिसारणत्वरूपप्रतिबन्धकप्रत्ययबलानुत्पादे सत्यनुमीयते ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ४३२ ।

२. न चेह चन्द्रबिम्बरूपस्य किमपि प्रतिबन्धकारणमुपात्तमिति कथं तस्य पूर्वोक्तरूपतानुमिति
निश्चिः । यत्र हि तत्कार्यस्य यत्प्रतिबन्धनिबन्धनभावोपात्तस्य तत्र तस्यैव तदुपादाने सत्य-
वसायो भाग्यस्य अतिप्रसङ्गात् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ४३३ ।

३. मुखे च सौभाग्यातिरेककार्यस्य मदसौभाग्यरक्षणस्य शोभन्याचेतनस्य परमार्थजलरानिन्धं
प्रतिबन्धनिबन्धनभावोपात्तम् । अतस्तस्यैव तत्र प्रतीतिरुपपन्ना न चन्द्रत्वादेः । अन्यथा
कमलत्वादेरपि सा स्याद् विशेषानावात् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ४३३ ।

रूपभाव का ज्ञान होता है जो हेतु में साध्य का जविनाभाव सम्बन्ध के बाजार पर होने वाला अनुमानात्मक ज्ञान ही है, यह सिद्ध हो गया ।^१

अनन्तर 'वीराणा रमते, नवक्तुमग्निलान्, देवायत्तेफले, हृदयम्यापितमन्मुम्, जारिय वनाद्देशे, चन्दनामकतमश्नतेत्यादि पद्यों में अलंकार रूपधर्मान्तर की प्रतीति में अनुमान की प्रक्रिया का विधिवत् निरूपण करने के पश्चात् ग्रन्थकार ने कहा है कि इस प्रकार साध्य में व्यतिरिक्त अन्य अलंकारों का भी यथायोग अनुमान में अन्तर्भाव की प्रक्रिया का अनुसरण स्वयं करना चाहिए ।

(उ) रमध्वनि के उदाहरण की अनुमितिपरक व्याख्या

रमध्वनि के उदाहरण की अनुमेयता का निरूपण करते हुए व्यक्तिविवेकचार करते हैं कि विभावादि में जो रमादि की प्रतीति होती है उसका भी अनुमान में ही अन्तर्भाव हो जाता है । विभाव, अनुभाव एव व्यभिचारिभाव की प्रतीति ही रमादि की प्रतीति का माधन होती है । वे विभावादि रत्यादि स्याद्विभावों के कारण, कार्य एव महवारी कारणरूप होते हैं और रत्यादि का अनुमान कराते हुए ही रमादि की निष्पत्ति कराते हैं । प्रतीयमान रत्यादि स्याद्योभाव ही रमावस्था को प्राप्त कर स्वपद से व्यपदिष्ट होते हैं । अतः उनकी प्रतीति में व्रत अवश्यम्भावी है । शीघ्रतावग बह परिलक्षित नहीं होता ।^२ यह कथन स्वर ध्वनिवार का है ।

कुमारसम्भव के वमल वर्णन में पुष्पाभरण में विनृपित देवी पार्वती के शिव के मर्दान आगमन में लेकर नदनदहन परंत्न, पग्वन-धर्म्य शम्भु की चेष्टाविशेष का मनुचा वर्णन रमध्वनि का उदाहरण है, जिनकी व्याख्या अनुमान की प्रक्रिया में ही टीक-टीक हो सकती है । स्यादीतुलारु ग्याय में एक उदाहरण की व्याख्या यहाँ दी जाती है ।

शिवपार्वती यथेच्छ विहार कर रहे थे कि इसी बीच में श्रीमन्नाल का उपस्थित हुआ जिनकी जमुहाट में ही मधुमान के अनुभविकाम का उपमहार हो गया तथा चारों ओर मन्त्रिका के ज्वेन पुष्प में निवृत्त उठे मानों महाबाल स्त्री शिव ने अट्टहाम ही किया हो ।

अत्रान्तरे कुमुममयपुष्पमुपमंहरद्गुदजृम्भन ।

श्रीष्माभिषानः फुल्लमल्लिकापवलाट्टहामो महाबालः ॥

यहाँ पर प्राकरगिर महाबाल नामक देवताविशेष विषयक प्रतीति ही साध्य है । अट्टहाम सम्बन्ध एव युगनहार व्यापार यह दोनों ही उसके माधन हैं, जिनका वह कार्य है । इनमें कार्यकारण-मूलक साध्यनापनभाव का निर्धारण आगम-प्रमाण में होता है । अतः उसने ही ममानोक्ति

१. तस्माद्गुभनयार्थमाधारणशोभनपदप्रयोगमात्रविप्रलम्भकृतोऽयं मुखेन्दुद्विभयो रूपरूप-भावग्रम इति स्थितम् ।
—व्यक्तिविवर, पृ० ४३३ ।

२. यदि विभावादिन्मो रसादीनां प्रतीतिः मानुमान एवान्तर्भावमहंतीति विभावात्तुभाव-व्यभिचारिप्रतीतिर्हि रमादिप्रतीतेः साधनमिष्यते । ते हि रसादीनां भावानां कारणकार्य-महत्कारित्वात्तानुमानसाधयन्त एव रसादीन् निष्पादयन्ति । न एव हि प्रतीयमाना आम्हार-पदपर्यायताः सन्तो रमा इत्युच्यन्ते इत्युच्यन्ते इत्युच्यन्ते इत्युच्यन्ते इत्युच्यन्ते ।
—व्यक्तिविवर, पृ० ४१७ ।

के क्रम से अप्राचरणिक अर्थान्तर की प्रतीति मिट्ट होती है। वह मिट्टि उभयार्थवर्ती महा-काल शब्द की शक्ति से कदापि नहीं हो सकती। इसका यन्त्रियुक्त प्रतिपादन पहले के परिच्छेद में ही हो चुका है और जागे स्मृतिरूप के उच्चर पर भी करेंगे।^१

इसी प्रकार भाव, रसाभास एवं भावनाग्नि आदि के ध्वनिकार द्वारा उदाहृत पद्यों का विनाद विवेचन ग्रथकार मद्रिमभट्ट ने अनुमान की प्रक्रिया के अनुमान किया है। प्रवृत्त-प्रवृत्त में अनुपयोगी होने से हम उसका विवेचन पटा विन्नागपूर्वक नहीं करेंगे। अपितु म्यालीपुलाक न्याय में कृत उक्त विवेचन के आधार पर, हम हम निष्कर्ष पर पहुँच जाने हैं कि ध्वनि के सभी प्रकार के भेदों के उदाहरण प्रत्यदाहरणों का अनुमान की प्रक्रिया में अन्वयित स्मृता साधित हो सकता है। उक्त ममचे विवेचन का सांगण ग्रथकार ने स्वयं निम्नलिखित कारिकाओं में मगृहीत कर दिया है।^२

तद्विदं विस्तरस्याग्य तात्पर्यमवधार्यताम्
 धार्यान्तराभिव्यक्त्या वस्सामप्रोष्टा निवन्धनम् ॥३०॥
 संबानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन सम्मता ।
 अन्यनोऽग्यस्य हि ज्ञानमनुमेकतमाधयम् ॥ ३१ ॥

उपर्युक्त ममचे विन्नुन विवेचन का निम्नलिखित तात्पर्य ममजना चाहिए —

आप ध्वनिवादी को अर्थान्तर (व्यग्य) की अभिव्यक्ति के लिए (प्रकरण-पर्यालो-चनादि) जो सामग्री अपेक्षित होती है वही सामग्री हम अनुमितिवादियों को गनक (हेतु) के रूप में ममता है। (ध्वनि में अर्थान्तर की अभिव्यक्ति का आधार प्रकरण पर्यालोचन माना गया है। अनुमितिवाद में वही प्रकरणपर्यालोचन लिए अपांत हेतु का काम करता है।) फिर वहाँ अनुमिति के होने में कोई बाधा नहीं होती। क्योंकि किसी वस्तु से उमने भिन्न प्रकार की वस्तु का ज्ञान एकमात्र अनुमान के आधार पर ही हो सकता है, अन्यथा नहीं।

वाच्यवाचकयोः स्वार्थप्राधान्यप्रतिषेधतः

ध्वनेः शक्त्यन्तराभावाद् व्यक्तेश्चानुपपत्तितः ॥३२॥^३

क्योंकि ध्वनिवादी ने वाच्य एव वाचक के द्वारा अपने अर्थ की अपेक्षा हमारे अर्थ की प्रधानता अभिव्यक्ति को ध्वनि कहा है। वाच्य एव वाचक के द्वारा अपने अर्थ में अर्थान्तर की प्रधानता अभिव्यक्ति की बात का निषेध यहाँ किया गया है। अधिधा के अनिश्चित ध्वनि नाम की कोई शक्ति सम्भव नहीं। व्यञ्जना की भी मिट्टि नहीं हो पाती। अतः प्रकरणादि हेतु हैं एव अन्य अर्थ माध्य।

१. इत्यत्राप्रचरणिकमहाकालाक्षयदेवताविशेषविषया प्रतीतिस्साध्या । तस्याश्चाद्दहास-सम्बन्धो युगसंहारव्यापारइवेत्युभयं साधनं तस्य तत्कार्यत्वात् कार्यकारणभावावसायइवानुपरोरागमप्रमाणमूल इति तत एव समासोक्तक्रमेणाप्रचरणिकरार्थान्तर प्रतीतिसिद्धिः न तुभयार्थवृत्तेमहाकालाक्षयस्य सा दशितरित्येतदुक्तं बध्धते च।—व्यक्तिविवेक, पृ० ४१७ ।

२. व्यक्तिविवेक का०, तृतीय विमर्श ।

३. व्यक्तिविवेक कारिका, तृतीय विमर्श ।

पंचम-विमर्श

वक्रोक्ति-सिद्धान्त एवं उसकी समीक्षा

(क) काव्य में वक्रोक्ति का उद्गम

महिमभट्ट के पूर्व कुन्तरु नाम के एक आचार्य हो गये हैं जिनका ग्रंथ 'वक्रोक्ति-जीवित' अलङ्कारशास्त्र के इतिहास में वक्रोक्ति नामक एक नये वाद का प्रतिनिधित्व करता है। वक्रोक्ति शब्द का प्रयोग प्राचीन भारतीय साहित्य के लिए मन्वेद्या नवीन नहीं है। यह शब्द अत्यन्त प्राचीनकाल में ही अनेक अर्थों में प्रयुक्त होता चला आ रहा है। वाणभट्ट ने 'कादम्बरी' में इस शब्द का प्रयोग अनेकान् किया है जिसका अर्थ 'गमनजनों का क्रीडालाप अथवा परिहास-विजल्पित है'।^१ जमरुतनाम में भी वक्रोक्ति पद का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है।^२ अलङ्कारशास्त्र के ग्रंथों में भी वक्रोक्ति पद कम लोकप्रिय नहीं है। वहाँ वक्रोक्ति का जन्मिप्राय वक्र उक्ति अर्थात् किमी वान को धुमाकर कहने में है। ऐतिहासिक दृष्टि में साहित्यशास्त्र में वक्रोक्ति की कल्पना का आरम्भ भामह में होता है। आचार्य भामह ने अनिगयोक्ति को वक्रोक्ति कहा है और उसे ही सामान्य रूप में अलङ्कारों का जीवनाधारक एवं काव्य के मूलतत्त्व होने का विधान किया है। और उस प्रकार सभी प्रकार के अलङ्कारों के लिए वक्रोक्ति का योग आवश्यक माना है।^३ इसलिए उन्होंने अपने ग्रंथ 'वाच्यालङ्कार' में स्थान-स्थान पर वक्रोक्ति का निवेचन किया है।

आचार्य दण्डी ने वक्रोक्ति के स्वरूप का निरूपण एक दूसरे प्रकार में किया है। उन्होंने मन्वेद्यादिसय को स्वभावोक्ति तथा वक्रोक्ति दो भागों में विभक्त किया है। जहाँ वस्तुओं का यथार्थतः निरूपण होता है वे सब स्वभाव स्वभावोक्ति के हैं। वाच्यवाद में उसे ही 'जाति' अलङ्कार के नाम में जन्मिहित किया गया है। वक्रोक्ति में अनिगय का कथन होने में उसे स्वभा-

१. वक्रोक्तिनिपुणेन विलासितनेन ।... एवापि धुष्यते एव एतावतोः वक्रोक्तीः ।

—कादम्बरी, पृ० ४४ तथा १९५

(पीठसंन संस्करण)

२. मा दत्तुः प्रथमापरापसमये सस्योपदेशं विना ।

नो ज्ञानाति सविद्यया द्वयलनावयोक्तिस्तसूचनम् ॥

—प्रमदशतक-२३ ।

३. (अ) संपा सर्वत्र वक्रोक्तिरनपार्थो विभाष्यते ।

यन्नोऽस्यां वसिना वार्थः कोऽन्यद्वकारोऽनया विना ॥—भामह, वाच्यालङ्कार-२।८५।

(ब) यथाभिधेयशब्दोक्तिरिष्टा याचामलद्रुतिः ॥

—यही १।३६ ।

(ग) याचां यथायंशब्दोक्तिरलङ्काराय कल्पते ।

—यही ५।६६ ।

बोझि से भिन्न माना है । और इस प्रकार उपमा आदि अर्थालंकार तथा रमवत्प्रेय आदि रमालंकार वक्रोक्ति के अन्तर्गत आते हैं । श्लेष के द्वारा ही वक्रोक्ति में चमत्कार का आधान होता है ।^१ इस प्रकार दण्डी ने भामह की वक्रोक्ति विषयक मान्यता को स्वीकार-सा कर लिया है । आचार्य वामन ने भी वक्रोक्ति का लक्षण एवं उनकी व्याख्या साव्यालंकारमूत्र एवं वृत्ति में की है जो भामह की सरणि से सर्वथा भिन्न है । उनकी दृष्टि में वक्रोक्ति सादृश्यमन्वय से होने वाली लक्षणा ही है । यामीष्यादि मन्वयों को लक्षणा का आधार मानते हुए उन्होंने कहा है कि जहाँ पर लक्षणा सादृश्यवग होती है वहाँ वक्रोक्ति का न्यूल है । सादृश्येतरमन्वय से उपनिबद्ध लक्षणा वक्रोक्ति नहीं कहलाती ।^२ वद्वट के समय में वक्रोक्ति का क्षेत्र सीमित होकर शब्दालंकार मात्र रह जाता है ।^३ वद्वट के अनुसार वक्रोक्ति का उदाहरण यह है जहाँ वाक्य को सुनकर धोना उममें प्रयुक्त किसी शब्द का भिन्न अर्थ में ग्रहण कर एक ऐसा उत्तर देना है जो वादित या कल्पित नहीं होता ।^४ आचार्य आनन्दवर्धन ने वक्रोक्ति के स्वरूप एवं लक्षण का विस्तृत विवेचन कर उनका अन्तर्भाव ध्वनि में ही किया है । अभिनवगुप्त ने भामह के वक्रोक्ति के लक्षण 'वक्रानियतवक्रोक्तिरिष्टा वाचामलहृति' की व्याख्या करते हुए कहा है कि— शब्द और अर्थ की वक्रता उनकी लोकोत्तररूप में स्थिति में होती है । लोक में शब्द और अर्थ का व्यवहार जिम रूप में होता है वाक्य में उममें विलक्षण रूप में होता ही वक्रोक्ति कहलाना है ।^५ प्रोफेसर बलदेव उपाध्याय ने अपने भाग्यीय साहित्यनाम्न के प्रथम एवं द्वितीय दोनों खण्डों में वक्रोक्ति के स्वरूप एवं सिद्धान्त का ऐतिहासिक क्रम से विगद विवेचन किया है ।

(ख) वक्रोक्ति काध्यजीवित के रूप में

वक्रोक्ति को ही वाक्य का जीवितमवस्व या प्राण कहने का ध्येय आचार्य कुन्क को है । अनएव इन्होंने अपने ग्रथ का नाम 'वक्रोक्तिजीवित' रखा है । वक्रोक्ति के स्वरूप के निरूपण के प्रसंग में वक्रोक्तिजीवितकार ने कहा है कि—वाक्य में शब्द तथा अर्थ दोनों ही जलकामे होने हैं । वैदग्ध्यभगिनि अर्थान् चतुरतापूर्ण शैली में कथनरूप वक्रोक्ति ही उन दोनों का अलंकार

१. श्लेषः सर्वास्तु पुष्पाति प्रायो वक्रोक्तिषु धियम् ।

भिन्नं द्विषा स्वाभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् ॥ —काव्यादर्श २।३६३ ।

२. सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्तिः । बहूनि हि निबन्धनानि लक्षणायाम् । तत्र सादृश्यान् लक्षणा वक्रोक्तिरसाविति । असादृश्य-निबन्धना तु लक्षणा न वक्रोक्तिः ।

—वामन, काव्यालंकारसूत्र ४।३।८ की वृत्ति ।

३. वक्रोक्तिरनुप्रासो यमकं श्लेषस्तथापरं चित्रम् ।

शब्दस्थालङ्काराः श्लेषोऽप्यस्यापि सोऽप्यस्तु ॥ वद्वट, काव्यालंकार,—२।१३ ।

४. वक्रता तद्व्ययोजन वाचष्टे चान्यथा तदुत्तरदः ।

वचनं यत्पदभङ्गज्ञेया सा श्लेषवक्रोक्तिः ॥ —वक्रोक्तिजीवित २।१४ ।

५. शब्दस्य हि वक्रता अनिघेषस्य च वक्रता लोकोत्तीर्णेन रूपेणावग्यानमिति अयमेवासी अलङ्कारस्थालङ्कारान्तरभावः ।

—लोचन-ध्वन्यालोक टीका पृ० २०८ (चौथम्भा, काशी) ।

होती है।^१ वक्रोक्ति की उभय बन्धना के लिए निम्नप्रदेह रूप में कुन्तक नामक शब्दों है। श्री० घणदेव उपाध्याय ने कुन्तक के वक्रोक्ति-मिथ्यात्व या मर्म निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त किया है, "वाच्य का उद्देश्य श्रोताओं के हृदय में जटिल आह्लाद का उन्मीलन ही है। यह उन्मीलन तभी सिद्ध हो सकता है जब कि शब्द का प्रयोग साम्बादि में मान्य प्रयोगों में दूर हटकर कुछ विचित्रता लिए हो। श्लोकव्यवहार में शब्दों का प्रयोग प्रायः विनीत विनीत अर्थ में ही होता है। इन रूढ अर्थों में हमारा परिचय बनना गाढ़ हो जाता है कि उनके प्रयोग में हमें किसी प्रकार का आह्लाद नहीं होता, जब उन प्रचलित प्रकारों में भिन्न, स्वतन्त्र प्रयोग में ही वैचित्र्य उत्पादन की क्षमता सम्भव है। यही कुन्तक की स्वीकार है।" अतएव वक्रोक्ति-कार ने अपने ग्रंथ में स्यान्-स्यान् पर 'साम्बादिप्रसिद्धमध्यायोरिति वक्रोक्तिरेकि' 'प्रसिद्धप्रस्यन् अतिरेकि, अनिश्चान्प्रसिद्ध-अवहार-नरणि' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। वक्रोक्ति की परिभाषा करने हुए आचार्य कुन्तक ने कहा है कि—वाच्य-मर्मज्ञों के लिए आह्लादकारक वक्रि के ब्रह्मपार से युक्त रचना में व्यवस्थित शब्द और अर्थ मिलकर वाच्य बहलाते हैं।^२ वक्रोक्तिजीवन ग्रंथ में वक्रोक्ति के लक्षण का निम्नान्न स्यान्-स्यान् पर हुआ है।

(ग) वक्रोक्ति और महिमभट्ट

आचार्य महिमभट्ट ने अपने ध्वनिचमक ग्रन्थ 'व्यक्तिविक्रम' में कुन्तक के वक्रोक्ति मिथ्यात्व का भी सूक्ष्म रूप में उपलक्षण कर अनुमान में ही अन्तर्भाव प्रदर्शित किया है। यह विवेचन यद्यपि मध्ये में है तथापि त्रिम मूल मिथ्यात्व पर वक्रोक्ति की स्थापना हुई है उन्मी या विरूपण कर वक्रोक्ति की निम्नान्न सिद्ध कर दी गई है।

कुन्तक ने वक्रोक्ति को वाच्य का अडकार कहा है। अडकार में उनका तात्पर्य उपमा-रूपक उपमेधा आदि के समान एक विशेष प्रकार का अडकार होता नहीं है अपितु सम्बन्ध रूप में वाच्यजन्य गान्धर्ष ही वक्रोक्ति पद में अभिहित है। इसीलिए वक्रोक्तिकार ने उसे लोकोत्तर समत्वार्थ तथा अर्थों जयान् विरक्षण कहा है।^३ इसका अभिप्राय यह है कि त्रिम वक्रोक्ति का निरूपण कुन्तक ने किया है वह वाच्य का एक ऐसा विरक्षण नन्व है त्रिमका निरूपण आइत नही किया गया था। वाच्य में इसके उपनिवृत्त में त्रिम समत्वार्थ की मूर्ति होती है वह एक विशेष प्रकार की विचित्रता है त्रिमकी उपलब्धि लोचित्र वर्णनों से कदापि नहीं हो सकती। उनका कहना है कि वाच्यों में मर्मकों अडकारों का निरूपण हुआ है पर त्रिम अटोचित्र वैचित्र्य की मूर्ति वक्रोक्ति में होती है किन्ती भी अडकार में यह सम्भव नहीं।^४ उनकी मूर्ति

१. उभावैनाडलकायो नयोः पुनरलट्टृतिः ।

वक्रोक्तिरेव बंदगप्यन द्वीभक्तिरिच्छने ॥

—व० जी० उन्मैय १।१० ।

२. भारतीय साहित्यशास्त्र, खण्ड २, पृ० २९९ ।

३. शब्दार्थो मूर्तिनी वक्रविविध्यापारम्भालिनि ।

रुपे व्यवस्थितो वाच्य मूर्तिवाह्लादकारिणि ।

—व० जी० उन्मैय १।३ ।

४. लोकोत्तरचमत्कारकारिविचित्रमिथ्यात्वे ।

वाच्यम्यामलट्टकारः षोडशपूर्वाविधोयने ॥

—व० जी० वा० १।२ ।

५. यद्यपि मन्त्रि शक्तः वाच्यालट्टकारः तथापि न वक्रोक्तिव्येवंविधविविधमिथ्यात्वे ।

—यही—प्रथम उन्मैय वा० २ पर वृत्ति ।

का रहस्य शब्दार्थ की वह विलक्षण योजना है जो कवि के वक्र-व्यापार से सम्पन्न होती है। कवि के वक्र-व्यापार द्वारा की गई शब्दार्थ की यह योजना व्याकरण आदि शास्त्रों में वर्णित शब्दार्थ की योजना से सर्वथा भिन्न होती है। इसके सयोजक व्यापार को वक्र इसलिए कहते हैं कि अब तक स्वीकृत या अपनायी गई शब्दार्थ-योजना की प्रसिद्ध परिपाटी से यह सर्वथा भिन्न है।

व्यक्ति-विवेककार महिमभट्ट का कथन है कि शब्दार्थ की योजना का प्रकार तो एक-मात्र अभिधा ही प्रसिद्ध है। उससे भिन्न रूप में शब्दार्थ की योजना दो प्रकार से ही सम्भव है—

१. औचित्य के आधार पर।

२. व्यंग्य अर्थ की अभिव्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना के आधार पर।

इनमें भिन्न शब्दार्थ के उपनिबन्धन का कोई अन्य प्रकार सर्वथा असम्भव है।^१

यहाँ पर प्रथम पक्ष की, कि काव्य में शब्दार्थ-रचना की शास्त्रादि से भिन्नता औचित्य-पर्यन्तमापिनी होगी, मन्भावना नहीं करनी चाहिए। क्योंकि काव्य के स्वरूप-निरूपण में औचित्य को महत्ता स्वन मिद्ध है। उसका पक्ष उपादान करना व्यर्थ है। विभावादि का औचित्यपरक उपनिबन्धन रूप कविव्यापार ही काव्य है, शब्दार्थमात्र के उपनिबन्धनपरक नहीं। यह विभावादि, शास्त्रानुरूप उपनिबद्ध होकर ही यथाभिलषित अर्थ की ठीक-ठीक अभिव्यक्ति करने में समर्थ होंगे हैं, अन्यथा नहीं। काव्य तो सदा रसात्मक ही होता है। उसमें अनौचित्य के सत्परों की मभावना ही कहीं है जिसके निराकरण के लिए प्रयत्न को इस लम्बे-चौड़े घटाटोप भयकर काव्यलक्षण एवं विलक्षण कविव्यापार का प्रकथन करना पड़ा।^२

यदि सामान्य-शब्दार्थ की भिन्नता से, वक्रोक्ति-जीवितकार को प्रतीयमानपरक द्वितीय पक्ष अभिप्रेत है तो वक्रोक्ति प्रकारान्तर एवं शब्दान्तर से ध्वनि का ही लक्षण है, कोई नवीन वस्तु नहीं। क्योंकि ध्वनि और वक्रोक्ति दोनों के मूलभूत सिद्धान्त अभिन्न हैं। वस्तुस्थिति तो यह है कि वक्रोक्ति के विषय में ध्वनि की मभावना परक दूसरा पक्ष ही ठीक है। क्योंकि वक्रोक्ति के भेदोपभेद एवं उदाहरण-प्रत्युदाहरण आदि प्रायः वही हैं जो ध्वनि के दिये गये हैं। अतः ध्वनि के युक्तयुक्त विवेचन में ही वक्रोक्ति का विवेचन तथा उसका भी ध्वनि की तरह ही अनुमान में अन्तर्भाव स्वतः मिद्ध हो जाता है।^३

१. प्रसिद्धोपनिबन्धनव्यतिरेकत्वमिदं शब्दार्थयोरोचित्यमात्रपर्यवसायि स्यात्, प्रसिद्धाभिधेयार्थव्यतिरेकित्प्रतीयमानाभिव्यक्तिपरं वा स्यात्। प्रसिद्धप्रत्यानातिरेकिणः शब्दार्थोपनिबन्धनवैविध्यस्य प्रकारान्तरसम्भवात्। —व्यक्तिविवेक, पृ० १२४-१२५।

२. तत्राद्यस्तावन् पशो न शङ्कनीय एव, तस्य काव्यस्वरूपनिरूपणसामर्थ्यविद्वस्य पृथगुपादानवैषम्यात्। विभावाद्युपनिबन्ध एव हि कविव्यापारो नापरः। ते च यथाशास्त्रमुपनिबन्धमाना रसाभिव्यक्तौनिबन्धनभावं भजन्ते, नान्यथा। रसात्मकं च काव्यमिति कुतस्तत्रानौचित्यसत्परः सम्भाव्यते, यन्निरासार्थमित्यं काव्यलक्षणमाद्यश्रीरन् विचक्षणम्मन्याः। —व्यक्तिविवेक, पृ० १२६।

३. द्वितीयपक्षपरिग्रहे पुनर्ध्वनेरेवेदं लक्षणमनया भङ्ग्याभिहितं भवति, अभिप्रत्वाद्बस्तुनः। अतएव चास्य त एव भेदास्तान्येवोदाहरणानि तैरपदर्शितानि। तच्चाप्युक्तमित्युक्तम्। —व्यक्तिविवेक, पृ० १२६।

व्यक्तिविवेकवार ने वक्रोक्ति-जीवितकार के अपने सिद्धान्त को सर्वथा विलक्षण एव सर्वोत्कृष्ट समझने के दम्भ पर चोट-सी करते हुए कहा है कि अपने को महूदय मानने वाले मानी विद्वान का 'शब्दार्थो संहितो' इस कारिका में यह कथन कि शास्त्रादि में होने वाली शब्दार्थ की प्रसिद्ध योजना से सर्वथा विलक्षण एव वैचित्र्य की मृष्टि करने वाला उक्ति वा वक्र-व्यापार ही वाच्य का प्राण है, प्रमाणपुष्ट न होने से समीचीन नहीं।^१ उपर्युक्त व्याख्यान को ही ग्रन्थ-वार ने निम्नलिखित सग्रह-कारिकाओं में सर्वालत कर दिया है।

प्रसिद्धं मार्गमृत्सृज्य यत्र वैचित्र्यसिद्धये ।

अन्ययंबोध्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरुदाहृता ॥११६९॥

वैचित्र्य की सिद्धि के लिए (शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति के) प्रसिद्ध मार्ग (अभिधा) को छोड़कर एक अन्य (वक्र) प्रकार से ही जो अर्थ का प्रतिपादन होता है वही वक्रोक्ति है।

पदवाक्यादिगम्यत्वात् सत्त्वार्थो बहुधा मतः ।

तेन तद्वक्रतापोष्टा बहुधैवेति तद्विदः ॥११७०॥

वही शब्द, वही वाक्य तो वही प्रकृति-प्रत्यय आदि अन्य तत्त्व से गम्य होने के कारण वह अर्थ अनेक प्रकार का माना गया है। उसी के आधार पर वक्रोक्ति-गिद्धान्त के प्रतिपादक उम विद्वान् को व्यापार की वक्रता के भी अनेक प्रकार अभीष्ट हैं।

अत्रोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने ।

व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्योऽर्थस्य सोऽसिद्धः ॥११७१॥

इस पर यही कहना है कि शब्द से अर्थ के प्रवागम का व्यापार एकमात्र अभिधा ही मान्य है। इसमें भिन्न लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्य एव वक्रोक्ति आदि जिनने भी व्यापारों की कल्पना की जाती है वे सब अर्थ के व्यापार हैं।

वाच्यार्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्गमस्य सः ।

तन्प्रान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम् ॥११७२॥

यदि वाच्य में अन्य अर्थ सर्वथा भिन्न है तो वाच्य ही उसकी प्रतीति का निमित्त होता है। क्योंकि यह लक्षण लिए (हेतु) का ही है जो लिंगी (मात्र्य) के साथ अविनाभाव सम्बन्ध में व्यवस्थित होना है। ऐसे सभी स्थलों में अन्य अर्थ के साथ वाच्य का उपनिबन्धन अविनाभाव सम्बन्ध में ही दिया गया होता है। उम (वाच्य) के लिए होने की यही पहचान है।

अविनाभाव सम्बन्ध में वाच्य के व्यवस्थित होने का अभिप्राय यह है कि जहाँ वही भी वाच्य में भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है उन सब स्थलों में पहले वाच्य की प्रतीति अवश्य-भाविनी है। ऐसा कोई भी स्थल नहीं जहाँ अर्थान्तर की प्रतीति वाच्य की प्रतीति के बिना हो हो जाती हो। यही वाच्य और अर्थान्तर के बीच नान्तरीयकता अर्थान् अविनाभाव सम्बन्ध

१. यत्पुनः 'शब्दार्थो संहितो' इत्यादिना शास्त्रादि-प्रसिद्ध-शब्दार्थोपनिबन्धनमव्यतिरेकिः षट्-विध्यं तन्मात्रलक्षणं यत्रन्वं नाम वाच्यस्य जीवितमिति सहूदयमानिनः कृतविदावदाने सदस्यसमीचीनम् ।

है। 'अन्तरेष तेन विना न सभवति इति नान्तरीयः स एव नान्तरीयकः, तस्य भावः नान्तरीयकता तथा नान्तरीयकतया' अर्थात् उनके बिना अकेले सम्पन्न न होने से।

अभेदे बहुता न स्यादुक्तेर्मग्निराप्रहात् ।

तेन ध्वनिवदेषाऽपि वक्रोक्तिरनुमा न किम् ॥१।७३ ॥

यदि इन वाच्य एवं अन्य अर्थों में लिगलिगी भाव न मानकर इन्हें एक दूसरे से अभिन्न मानने हैं तो अर्थान्तर की वाच्य से निद्रता या अर्थों की अनेकता नहीं बनेगी। क्योंकि शब्द से अर्थ की अनिश्चयता का अनिश्चय के अनिश्चय और कोई मार्ग स्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः पूर्वोक्त प्रकार में ध्वनि के समान कवि की यह वक्र-व्यापार-रूपा वक्रोक्ति भी क्या अनुमान नहीं है? जपितु अवश्य ही इनका भी अन्तर्भाव अनुमान में ही उसी प्रकार साधित हो जाता है जैसे ध्वनि का सिद्ध किया जा चुका है।

पंचम-अध्याय

प्रथम-विमर्श

रस का महत्त्व

(क) आनन्द और रस

जीवन में आनन्द का स्थान सर्वोपरि माना गया है। उपनिषदों में कहा है कि आनन्द ही ब्रह्म है तथा आनन्द से ही अखिल भूतों की उत्पत्ति होती है, उमी से उनका जीवनधारण होता है और अन्त में आनन्द में ही उनका पर्यवसान भी हो जाता है।^१ इस आनन्द को अनुभूति का एकमात्र साधन रसोपलब्धि बताया गया है।^२ उपनिषत्प्रतिपाद्य, आनन्द और रस का यह सम्बन्ध, विमुक्त रूप से आध्यात्मिक है। लौकिक विषयों में भी हमारी प्रवृत्ति और निवृत्ति में आनन्द और रस का सम्बन्ध ही काम करता है। इस बात की पुष्टि हमारे दैनन्दिन के व्यवहार से होती है। बुभुक्षा की शान्ति या शरीर को पोषकतत्वों की प्राप्ति, जिन वस्तुओं में होती है उन सबके प्रति हमारी प्रवृत्ति समान रूप से नहीं होती। विविध व्यञ्जनों के उपभोग या रसों के आस्वादन से व्यक्ति की बुभुक्षा अथवा तृप्ता की उन्नी ही शान्ति होती है जिनकी उर्वरि हुए शाक अथवा शुद्ध जल से। शरीर के पोषण की दृष्टि से शाकाहार विविध व्यञ्जनों की अपेक्षा अधिक उपयोगी एवं स्वास्थ्यप्रद होता है। फिर भी हमारी प्रवृत्ति व्यञ्जन की ओर ही अधिक क्यों होती है? इसका एक ही उत्तर है कि व्यञ्जनादि के उपभोग से बुभुक्षादि मूल-प्रवृत्तियों की शान्ति के माय-माय वहाँ बुद्ध और मिलना है जो हमें हटान् अपनी ओर आकृष्ट करता है। वही रस है। रस की उपलब्धि से व्यक्ति को एक ऐसी विलक्षण अनुभूति होती है जो मय प्रकार की अनुभूतियों की अनिश्चान्तर कर देती है। वह विलक्षण अनुभूति ही आनन्द है। भरत मुनि ने जीवन तथा जगत् में रस की महत्ता का निर्वचन करते हुए टीका ही कहा है कि—'कोई भी पदार्थ रस के बिना प्रवृत्त नहीं होता।'^३ यहाँ पर हम उपनिषद एवं लौकिक रस में प्रवृत्ति का एक ही निमित्त आनन्दोपलब्धि मानते हैं।

आचार्य अभिनवगुप्त ने आनन्द के स्वरूप का निर्वचन करते हुए कहा है कि वास्तव में स्वात्मपरामर्श ही आनन्द है। यह स्वात्मपरामर्श तब तक नहीं होता जब तक स्वभाव के प्रकाशन में परिपूर्णता नहीं आती।^४ यह परिपूर्णता विषयविनोप के उपभोग में, विषयों के

१. आनन्दो ब्रह्मोति ध्यजानात् । आनन्दादिति एव सत्त्वित्त्वमानि भूतानि जायन्ते । आनन्देन जानानि जीवन्ति । आनन्दं प्रयन्त्यभिर्विशन्ति । —सं० उ०, भृगुवल्ली, पाठ अनुवाक ।

२. रसं हृषेयायं लभ्या आनन्दी भवति - —तैत्ति० ब्रह्मानन्दवल्ली, सप्तम अनुवाक ।

३. न हि रसादृते कश्चिदर्थः प्रवर्तते ।—नाट्यशास्त्र अध्याय ६, पृ० २७२, (पा० ओ० घट्टोदा) ।

४. स्वल्पस्य स्वात्मनः परिपूर्णनिजस्वभावप्रकाशनमेव परामर्शमपत्तां दृष्ट्वा आनन्द इत्युच्यते । —ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा, विमर्शनी, पृ० १७७ । (वाःमीर सं० ग्रन्थावली)

सत्कार मे एवं विन्दु-चैतन्य के साक्षात्कार से ही सम्भव है । अतएव उन्होंने विषयानन्द, काव्यानन्द एव ब्रह्मानन्द के नाम से आनन्द के तीन स्तरों का विधान किया है, जिनमे परस्पर भेद स्वरूपनः नहीं होना अपितु आनन्दाभूति के माध्यम एव उसकी मात्रा में होता है ।

क्षुधार्त व्यक्ति का उदाहरण देते हुए उन्होंने विस्तारपूर्वक इस तथ्य का विवेचन किया है कि किसी व्यक्ति को क्षुधा की निवृत्ति से आनन्द की जो उपलब्धि होती है वह वास्तव में भोजन से नहीं होगी अपितु क्षुधा की निवृत्ति के अनन्तर, जब उसकी एक अपूर्णता समाप्त हो गई होती है, चेतना को आत्मपरामर्श का अवसर मिलता है, तभी आनन्द होता है । आनन्द-भूमि का यही रहस्य है । इसे ही विषयानन्द कहते हैं । क्योंकि अमक वस्तु के उपभोग से यह आनन्द मिला है, इस प्रकार का व्यवधान यहा बना रहता है । काव्यानन्द की विषयानन्द से यह विलक्षणता है कि वहा विषयों के अर्जनादि विषयक सम्भाव्य व्यवधान का अभाव होता है तथा इसका आश्रय एकमात्र व्यक्ति का हृदय होता है । यहाँ जो स्वात्मपरामर्श होता है उसमे रत्नादि विषयों का सम्पर्ग, सत्कार के रूप में ही रहता है साक्षान् नहीं । अतएव यह भी ब्रह्मानन्द से निम्नकोटि का ही होता है । ब्रह्मानन्द में विषयों का सम्पर्ग साक्षान् या परोक्ष (संस्कार रूप में) किसी भी प्रकार नहीं होता । अपितु स्वात्मपरामर्श स्वतन्त्र रूप से अवस्थित एव अनुभूति की एकघटना से ही होता है । इसीलिए इसे परमानन्द, निर्वृति या चमत्कार के नाम से अभिहित किया गया है ।^१

(ख) काव्यरस की महत्ता

काव्य में रस का स्थान लोक एव अध्यात्म दोनों से कुछ विलक्षण ही है । काव्य का प्रयोजन उपदेश आदि चाहे कुछ भी हो उसका अमाधारण तत्त्व रस ही है, इसमें कोई विमम्बाद नहीं । काव्य से निरनिशय सुखान्वादात्पर आनन्द की उपलब्धि का माधकतम तत्त्व रस ही माना गया है । प्रायः सभी आलंकारिकों ने बिना किसी विप्रतिपत्ति के रस को काव्यात्मा का स्थान दिया है ।^२ इस प्रकार रस काव्य का सर्वोत्कृष्ट तत्त्व ही नहीं अपितु उसका सर्वस्व है । इसीलिए लोक तथा अध्यात्म में किसी प्रयोजनवशा रस की निवृत्ति का प्रतिपादन चाहे भले हुआ हो^३ काव्य में उसका उपादान ही किया गया है । नाट्यशास्त्र का विधान है कि काव्य की रस से उमी प्रकार ओन-प्रोन रखना चाहिए जैसे मधुमाय में उद्यान की भूमि पुष्पावकीर्ण होती है ।^४

काव्यरस की लौकिक एव आध्यात्मिक रस से विशेषता इसलिए भी है कि उसका अवि-कारी एकमात्र व्यक्तिविनिष्ट महदय ही होता है, अननामान्य नहीं । इसे महदय इसलिए कहते हैं कि उसका हृदय अर्थात् अन्न करण प्राक्कन एव ऐह्यन्त उभयविध काव्य-वासना से जामित होता है । साहित्यशास्त्रियों की यह मान्यता है कि काव्य की अनुभूति भवको नहीं होगी ।^५

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विमर्शिनी, पृ० १८९ ।

२. काव्यस्यात्मनि संतिनि रसादिरूपे न कस्यचिद्धिमतिः । —व्यवितविवेक, पृ० २६ ।

३. विषया विनिवर्तन्ते निराहारस्य देहितः ।

रसवर्ग्य रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्तते ॥

—गीता, अ० २।५९ ।

४. पुष्पावकीर्णः कर्त्तव्याः काव्येषु हि रसा बुधैः ।

—नाट्यशास्त्र ७।१२० ।

५. न जायते तदास्वादो बिना रत्यादिवासनाम् ।

—सा० २०, परि० ३।८ ।

जिन घोड़े लोगों को बाध्यानुभूति होती है उनके दो प्रकार होते हैं—एक वह जिनके अन्तःकरण में जन्म-जन्मान्तर के बाध्यविषयक मन्स्वार वाम करने रहते हैं। उनके उन मन्स्वार को प्राक्तन-वामना कहते हैं और ऐसे व्यक्ति जन्मजात महदय बहे जाते हैं। दूसरे प्रकार के महदय वे होते हैं जिनके अन्तःकरण में बाध्यविषयक मन्स्वार इन जन्म के निरन्तर अन्वयान में पडते हैं। इनको वामना को ऐहन्तन-वातना के नाम से अभिहित किया गया है।^१ उत्तमकोटि के महदय वही माने गये हैं जिनका अन्तःकरण प्राक्तन एव इदानीन्तन, उभयविषय वामना से वामित होता है। सहृदय पद का यही विगिष्ट अर्थ है। अन्यथा हृदय में महिम्न तो कौन व्यक्ति नहीं होता। आचार्य अभिनवगुप्त ने सहृदय को परिभाषा करते हुए कहा है कि—जिनका मन-रूपी दण्ड बाध्य के निरन्तर अनुशीलन एव अन्वयान से इतना विगद हो जाय कि उनमें वर्णनीय वस्तु के साथ तन्मयीभाव होने लगे तथा अपने हृदय की संवेदनशीलता का परिपूर्ण परामर्श जिनकी चेतना को हो जाता हो, वही महदय हैं।^२ इस प्रकार बाध्यरम का महत्त्व भी कम नहीं है, जो महदय सामाजिक को रसादिभावों की पराकोटिक अनुभूति कराना हुआ अनायास ही उसे परमानन्द के पान तक पहुँचा देता है।

बाध्य-रस का माहात्म्य इसलिए भी बहुत अधिक है कि शास्त्रीय कृत्यावृत्त्य-विवेकरूप दुरुह उपदेग वस्तु को, रस के ही माध्यम से कवि मुकुमार हृदय पाठकों की बुद्धि का नी विषय अनायास ही बना देता है। संक्षेप में रस का यही महत्त्व है।

१. वातना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्यादहेतुः । तत्र यदि धाया न स्यात् तदा श्रोत्रियस्य-
मौमासकादीनामपि सा स्यात् । यदि द्वितीया न स्यात् तदा रागिणामपि केषांचिद् रसोद्बोधो
न दुर्जनैः, तत्र स्यात् । उक्तं च परमंदत्तेन—

सवासनानां सभ्यानां रसस्याम्बादनं भवेत् ।

निर्वासनाम्नु रट्टगान्तः बाप्यकृद्दयदममग्निभाः ॥

—सा० ८०, परि० ३१८ ।

२. येषां बाध्यानुशीलनाभ्यागवशाद् विप्रदीप्तने मनोमुखरे वर्णनीयतन्मयीभवनयोग्याता ते
स्वहृदयसम्बादभाक्ताः सहृदयाः । —अभिनवगुप्त-ध्वन्यालोकः ३।० १।१ पर 'लोचन' ।

द्वितीय-विमर्श

काव्य में रस की धारणा के स्रोत

(क) उपनिषदों में रस का उल्लेख

काव्य के विशिष्ट तत्त्व के रूप में रस का निरूपण न्यूनाधिक रूपसे साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी ग्रंथों में हुआ है। किन्तु ध्वनि एव वक्रोक्ति आदि काव्य-तत्त्वों के समान ही काव्य में रस की धारणा का मूल-स्रोत अन्वयनिर्मिराच्छन्न है। हमारे देश में किसी भी विषय के मूल स्रोत की जानकारी के लिए भारतीय प्राचीनतम साहित्य वेदों में ही पन्ने उलटे जाने हैं। तैत्तिरीय उपनिषद् की ब्रह्मानन्द बल्ली के सप्तम अनुवाक के दो वाक्यों में रसपद का साक्षात् प्रयोग हुआ है।^१ यद्यपि आनन्द का उद्बोधक एव आनन्दोपलब्धि का विषय होने से काव्यरस एव औपनिषद् रस का प्रयोजन समान है तथापि यह स्पष्ट है कि उपनिषद् प्रतिपाद्य रस से साहित्य का रस सर्वथा भिन्न होता है। उपनिषद् में जहाँ रसपद ब्रह्मानन्द का वाचक है, काव्य में वह निरतिशय सुखास्वाद रूप विगलितवेद्यान्तर आनन्द का उद्बोधक। रसगाधर के टीकाकार प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश भट्ट ने ग्रंथ में प्रयुक्त लौकौत्तराह्लाद पद की मीमांसा करते हुए उसे ब्रह्मानन्द ही माना है।^२ यदि इसे स्वीकार कर लिया जाय तो नैतिकेय उपनिषद् का रस-विवेचन ही काव्य में रस की धारणा का मूलस्रोत सिद्ध हो जाता है। क्योंकि आनन्द के अपरपर्याय के रूप में ही उभयत्र रसपद का प्रयोग हुआ है।^३

विश्वनाथ कविराज प्रभृति साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने तथा नाट्यशास्त्र के अनेक टीकाकारों ने काव्य-रस को औपनिषद् रस से सर्वथा पृथक् माना है और उसके लिये 'ब्रह्मानन्दसहोदर' तथा 'परब्रह्मास्वादमविद्य' आदि विशेषणों का प्रयोग किया है। औपनिषद् रस साक्षात् आनन्दस्वरूप ब्रह्म ही है जिसकी अनुभूति निर्विकल्पक समाधि या ब्रह्मप्राप्तात्कार से ही होती है। काव्य-रस तो विभावानुभावव्यभिचारिभात्र के संयोग से रत्यादि भावों की वासना-जन्म मानसिक अनुभूतिमात्र है। काव्य-रस रत्यादि की परिणति मात्र है, जिसकी अनुभूति बिना वासना के नहीं हो सकती। ब्रह्मानन्द की अनुभूति में रत्यादि विषयों का तो सर्वथा अभाव

१. रसो वंसः । रसं हृद्येवायं लब्ध्वा आनन्दीभवति ।—तं० उप०, ब० बल्ली सप्तमअनुवाक ।

२. ननु लौकौत्तरत्वं यथा ऋचिन् चेदुक्तबोधः, आत्यन्तिकं चेद् ब्रह्मानन्द एव ।

—रसगाधर टीका, पृ० ४ ।

३. (क) आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात् ।

तं० उप० भृगुवल्ली पठ अनुवाक ।

(ख) सन्वोद्रेकप्रकाशानन्दम यनिजसंविद्बिभ्रान्तिलक्षणैः परब्रह्मास्वाइसविधेन भोगेन परं भुङ्क्ते ।—नाट्यशास्त्र (अभिनवभारती), प्रथम खं०, अ० ६, पृ० २७७ (बड़ोदर) ।

होना ही है, उस समय अन्त करण में किमी प्रकार की भी वामना विद्यमान नहीं होनी चाहिए। काव्यरम और उपनिषद् प्रतिपाद्य रम में यही समानता और भेद है। औरतिपद रम के काव्य-रम का मूलस्रोत होने या न होने का निर्णय हम आगे करेंगे।

(ख) नन्दिकेश्वर रम के आद्य आचार्य

दशम शताब्दी ईस्वी के प्रसिद्ध कवि एवं साहित्यशास्त्र के स्यातनामा आचार्य राज-शेखर ने अपनी कृति 'वाच्यमीमांसा' में काव्य के आध्यायक जिन अठारह तन्त्रों का परिचय दिया है उनमें रम अग्रतम है। काव्य के इन तन्त्रों की उत्पत्ति के विषय में एक पौराणिक गाथा का उल्लेख करते हुए उन्होंने प्रत्येक तत्त्व पर स्वतंत्र ग्रन्थ की रचना के लिये काव्यपुरष द्वारा काव्यविद्या के अठारह दिग्गजानकों की नियुक्ति की बात कही है, जिनमें रमाधिकरण पर ग्रन्थ लिखने के लिये नन्दिकेश्वर का नाम लिया गया है।^१ इस प्रकार वहाँ नन्दिकेश्वर रम के प्रवक्ता आद्य आचार्य के रूप में उल्लिखित हुए हैं। रम पर नन्दिकेश्वर कृत किमी भी ग्रंथ की उपलब्धि अब तक नहीं हुई है। इसके विपरीत शारदानय ने भावप्रकाशन में नाट्य की उत्पत्ति के विषय में एक दूमरी पौराणिक गाथा का उल्लेख करते हुए लिखा है कि शिव की आज्ञा के अनुसार नन्दिकेश्वर ने ब्रह्मा को नाट्य की शिक्षा दी और ब्रह्मा ने फिर भरत को।^२ नन्दिकेश्वर के नाम से 'अभिनय-दंपण' नामक एक लघु ग्रंथ की उपलब्धि भी हुई है, जिनमें अभिनयचतुष्टय का ही थोड़े विस्तारपूर्वक विवेचन हुआ है। नाट्यशास्त्र के रमप्रकरण में उदाहृत अनुबन्ध श्लोको एवं आयांत्रों के विषय में विद्वानों का अनुमान है कि भरत ने अपने पूर्वाचार्यों की मान्यताओं का ही उपयोग कर उन्हें व्यवस्थित रूप दिया है।^३ यदि राजशेखर का नन्दिकेश्वर विषयक उल्लेख साधारण है तो यह मानना पड़ेगा कि नन्दिकेश्वर नाट्यशास्त्र के पूर्ववर्ती आचार्यों में से थे। सम्भव है रम के ऊपर भी नन्दिकेश्वर की कोई कृति रही हो जो अब उपलब्ध नहीं। यही पर रम के आचार्य के रूप में नन्दिकेश्वर का नाम एकमात्र राजशेखर के उल्लेख में ही लिया गया है।

(ग) रम की दिव्य उत्पत्ति

काव्य-रम का भविष्य एवं मागौराग निरूपण सर्वप्रथम अग्न के नाट्यशास्त्र में उल्लेख होता है। नाट्यशास्त्र की रचना नाट्य के रगमंच पर प्रयोग की ध्यान में रखकर की गई है। भरत ने काव्य और नाट्य शब्दों का प्रयोग अत्र पर्याय के रूप में किया है।^४ अभिनवगुप्त ने भी अभिनवभारती के 'तन्माश्राट्यरमा. स्मृता.' वाक्यांश की टीका करते हुए कहा है कि रम समुदाय ही नाट्य है।^५ नाट्यशास्त्र के षष्ठ एवं सप्तम अध्यायों में रम एवं भासों

१. राजशेखर, वाच्यमीमांसा, प्रथम अध्याय।

२. शारदानय, भावप्रकाशन, प्रथम अध्याय।

३. डा० पी० बी० शरणे, हि० आरु० सं० पी०, पृ० ३४०।

४. नाट्यशास्त्र १६।१६९ तथा १७।५।

५. नाटयान् समुदायस्पादताः यदि वा नाट्यमेव रमः। रमसमुदायो हि नाट्यम्....वाच्यं नाट्यन्मुत्पन्नो दशाक्षरान्तरमेव...वाच्यं च नाट्यमेव ॥

—नाट्यशास्त्र (प्रथम भाग) अभिनवभारती, षष्ठ अध्याय, पृ० २९०-९१ (बड़ोदा)।

की विस्तारपूर्वक भीमांसा हुई है। वहीं पर भरत ने आठ रसों की गणना कराते हुए उन्हें द्रुहिण प्रोक्ता बताया है।^१ देवी भागवत के अनुसार द्रुहिण ब्रह्मा का ही दूसरा नाम है।^२ द्रुहिण पद से भरत का निर्देश भी ब्रह्मा की ओर ही प्रतीत होता है। ब्रह्मा ने ही देवताओं के आग्रह पर चारों वेदों से नाट्य के चार मुख्य तत्त्व पाठ्य, संगीत, अभिनय एवं रस का ब्रह्मसंग्रहण कर नाट्यवेद की रचना की।^३ इस प्रकार ऋग्वेद से पाठ्य, साम से गान, यजुर्वेद से अभिनय एवं अथर्ववेद से रस का उपादान हुआ है। पाठ्य, गान एवं अभिनय के ऋग्, साम् एवं यजु संग्रहण की उपपत्ति तो बन जाती है। किन्तु अथर्ववेद से रस के उपादान का रहस्य आपानत समझ में नहीं आता। अभिनवगुप्त ने उमका विवेचन करते हुए कहा है कि—अथर्ववेद में शान्ति, मारण आदि कर्मों का विधान हुआ है जिनमें ऋत्विक् नट के समान ही नानाप्रकार के तान्त्रिक अनुभवों का अभिनयात्मक अनुष्ठान करना है। तथा वहीं पर धृति, प्रमोद आदि व्यभिचारिभावों का जो परमार्थतः सन् नहीं होते, ग्रहण एवं आचरण किया जाता है। इसके अतिरिक्त काव्य-रस की आनन्द मे हो विश्रान्ति होने की तरह अथर्ववेद में भी मारण, मोहन, उच्चाटन आदि तत्त्व सभी प्रकार के अनुष्ठानों का पर्यवमान शान्ति में ही होना है। इसीलिये अथर्ववेद से रस का उपादान युक्तिनुक्त ही हुआ है।^४ और इस प्रकार नाट्यशास्त्र एवं अभिनवगुप्त दोनों के अनुसार काव्य में रस की धारणा का स्रोत वैदिक साहित्य ही ठहरता है। इन्हीं दिव्य इसलिये कहा गया है कि दिव्य-प्रोक्ता ब्रह्मा के द्वारा ही अथर्ववेद से ग्रहण कर काव्य में रस का आधान हुआ।

(घ) लौकिक व्यजन-रस से काव्य-रस की धारणा की प्रेरणा

नाट्यशास्त्र में रस के लक्षण की व्याख्या एवं उसके स्वरूप का निर्वचन करते हुए मुनि भरत ने नानाप्रकार के व्यजन एवं औपविद्रव्यों के संयोग से आयमान रसास्वाद का उदाहरण पुनः पुनः दिया है।^५ जिसका विस्तारपूर्वक विवेचन रस के स्वरूप-निरूपण के अवसर पर किया

१. एते ह्यष्टौ रसाः प्रोक्ताः द्रुहिणेन महात्मना ।
—नाट्यशास्त्र ६।१६ ।

२. द्रुहिणे सृष्टिशक्तिश्च हरी पालनशक्तिता ॥
—देवीभागवत १।८।३८ ।

३. जग्राहपाठ्यमृग्वेदात् सामम्यो गीतमेव च ।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानायर्वणादपि ॥
—नाट्यशास्त्र १।१७ ।

४. आवर्षणेतु शान्तिमारणादिकर्मसु नटस्यैव तस्यैः श्वजः प्राट्टुर्द्वेषुणाद्यनुभावानां प्रजाशत्रु-
प्रभृतिना अवधानग्रहणादिना लोहितोष्णोपादेर्नैपव्यत्य तेषु तेषु च कर्मसु विशिष्टप्रपत्त
पुरयसम्पाद्यमनोवष्टम्नात्मनः सत्त्वस्य सम्भवान् ततोऽभिनयानामग्रहणम् । वाचिकस्त्वभि-
नयः पूर्वमेवोच्यते । प्राधान्यान् विभावानां धृतिप्रमोदादिव्यभिचारिणां च परमार्थसत्तां सम-
हरणं प्रधानमिति विभावादिनामपीहपरसात्मकचर्वाणासम्भव इति ततस्तदग्रहणमुक्तम् ।
—अभिनवभारती, प्रथम अध्याय, पृ० १५-१६ ।

५. यथा बहुद्रव्ययुर्नैव्यञ्जनैर्बहुभिर्युतम् ।
आत्वादपन्ति भुञ्जाना भक्षन् भक्षनविदो जनाः ॥
भावाभिनयसम्बन्धान् स्याद्विभावांस्तथा बुधाः ।
आत्वादपन्ति मनसा तस्मान् नाट्यरसाः स्मृताः ॥
—ना० शा० ६।३२-३३ ।

जायेगा। आठो रसों के समूचे विवेचन में रस की ब्रह्मानन्द के तुल्य या उनका सहोदर एक बार भी नहीं कहा है, जो आत्मसंकीर्णता है। अतः सामान्यतः यही प्रतीत होता है कि काव्य में रस की धारणा का उद्भव भूयोभूयो अनुभूयमान व्यजनादि तत्तद् विषयों का आस्वाद ही है। और इस प्रकार विषयात्मक ही काव्य में आनन्दोत्पत्तिक रस की धारणा का मूलस्रोत प्रतीत होता है, उपनिषदों का प्रतिपाद्य ब्रह्मानन्द नहीं। इस विवेचन के आधार पर काव्य में रस के उद्भव की भूमि लोक ही ठहरता है, अध्यात्म नहीं।

उत्तरकालीन आचार्यों ने जो रस की ब्रह्मानन्द-सहोदर या परब्रह्मास्वाद-सिद्धि आदि विशेषणों से विभूषित कर, उनकी आनन्दपरक व्याख्या की है वह मौलिक नहीं, बल्कि काव्य के क्षेत्र में दार्शनिकों के प्रवेश का परिणाम मात्र है। इसीलिए इन विवेचनों में एकदमता भी नहीं है। क्योंकि दर्शन की विविध मान्यताओं के आचार्यों ने जब काव्य के क्षेत्र में प्रवेश किया तो उन्होंने अपनी किसी मान्यताविशेष के अनुसार ही काव्य के आध्यात्मिक तत्त्वों की व्याख्या की। जिसका सम्बन्ध दर्शन की किसी-न-किसी धारा में अवश्य है। नाट्यशास्त्र के मूल रसविवेचन में उनका संबंध अभाव होने से रस की दार्शनिक व्याख्या मौलिक नहीं मानी जा सकती। इस अन्विष्टा में यहाँ रस की मौलिक उत्पत्ति का निरूपण किया गया है।

(ड) निष्कर्ष

उपर्युक्त कथन के विपरीत भट्टनायक, अभिनवगुप्त, मम्मट, विश्वनाथ बहिराज तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति अलङ्कारशास्त्र के उत्तरकालीन प्रायः सभी आचार्यों ने रस का निरूपण आध्यात्मिक स्तर पर ही किया है, जो काव्यरस को उपनिषद अध्यात्मविषयक रस से सम्बन्धित कर देता है। इनका विवेचन सर्वथा बसोल्बल्लिप्त है या गड्ढल्लिप्तप्रवाहमात्र है, यह कथन युक्तिमय न होगा अपितु इन मदके विवेचन का मूलस्रोत क्या है? उन सूत्रके अनुसन्धान की आवश्यकता है। इस सम्बन्ध में नाट्यशास्त्र के रसनावाच्यायों का पुनः-पुनः अनुशीलन करने पर रस के आध्यात्मिक विवेचन का मूल भी हमें वही उपलब्ध हो जाता है। नाट्यशास्त्र के षष्ठ अध्याय की अन्तिम वारिशाश्रों में शान्तरस का जो निरूपण हुआ है, उसमें भावों की उत्पत्ति एवं उनके विलय का विवेचन करते हुए कहा है कि रत्यादि जितने भी भाव हैं, वह सब विकार हैं, तथा शान्त ही उनकी प्रकृति है। जिस प्रकार प्रकृति से निमित्तभेद में नाना प्रकार के विकार उत्पन्न होते हैं और निमित्त के गण्ट हो जाने पर उन विकारों का प्रकृति में ही विलय हो जाता है, ठीक उसी प्रकार शान्त में ही निमित्त भेद में रत्यादि तत्तद् भावों की प्रकृति होती है तथा बिनावादि निमित्त का बिनाग होने पर, वे पुनः शान्त में ही विलीन हो जाते हैं।^१ नाट्यशास्त्र में शान्तरस का वर्णन करते हुए मोक्ष एवं जघ्यात्म की भावना को उनका मूलस्रोत, तत्त्वज्ञान को उनका कारण एवं निःश्रेयस् की प्राप्ति को उनका फल कहा है।^२ उनके अनुभव

१. भावा विकारा रत्याद्याः शान्तगु प्रकृतिमंतः ।

विकारः प्रकृतेर्जातः पुनस्तामेव लोपते ॥

स्वं स्वं निमित्तमासाद्य शान्ताद्भावः प्रवर्तते ।

पुनर्निमित्तापाये च शान्त एवोपलोपते ॥

—ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३३४-४३५ ।

२. मोक्षाध्यात्मसमस्यस्तरत्नानापर्यहेतुसंयुक्तः ।

निःश्रेयसोर्दिष्टः शान्तरसो नाम सम्भवेति ॥

—ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३३५ ।

के क्षण में ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का मरोध हो जाना है । अर्थात् वह अपने व्यापार से विरत हो जाती हैं तथा व्यक्ति की अध्यात्म में संस्थिति हो जाती है । उस समय उसमें सभी प्राणियों के सुख एवं हित की भावना ही प्रधान रूप से होती है ।^१ यहाँ नहीं शान्तरस उसे कहा गया है जहाँ न दुःख हो, न सुख, न द्वेष, न मत्सर प्रत्यन्त उसकी अनुभूति के क्षणों में व्यक्ति प्राणिमात्र के प्रति सम हो जाता है ।^२ सप्तम अध्याय में भावों को रसों का भावक कहा है । यहाँ उन्हें शान्त का विचार माना है । इस प्रकार शान्तरस से विवृत्त भावों के ही रसों के भावक होने से परम्परया शान्त ही शृंगारादि रसों का मूल निष्ठ होता है । अभिनवगुप्त ने 'श्रीमन्-मिळान्त-शास्त्र' के नाम से एक श्लोक उद्धृत किया है । जिसमें कहा गया है कि—आठ देवों के नाम ही शृङ्गारादि आठ रस होते हैं तथा देवाधिदेव परात्पर पूर्णतम पुरुषोत्तम के ममान शान्तरस को समझना चाहिए ।^३ इसके अतिरिक्त अथर्ववेद से, जहाँ मारण, मोहन उच्चाटन आदि सभी प्रकारों के अनुष्ठानों को मूलतः एव अन्ततः शान्तिपरक माना गया है, रस का ग्रहण इस बात का सकेत करता है कि काव्य में रस की धारणा का उद्गम शान्त ही है ।

भरत के अनुसार काव्यरस का उद्गम वैदिक है । नाट्यशास्त्र का शान्तविषयक निरूपण हमें रस के उद्गम के विषय में औपनिषद् आध्यात्मिक रस की ओर सकेत करता है । जिसकी संगति उत्तरकालीन आलङ्कारिकों के रसविषयक विवेचन में भी बैठ जाती है । चूंकि उपनिषद् भी वैदिक साहित्य के उसी प्रकार अंग हैं जिन प्रकार अथर्ववेद, इसलिए मोटे तौर पर वैदिक साहित्य को ही हम काव्यगत रसविषयक धारणा का मूलस्रोत कहेंगे ।

१. बुद्धीन्द्रिय-कर्मेन्द्रिय-संरोधाध्यात्मसंस्थितोपेतः ।

सर्वप्राणिसुखहितः शान्तरसो नाम विज्ञेयः ॥

—ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३३४ ।

२. न यत्र दुःखं न सुखं न द्वेषो नापि मत्सरः

समः सर्वेषु भूतेषु स शान्तः प्रथितो रसः ॥

—ना० शा० अध्याय ६, पृ० ३३४ ।

३. अष्टानामिव देवतां शृङ्गारादीन् प्रदशंयेत् ।

मध्ये च देव-देवस्य शान्तं रूपं प्रकल्पयेत् ॥

—अभिनवभारती—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, पृ० ३४० ।

तृतीय-विमर्श

रस तथा भाव

(क) रस का स्वरूप एवं लक्षण

प्रायः सभी आलंकारिकों ने रस के स्वरूप एवं लक्षण का गहन विवेचन किया है। किन्तु भरतनाट्यशास्त्र के दृष्टअध्याय में जो रस का विवेचन हुआ है वही सबसे मूल है। अध्याय के प्रारम्भ में ही रस के विषय में पाँच प्रश्न उठाये गये हैं। नाट्य में जो रसों का वर्णन हुआ है उनमें रसत्व किस प्रकार है अर्थात् वह रस क्यों बहे जाते हैं? यह पहला प्रश्न है। देशों से जब रसों का ग्रहण हुआ तो वहाँ भावों का नाम भी नहीं मूना गया। फिर यहाँ रस-प्रकरण में उनका वर्णन क्यों किया गया? यह दूसरा प्रश्न है। तीसरा प्रश्न यह है कि यदि वर्णन किया गया तो वे भाव किमती उत्पत्ति कराते हैं? या किसे भावित करते हैं? चौथे और पाँचवे प्रश्न रस मन्त्रों की कारिकाओं के मध्य एक-दूसरी निरन्तर के विषय में हुए हैं।^१ भरत मुनि ने रस के इन महत्व को बताते हुए कहा है कि नाट्य का कोई भी तत्व रस के बिना प्रवृत्त नहीं होगा, जो सबसे पहले रस की ही व्याख्या प्रस्तुत की जाती है। रस का सामान्य लक्षण करते हुए मुनि भरत ने कहा है कि—विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव के संयोगसे रस-निष्पत्ति होती है।^२ इसका दृष्टान्त देते हुए नाट्यशास्त्र में बताया गया है कि—जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यञ्जन एवं औषधि द्रव्यों के संयोग से रस रसायन का निष्पादन होता है उसी प्रकार नानाप्रकार के भावों के विलक्षण संयोग में वाच्य में रस की निष्पत्ति होती है। तथा जिस प्रकार गुड़ यदि द्रव्यों, व्यञ्जनों एवं औषधियों में पाहवादि रस बनते हैं, उसी प्रकार नानाप्रकार के भावों में उद्विक्त स्थायिभाव ही रसत्व को प्राप्त होते हैं।^३

रस क्या बन्तु है? इसका उत्तर देते हुए नाट्यशास्त्र में कहा है कि—आम्बादत्त ही रस है। अथवा उसे रस इसलिए कहते हैं कि वह आस्वाद है। रस की आम्बादत्ता के स्वप्न का निर्वचन करते हुए कहा है कि जिस प्रकार नानाप्रकार के व्यञ्जन में गुंमन्वृत अन्न का उपभोग करते हुए व्यक्ति रस का आस्वादन करते हैं और प्रसन्न होते हैं। उसी प्रकार नाना

१. ये रसाः इति पठन्ते नाट्ये नाट्यविलक्षणैः । रसत्वं केन च तेषामेवदास्यानुमर्हति ॥

भावादत्तं रूपं प्रोक्ताः किं वा ते भावपन्थयि । मंष्टुं कारिकां चैव निरन्तं चैव तद्वदः ॥

—नाट्यशास्त्र अध्याय ६।२,३ ।

२. तत्र विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः ॥—ना० शा० अ० ६, पृ० २७२ ।

३. को दृष्टान्तः? अत्राह यथाहि नानाव्यञ्जनौषधिश्च्यसंयोगाद् रसनिष्पत्तिः तथा नानानाशो-
पमाद् रसनिष्पत्तिः । यथाहि—गुडादिभिः द्रव्यैः व्यञ्जनैः औषधिनिश्च पाहवाद्यो रसो
निर्वर्त्तन्ते तथा नानाभाषोपगता अथ स्थायिनो भावा रसनामाप्नुवन्ति इति ॥

—वही, पृ० २८० ।

प्रकार के भावों एवं वाचिक, आङ्गिक तथा सात्विक अभिनय से व्यञ्जित तत्तद् स्थायिभावों का सहृदय प्रेक्षक आस्वादन करते हैं और हर्षादि से पुलकित होते हैं। लोक में जिन भावों से नाना प्रकार के सुखदुःखात्मक अनुभव होते हैं, नाट्य में उन्हीं से एकमात्र आनन्द की प्राप्ति होती है। इसीलिये काव्य में ही उन्हें रस कहा है।^१

इस कुल का निष्कर्ष यह निकला कि सामाजिक के मन में स्थायी रूप से अवस्थित रत्यादि स्थायीभाव ही जब विभावादि भावों से तयुक्त होकर मन के द्वारा सहृदयों के आस्वाद का विषय होते हैं तो शृङ्गारादि रस कहे जाते हैं।^२ 'रस्यते आस्वाद्यते इति रसः।' इस व्युत्पत्ति के अनुसार आस्वाद्यमानता को लेकर ही इनके लिये रस पद का व्यपदेश हुआ है। महिम भट्ट ने 'यथोक्तम्' से किञ्चि पूर्वोक्तार्थ की रसविषयक कारिका का उद्धरण व्यक्ति-विवेक में दिया है कि—विभावादि भावों के संयोग से ध्यग्य एवं विलक्षण ज्ञान का विषय, आस्वादानात्मक अनुभव ही काव्य-प्रतिपादित रस पदार्थ है।^३ इस बात को काव्यप्रकाशकार ने बड़े ही उत्तम ढंग से व्यवस्थित कर कहा है कि लोक में हम जिन्हें कारण, कार्य एवं सहकारी कारण कहते हैं वही यदि काव्य में वर्णित हो तो उनकी क्रमशः विभाव, अनुभाव और व्यभिचारि-भाव संज्ञा होती है। उन्हीं विभावानुभाव व्यभिचारिभाव से व्यक्त रत्यादि स्थायी भाव रस कहलाते हैं।^४ साहित्यदर्पणकार ने भी रस का लक्षण करते हुए कहा है कि—विभाव, अनुभाव तथा संचारिभाव के द्वारा व्यक्त स्थायीभाव ही सहृदयों के आस्वाद का विषय होता हुआ रस पदवी को प्राप्त कर लेता है।^५ प्रभाकर भट्ट ने रसप्रदीप में रस के लक्षण एवं स्वरूप के विषय में नानाप्रकार के मतमतान्तरों का उल्लेख करते हुए अपना लक्षण किया है कि—काव्य के

१. अत्राह—रस इति कः पदार्थः ? उच्यते—आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यते रसः ? यथा हि नाना ध्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषाः, हर्षादींश्च अधिगच्छन्ति तथा नानाभावभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः, हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति, तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिरव्याताः ।

—नाट्यशास्त्र, अध्याय ६, पृ० २८८-२८९ ।

२. नानाभिनयसम्बन्धान् स्थायिभावांस्तथा बुधाः ।

आस्वादयन्ति मनसा तस्मान्नाट्यरसाः स्मृताः ॥

—ना० शा० ६।३३ ।

३. भावसंयोजनाव्यङ्ग्यपरिसंविस्तिगोचरः ।

आस्वादानात्मानुभवो रसः काव्यार्थं उच्यते ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ६७ ।

४. कारणान्यथकार्याणि सहकारीणि यानि च ।

रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाट्यकाव्ययोः ॥२७॥

विभावा अनुभावास्तत् कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।

व्यक्तः स तैर्विभावार्थैः स्थायीभावो रसः स्मृतः ॥२८॥

—क० प्र०, चतुर्थं उल्लास ।

५. विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।

रसनामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम् ॥

—सा० द० ३।१ ।

माहात्म्य से लौकिक कारणत्वादि के परित्यागपूर्वक अलौकिक विभावादि के प्राप्त होने पर उनमें ही रत्यादि स्थायीभाव व्यक्त होते हैं वहीं रम है।^१

(ख) भाव का स्वल्प, लक्षण एव उसके भेद

नाट्यशास्त्र के सप्तम अध्याय में भाव एव उनके भेदप्रभेद का विन्नारपूर्वक विवेचन हुआ है। आरम्भ में ही प्रश्न उठाया है कि इनकी भाव मंजा क्यों है ? क्योंकि 'भवन्ति इति भावाः' (स्वयंहोना) या 'भावयन्ति इति भावाः' (दूसरों को बनाना) उभय प्रकार में भावशब्द व्युत्पन्न हो भवना है। इसका उत्तर दिया है कि—वाचिक, आङ्गिक एव नाटिक अभिनयों में युक्त होकर यह वाच्यार्थ (रम) की भावना कराते हैं, अतः 'भावयन्ति इति भावाः' इमी व्युत्पत्ति से इनकी भावमंजा होती है।^२ मत्तार्थक 'म्' धातु में वरण में घञ् प्रत्यय होकर भाव शब्द व्युत्पन्न होता है। नावित, वानित, कृत इसके पर्याय हैं। लोक में भी कहा जाता है कि इम गन्ध या रम में मय कुछ प्रभावित हो गया। विभाव में जिम वाच्यार्थ का आहरण होने पर वाचिक, आङ्गिक एव नाटिक अभिनयरूप अनुभावोंसे जो गम्य है उमी की भावमंजा हुई है।^३ वाक्, अङ्ग एव मुखराग तथा नाटिक अभिनय के द्वारा कवि के अन्तर्गत भाव की भावना कराने में ये भाव कहे गये हैं।^४ चूँकि ये नाना प्रकार के अभिनयों में सम्बद्ध तत्तद् रमों की भावना कराते हैं अतः नाट्य-प्रयोजनाओं में इन्हें भाव की मंजा दी है।^५

भावों के पाँच प्रकार होते हैं—विभाव, अनुभाव, मचारी या व्यभिचारी, नाटिक एवं म्यायी। यही भाव जब वाच्यार्थों की विभावना के हेतु होते हैं तो इन्हें विभाव कहा जाता है और जब यही माङ्गोपाङ्ग रूप में वाच्यार्थ का अनुभव कराते हैं तो अनुभाव कहे जाते हैं।^६ वि, अमि उपसर्ग पूर्वक गत्यर्थक च् धातु में णिनिप्रत्यय होकर व्यभिचारी शब्द व्युत्पन्न होता

१. विभावत्वानुभावत्वसंचारित्वाद्युपागतैः ।

उपनायकमाहात्म्यात्कारणत्वादिवर्जितैः ॥

रत्यादिविद्यंज्यते स्थायी रसः सोऽस्मग्मते मतः ॥

—रस-प्रदीपिका, पृ० ३७-८ ।

२. भावानिदानो व्याख्यास्यामः । अत्राह-भावा इति कस्मान् ? किं भवन्तीति भावाः किं वा भावयन्तीति भावाः । उच्यते-वागद्गमत्वोपेतान् वाच्यार्थान् भावयन्तीति भावा इति ।

—ना० शा०, सप्तम अध्याय ।

३. विभावेनाहृते योग्यो ह्यनुभावस्तु गम्यते ।

वागद्गमत्वाभिनयैः स भाव इति संज्ञितः ॥१॥

—नाट्यशास्त्र, सप्तम अध्याय ।

४. वागद्गममुखरागेण सत्वेनाभिनयेन च ।

श्चेरन्तर्गतं भावं भावयन्भाव उच्यते ॥२॥

—वही ।

५. नानाभिनयसंबद्धान् भावयन्ति रसानिमान् ।

यस्मात्तस्मादमी भावा धितेया नाट्ययोगिनः ॥३॥

—वही ।

६. बह्वोर्गणैः विभाव्यन्ते वागद्गमाभिनयाश्रयाः ।

अनेन यस्मात्तेनायं विभाव इति संज्ञितः ॥४॥

वागद्गमाभिनयेनेह घनस्त्वर्षोऽनुनाष्यते ।

शास्त्रोपाङ्गमंयुक्त्वास्तदनुभावस्ततः स्मृतः ॥५॥

—वही ।

है। जो भाव वाचिक, आङ्गिक एवं सात्विक अभिनयो मे युक्त होकर रस को विविध प्रकार से आस्वादोन्मुख करने हैं उनका नाम सचारो या व्यभिचारी है। जिन प्रकार सूर्य, दिवस एवं नक्षत्रों का आनयन कर्त्तव्य पर नहीं करता अपितु उनका बोध करा देना है फिर भी लोक मे यही कहा जाता है कि सूर्य ही उन्हें ले आता है। उमी प्रकार नैनीम व्यभिचारिभाव भी है जो स्थायी भावों को आस्वादोन्मुख करने हैं।^१

सत्त्व मन का धर्म है। समाहित मन मे ही उनकी उपस्थिति रहती है। मन की समाधि अवस्था मे ही सत्त्व की निष्पत्ति होती है। काव्य मे मुखदुःखद्वैत भावों का यथास्वरूप वर्णन या अभिनय होना चाहिए। यह मत्त्व-विशुद्धि के बिना सम्भव नहीं। जिने दुःख का अनुभव नहीं है वह विशुद्ध रूप मे दुःख का अभिनय नहीं कर सकता। चकि अधु रोमाञ्च वैवर्ष्य इत्यादि भावों के दुःखसुखात्मक होने से इनका माझात् सम्बन्ध मत्त्व जर्थात् मन से है, जन. इन्हे सात्विक भाव कहा गया है।^२ इनकी सख्या आठ है।

उपर्युक्त भावों मे जो सहृदय-सवेद्य होने हैं वही रसपदवी को प्राप्त होने हैं। जैसे अग्नि शुष्क काष्ठ मे क्षपभर मे व्याप्त हो जाना है उमी प्रकार ये भाव शरीर मे झटिति व्याप्त हो जाने हैं।^३ भाव उनकास होने हैं। उनमे मे जो रस को अवस्था तक पहुँचना है वह परम या स्थायीभाव कहलाता है। कहा भी है कि—बं भाव जो रसत्व प्राप्त होने के लिये प्रसिद्ध हैं स्थायीभाव है।^४ स्थायी, सात्विक एवं व्यभिचारी भावों मे स्थायित्व का व्यपदेश साभिप्राय हुआ है। जत्र रत्वादि भाव विभावादि से पूर्णरूप से परिपुष्ट होकर रसत्व को प्राप्त होने को अवस्था मे होने हैं तो स्थायीभाव कहे जाने हैं। अन्यथा प्रतीतिमात्र होने से वह व्यभिचारी-

१. व्यभिचारिण इदानों व्याख्यास्यामः। अत्राह व्यभिचारिण इति कस्मात्? उच्यते—विभि इत्येतावुपसर्गो। चर् इति गत्यर्थो धातुः विविधभाभिमुख्येन चरन्तीति व्यभिचारिणः। वाणञ्ज-सत्त्वोपेताः प्रयोगे रसान्नयन्तीति व्यभिचारिणः। अत्राह—कथं नयन्तीति। उच्यते—लोड-सिद्धान्त एवः यथा सूर्ये इवं दिनं नक्षत्रं वा नयतीति। न च तेन बाहुन्यां स्कन्धेन वा नीयते। किन्तु लोकेप्रसिद्धमेतत् यथेवं सूर्यो नक्षत्रं दिनं वा नयतीति। एवमेते व्यभिचारिणः इत्यव-गन्तव्याः।
—ना० शा० सप्तम अध्याय, पृ० ३५५-५६ (बड़ौदा)।

२. इह हि सत्त्वं नाम मनः प्रभवम्। तच्च समाहितमनस्त्वाद् उच्यते। मनसः समाधौ सत्त्वनिष्पत्ति-भवंति। तस्य च योऽसौ स्वभावो रोमाञ्चाश्चूर्णवर्ष्पादिलक्षणो यथाभाषोपगतः स न शक्यो अन्यमनसा कर्तुमिति। लोकेस्वभावानुकरणत्वाच्च नाट्यस्य सत्त्वमीप्सितम्। को दृष्टान्तः? इह हि नाट्यस्यमिप्रवृत्ताः सुखदुःखद्वैताः भावाः तथा सत्त्वविशुद्धाः कार्यः यथासत्त्वाः भवन्ति। तत्र दुःखं नाम रोदनात्मकं तत्कथं दुःखितेन सुखं च प्रहर्षात्मकसुखितेन वाभिनयेयम्। एत-देवास्य सत्त्वं पद् दुःखितेन सुखितेन वा अधुरोमाञ्ची दर्शितव्यी इति कृत्वा सात्विका भावा इत्यभिध्याख्याताः॥
—ना० शा० सप्तम अध्याय, पृ० ३७४-३७५ (बड़ौदा)।

३. योऽसौ हृदयसम्बाधी तस्य भावो रसोद्भवः।

शरीरं व्याप्यते तेन शुष्कं काष्ठमिवाग्निना ॥

—ना० शा० ७।७।

४. (१) रसावस्थः परं भावः स्थायितो प्रविपद्यते।

—प्रकीर्णं।

(२) रसत्वं ये प्रपद्यन्ते प्रसिद्धाः स्थायिनोऽत्र ते।

—प्रकीर्णं।

भाव की ही कोटि में रहने हैं।^१ इसीलिये नाट्यशास्त्र में कहा है कि—जिस प्रकार मनुष्यों में नृपति एवं निष्पत्तियों के बीच गुरु महान् एव प्रधान होता है उसी प्रकार उनचार भावों में स्थायी ही प्रधान एवं महान् होते हैं।^२

भाव उनचार होते हैं। उनमें आठ स्थायी, तैत्तरीय व्यभिचारी तथा आठ ही सात्विक भाव होते हैं। इन उनचार भावों को काव्य में रसाभिव्यक्ति का हेतु कहा गया है। इन्हीं में सामान्य गुण योग में रसनियन्त्र होने हैं।^३ यहाँ भावों का निरूपण इसलिये किया गया है कि रस की निष्पत्ति में इनका योग ही सर्वस्व है। रस से भावों का क्या सम्बन्ध है? इसका विवेचन आगे किया जायेगा।

(ग) रस एवं भावों का सम्बन्ध

रस और भावों का परस्पर क्या सम्बन्ध है? क्या रस से भावों की स्थिति होती है? अथवा भावों से रस की? यह सब प्रश्न ऐसे हैं जिनका विचार इसलिये अत्यन्त आवश्यक है कि उनके बिना रस का यथार्थ स्वरूप बुद्धिमत् नहीं होता। इस सम्बन्ध में बिन्ही प्राचीन आचार्यों का मत था कि परस्पर सापेक्षरूप में ही रस एव भावों की अभिनिवृत्ति (स्थिति) होती है, अतः काव्य में दोनों की मत्ता अन्यान्याश्रयसम्बन्ध में होती है। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में इसका स्पष्टन किया है और बताया है कि भावों में ही रस बनने हैं रस से भाव बढापि नहीं बनते।^४ कहा भी है कि चूँकि ये भाव ही नाना प्रकार के अभिनय में सम्बद्ध होकर रसों की भावना कराते हैं, अतः नाट्य-प्रयोगकर्ताओं को इनका ज्ञान परमोपादेय है। जिस प्रकार अनेक प्रकार के द्रव्यों में विविध प्रकार के व्यञ्जन तैयार होते हैं उसी प्रकार विविध प्रकार के भावों में ही रसों की निष्पत्ति होती है। अनन्तर इनका सम्बन्ध परस्पर सापेक्ष हो जाता है। अथवा जिस प्रकार बीज में वृक्ष होता है अनन्तर उसमें पुष्प और फल आते हैं उसी प्रकार गवने मूल में रस है और इन्हीं रसों को दृष्टि में रखकर उनके अनुकूल ही भावों की व्यवस्था हुई है।^५

१. रत्यादयः स्थायिभावाः स्युर्भूषिच्छिविभावजाः ।

स्तोत्रैविभावं सम्यग्नास्त एव व्यभिचारिणः ॥

उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥

—प्रकीर्ण ।

२. यथा नराणां नृपतिः सिप्याणां च यथा गुरुः ।

एवं हि सर्वभावानां भावः स्थायी महानिह ॥

—ना० शा० ७।८ ।

३. तत्राष्टौ भावाः स्थायिनः । प्रयतिप्रसङ्गव्यभिचारिणः । अष्टौ साक्षिण्य इतिप्रभेदाः । एवमेते साध्यरसाभिव्यक्तिहेतव एकोनपञ्चाशद्भावाः प्रत्यग्रगन्तव्याः । एभ्यश्च सामान्यगुणयोगेन रसा निष्पद्यन्ते ।

—ना० शा० सप्तम अध्याय, पृ० ३५८ । (बड़ोदा)

४. किं रसेभ्यो भावानाम् अभिनिवृत्तिः उताहो भावेभ्यो रसानामिति । कथञ्चिन्मते परस्पर-सम्बन्धादेराम् अभिनिवृत्तिरिति । तत्र । कस्मान् ? बुद्धयते हि भावेभ्यो रसानामभिनिवृत्तिं नेतु रसेभ्यो भावानामिति ।

—ना० शा०, षष्ठ अध्याय, पृ० २९२ । (बड़ोदा)

५. नानामितयसम्बद्धान् भावपन्नि रसानिमान् ।

सम्प्राप्तस्मादमी भावा वितेया नाट्यप्रयोगानुभिः ॥३४॥

यथा योज्यादनवेद् वृक्षो वृक्षान् पुष्पं फलं यथा ।

तथा मूलं रसाः सर्वे तेभ्यो भावा व्यवहियताः ॥३८॥

—नाट्यशास्त्र, षष्ठ ३९

रस एवं भावों के स्वरूप तथा लक्षण का यह विवेचन पृष्ठपूर्ति मात्र के लिये नहीं हुआ है । अपितु इसका विरोध प्रयोजन है और वह यह है कि महिमभट्ट काव्य के अन्य तत्व वस्तु-अलङ्कारादि की तरह ही रस को भी अनुमेय मानते हैं । इसके लिये रस-निष्पत्ति की प्रक्रिया का अनुमान में अन्तर्भाव अत्यन्त आवश्यक है । रस-निष्पत्ति में अनुमान की प्रक्रिया भाव और रस के परस्पर के सम्बन्ध को लेकर ही बन सकती है, अन्यथा नहीं । अतः रस को अनुमेय सिद्ध करने से पूर्व रस एवं भाव में साध्यसाधनभाव-सम्बन्धित अनुमान की प्रक्रिया प्रदर्शित करने के पहले रस तथा भावों के वस्तुस्वरूप का निरूपण यहाँ किया गया है और भावों को रसनिष्पत्ति का साधक अर्थात् हेतु माना गया है ।

चतुर्थ-विमर्श

रस-विषयक विविधवाद

उपर्युक्त विवेचन में यह मिट्ट हो गया कि काव्य में रसविषयक विवेचन नाट्यशास्त्र की देन है। रस के स्वरूप का निबंघन करते हुए भरत मुनि ने पहली बात जो कही वह यह है कि विभाव, अनुभाव, एव व्यभिचारिभाव के मयोग में रस की निष्पत्ति होती है। भग्न-प्रांक्त रसमूत्र देखने में जितना मरल है उमरा अर्थ उतना ही जटिल है। इसमें 'मयोगान्' और 'निष्पत्ति' दो पद ऐसे प्रयुक्त हुए हैं जिनके अर्थ का स्पष्टीकरण नाट्यशास्त्र में नहीं हुआ है। इन्हीं दोनों पदों को लेकर भरत-मूत्र की विविध व्याख्यायें की गई हैं। मयोग पद सम्बन्ध-मात्रा का वाचक है। किन्तु विभावादि के सम्बन्ध तो अनेक प्रकार में सम्भव हैं। किस सम्बन्ध-विशेष में रस की निष्पत्ति होती है? यह विषय विवादास्पद हो गया है। दूसरा जटिल पद 'निष्पत्ति' है। इसका व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ है पूर्ण होना। विभावादि के मयोग में रस की निष्पत्ति होती है, इस वाक्य में प्रयुक्त निष्पत्ति पद के अनेक अर्थ हो सकते हैं—उत्पत्ति, व्युत्पत्ति, ज्ञप्ति, प्रतीति, भुक्ति, अभिव्यक्ति इत्यादि। निष्पत्ति के अर्थ का निश्चय भी संयोगात् के अर्थ में सम्भव है स्वतन्त्र नहीं। यदि संयोगात् का अर्थ कार्यकारण सम्बन्ध है तो निष्पत्ति का अर्थ उत्पत्ति ही हो सकता है, अन्य नहीं। वैसे तो नाट्यशास्त्र के दशाधिक टीकाकार हुए हैं और मने अपने अपने ढंग में इस वाक्य का अर्थ किया है, पर उनमें चार मुख्य हैं जिनका उल्लेख अभिनव-भारती एवं काव्य-प्रकाश में हुआ है। उन्होंने रसमूत्र की व्याख्या में स्वतन्त्र रूप में बाद विशेष का प्रतिपादन किया है जो निम्नलिखित हैं—

१. भट्ट लोल्लट का कृति या उत्पत्तिवाद।
२. श्रीसंकु का ज्ञप्ति या अनुमितिवाद।
३. भट्टनायक का भुक्तिवाद।
४. अभिनवगुण का अभिव्यक्तिवाद।

यद्यपि पण्डितराज जगन्नाथ ने रसगंगापर में रस-निष्पत्ति की एकादश प्रकार की व्याख्याओं का उल्लेख किया है किन्तु प्रकृत स्थल में अनुपयुक्त होने में उनका विवेचन नहीं किया जायगा। उन चार के अनिश्चित धर्मजय के भावनावाद का भी संक्षेप में निरूपण करेंगे।

१. भट्ट लोल्लट का कृतिवाद

अभिनवभारती के अनुसार भट्ट लोल्लट नाट्यशास्त्र के प्राचीनतम व्याख्याकार हैं जिनका उद्धरणमात्र हमें उपलब्ध है। सम्भवतः वह प्रसिद्ध मीमांसक आचार्य प्रभाकर के अनुयायी थे। अक्षरशास्त्र में दीर्घ-दीर्घतर द्वय-व्यापार के मधान दण्ड के एकमात्र अभिधास्यापार

की मान्यता का श्रेय इन्हे ही दिया जाता है। अनेक प्रमाणों से इनका समय प्रभाकर के बाद एव शुक से पूर्व (८०० से ८५० ईस्वी) का मध्य माना गया है।^१

रम-सूत्र की व्याख्या करते हुए भट्टलोल्लट कहते हैं कि पहले विभावादि का स्थायी भाव से संयोग होता है अनन्तर रम की निष्पत्ति। अतः विभाव चित्त की स्थायी वृत्ति रत्यादि की उत्पत्ति के कारण है। अनुभाव रम के जनक नहीं होते अतः उनकी गणना कारण के रूप में नहीं हो सकती। अनुभाव एव व्यभिचारिभाव भी यद्यपि चित्तवृत्त्यात्मक ही होते हैं, पर स्थायी नहीं होते। अतः स्थायिभावों के साथ भी इनकी गणना नहीं हो सकती। फिर भी भरत के रम-सूत्र में उनका उल्लेख इसलिए हुआ है कि वह रम प्रकरण में वासनात्मक रूप से विवक्षित होने हैं। जिम प्रकार व्यञ्जन आदि के प्रति, स्थायी वृत्ति वृभुक्षा के साथ-साथ तद्वत् सुगन्धि ग्रहण, जिह्वास्वाद आदि छोटी-मोटी अनेक वागनाएँ होनी रहती हैं वैसेही स्थायी भावों के साथ अनुभाव एव व्यभिचारिभाव भी सम्बद्ध होते हैं। अतएव स्थायी ही विभावानुभाव से उपचिन्तित होकर रम कहलाता है। अनुपचिन्तित अवस्था में वह स्थायिभाव ही रहता है। यह स्थायी मध्यवृत्ति से तो रामादि अनुभाव में ही होते हैं, किन्तु वाचानुसंग्यान एवं अभिनय आदि के प्रभाव से वह अनुवृत्त नट में भी प्रतीत होते हैं।^२ दण्डी प्रभृति चिरन्तन आचार्यों ने भी यही कहा है कि विविध रूप एव अभिनय का योग पानर रतिभाव ही शृङ्गार हो जाता है तथा पराकोटि का अधिरोहण कर कोप ही रोद रूप धारण कर लेता है।^३

भट्टलोल्लट की रस-सूत्र की इस व्याख्या का निष्कर्ष यह है कि विभाव रम के निमित्त कारण है, अनुभाव एव व्यभिचारिभाव सहनारी कारण तथा स्थायिभाव उपादान कारण है। इन सबके गुट जाने पर रसरूपी कार्य निष्पन्न हो जाता है। रम की उत्पत्ति का साक्षात् आश्रय

१. पौ० पौ० काणे—हिस्ट्री आफ़ संस्कृत पोपेटिबस (तृतीय संस्करण)।

२. अत्र भट्टलोल्लटप्रभृतयस्तावदेषं ध्यावत्युः—विभावादिभिः संयोगोऽर्थात् स्थायिनस्ततो रसनिष्पत्तिः। तत्र विभावरचित्तवृत्तेः स्थाय्यात्मिकाया उत्पत्तौ कारणम्। अनुभावाच्च न रसजन्या अत्र विवक्षिताः। तेषां रसकारणत्वेन गणनानर्हत्वात्। अपितु भावानामेव। (ते) येऽनुभावाः व्यभिचारिणश्च चित्तवृत्त्यात्मकत्वात् यद्यपि न सहभाविनः स्थायिना तथापि वासनात्मनेह तस्य विवक्षिताः। दृष्टान्तेऽपिव्यञ्जनादिमध्ये कस्यचिद्वासनात्मकता स्थायिवत्। अन्यस्योद्भूतना व्यभिचारिवत्। तेन स्थाय्येव विभावानुभावादिभिरेवचितो रसः स्थायी भवत्यनुपचिन्तितः। स चोभयोरपि। (मुख्यया वृत्त्या रामादी) अनुभावोऽनुवृत्तयपि चानुसंग्यानवत्त्वान्—इति। —अभिनयभारती, नटपदाष्टक, अध्याय ६, प० २७२ (बङ्गीदा)।

३. श्रावप्रोनिर्देशिता, सेयं रतिः शृङ्गारतो गता।

रपवाहृत्ययोगेन, तद्विदं रसपद्वचः ॥२८१॥

निगृह्य केरोत्वाहृत्य वृष्णा येनाग्रतो मम।

सोऽयं दुःशासनः पापो लघ्वः किं जीवति क्षणम् ॥२८२॥

इत्याहृष्ट परां कोटिं प्रोषो रोद्रात्मनां गतः।

भोगम्य पश्यतः शत्रुमिःपेतइसवद्वचः ॥२८३॥ —इच्छी, वाय्यावर्ग, द्वितीय परिच्छेद।

तो अनुकार्यं, रामादि हैं पर अभिनयादि से नट भी उसकी प्रतीति का आश्रय हो जाता है। किन्तु रम को अनुभूति का आश्रय तो सामाजिक ही होता है। इनके अनुसार रससूत्र का अर्थ यह होना है कि स्थायिभाव के साथ विभावादि के कार्य कारणभाव सम्बन्ध से रस की उत्पत्ति अर्थात् कृति होती है। जिस प्रकार सर्प के अभाव में भी सर्परूप में अवलोकित रस्सी से भय उत्पन्न हो जाता है उसी प्रकार सीताविषयक रामरति नट में न रहते हुए भी काव्य-नैपुण्य से उसमें स्थित सी प्रतीत होती हुई सहृदयों के हृदय में जिस चमत्कार का आधान करती है, वही रस है।

उत्तरकालीन प्रायः सभी व्याख्याकारों ने भट्टलोल्लट की रससूत्र की इस व्याख्या का खण्डन किया है तथा उसमें अनेक अनुपपत्तियाँ दिखाई हैं। सबसे पहले शंकर ने ही इनका खण्डन किया है। अनन्तर अभिनवगुप्त ने इनके मत का सागोपाग विशद विवेचन कर इनकी प्रत्येक मान्यता को निर्मूल सिद्ध कर दिया है। इनमें पहला दोष यह बताया गया है कि विभाव, अनुभाव, व्यभिचारी एवं स्थायीभावों का रस के साथ सहकारी एवं उपादानादि कारणभाव यथोक्त लक्षण के अनुसार बन नहीं सकता। अतएव रस को कार्य कहना सर्वथा असंगत है। अभिनवगुप्त ने रस के कार्य होने का खण्डन अभिनवभारती में ही किया है। उनका कहना है कि रस कार्य कदापि नहीं हो सकता। क्योंकि उसे कार्य मानने पर अव्यवहित पूर्व में नियत रहने से विभावादि को ही उसका कारण मानना पड़ेगा। लेकिन उनमें से कोई उपादान कारण इसलिए नहीं हो सकता कि वह तो कोई द्रव्य ही होता है। स्थायिभाव कोई द्रव्य नहीं। ये विभावादि असमवायि कारण भी नहीं हो सकते। क्योंकि वह तो कोई गुण ही होता है। विभावादि निस्सदिग्ध रूप से न द्रव्य हैं न गुण। फिर वह समवायि और असमवायि कारण कैसे हो सकते हैं? निमित्त कारण अवश्य हो सकते हैं। किन्तु विभावादि को निमित्त कारण मानने पर निमित्त कारण के विनाश होने पर भी एक बार उत्पन्न रस रूपी कार्य का विनाश उस कारण के विनाश से नहीं होसकता। घट का निर्माण हो जाने पर दण्ड, चक्र, चीवर तथा बुलाल के विनाश का उत्पन्न घट-कार्य पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इसी प्रकार एक बार विभावादि में रस की उत्पत्ति हो जाने पर विभावादि के अभाव में भी रम की सत्ता बनी रहती चाहिए। किन्तु रसनिष्पत्ति में ऐसा नहीं होता। रस को विभावादि जीवितावधि कहा गया है।^१ अतः विभावादि को रम का निमित्त कारण भी स्वीकार नहीं किया जा सकता। फलतः रम कार्य और विभावादि उसके कारण कदापि नहीं माने जा सकते।

भट्टलोल्लट के सिद्धान्त में दूसरा दोष यह कहा गया है कि रमोद्रेक के साक्षान् आश्रय रामादि अनुकार्य ही होते हैं। अधिक से अधिक शिक्षाम्प्राप्तादि वश वह नट तत्र में प्रतीत हो सकता है। यदि रमोत्पत्ति के आश्रय अनुकार्य एवं अनुकर्ता ही हैं तो सामाजिक—प्रेक्षक, श्रोता, पाठक को रमास्वाद कैसे होता है? इस सम्बन्ध में ध्यान देने की बात यह है कि लोल्लट के अभिप्राय को ठीक-ठीक न समझ कर ही, यह दोष दिया जाता है। अन्यथा रसनिष्पत्ति के सात

१. (क) अत एव विभावाद्यो न निष्पत्तिहेतवो रसस्य ! तद्विधापगमेऽपि रससंभवप्रसङ्गान् ।

—अभिनवभारती—नाट्यशास्त्र, पृष्ठ २०, पृ० २८५ ।

(ख) स च न कार्यः । विभावादिविनाशोऽपि तस्य संभव-प्रसङ्गात् ।

—मम्मट, वाच्यप्रकाश—चतुर्थोऽध्याय, पृ० १३ (पूना) ।

तो वास्तव में क्यातक के पात्र एव नट ही होने हैं। नट के अभिनय कार्य से ही अनुकार्य का सामाजिक के साथ साधारणीकरण होता है। यदि सामाजिक को ही निरपेक्ष रूप से रमनिष्पत्ति का आश्रय मानेंगे तो उसे रम की सर्वथा ही अनुभूति होती रहती चाहिए। साधारणीकरण का अर्थ सामाजिक का अनुकार्य के विभावादि के साथ एकीभाव है।

भट्टलोल्लट के ऊपर तीसरा जो बाधोप किया जाता है वह यह है कि लोल्लट रम-निष्पत्ति का अर्थ स्थायिभावों की उत्पत्ति मानते हैं। विभावादि कारण से स्थायिभाव की उत्पत्ति अर्थात् नूतन कृति होती है। जब रत्यादि स्थायिभाव होते ही नहीं तो उत्पन्न कहां से हो जाते हैं? इसी अनिप्राय से उनकी आलोचना की गई है। किन्तु अभिनवभारती के उद्धरण इनके सर्वथा विपरीत है। आचार्य मम्मट का यह कथन कि भट्टलोल्लट के मत से रत्यादि भाव उत्पन्न होने हैं, अभिनवभारती के इस उल्लेख से, कि स्थायी का विभावादि से संयोग होने पर रमनिष्पत्ति होती है, विरुद्ध है। यही नहीं स्थायी ही विभावादि के द्वारा उपचित होकर रस होते हैं, अनुपचिन अवस्था में वह स्थायी ही रहते हैं।^१

२. श्रीशंकरक का अनुमितिवाद

श्री शंकर सम्भवन न्याय-दर्शन के विद्वान् थे। इनके द्वारा कृत नाट्यशास्त्र की टीका यद्यपि उपलब्ध नहीं है फिर भी अभिनवभारती में स्थल-स्थल पर इनके मत का विस्तारपूर्वक उद्धरण दिया गया है। इन्होंने भट्टलोल्लट के सिद्धान्त का खण्डन किया है अतः ये उनके उत्तर-वालीन तथा भट्टनायक से पूर्ववर्ती हैं।

श्री शंकर भट्टलोल्लट की इन बात से सहमत नहीं हैं कि विभावादि के योग के बिना ही रत्यादि स्थायिभाव की सजा प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि विभावादि वह हेतु हैं जिनसे स्थायी की प्रतीति होती है। अतः हेतु के अभाव में हेतुमान् की अवस्थिति सम्भव कैसे हो सकती है? विभावादि के संयोग के पूर्व ही स्थायीरूप धारण कर लेने पर उनका पुनः रम होना सम्भव नहीं। यदि यह कहे कि रत्यादि की मन्द, मन्दतर या मन्दतम अवस्था की सजा स्थायी है, तथा रम उनकी प्रसर अवस्था है, तो एक तो आनन्द्य दोष पड़ेगा। दूसरे हास्य रस के भेदों का प्रतिषेध ही जायगा, नाथ ही काम की दप अवस्थाओं में अनरत्य रमभाव का अतिप्रसंग समुपस्थित होगा और शोक का पहले तीव्र होना तदनु मन्द ही जाना तथा क्रोध, उल्हाह, रति का अमर्ष, धर्म एव सेवा के अभाव में हान दिखार देना, यह सब विषय्यस्त हो जायगा। इसलिए विभावादि हेतुओं, अनुभावादि कारणों तथा व्यभिचारिभावोदि रूप सहकारी कारणों से प्रतीयमान स्थायिभाव

१. विभावादिभिः संयोगः अर्थात् स्थायिनः। तनोररमनिष्पत्तिः। स्थायो एव विभावाद्यनुभावादिभिरुपचितो रसः। स्थायी भवत्यनुपचितः।

अभिनवभारती—नाट्यशास्त्र प्र० खं०, पृ० २७२ (बड़ीदा)।

२. एतन्नेति श्रीशंकरः। विभावाद्ययोगे स्थायिनो लिङ्गाभावेनावगतनुपपत्तेर्भावानां पूर्वविधि-धेयनाप्रसङ्गान् स्थितदशायां लक्षणान्तरवैयर्थ्यात् मन्दतरतममाध्यस्थ्याद्यानन्त्यापत्तेः, हास्य-रसे षोडशत्वानाकप्रपत्तेः, कामावस्थासु दशत्वसंख्यरसभावादिप्रसङ्गात्, शोकस्य प्रथमं तीव्रत्वं कालात्तदनुमान्यदर्शनं शोथोत्साहृत्तीनाममर्षस्यैवंसेवाधिपर्मणे ह्यासदशान्तिमिति विपर्ययस्यदृश्यमानत्वाच्च।—अभिनवभारती, ना० शा०, प्र० खं०, पृ० २७२ (बड़ीदा)।

अनुकार्य गमादि के रत्नादि भावों के अनुकरणरूप ही होते हैं । प्रपन्न में अर्जित वृत्तिम विनावादि के द्वारा लिङ्गलिङ्गीभाव में प्रतीयमान स्याधिभाव का ही अनुकरणरूप होने में एक निम्न नाम रम हो जाता है ।^१

श्रीशंभुक के अनुसार विभावादि के द्वारा अनुमाप्यानुमापकभाव मन्वन्ध में रम की अनुमिति होती है । उनका कहना है कि—मानाजिक मन्धक्, मिथ्या, मंशय तथा मादुर में विलक्षण चिद्रनुगन्धाय में अनुकूल नट को ही रत्नादि ममज्ञ लेता है, और नट के द्वारा प्रक-
मित वृत्तिम कार्यकारण महकारि रूप विभावादि में रत्नादि स्यादी के रूप में सम्भाव्यमान रम का अनुमान होता है । यह स्याधिभाव वस्तुतः नट में नहीं रहते बल्कि सानाजिकों की वामना में उनका स्वात्मव आम्वाद होता है । यह अनुमान अन्य शास्त्रीय अनुमानों में विलक्षण इसलिए होता है कि अन्य अनुमानों को अनुमेय के गूणों का आम्वाद नहीं होता । यहाँ बाध्य में नट नैतुष्य कथवा वस्तु मोंदप्रदलात् अनुमात्रा मानाजिक को पक्ष नट में अनुमीयमान रगादि का वामनात्मव आम्वाद होता है । रत्नादि स्याधिभाव मूलतः तो अनुकार्य में ही रहते हैं । किन्तु अनुकरण होने में ही उनकी रम मज्ञा होती है । वहाँ अनुमान का स्वरूप निम्न प्रकार में होता है—गमोऽय मीनादिपत्रवर्तिमान्, नद्विपत्रवृत्ताक्षादिमत्त्वात् । य. एव विद्यः वटाछादि-
मान् न भवति न रतिमान् न भवति यथा ब्रह्म् । ' इम प्रकार की व्यतिरेक-ध्याप्ति में र-
निष्पत्ति में अनुमान की प्रक्रिया बन जाती है । श्रीशंभुक के मत का निर्गमित अर्थ यह है कि जिस प्रकार कृत्रा ध्याप्त प्रदेश में घूम की मिथ्याप्रतीति में वहाँ अविद्यमान भी वक्षि का अनुमान हो जाता है उसी प्रकार नट के द्वारा प्रवाहित विभावादि हेतु में उसने अविद्यमान भी रति का मानाजिकों को जो आम्वाद होता है वह अनुमिति ही है ।^२

श्री शंभुक के मत में भी अनेक दोष दिखाये गये हैं । यह सिद्धान्त विभावादि और रम के अनुमाप्यानुमापकभाव मन्वन्ध पर आधारित है जिसका आधार ध्याप्ति ही यहाँ नहीं बनती । क्योंकि बर्नी-बर्नी विभावादि की उपस्थिति में भी अतीक्षित के योग में रमानुमृति नहीं होती । दूसरा दोष यह है कि रमानुमृति का पक्ष है नट और जैसे पक्ष पक्ष पर अनुमित अग्नि, अनुमात्रा को जला नहीं सकता उसी प्रकार नट पक्ष में अनुमित रत्नादि, मानाजिक को रम का आम्वाद किस प्रकार कर सकते हैं ? रम के अन्तानुमीयमानविलक्षण होने में कोई प्रमाण नहीं ।

३. नट्टनायक का भुक्तिवाद

नट्टनायक माग्य दार्शनिक थे । उन्होंने अपने पूर्व के वृत्ति, ज्ञप्ति और व्यञ्जि तीनों वादों का खण्डन किया है तथा यह भी बताया है कि रम के आश्रय न अनुकार्य गमादि है न अनुकर्ता नट । मानाजिक में भी रम की उत्पत्ति, प्रतीति एक अविद्यकित नहीं होती अस्तित्व नृष्टि

१. तस्माद्धेतुमिविभावादिः कार्यैश्चानुमापकभाविः महकारिरूपेणैव व्यभिचारिणः प्रपन्ना-
जिततया वृत्तिमैरपि तयातन्निमग्नमानैरनुकूलं कथ्यते सिद्धत्वात्तः प्रतीयमानः स्यादी भावो
मृत्पराभादिगतस्याप्यनुकरणरूपः । अनुकरणरूपत्वादेव च नामान्दरेण व्यभिचरितो रमः ।

—अनित्यवनागती, नाट्यशास्त्र, प्रथम खंड, पृ. २७२ (बड़ौदा) ।

२. बाध्यवचान, बालबोधिनी टीका, अनुषं उल्लाम, पृ. ८८ (पुना) ।

ही होती है। भट्टनायक ने रस-निष्पत्ति के प्रसंग में अभिधा के समान ही भावकत्व एवं भोजकत्व दो अन्य व्यापारों की कल्पना की है। उनका कहना है कि काव्यार्थ-योग के अनन्तर ही भावकत्वव्यापार से अनुकार्य और नदगन विभावादि का साधारणीकरण हो जाता है तथा ये विभावादि, सामान्य नायक नायिकागत प्रतीत होने लगते हैं। भोजकत्वव्यापार में सामाजिक में अविद्यमान भी रत्यादि या आस्वाद होने लगता है। यह आम्वाद ही, रस-निष्पत्ति है। इनके अनुसार भरतमुन का अर्थ यह होता है कि विभावादि के भोग्यभोजकभावसम्बन्ध में रस की भुक्ति होती है। इसीलिए इनका मत भुक्तिवाद है। अभिनवगुप्त में इनके मत में भी दोष दिखाये हैं। व्यापार-द्वय की मान्यता को मुख्य दोष बताया है। दूसरा दोष अगत्य रत्यादि की रसमयता में है। इसके साथ ही भावकत्वरूप साधारणीकरण नामक एक विलक्षण मिथ्यात्व के प्रतिपादन का श्रेय भी इन्हीं को दिया गया है।

४. अभिनवगुप्त का अभिव्यक्तिवाद

नाट्यशास्त्र के सदाकन व्याख्याकार, प्रसिद्ध शंकाचार्य महामहिम, अभिनवगुप्त ने नाट्यशास्त्र पर 'अभिनवभारती' नाम की टीका लिखी है। इनमें उन्होंने अपने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों के रसविषयक मतमतान्वरो को विस्तारपूर्वक निरूपण कर उनकी समीक्षा करने हुए अपना मत उपस्थापित किया है। अभिनवगुप्त आनन्दवर्धन के ममथक व्यञ्जनावादी आचार्य थे। इन्होंने आनन्दवर्धन की सरणि पर ही रस की व्यञ्जनापरक व्याख्या की है। इनके अनुसार भरतमुन का यही अर्थ है कि विभावादि के व्यङ्ग्यव्यञ्जनभावसम्बन्ध में रस की अभिव्यक्ति होती है। इसका अर्थ है कि लौकिक कारण नायिका आदि के द्वारा रत्यादि भावों के रसायी होने की प्रतीति सर्वनामान्य को है। वह रत्यादि भाव मनोरिक्तार हैं जो सामाजिक के अन्तःकरण में वाननात्मक रूप में निरन्तर बने रहते हैं। उनकी अभिव्यक्ति या तो लोक में उपयुक्त कारण के मन्त्रिर्ष से होती है अथवा काव्य में लौकिक कारणों के विभावादि रूप में परिचित होकर उनके साधारणीकरण में होती है। रत्यादि भावों का साधारणीकरण भी व्यञ्जनाव्यापार में ही हो जाता है। इस प्रकार साधारणीकृत विभावादि में व्यञ्जित रत्यादि की चर्चणा ही रस है। यह चर्चणा, अनुभूति की मार्बभौम भावना में प्रभावित होती है जो प्रेक्षक को वैधान्तर-स्पर्शानुभूत कर देती है। यह अनुभूति न निर्विकल्पक होती है न मवितल्पक, न स्वार्थ होती है न ज्ञाप्य, अतएव अलौकिक नहीं जाती है।^१

भट्टनायक से अभिनवगुप्त के मिथ्यात्व का भेद इसमें ही है कि भट्टनायक अभिधा के अनिश्चित भावकत्व, भोजकत्व नामक दो और व्यापार मानते हैं और अभिनवगुप्त केवल व्यञ्जनाव्यापार। भट्टनायक के मत से जिन रसि वा आम्वाद होता है वह मग्य नहीं होती। अभिनवगुप्त रसि को वानता रूप में निरन्तर अवस्थित मानते हैं। अतएव भट्टनायक रस की भोग कहते हैं और अभिनवगुप्त के मत में रस, व्यङ्ग्य होता है।

१. अतएव विभावादयो न निरूपतिहेतवो रसस्य । तद्व्योधापगमेऽपि रसमभवप्रसङ्गात् । नापि जल्पितहेतवो येन प्रमाणमप्ये वनेयुः । सिद्धस्य स्वयंचितप्रमेयभूतस्य रसस्याभयान् । कित्वाह एतद्वि विभावादप इति । अलौकिक एवाप्यं चर्चणोपयोगी विभावादिस्वरहातः । स्वाग्यप्रेत्यं दृष्टमिति चेदं भूयसेतदस्माकमलौकिकत्वसिद्धौ।—अभिनवभारती, पृ० २८५।

५. घनञ्जय का भावनावाद

घनञ्जय ने भी अपनी वृत्ति दशरूपक में रस-निष्पत्ति का विवेचन किया है। इनके अनु-
सार विभावादि, रत्यादि स्थायिभावों के उद्बोधक अर्थात् भावक होते हैं। और भाष्यभावक
मन्वन्वय में सामाजिक को रस की भावना होती है^१। रत्यादि भाव इसलिए स्थायी बड़े गये
हैं कि उनका उच्छेद अनुगोपी या विरोधी विभी भी भाव में नहीं होता। वही स्थायी विभावादि-
भावों के भाष्य-भावक-भाव मन्वन्वय में जब सामाजिकों की भावना के विषय होते हैं तो
रस बड़े जाते हैं।^२

भरत के रसमूल पर आधारित रस के विविध वादों का विवेचन यहाँ अत्यन्त ही
सक्षेप में हुआ है क्योंकि हमें मुख्य रूप में महिमनट्ट इन रसविषयक विवेचन का
ही निरूपण विम्बानुपूर्वक करना अभीष्ट है। यहाँ इन विविध मतों का उल्लेख इसलिए आवश्यक
था कि इनके बिना महिमनट्ट के रस-विवेचन की विशेषता का ज्ञान नहीं होता।

१. अतो न रसादीनां काव्येन सह व्यङ्ग्य व्यञ्जकभावः। किं तर्हि भाष्यभावकमन्वन्वयः।
काव्यं हि भावकं, भाष्या रसादयः। ते हि स्वतो भवन्त एव भावकेषु विनिष्पत्-
तिभावादिमता काव्येन भाष्यन्ते। —दशरूपक (अवलोक) पृ० २४३ (बी०)।

२. विरट्टैरविरट्टैर्वा भार्गवविच्छिद्ये न यः।

आत्मभार्षनेमन्वन्वयान् स स्थायी स्वभावकः॥

—दशरूपक वा० ४।३४।

पंचम-विमर्श

महिमभट्ट का रस-विवेचन

रसनिष्पत्ति के विषय में महिमभट्ट श्रीशंकर के समर्थक हैं। इनके काव्यानुमिति पक्ष की परिपुष्टि श्रीशंकर की रसानुमितिवाद से ही सम्भव थी। सस्कृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में श्रीशंकर के अनन्तर एवमात्र महिमभट्ट ही ऐसे आचार्य हुए हैं जिन्होंने रस की अनुमेय कहा है। अभिनवगुप्त ने श्रीशंकर के रसानुमिति पक्ष का खण्डन नाट्यशास्त्र की व्याख्या अभिनवभारती में किया है और ध्वनिकार की मरणि पर रस को व्यञ्जन मानते हुए, युक्ति एवं तर्कों से उसकी परिपुष्टि की है। इस प्रकार महिमभट्ट के समझ किनी नये वाद की स्थापना का प्रश्न नहीं था अपितु श्रीशंकर के रसानुमितिवाद के विरुद्ध उठाई गई विप्रतिपत्तियों का समाधान नये ढंग से करना ही उनके लिए परम आवश्यक था और यही उन्होंने किया भी है। दूसरी बात यह कि उनका काव्यानुमिति का सिद्धान्त अपरिपुष्ट एवं अधूरा ही रह जाता यदि वह रसनिष्पत्ति में अनुमान की प्रक्रिया ठीक-ठीक बैठा न देते। यह कार्य अत्यन्त दुष्कर इसलिए था कि उन दिनों साहित्य एवं साहित्यिकों के ऊपर ध्वनि का सिद्धान्त पूर्णरूप से व्याप्त था। अभिनवगुप्त के प्रबल समर्थन से उसका इतना प्रचार हो रहा था कि ध्वनिविरोधी की बात सुनी ही नहीं जाती थी। इसीलिए महिमभट्ट ने केवल व्यञ्जना या रस का विवेचन न कर समूचे ध्वनि-सिद्धान्त का समूलोन्मूलन करने का बीड़ा उठाया, और व्यक्तिविवेक ग्रंथ की रचना की। अपनी वृत्ति में सबसे पहले व्यञ्जना नामक शब्दशक्ति का खण्डन कर उन्होंने ध्वनि-सिद्धान्त को पादहीन कर दिया। अनन्तर उसे निष्प्राण एवं चेतनाहीन करने के लिए रसाभिव्यक्ति पक्ष का भी खण्डन करना उचित समझा। प्रकृत विमर्श में रत्यादि की विभावादि के साथ युगपत् प्रतीति की शक्ति का परिहार करते हुए व्यक्तिविवेककार ने रसध्वनि की परार्थानुमानरूपता का निरूपण किया है और यह स्पष्ट कर दिया है कि रसादि व्यंग्य नहीं अपितु अनुमेय ही होते हैं। इसी प्रसंग में उन्होंने नाट्यशास्त्र से उद्धरण लेकर विभावादि के स्वरूप का स्फुटतया प्रतिपादन करते हुए उनमें सम्भावित हेतुत्व की शक्ति का निराकरण किया है और बताया है कि कृत्रिम विभावादि से अत्यन्तून रत्यादि की प्रतीति का परामर्श ही रसास्वाद है।

(क) रत्यादि की विभावादि के साथ युगपत्प्रतीति की शक्ति का परिहार

व्यक्तिविवेककार ने व्यञ्जना का अनुमान में जो अन्तर्भाव निहित किया है उसका मुख्य आधार व्यंग्य एवं व्यञ्जक में अन्तर्निहित साध्यभावभाव का परामर्श है। वस्तु एवं अलंकार-ध्वनि के स्थलों में व्यंग्य की प्रतीति में क्रम के सुतरां लक्षित होने से वहाँ साध्यभावभाव के परामर्श में किनी भी प्रकार की बाधा उपस्थित नहीं होनी। रसध्वनि के स्थल में शक्ति की सम्भावना इसलिए है कि वहाँ प्रतीयमान रस की प्रतीति में क्रम लक्षित नहीं होता। ध्वनिकार का कहना है कि वहाँ पर भी कार्यकारणमूलक साध्यसाधनभाव ही काम करता है, यह

मिद्ध हो जाने पर रम की अनुमेयता स्वतः मिद्ध हो जायेगी। इस सम्बन्ध में उनकी मान्यता यह है कि विभावादि एव रत्यादि स्याद्विभावो मे गम्यगमकभाव सम्बन्ध है। विभावादि स्याद्विभावो के गमक माने गये हैं। उनसे गम्य रत्यादि ही रम के रूप में प्रतीत होकर महदय के हृदय में चमत्कार का आधान करते हैं।

ध्वनिवादी आचार्यों की मान्यता है कि विभावादि से वाक्यार्थ के समकाल ही रत्यादि स्याद्विभावा की प्रतीति होने लगती है। उनके बीच कार्यकारण भाव जैसा कोई सम्बन्ध नहीं होता, न ही ही मक्ता है। क्योंकि उनके बीच कार्यकारण आदि का स्मरण होता तो रत्यादि की प्रतीति में प्रतिबन्धक होता और तत्तृत्तपीर्वापर्यंरूप व्यवधान का ज्ञान हमें अवश्य होता, तथा इस प्रकार रम प्रतीति में भी बिघ्न हो जाता। अतः विभावादि रम के माय कार्यकारणभाव में नहीं अपितु प्रकाश्यप्रकाशकभाव में व्यवस्थित होने हैं। कोई भी प्रकाशक अपने प्रकाशनव्यापार के समय सम्बन्ध-स्मरण आदि की व्यनेक्षा नहीं रखता।^१ अतः रत्यादि की प्रतीति ही रम की प्रतीति है, और ध्वन्यव्यञ्जकभाव मुख्यवृत्ति से ही सम्पन्न होता है। बहने का आशय यह है कि जिस प्रकार कुम्भकार एव प्रदीप दोनों ही घट के आविर्भावक हैं, मामशीभेद में एक जनक है दूसरा प्रकाशक है, ठीक उसी प्रकार अभिधा एव व्यञ्जना दोनों ही रम के आविर्भावक हैं। अतः रमाभिव्यक्ति के विषय में दोनों का एक माय काम करना मुख्यवृत्ति से ही स्वीकार्य है। इस प्रकार दोनों को रम का आविर्भावक मानने में कोई बाधा नहीं।

इसलिए प्रदीप एव घटादि के समान ही रत्यादि तथा विभावादि में गम्यगमकभाव की मान्यता उपयुक्त ही है। स्वयं ध्वनिकार ने लक्षणा एवं व्यञ्जना के परस्पर के भेद का निरूपण करते हुए कहा है कि—व्यञ्जकत्व मार्ग में तो जब कि अर्थ अर्थान्तर को चोत्तित करता है तो प्रदीप के समान अपने स्वरूप का प्रकाशन करना हुआ ही वह अन्य का प्रकाशन करता है। बहने का आशय यह है कि जहाँ पर लक्षणात्मक व्यापार की प्रवृत्ति होती है और एक पदार्थ पदार्थान्तर को उपलक्षित करता है तो वहाँ उपलक्षक अर्थ अपने को उपलक्षणीय अर्थ के रूप में परिणत कर देता है। वह अपने को वैसा ही बना लेता है। वहाँ पर दोनों में बान्धविक भेद नहीं रह जाता। व्यञ्जकत्व मार्ग में व्यञ्जना की प्रवृत्ति होने पर जब एक अर्थ दूसरे को चोत्तित करता है तो अर्थ स्वयं को प्रकाशित करना हुआ ही स्वातिरिक्त अन्य अर्थ का प्रकाशन उसी प्रकार करता है जिन प्रकार प्रदीप घट का। प्रदीप ही पूर्ववत् स्वयं घट नहीं हो जाता। अपने स्वरूप को प्रकाशित करते हुए दूसरे को प्रकाशित करना ही व्यञ्जकत्व का लक्षण है। अनन्य व्यञ्जना में प्रकाश्य एवं प्रकाशक की भिन्नता होती है और लक्षणा में दोनों की एवता। यही व्यञ्जना में लक्षणा के भेद का हेतु है। उदाहरणतः—

‘लौलाकमलपत्राणि गणयामासु पार्वती’

मे पार्वती के लौलाकमल पत्र की गणना करने में आकार-गोचरनात्मक अवहित्या नामक भाव

१. ननु विभावादिवाक्यार्थसमकालमेव रत्यादीनां भावानां प्रतीतिरप्यजायमाना सधरेवावधार्यते।

न तु तत्रान्तरा सम्बन्धस्मरणादिविघ्नव्यवधानमंशितः काचित्।

व्यग्न होता है। यहाँ पर लीलापत्र-परिणाम स्वय को प्रकाशित करना हुआ ही अवहित्वा भाव को प्रकाशित करना है।^१

वाच्यार्थ से व्यग्यार्थ की प्रतीति पदार्थ में वाच्यार्थ की प्रतीति के सिद्धान्त के अनुसार नहीं होती अपितु प्रदीप से घट की प्रतीति के समान ही होती है। जिस प्रकार घटादि अभिमत पदार्थ का ज्ञान हो जाने पर भी प्रदीप का प्रकाश निवृत्त नहीं हो जाता अपितु उसके साथ स्वय भी प्रकाशित होता रहता है। उसी प्रकार व्यग्न के अवबोध के समय भी वाच्य का ज्ञान होता रहता है। अर्थात् वाच्य और व्यग्न दोनों का प्रकाश अविनाभावमन्वय में होता है। अविनाभाव का अर्थ यहाँ सम्बन्धभाव है ध्यायित नहीं। इसका स्पष्टीकरण अभिनवगण ने कथित एव मम्मट ने काव्यप्रकाश में किया है। इस प्रकार व्यग्नञ्जकभाव घटप्रदीपभाव में ही सम्पन्न होता है। फलतः उनके बीच क्रम मानने की कोई आवश्यकता नहीं।

इसका उलटन करते हुए व्यक्ति-विवेककार कहते हैं कि वाच्य एव प्रतीपमान अर्थों की प्रतीति क्रमपूर्वक ही होती है समकाल नहीं। जहाँ तक इनके सम्बन्धमकभावमन्वय का प्रश्न है उनके विषय में स्वय ध्वनिकार ने वाच्य एव व्यग्न के स्वरूप के निरूपण करने की कामना से कहा है कि—विभावानुभावव्यभिचारिभाव ही सन् है ऐसा जो किन्हीं प्राचीनों का मन है वह ठीक नहीं। अपितु रसादि की प्रतीति विभावादि के द्वारा अविनाभाव रूप से होती है। विभावादि और रसादि दोनों की प्रतीति में कार्यकारणभाव होने से उनके बीच क्रम अवश्य-भावी है। किन्तु लाघव के कारण वह लक्षित नहीं होता। उन्हींके रसादि को अलक्ष्यकम होंते हुए व्यग्न कहा गया है।^२ यहाँ नहीं, ध्वनिकार ने तो यहाँ तक स्वीकार किया है कि गद्यार्थ-बोध के समान ही वाच्य व्यग्न की प्रतीति में भी कार्यकारणभाव के होने से क्रम निश्चय होता है। उपर्युक्त मुक्ति के अनुसार वह क्रम कहीं—बन्धनकार स्वयि के स्थलों में लक्षित होता है तो कहीं स्वयनिक के स्थल में लक्षित नहीं होता। इस प्रकार स्वय ध्वनिकार के अनुसार ही वाच्य और प्रतीपमान की प्रतीति के समकाल में होने का निषेध हो जाता है। उनलिये घटप्रदीप

१. रसादिप्रतीतिरेव रसादिप्रतीतिरिति मुख्यवृत्त्यं व्यङ्ग्यञ्जकभावान्मुपगमः। तत्र प्रदीप-घटादिवहुपक्षो गम्यगमकभावः। यत् स एवाह—‘व्यञ्जकत्वमार्गं तु यद्यर्थोऽर्थान्तरं द्योतयति तदा स्वरूपं प्रकाशयन्नेवासावन्वस्य प्रकाशकः प्रतीयते प्रदीपवद्। यथा—‘लौलात्मलपत्राणि गणयामास पार्वती’ इत्यादी’ इति। —व्यक्तिविवेक, पृ० ६०-६१।

२. पुनः स एवाह—‘नहि व्यङ्ग्ये प्रतीपमाने वाच्यबुद्धिर्दीर्घावति। वाच्याविनाभावेन तस्य प्रकाशान्। तस्माद् घटप्रदीपन्यायस्तयोः। ययैव हि प्रदीपद्वारेण घटप्रतीकावृत्पत्रायं न प्रदीपप्रकाशो निवर्तते तद्वद्व्यङ्ग्यप्रतीती वाच्यावभास’ इति।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ६१-६२।

३. उच्यते। वाच्यप्रतीपमानयोरर्थयोर्यथा क्रमेणैव प्रतीतिर्न समकालं यथा चानयोरगम्यगमकभावः तथा तेनैव व्यक्तित्वादिना तयोः स्वरूपं निरूपयितुकामेतात्प्युक्तं, तदेवास्माभिः समाधिस्तुनिरिह लिख्यते परम्। तद्यथा—‘न हि विभावानुभावव्यभिचारिण एव रसा इति कस्यचिदवगमः। अत एव विभावादिप्रतीत्यविनाभाविनी रसादीनां प्रतीतिरिति तत्प्रतीत्योः कार्यकारणभावेनावस्थानात् क्रमोऽवश्यम्भावी। स तु लाघवान्न लक्ष्यत इत्यलक्ष्यकना एव सन्नो व्यङ्ग्यो रसाद्य इत्युक्तम्’ इति।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ६३।

के समान व्यंग्य और व्यंजक की प्रतीति का जो उपन्यास हुआ है वह ध्वनिवार की स्वयं की उक्ति में अन्तर्विरोध है।

(ख) रस-ध्वनि की परार्थानुमानरूपता

इस प्रकार उक्त ब्रह्म में विभावादि एव रस की प्रतीति के बीच ब्रह्म मिट्ट ही जाने में वाच्य और प्रतीयमान में ध्वनिवार के द्वारा भी निमित्तनिमित्तिभाव स्वीकार कर लेने से रस-ध्वनि का भी पूर्ववत् वस्तु एव अङ्कार ध्वनियों के समान अनुमान में अन्तर्भाव सुतरां सम्बन्धित हो जाता है। इसलिये भी ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव होना है कि ध्वनि की अपेक्षा अनुमान महाविषय है। इसकी महाविषयता अर्थात् व्यापकता इसलिये है कि ध्वनि में व्यतिरिक्त पञ्चो-योक्ति एव गुणीभूतव्यंग्य आदि वाच्य के सभी लक्षणों में अनुमान बन जाता है। बचन व्यापार-पूर्वक होने में इसे परार्थानुमान ही समझना चाहिए। क्योंकि इसमें विरूप रित्त व्यंजक से ही लिंगो व्यंग्य का अवधारण होता है। इस प्रकार उक्त नय में ध्वनि का अनुमान में अन्तर्भाव सुतरां मिट्ट हो जाने में ध्वनि की मान्यता में केवल वही विश्वास कर सकते हैं जो विचक्षण नहीं है तथा अनुमान की प्रक्रिया नहीं जानते।^१

इसपर यह प्रश्न ही भवता है कि यदि सभी वाक्यार्थ साध्यसाधनभावगन्धित होते हैं, तो वाच्य में साध्यसाधनभाव तथा व्याप्ति-प्रतिपादक दृष्टान्त का नियम पूर्वक उपादान होना चाहिए। क्योंकि अनुमान में व्याप्ति की मिट्टि में प्रमाण के लिये दृष्टान्त की निरन्तर अपेक्षा होती है अन्यथा व्याप्तिसाधक प्रमाण के विषय में दृष्टान्त के अभाव में व्याप्ति ही नहीं बनेगी तन्मूलक अनुमान का होना तो दूर की बात है। इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि वाच्य के सम्बन्ध में यह बचन ठीक नहीं कि व्याप्तिसाधक दृष्टान्त के बिना वहाँ अनुमिति नहीं हो सकती। क्योंकि वाच्य में साधन अर्थात् हेतु के उपादान से ही साध्य की प्रतीति हो जाती है। वहाँ ऐसे ही साधन का प्रयोग होता है जो व्याप्तिग्रहण के बिना ही साध्य की प्रतीति कराने में अत्यन्त पुष्ट एव मर्मयं हो। ग्रंथकार का कहना है कि यह बात बपोलकत्वनामाना नहीं है अपिनु प्राचीन विद्वानों ने भी यही कहा है कि साध्यहेतुभाव के सामर्थ्य को न पहचानने वाले किञ्चित् व्यक्ति के लिये ही व्याप्ति में दृष्टान्त की आवश्यकता होती है। विद्वानों के लिये तो केवल साध्यहेतु का बचन ही पर्याप्त है। दृष्टान्त के बिना भी केवल हेतुमात्र से उसके सामर्थ्य वरा साध्य की प्रतीति सहृदय-हृदय को स्वतः ही जाती है।^२

१. तदेवं वाच्यप्रतीयमानयोर्वक्ष्यमाणरमेण लिङ्गलिङ्गभावस्यत्तमर्षणान् सर्वस्यैव ध्वनेरनुमानान्तर्भावः सम्बन्धितो भवति तस्य च तदपेक्षया महाविषयत्वात् । महाविषयत्वं चास्य ध्वनियतिरिक्तेरपि विषये पर्यायोक्तादौ गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रादौ च सर्वत्र सम्भवत् । तच्च बचनव्यापारपूर्वकत्वात् परार्थमित्यवगन्तव्यम् । त्रिरूपलिङ्गाख्यानं परार्थमनुमानमिति केवलमुक्तवचनानभिज्ञतया तत्र लक्षणव्यतिरिक्तलोकाः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ६३-६४।

२. अथ यदि सर्व एव वाक्यार्थः साध्यसाधनभावगर्भ इत्युच्यते । तदापि साध्यसाधनयोस्तत्र नियमिनोपादानं तथा दृष्टान्तस्यापि स्यात् तस्यापि व्याप्तिसाधनप्रमाणविषयन्यावश्यापेक्षणीयत्वात् । न । प्रसिद्धसामर्थ्यस्य साधनस्योपादानादेव तदपेक्षया प्रतिशेषान् । तदुक्तम्—

तद्भावहेतुभावो हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।

स्याप्येते विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० ६४-६५।

पूर्वपक्ष की ओर से इम पर पुनः प्रश्न होता है कि रत्यादि तो सुखादि की विशेष अवस्था होने से अङ्ग है। इनसे काव्य में सचेतन चमत्कारकारी सुख का आस्वाद कैसे सम्भव है ? और भी जो सुखास्वाद, रसादि में विद्यमान व्यंग्यव्यञ्जकभावरूप लक्षणा का फल माना जाता है, रसों के अनुमेय हो से वह कैसे सम्भव हो सकता ? क्योंकि लोक में कल्प शोकादि हेतु से अनुमीयमान शोकादि से, अनुमाना व्यक्ति को सुख की रंजनात्र भी अनुभूति नहीं होती। इसके विपरीत विरक्त महात्माओं को भी इनसे भय, शोक, कष्टना, दौर्मनस्य, चित्त की विकलता आदि का ही अनुभव होता है। लोक में काव्य में कोई ऐमा अतिशय्य नहीं दीखता जिमसे काव्य में ही अनुमान के द्वारा यह सुखास्वाद सम्भव होना हो, लोक में नहीं। लौकिक कार्यकारण सहकारी भाव ही काव्य में विभावानुभावव्यभिचारिभाव से गमक होने हैं और वे ही मानसिक अवस्था-विशेष लौकिक रत्यादिभाव, गम्य होते हैं। फिर काव्य में कौन-सी ऐसी विशेषता है जिससे वही पर रसास्वाद होता है लोक में नहीं ? इस प्रकार उक्त रीति से प्रयोजनरूप अश के अभाव में रत्यादि भावों में व्यंग्यत्व का उपचार अर्थात् रसादि-व्यंग्य है इस प्रकार के औपचारिक प्रयोग की उपपत्ति नहीं बनती।^१

इसका समाधान करते हुए ग्रन्थकार कहते हैं कि जहाँ पर विभावानुभावव्यभिचारि-भावों के द्वारा रत्यादि स्थायि-भावों का बोध होता है वहीं पर अर्थात् केवल काव्य में ही रसास्वाद का उदय हो सकता है। वह भी एकमात्र सहृदयसवेद्य होता है। यह वस्तु वा अपना स्वभाव है। वस्तु-स्वभाव शास्त्रीय प्रमाण या तर्कों के द्वारा खण्डन मण्डन वा विषय नहीं हो सकता। इसी अभिप्राय से भरत ने रससूत्र की रचना की है कि विभावानुभावव्यभिचारि के सयोग से रस-निष्पत्ति होती है जिसका अभिप्राय यह है कि कवि के द्वारा वर्ण्यमान विभावादि से ही रस का निष्पत्ति सम्भव है, लौकिक हेतवादि से नहीं। यदि उनसे भी रसकी उत्पत्ति सम्भव हो तो रस-सूत्र में विभावादि पद का व्यर्थ प्रयोग कदापि नहीं होता।^२

कहने का आशय यह है कि रत्यादि भावों की अनुभूति दो प्रकार से सम्भव है: प्रथम—लोक में प्रत्यक्षीकृत कार्य कारण सहकारी से, द्वितीय—काव्य में वर्णित विभावानुभावव्यभिचारी से। किन्तु लोक में साक्षात्कृत कार्यकारण आदि से रसास्वाद नहीं होता। केवल काव्य में

१. ननु कुतोऽयं रत्यादीनां सुखाद्यवस्थाविशेषाणां काव्यादौ सचेतनचमत्कारी सुखास्वाद-सम्भवः, यो रसादीनामनुमेयानां व्यञ्जयत्वोपचारस्य प्रयोजनांशतया कल्प्यते । न हि लोके लिङ्गतः शोकादिवचनमीयमानेष्वनुमातुः सुखास्वादलवोऽपि लभ्यते । प्रत्युत साधनामुदासीनानामपि वा भयशोकदौर्मनस्यादिदुःखमसमनुपजायमानमवधार्यते । न च लोकेतः काव्यादौ कश्चिदतिशयः येनासौ तत्रैवोपगम्येत, न लोके । त एव हि लौकिका विभावाद्यो हेतुकार्य-सहकारिरूपा गमकाः । त एव च रत्यादयोऽवस्थाविशेषरूपा भावा गम्याः । तत् कोऽतिशयः काव्यादौ, यत् तत्रैव रसास्वादी न लोक इति प्रयोजनांशासम्भवाद् व्यञ्जयत्वोपचारोऽनुपपन्न एव ।
—व्यक्तिविवेक, पृ० ६५-६६ ।

२. उच्यते । यत्र विभावादिमुखेन भावानामवगमस्तत्रैव सहृदयैकसंवेद्यो रसास्वादोदयइति, वस्तुस्वभाव एवायं न पर्यनुयोगपदबीजवत्तरति प्रामाणिकानाम् । यदाह भरतः 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति ।

वर्णित विभावादि से ही सम्भव होता है। क्योंकि रत्यादिबन्तु का यही स्वभाव है कि लोक में माझात्प्रत्यय से उनमें तत्तद् मूल-शु धर्माहादि की ही अनुभूति होती है। काव्य में उन सबके एकमात्र मुख्यान्वाद ही होता है। काव्य में रत्यादि भावों में एकमात्र मुख्यान्वाद की पह वार विचारकों की आलोचना का विषय दमलिये नहीं बन पाती कि उनके पास ऐसा कोई माधन उपलब्ध नहीं है जिसे वह इस तथ्य को प्रमाण की कर्माटी पर बम मके। उन सम्बन्ध में द्रष्टा कार ने एक वाग्वा उद्धृत की है जिसे अभिनवनागरी में थोड़े पाठान्तर के साथ 'यत्तूक्तम्' में उद्धृत किया गया है। जिनका अर्थ है—विभावादिभावों के मयोग में व्यग्य एवं विलक्षण ज्ञान का विषय आम्वादानाम्बव अनुभवही काव्य-प्रतिपादिन रम्यद्वयं है।^१ उनमें निष्कर्ष यह निकला कि रमानुभूति लौकिक नहीं अपितु अलौकिक है इसलिये लौकिक कारणकार्यभाव वहाँ नहीं बनता। लोक में अनुमान में म्यास्वादि नहीं होता, काव्य में ही होता है। यही काव्य की लोकोत्तरता है। अग्य आचार्यों ने भी काव्य के लौकिक पक्ष का निराकरण ही किया है और उनमें बार्द, शाष्य से निम्न, लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों में परे तथा मितयोंगिज्ञान एवं परिमितेतरयोंगिज्ञान से भी विलक्षण कहा है। इमें दोष न मानकर रम के अलौकिकत्व का माधक होने में गृण ही माना है।^२ श्री शकव ने इसी को 'अग्यानुमीयमानविलक्षण' पद से अनिहित किया है।^३

(ग) विभावादि का स्वरूप-निरूपण

आचार्य महिमनट्ट ने विभावादि भावों के स्वरूप का निरूपण करते हुए कहा है कि लोक में विभावादि भावों की मत्ता सम्भव नहीं। वहाँ पर तो हेतु आदि ही होते हैं। विभावादि और हेत्वादि को एक ही पदार्थ नहीं मानना चाहिए। हेत्वादि अन्य हैं विभावादि अन्य। उनका लक्षण भी परम्पर भिन्न है। लोक में रामादिगत मानसिक अवस्थाविशेष जो रत्यादिभाव हैं वही काव्य में वर्णित जयों अपने में जटुमहित करके तत्तद् रमी की भावना कराते हैं। इसीलिये वे भाव बहे जाते हैं। भरत ने भी कहा है कि चूँकि ये नाना प्रकार के अभिनय में सम्बद्ध तत्तद् रसों की भावना कराते हैं इसीलिये भाव बहे जाते हैं।^४ लोक में रत्यादि आलम्बनोद्दीपन के

१. (क) यत्तूक्तम्—संवेदनाख्ययाव्यङ्ग्यपरिसंवित्तिगोचरः ।

आस्वादानात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥

—अभिनवभारती, ना० शा०, बड़ीदा, पृ० २७७ ।

(ख) 'भावसंयोजनाव्यङ्ग्यपरिसंवित्तिगोचरः ।

आस्वादानात्मानुभवो रसः काव्यार्थ उच्यते ॥' —व्यक्तिविवेक, पृ० ६७ ।

२. काव्यप्रकाश, चतुर्थ उल्लास, अभिनवगुप्त का रस-विवेचन ।

३. अनुभूयमानोऽपि वस्तुमौन्दर्यबलाद्भसनीयत्वेन अग्यानुमीयमानविलक्षणः . . रसः ॥

—काव्यप्रकाश, पृ० ९० (पूना संस्करण)

४. नच लोके विभावादयो भावा वा सम्भवन्ति हेत्वाददीनामेव तत्र सम्भवान् । न च विभावादयो हेत्वादयोऽप्येक एवार्थ इति मन्तव्यम् । अन्ये हेत्वादयोऽग्य एव विभावादयोः । तेषां भिन्नलक्षणत्वान् । तथा हि ये लोके रत्यादयो रामादिगताः स्येभनाजोऽवस्थाविशेषाः केचिन् त एव काव्यादौ कविप्रभृतिभिर्वर्णनाद्यर्थमात्मग्यनुसंहिताः सन्ती भावयन्ति तांस्तान् रसानिति भावा इत्युच्यन्ते । पदाह भरतः—

नानाभिनयसम्बन्धाद्भावयन्ति रसानिमान् ।

यस्मात्, तदादमी भावा विज्ञेया नाट्ययोऽनुभिः ॥' —व्यक्तिविवेक, पृ० ६७-६८ ।

हेतु जो नीचा आदि पदार्थ हैं वे ही वाच्य में नमस्ति होकर तत्तद्भावों को विभावित करते हैं इमीलिये इन्हें विभाव कहते हैं। मूनि भरत ने भी कहा है कि—वाचिक एव आङ्गिक अभिनय के आश्रय अनेक प्रकार के अर्थों को विभावना करने के कारण ही भाव के हेतुओं की विभाव मत्ता हुई है।^१ इन विभावों में जो मुखप्रनादादि कार्यरूप अर्थ हैं वे ही वाच्यदि में दृग्प्रमाण होकर तत्तद्भावों का अनुभव कराते हैं इमीलिये इन्हें अनुभाव कहते हैं।^२ व्यभिचारिभाव वे हैं जो इन रत्यादि स्यापिभावों के बीच-बीच में आते हैं और उनकी अवस्था विशेष के जनक, तथा जवान्तर हेतु में उत्पन्न उत्कलिका के समान होते हैं। वे ही स्व स्व विभावानुभाव मूनेन उप-दर्शित होते हुए तत्तद्भावों में विशेषरूप में अभिमुख्यकरण करने में वे अभिचारीभाव हैं।^३ तथा ये जो स्यायी, व्यभिचारी एव नात्विक पद में उनचाम भाव कहे गये हैं वे नव व्यभिचारी ही हैं। इनमें स्यायी जादि की मत्ता नाभिप्राय और प्रनिनियनरूप की ज्ञेया में है। स्यायित्व स्यापिभावों में ही प्रनिनियन होते हैं व्यभिचारी एव नात्विक भावा में नहीं। इसी प्रकार व्यभि-चारित्व एव नात्विकत्व भी इन्हीं में ही प्रनिनियन है। स्यापिभावों की गति उभयान्तरक होती है। रस की पूर्णावस्था को प्राप्त होने पर ही रत्यादिभाव स्यायी कहे जाते हैं। जन्मवा वह व्यभि-चारी ही रहते हैं। नैतान व्यभिचारिभाव मद्र व्यभिचारी ही रहते हैं। स्यायी आदि कभी नहीं होते। जनएव भरत-मत्र मे स्यापिभाव का नामन बचन नहीं हुआ है। व्यभिचारिभावों में ही उनका ग्रहण ही जाना है।^४

१. ये च तेषां हेतवः सोताद्याः केचिन्, त एव काव्यादिसर्मापताः सन्तो विभाव्यन्ते भावा एभिरिति विभावा इत्युच्यन्ते । यदाह भारतः —

“बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयाधयाः ।

अनेन दस्मान्, तेनापि विभाव इति संक्षितः ॥” —व्यवितिवेक, पृ० ६८ ।

२. ये च तेषां केचिन् कार्यवत्ता भुवप्रसादादयोऽर्थास्त एव काव्याद्युपदर्शयमानाः सन्तोऽनुभाव-यन्ति तांस्तान् भावानित्यनुभावा इत्युच्यन्ते । यदाह भरतः—

“वागङ्गसम्वाभिनयैस्मादयोऽनुभाव्यन्ते।

वागङ्गोपाङ्गसंपुवनः सोऽनुभाव इति स्मृतः ॥” —व्यवितिवेक, पृ० ६८-९ ।

क. ये कारिकाएँ नाट्यशास्त्र में इसी रूपमें उपलब्ध होती हैं। देखिये—भरतनाट्यशास्त्र अध्याय ७ का० ३, ४, ५, ११ । पूर्ववत् श्लोक के चतुर्थे चरण में ‘सोऽनुभाव इति स्मृतः’ के स्थान पर ‘सोऽनुभावस्ततः स्मृतः’ पाठ है ।

३. ये च तेषामन्तरान्तरानवस्थापिनोऽवस्थाविशेषास्तद्वान्तरहेतुजनिता उत्कलिकाकाराः केचिदुत्पद्यन्ते, त एव निजनिजविभावानुभाववर्गमूलेनोपदर्शयमानाः सन्तो विशेषेणाभिमू-ह्येन चरन्ति तेषु तेषु भावोपैक्षित व्यभिचारिण इत्युच्यन्ते । यदाह भरतः ‘विविधमाभि-मूह्येन रसेषु चरन्तीति व्यभिचारिणः’ इति ।

—व्यवितिवेक, पृ० ६९ ।

४. ये चैते स्यापिव्यभिचारिसात्विकभेदादेकोनपञ्चाशद्भावा उक्तास्ते सर्वे व्यभिचारिण एव । केवलमेव प्रनिनियनरूपपक्षे व्यपदेशनेयः । तथा हि स्यापित्वं स्यापित्वेव प्रनिनियतं, न व्यभिचारिसात्विकेषु । व्यभिचारित्वं व्यभिचारित्वेव, नैतरथाः सात्विकत्वमपि सात्विक-केत्वेव, नैतरपौरिति । तत्र स्यापिभावानामुभयो गतिः । न व्यभिचारिसात्विकानाम् । ते हि नित्यं व्यभिचारिण एव न जातुचिन् स्यापिनः प्रकल्पन्ते ।—व्यवितिवेक, पृ० ७० ।

नाट्यशास्त्र के भावाध्याय में स्थायिभावों का जो लक्षण किया है उसे व्यभिचारि-
दशापन्नस्थायिभावों का ही लक्षण समझना चाहिए। रमत्वप्राप्तिके योग्य स्थायिभावों का
नहीं। अन्यथा उनका लक्षण करना व्यर्थ हो जायगा। जैसे देवादि विषयक रति, शृंगारादिभेदास्य,
विप्रलम्भ शृंगार में शोक, प्रणयकोप आदि में कोप, वीर आदि में विस्मय, शृंगारादि में उत्साह,
अभिसारिका में भय, समारनिन्दा में जुगुप्सा आदि व्यभिचारिभाव ही हैं। नाट्य के भग्न
मुनि ने अनुकरणात्मक कहा है। अतः रम स्थायी का अनुकरणरूप ही है। रम कहने से उनके
पूर्व स्थायिभावों की प्रतीति मुतरा सिद्ध है। रनादि ही प्रधान हैं, अतः उनके लक्षण द्वारा
रत्यादि स्थायिभावों के स्वरूप का ग्रहण भिन्न हो जाता है। क्योंकि वे रम में विन्वप्रतिविन्वभाव
से रहते हैं। अतः स्थायिभावों में व्यभिचारिभावों का ग्रहण नहीं हुआ है। क्योंकि उनका ग्रहण
होने पर वे निर्वेदादि की तरह भी स्थायी ही माने जाते, व्यभिचारी नहीं। इसीलिये भावा-
ध्यायों में स्थायी, व्यभिचारी, और मात्त्विक वर्गत्रय का विभाग उनकी योग्यतामात्र के आधार
पर किया गया है। जो यह दिग्गाने के लिये है कि स्थायी की सजा केवल रत्यादि के लिये है। कोई
भी व्यभिचारिभाव विभावादि से परिपुष्ट होने से ही स्थायी नहीं हो सकता और न उससे
रमनिष्पत्ति ही हो सकती है। इस तरह ग्रंथकार ने यह स्पष्ट कर दिया है कि विभावादि लौकिक
हेत्वादि ही नहीं हैं, अपितु उनमें सर्वथा भिन्न होने हैं। यह बात उनके स्वरूपनिरूपण से स्पष्ट
हो जाती है।^१

(घ) विभावादि से रत्यादि का परामर्श ही रमास्वाद

उपर्युक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो गया कि विभावादि कृत्रिम हैं और एकमात्र वाच्य
के विषय हैं। उनके विपरीत रत्यादि के हेतु स्वाभाविक हैं और लोक के विषय होते हैं। इन
प्रकार विभावादि और हेत्वादि के न केवल स्वरूप ही भिन्न हैं अपितु उनका विषयभेद भी है।
अतः उनमें एकत्व की बात नहीं बनती। जब विभावादि के द्वारा, अवाम्भव रत्यादि भावों की
प्रतीति होती है तो प्रतीति से भिन्न उनकी वास्तविक मत्ता न होने से उनका भाषात् प्रतीयमान-
या गम्य कहा जाना मुख्यबुद्धि में उचित ही है। अतः विभावादि के द्वारा अनत्यरत्यादि विषयक
प्रतीति का अनुभवात्मक परामर्श ही रमास्वाद है, जो स्वाभाविक ही है।^२ अथवा रत्यादि माना-

१. यत्तु भावाध्याये स्थायिनां लक्षणमुक्तं तद्व्यभिचारिदशापन्नानामेव तेषामवगन्तव्यं नान्येषां,
लक्षणवचनस्य बंधधर्मप्रसङ्गात् । स्थाय्यनुकरणात्मानो हि रसा इष्यन्ते, ते च प्रधानमिति
तल्लक्षणमुखेनेव तेषां स्वरूपावगमसिद्धे, तेषां विन्वप्रतिविन्वध्यायेनावस्थानान्, स्थायिना-
धेषु च निर्वेदादिष्विव व्यभिचारिणामनुपादानात् । तदुपादाने हि तेषां स्थायित्वमेव स्यात्
व्यभिचारित्वं निर्वेदादिवन् । तस्माद्योग्यतामानप्रवर्तितोऽयं वर्णत्रयविभागीपदर्शनाय व्यभि-
चारिष्वपि स्थायिव्यपदेशस्तन्मात्रविप्रलम्भहेतोऽप्येषां स्थायिभावलक्षणान् इत्यलमप्रस्तु-
वस्तुविस्तरेण ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७०-७३ ।

२. तदेवं विभावादीनां हेत्वादीनां च कृत्रिमाकृत्रिमतया काव्यलोकविषयतया च स्वरूपभेदे
विषयभेदे चावस्थिते सत्येकत्वासिद्धेर्पदा विभावादिभिर्भाषेषु रत्यादिष्वसत्येष्वेव प्रतीति-
रूपजन्येन तदा तेषां तन्मानसरत्वात् प्रतीयमाना इति गम्या इति च व्यपदेशा मुख्यबुद्धौप-
पद्यत एव । तत्प्रतीतिपरामर्श एव च रसास्वादः स्वाभाविक इत्युक्तम् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७३ ।

विक्रि में अविद्यमान होने से नितान्त परोक्ष रहें उनमें कोई हानि नहीं। प्रत्यक्ष वस्तु साक्षात् संबन्धमान होकर भी सहृदयों के मन में वैसा चमत्कार नहीं पैदा कर पाती जैसा बही किमी उत्तम कवि की वाणी से उद्भूत होकर चमत्कार का आधान करती है। कहा भी है कि कवि की काव्य-प्रतिभा द्वारा अर्पित ये रत्यादिभाव तन्मयीभाव के द्वारा चमत्कार का जिनता आधान करते हैं उनना इन्द्रियों से प्रत्यक्ष अनुभूत होने पर नहीं कर पाते। वह रस भी विभावादि से साझान् प्रतिपादित होने पर उनना आस्वाद्यमान नहीं होता जिनता उनके द्वारा अनुभूत होने पर।^१ उनका यह स्वभाव ही है। इनमें दोषदर्शन का अवकाश नहीं। कहा भी है लौकिक धूमादि हेतु के द्वारा अनुभूत होने पर, अनुभूत अर्थ वस्त्यादि से उस प्रकार का अनुभव नहीं होता जिन प्रकार का मुत्तान्वाद, विभावादि के द्वारा रत्यादि के अनुभूत होने पर होता है। जैसे कोई अर्थ वाच्य होकर वह आनन्द नहीं प्रदान करता जो प्रतीपमान होकर करता है।^२ ध्वनिवार ने भी कहा है कि माररुन वह अर्थ जब अपने मन्द से वाच्य होने की अवेक्षा प्रतीयमान होकर प्रचानित होता है तो वाच्य में प्रकाम शोभा का आधान करता है। इस प्रकार विभावादि से अनुभूत रत्यादि की जहाँ प्रतीति होती है वही वाच्य है और ऐसा ही वाच्य शिष्यों को विधिनिषेधमप्युत्पत्ति का उपदेशरूप फल देने में ममय होता है।^३

व्यक्तिविवेकव्याख्यानकार आचार्य हय्यक ने महिमभट्ट के अनिप्राय को स्पष्ट करने हुए कहा है कि काव्य में अनुभूय के प्रयोजक वास्तव एव अवान्तव दोनों हो सकते हैं क्योंकि प्रतीति ही उनका मार है। दोनों प्रकार से चमत्कार की प्रतीतिरूप अर्थक्रिया निद्र है किन्तु अवान्तव अर्थात् विभावादि कृत्रिम प्रयोजनों में मुत्तान्वाद रूप वाच्यानुभूति जिनकी अच्छी तरह हो जाती है उनकी वास्तविक प्रयोजक लौकिक हेतु से नहीं होती। सामान्य अनुमान से वाच्य-गन अनुमान की यही विलक्षणता है। अनुमानवादियों का यही अनिप्राय है। व्यक्तिवादियों का कथन है कि अबस्तुरूप में प्रतिवद वस्तु में रस की प्रतीति होने पर अर्थ की क्रिया या व्याप्ति के

१. आस्तां वा रत्यादिनिर्लपरोक्षः । प्रत्यक्षोऽपि ह्यर्थः साक्षात् संबन्धमानः सचेतसां न तथा चमत्कारभातनोति यथा स एव सत्कविना बचनगोचरतां गमितः । यदुक्तम् —

“कविशार्त्वापिता भावास्तन्मयीभावमुचिततः ।

यथा स्फुरन्त्यनी काव्यान् तयाध्यक्षतः किल ॥” इति ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७३ ।

२. सोऽपि च तेषां न तथा स्वदते, यथा तरेवानुभूयतां नीन इति स्वभाव एवायं न पर्यनुयोग-मर्हति । तदुक्तम्—

“नानुभूतो हेत्वाद्यैः स्वदतेऽनुभूतो यथा विभावाद्यैः ।

न च सुहृदयि वाच्योऽर्थः प्रतीयमानः स एव यथा ॥”

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७३-४ ।

३. ध्वनिहृताप्युक्तम्—“माररुनो ह्यर्थः स्वसद्दानभिधेयत्वेन प्रकाशितः सूतरां शोभाभावहृति” इति । प्रतीतिमात्रपरमायं च काव्यादि तावन्व विनेयेषु विधिनिषेधव्युत्पत्तिसिद्धेः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० ७४ ।

बन जाने से इसे अनुमान कह सकते हैं। किन्तु जहाँ बन्तु कुछ होनी ही नहीं, उनके आधार पर जो प्रतीति होती है वह अनुमान का विषय कैसे हो सकती है? अर्थक्रिया तो व्यंजना के पक्ष में भी ठीक बैठ जाती है। व्यंज्यमान रनादि की प्रतीति स्वाधिभादानुरूप ही होती है। स्वाधिभाव वामनात्मक रूप में बान्तविक है अतः दोष की सम्भावना नहीं।^१

आचार्य महिमभट्ट ने उक्त अभिप्राय को ही पूर्वपक्ष का रूप देने हुए कहा है कि जब विभावादि वृत्तिम है एवं उन्हीं के आधार पर रमानुभूति होती है तो वह भी वृत्तिम ही होगी। प्रतीतिमान-पर्यवसायिनी इस वृत्तिम रमानुभूति के माध्यम में गिष्यो को शास्त्रीय वृत्त्याहृत्य का उपदेश विम प्रकार दिया जा सकता है? क्योंकि जिम रमानुभूति के माध्यम में इस उपदेश का विधान किया गया है वह रमप्रतीति ही जब अमत्य और निराधार है तो उसमें होने वाला दोष भी अमत्य और निराधार ही होगा और वह 'स्वयं नष्ट' परमाज्ञायति न्याय में उन गिला के समान है जो स्वयं डब जाने वाली है, दूसरों को कैसे पार लगा सकती है? इसका समाधान करते हुए प्रयकार ने विमी प्राचीन आचार्य के मत को उद्धृत किया है कि चान्ति अर्थात् रमात्मक ज्ञान भी सम्बन्ध विगेष में प्रमा अर्थात् यथार्थ ज्ञान हो सकता है।^२

जिम प्रकार अमत्य के मार्ग पर अवस्थित होकर मत्त की प्राप्ति का अभिधान शास्त्रों में भी किया गया है उसी प्रकार अमत्यनून रत्यादि में मदम्-विवेक रूरीकट का अनुसन्धान क्यों नहीं हो सकता? इस सम्बन्ध में प्रयकार ने धर्मकीर्ति के प्रमाणवार्तिक की एक कारिका को समुद्धृत किया है कि मणि को प्रभा और प्रदीप को प्रभा दोनों के प्रति मणिबुद्धि से उसे प्राप्त करने की इच्छा में झटिति प्रवृत्तुरूप का उभय प्रभा में मिथ्या ज्ञान की सम्भानना होने पर भी अर्थक्रिया के प्रति भेद होता है। एकत्र मणि की प्राप्ति होती है अन्यत्र केवल अभिधावन। पर प्रवृत्ति उभयत्र समान होती है।^३ रनादि के प्रति मानाजिकों की प्रवृत्ति भी इसी प्रकार होती है। अतः यह कथन कि अवस्तुस्व में प्रतिबद्ध रत्यादि में रनादि की प्रतीति या वृत्त्याहृत्यविवेक नहीं होता, युक्तिसंगत नहीं।

सास्तव में यदि विचार कर देया जाय तो रमानुभूति विमी के भी पक्ष में बान्तविक नहीं होती। वह एक प्रकार का चान्ति ज्ञान ही है। यथार्थ ज्ञान नहीं। जिन लोगों को नाट्य या काव्य से होने वाली अनुभूति अत्यन्त तीव्र होती है उन्हें अनिमूढ़ ही मानना चाहिए। और

१. अत्र प्रतीतिस्तरत्वात् काव्यस्थानुमेयगतं वास्तवावास्तवत्वमप्रयोजकम् । उभयवाचकत्वार-
प्रतीतिलक्षणार्थक्रियासिद्धेः । प्रत्युत्पास्तवत्त्वे यथा सिध्यति न तथा वास्तवत्व इति काव्या-
नुमिनेरेवानुमानान्तरविलक्षणतेरनुमानवादिनोऽप्यभिप्रायः । व्यक्तिवादिनः पुनरव-
स्तुमूत्रेण प्रतिबद्धादस्तुनः प्रतीतावर्थक्रियावितांवादादस्तुमान्त्वम् । अदस्तुन एव तु
प्रतीती कथमनुमानत्वं स्यात् । अर्थक्रिया तु व्यक्तिपक्ष उपपद्यते । व्यंज्यमानस्य वास्तवा-
त्मनः स्वाधिनी दस्तुत्वादित्याशयः । —व्यक्तिविवेक, व्याख्यान, पृ० ७४ ।

२. तदुक्तम्—'चान्तिरपि सम्बन्धनः प्रमा ।' —व्यक्तिविवेक, पृ० ७४ ।

३. मणिप्रदीपप्रभयोर्मेघबुद्ध्याभिधावतोः ।
मिथ्याज्ञानाविशेषेऽपि विगेषोऽर्थक्रिया प्रति ॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० ७४ ।

इस प्रकार रसानुभूति को वेदान्त की भ्रान्ति-ज्ञान की प्रक्रिया से अधिक अच्छी तरह समझा जा सकता है। जहाँ तक अर्थ-क्रिया-कारिता का नवाल है वह व्यक्तिपक्ष में भी ठीक बैठ जाती है किन्तु इससे रसानुभूति पक्ष का निरमन नहीं होता। अनुमान की नत्ता के अन्य प्रकार से भी मिद्ध होने से व्यक्ति के मानने की क्या आवश्यकता है? यही कारण है कि वेदान्तादि किसी भी दर्शन में जहाँ अनुमान सर्वमान्य है, व्यञ्जना को स्वीकार नहीं किया गया है और इन्ने पूर्वपक्ष के रूप में रखकर विचार करने के योग्य भी नहीं समझा गया।

(६) रस की प्रतीति से सत्यान्त्य का विचार अनुमादेय

आचार्य महिमभट्ट ने इस नव्य का स्पष्ट रूप में प्रतिपादन किया है कि रसानुभूति के विषय में सत्यान्त्य के विचार का कोई उपयोग नहीं। अतः गम्य एव गमक की नत्ता वाग्विक है कि नहीं यह प्रमाण द्वारा मिद्ध करने की बात नहीं। काव्य के विषय में भी वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति में सत्यान्त्य का विचार सर्वथा अनुपयुक्त ही है। इनलिये काव्यानुभूति की प्रमाणान्तर से परीक्षा करना उपहामास्त्र है।^१ काव्यानुभूति में अनुमान की प्रक्रिया का सम्बन्ध बनाने का अर्थ यह बदापि नहीं है कि हम वहाँ प्रामाण्य ज्ञान करने जा रहे हैं। यदि हेतु मद्देतु नहीं है या व्याप्ति ठीक नहीं बनती तथा पक्ष, मग्न, विपक्ष, मव यथावन् उपलब्ध नहीं होने तो वहाँ अनुमान की प्रक्रिया काम कर ही नहीं सकती। अथवा यदि अनुमान होना भी है तो वह प्रामाण्य ज्ञान नहीं पैदा कर सकता। यह कथन अप्रानगिक एव अविचारितानिधान ही है। क्योंकि काव्यानुभूति, विरोधरूप से रसानुभूति की प्रक्रिया में प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एव शब्द आदि प्रमाणों की किसी भी प्रकार की परिपाटी ठीक नहीं बन पाती, जिनमें रस की अनुभूति को प्रामाण्यज्ञान कहा जाय। बने काव्यानुभूति के प्रत्येक पक्ष में चाहे वह वस्तुमान, अलंकार या रस हो, अनुमान की प्रक्रिया तो ठीक-ठीक बैठ ही जाती है। जिन प्रकार कुहरे में व्याप्त प्रदेश में घूमके भ्रान्तज्ञान से वहाँ अविद्यमान भी वह्नि का अनुमान होने में कोई बाधा नहीं होती, ठीक उसी प्रकार काव्य में सर्वत्र प्रतीयमान अर्थ के अनुमेय होने में कोई बाधा नहीं।

अथ च नैयायिक ज्ञान-ग्रहण और प्रामाण्य-ग्रहण के मापको को एक दूसरे में निज मानत है। इन्द्रियार्थ-मन्निवर्ष होने पर हमें जिन जल का ज्ञान होता है उनकी प्रामाणिकता तब तक नहीं मानी जाती जब तक वहाँ जाकर हमारी प्रवृत्ति सफल न हो जाय। प्रवृत्ति की सफलता और विफलता पर ही ज्ञान के प्रामाण्यप्रामाण्य का निर्धारण होता है। काव्य में चूँकि प्रवृत्ति की सफलता का कोई प्रश्न ही नहीं है और रसानुभूति रत्यादि विषयक ज्ञान-विशेष का ग्रहणमान है, अतः उनके प्रामाण्यप्रामाण्य का प्रश्न उठाना विनगडा-मात्र है। यही बात वाच्य व्यंग्य के सम्बन्ध में भी है। लौकिक अनुमान में भी अकृत्रिम हेत्वादि में अकृत्रिम ही रत्यादि साध्यों की प्रतीति होती है। वहाँ पर भी उनमें अनुमेयता ही है व्यंग्यत्व की गम्य तक नहीं।

१. तेनात्र गम्यगमकयोः सचेतसां सत्यासत्यत्वविचारो निरूपयोग एव। काव्यदिव्ये च वाच्य-
व्यङ्ग्यप्रतीतिनां सत्यासत्यत्वविचारो निरूपयोग एवेति तत्र प्रमाणान्तरपरीक्षा-पहासायैव
सम्पद्यत इति।

किर सुखास्वाद का लवलेश भी वहाँ नहीं मग्न है? लोक से काव्यादि की यही विशेषता है।^१

निष्कर्ष

महिमनट्ट के रचनारूप का अध्ययन करने के अनन्तर यह आवश्यक हो जाता है कि हम उनकी मनीषा वर उनके योगदान का मूल्यांकन करें। व्यक्तिविवेक के अध्येता विद्वानों इस बात पर दो मत नहीं हो सकते कि आचार्य महिमनट्ट ने रस-मिद्वान्त की मूल्य की बिल्कुल अधिक मूल्यता वर रखने का प्रयत्न किया है और उसमें मग्न हुए हैं उनका और कोई आचरण नहीं। रीति, ध्वनि और बहोक्ति के मिद्वान्तों के उद्भावन के पश्चात् मंहिमत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में एक समय ऐसा आया जब बाद विशेष का खण्डन या मण्डन करना कोई बहुत महत्व की बात नहीं समझी जाती थी। यद्यपि महिमनट्ट का ममारम्भ खण्डनात्मक ही था तथापि व्यञ्जना और ध्वनि के अग्र प्रत्यय का खण्डन वर उसे उर्जस्ति वर देने के बाद उन्होंने यह आवश्यक समझा कि साहित्यशास्त्र के कुछ उलझे हुए जटिल विषयों की मुल्यता भी बय। इसीलिये उन्होंने दोष एव अलंकारों के स्वरूप तथा लक्षण का विवेचन, विशुद्ध रूप से शास्त्रीय पद्धति पर किया जहाँ ध्वनि-मिद्वान्त के ध्वंस का कोई अवसर नहीं था। इनका रस-निरूपण भी उन्हीं विषयों में से एक है जिनके विवेचन में अग्रकार ने मौलिकता के साथ-साथ विषय में उपस्थित जटिलताओं की मुल्यता भी स्तुत्य प्रमाण किया है।

१. रसनिष्पत्ति के विषय में महिमनट्ट की देन कम महत्व की नहीं है। वह प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने बिनावादि के लौकिक हेतुवादि में पार्यंकर के मिद्वान्त का प्रतिपादन किया। और इन प्रकार काव्यानुभूति के लौकिक अनुभूति में सर्वथा निम्न होने की प्राचीन आचार्यों की उक्तिपों के लिये आधार का प्रतिपादन हो गया। मन्मट्ट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों ने महिम की सरणि पर ही बिनावादि की हेतुता का खण्डन किया है।

२. बिनावादि एव रत्यादि की युगान्त प्रतीति का खण्डन वर महिमनट्ट ने उनमें होने वाली महत्ता की प्रतीति को ग्राह्य बताया और बिनावादि एवं रत्यादि में भी साध्य-साधन-भाव नामक मन्मन्थ का प्रतिपादन किया और इस प्रकार रस की अनुमेय सिद्ध कर दिया।

३. श्रीशंकर के रसानुमितिवाद में सबसे बड़ा दोष उनकी अनुनीयमान अन्य विषयों के विलक्षणता मानी गयी है। तथा रस की अनुमेयता में सद्हेतु के अभाव एव हेतुमात्र के नदभाव की बात भी उठाई गई थी, साथ ही व्याप्तिब्राह्मक दृष्टान्त के अभाव में जो दोष दिखाये गये थे उन सबका समाधान महिमनट्ट ने ठीक एवं युक्ति उपपत्तः वर दिया।

अपने पक्ष की पुष्टि में इन्होंने प्राचीन आचार्यों के उद्धरण भी प्रस्तुत किये। इनकी युक्तिपों एवं तर्कों इतने प्रबल तथा पुष्ट हैं कि उनका उल्लेख वर खण्डन करने का साहस मन्मट्ट प्रभृति किसी भी उत्तरकालीन आलंकारिक आचार्य को नहीं हुआ। इसीलिये इन टीकों ने उनके इन सब तर्कों एवं युक्तिपों को गजनिमीलामित वर दिया। काव्यानुमिति के मिद्वान्त पर

१. तत्र हेतुवादिभिरहृत्रिभैरहृत्रिमा एव प्रत्यापयन्ते । तत्रैवाननुमेयत्वमेव न व्यङ्ग्यत्वानुमेयत्वो पौति, कुतस्तत्र सुखास्वादलवोऽपि सम्भवति । एष एव लोचनः साव्याशयनिश्चय इत्युप-पद्यत एव रत्यादी गम्ये सुखास्वादप्रयोजनो व्यङ्ग्यत्वोपचार इति ।

दोषारोपण करते हुए प्रायः सबने यही कहा है कि वहाँ सद्हेतु नहीं है, अथवा अमुक हेत्वामात्र है, अथवा व्याप्ति नहीं बनती, इत्यादि इत्यादि । और सबने रसानुमिति के प्रामाण्य ज्ञान न होने का भी विस्तारपूर्वक निरूपण किया है । न्यायोचित तो यह था कि जिस प्रकार अभिनवगुप्त ने अपने पूर्ववर्ती श्रीशंभुक आदि प्रायः सभी आचार्यों के मतमतान्तरों का उपन्यास कर उनकी विस्तृत मीमांसा की है, अथवा जिस प्रकार महिमनट्ट ने ध्वनि सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों का पूर्वपक्ष के रूप में उपन्यास कर उनका समाधान किया है, उसी प्रकार महिमनट्ट के इन कथनों का उपन्यास कर खण्डन किया गया होता । इस सम्बन्ध में महिमनट्ट की उपलब्धियाँ निम्न-लिखित हैं—

१. गम्पगमक भाव में सत्यासत्य का विचार उपयोगी नहीं होता, २. भ्रान्तिमद् ज्ञान भी सम्बन्ध-विशेष से प्रमात्मक ज्ञान ही होता है, ३. रसानुमिति में सुखास्वाद का रस्य दृत्रिम रत्यादि की विभावादिके द्वारा अहेतुकी प्रतीति ही है, ४. रत्यादि वस्तु का अपना यही स्वभाव है कि प्रत्यक्षतः तो उनका अनुभव उसी रूप में होता है जिस रूप में वह होने हैं । परोक्षतः या दृत्रिमरूप से उनकी प्रतीति होने पर वह सुखास्वाद रूप होकर अनुभूति में चमत्कार विशेष के आघातक होने हैं, ५. काव्य में परार्थानुमान से ही रसादि का आस्वाद होता है, ६. अनुमान की प्रक्रिया में अन्यत्र विद्वानों के लिये व्याप्ति-ग्राहक प्रमाण की अनेका नहीं होती । हेतु ही इतना पुष्ट होता है कि साध्य की साक्षात् प्रतीति करा देता है, ७. रस की अन्यान्यमीयमान विलक्षणता उसकी अलौकिकता ही है । अन्य आचार्यों ने भी रस की अलौकिकता का प्रतिपादन विविध रूप से किया है । रत्यादि वस्तु के स्वभाव एक अनुमाना की बानता में रसादि की आस्वादमानता नितान्त स्वाभाविक ही है । यही रसानुमिति-पक्ष का मक्षेपतः किन्तु स्फुट प्रतिपादन है । और यही तब रस-सिद्धान्त के विषय में काव्यशास्त्र को महिमनट्ट की देन भी है ।

पष्ठ-अध्याय

प्रथम-विमर्श

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र में दोष-सिद्धान्त

दोष का सिद्धान्त मंजूत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में उनना ही प्राचीन है जितना इतिहास स्वयं । साहित्यशास्त्र के प्राचीनतम उपलब्ध ग्रंथ भरतनाट्यशास्त्र में लेकर पण्डित-राज जयन्नाथ के बाल तक के साहित्यशास्त्र के प्रायः सभी ग्रंथों में न्यूनाधिक रूप से वाक्य-दोष का निरूपण उपलब्ध होता है । जो इस बात का पुष्ट लक्षण प्रमाण है कि वाक्य में दोष का स्थान गुणालंकारादि से किसी भी प्रकार कम नहीं । वह गुणालंकार, रीति, वृत्ति, प्रवृत्ति, तथा रस आदि की तरह ही वाक्यशास्त्र की विवेचना का एक महत्वपूर्ण तत्व है । प्रवृत्त विमर्श में हम मंजूत-साहित्यशास्त्र में दोष-सिद्धान्त के उद्भव एवं विधान का ऐतिहासिक बालक्रम से विवेचन करते हुए दोष नामान्य के लक्षण एवं स्वरूप का विचित् विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे ।

(अ) भरत का नाट्यशास्त्र

जैसा कि अनेक स्थलों पर कहा जा चुका है कि मंजूत में साहित्यिक नमीक्षा पर प्राचीनतम उपलब्ध ग्रन्थ भरत का नाट्यशास्त्र है । बड़ोदा संस्करण के सत्रहवें अध्याय वागी प्रकाशन के मोलहर्वे अध्याय में, छत्तीस वाक्य-लक्षणों तथा गुण और अलंकारों के साथ दस वाक्य-दोषों का संलक्षण विवेचन हुआ है ।^१ भरत के विवेचन का साक्षात् सम्बन्ध नाट्य से था । अतः उन्होंने गुण, दोष एवं अलंकारों का निरूपण विस्तार पूर्वक नहीं किया । उनके विवेचन का मुख्य विषय या रस, जो नाट्य का प्राण या सर्वस्व कहा जाता है । दोष गुणअलंकार आदि वाक्य के अन्य तत्वों का भी नाट्यशास्त्र में विवेचन हुआ है । किन्तु वे नाट्य में रसोद्रेक के साधन होकर ही आये हैं । नाट्य में रस की निष्पत्ति का साक्षात् साधक अभिनय-चतुष्टय है । दोष गुण अलंकार आदि वाचिकाभिनय के अंग होकर ही नाट्यशास्त्र की विवेचना के विषय हुए हैं । अतएव वहाँ इनका स्थान गौण है । तथा इससे यह स्पष्ट है कि भरत का दोष-विवेचन रस को दृष्टिगत करके ही हुआ है ।

नाट्यशास्त्र के दोष-विवेचन की एक दूसरी मुख्य विशेषता यह है कि भरत ने दोषों को भावात्मक रूप प्रदान किया है । वह केवल गुणविषय्य अभावात्मक नहीं हैं । यही नहीं भरत

१. गूढार्थमर्थान्तरमर्थहीनं भिन्नार्थमेशार्थमभिप्लुतार्थम् ।

न्यायादपेतं विषयं विसन्धि शब्दच्युतं वै दश वाक्यदोषाः । —नाट्यशास्त्र, १७।८८ ।

ने तो एक पग और आगे बढ़कर कहा है कि गुण ही दोषविपर्यय रूप हैं।^१ जब कि मामान्यतः दोषों को गुणाभाव के रूप में ही स्वीकार किया जाना है। भरत का यह कथन वस्तुओं के विषय में लोगों की सामान्य धारणा के अनुरूप ही है। किन्ती वस्तु या व्यक्ति के दोषों को अनायास ही परख लेने की मूल-प्रवृत्ति हम सब में विद्यमान है। जब कि उसकी उतमता की पहचान केवल उन्हीं घोटों में लोगों को हो पानी है जिनका बौद्धिक या मानसिक स्तर पर्याप्त ऊँचा उठा होता है। संभवतः इमीलिए भग्न ने भी दोषों का विवेचन भावात्मक रूप से ही किया है और गुणों की सत्ता दोषों के अभाव में ही मानी है।^२ चंकि नाट्यशास्त्र में दोष का कोई सामान्य लक्षण नहीं हुआ है, अतः इमी वाक्य को कि, जिनका विपर्यय गुण है वही दोष है, हम दोष का सामान्य लक्षण कहेंगे। भग्न ने इन दोषों को काव्यदोष के नाम से अभिहित किया है।

भरत के दोषविवेचन में एक विशेष बात और ध्यान देने की यह है कि उत्तरकालीन आचार्यों के ग्रंथों में दोषों का जो जडगन एवं अथगन विभाजन मिलता है नाट्यशास्त्र में उसका सर्वथा अभाव है। केवल विनयिक के लक्षण में यहाँ भी अर्थ की अपेक्षा शब्द पर अधिक बल दिया गया है। भरत ने इन दस दोषों को रमदोष भी नहीं कहा है जो कि उन्हें कहना चाहिए था। क्योंकि अन्तः-इनका परवर्तमान रमनिष्पत्ति में ही होना है। उन्हें केवल काव्यदोष के नाम से अभिहित करना भरत के काल में अलंकारशास्त्र की अवस्था का परिचायक है। उत्तर-कालीन अलंकारशास्त्र के प्रायः सभी आचार्यों ने दोषों का नामकरण सिद्धान्त-विशेष के अनुसार किया है जिनका उल्लेख हम यथावसर करेंगे।

(इ) भामह

भरत के पश्चात् अलंकारशास्त्र, नाट्यशास्त्र के बन्धन में मुक्त हो गया और आचार्यों ने दोष गुणअलंकारादि काव्य के आन्वयिक सभी तत्वों की सीमा-मा विस्तारपूर्वक की। यद्यपि अग्निपुराण के तीन सौ द्विद्यात्मिक अध्याय में भी अलंकार में काव्यदोष-विवेक के नाम से दोष का सामान्य लक्षण एवं उसके भेद प्रभेद का विवेचन हुआ है।^३ किन्तु पुराणों की निधि के विषय में निश्चय न होने के कारण हम यहाँ उसका विवेचन नहीं कर रहे हैं। नाट्यशास्त्र के अनन्तर साहित्यशास्त्र का प्राचीनतम ग्रन्थ भामह का काव्यालंकार है। भामह ने दोषों का वर्णन अपने ग्रन्थ में दो स्थलों पर किया है—प्रथम एवं चतुर्थ प्रकरण में। प्रथम परिच्छेद में दस दोषों का विवेचन हुआ है।^४ जिनका वर्णन काव्य के सामान्य धर्मों या तत्वों का परिचयन

१. गुणा विपर्ययादेशो माधुर्यो दार्यलक्षणा । —नाट्यशास्त्र १७।१५ ।
२. एत एव विपर्यस्ता गुणाः काव्येषु कीर्तिताः । —नाट्यशास्त्र १६।१५ ।
३. उद्वेगजनको दोषः सन्धानां सच सप्तधा ।
वस्तुवाचकवाच्यानामेकद्वित्रिनियोपतः ॥ —अग्निपुराण ३४६।१ ।
४. नेयार्थं क्लिष्टमग्यार्थमवाचकमव्युक्तिमन् ।
गुदशाब्दाभिधानं च कवयो न प्रयुञ्जते ॥३७॥
शुनिदुष्टार्थदुरते च कल्पना-बुष्ट इत्यपि ।
शुनिकष्टं तथेवाहुर्वाचां दोषं चतुर्विधम् ॥ ४७ । —शिव्यालंकार, प्रथम परिच्छेद ।

करते हुए किया गया है। नामह अलंकारवादी आचार्य हैं। मनुष्य अलंकारवर्ग को इन्होंने वक्रोक्ति में ही मनाहृत किया है। अब उनके दोष का लक्षण भी अलंकार के स्वरूप को ध्यान में रखकर ही किया गया है और वह यही है कि वक्रोक्ति में हीनता ही दोष है। इन प्रकार नामह के दोषविवेचन का प्रथम वर्ग वक्रोक्ति दोष ही है।

नामह के दोषविवेचन का दूसरा स्पष्ट उनकी कृति वा चतुर्थ परिच्छेद है। यहाँ अक्षर्य, व्यर्थ, एकार्य आदि न्याह दोषों का निरूपण हुआ है।^१ ये दोष मनुष्य वाक्य के हैं, केवल वक्रोक्ति के नहीं। प्रथम-परिच्छेद में वर्णित दोषवाक्य के अन्तरंग-दोष हैं तो चतुर्थ-परिच्छेद के दोष बहिर्ग-दोष के रूप में उपवर्णित हुए हैं। भग्न एवं नामह के दोषों की मुल्ला करने पर यह स्पष्ट प्रतीत हो जाता है कि नामह के कुछ दोष भरत के दोषों से नाम एवं रूप उभयतः नाम्य रखते हैं। इनमें एकार्य एवं विनयि मुख्य हैं। किन्तु विश्लेषण एवं व्यापकता की दृष्टि से नामह भरत से बहुत जागे हैं। इनका दोष-विवेचन पर्याप्त विस्तारपूर्वक एवं गहन हुआ है।

नामह के दोष-विवेचन का महत्व अन्य प्रकार में भी है। सबसे पहले नामह ने ही यह कहा कि कोई दोष सर्वत्र दोष ही नहीं रहता, यथावत् वह दोषानाव तथा गुण तक ही जाता है। जैसा कि हमने पहले भी कहा है कि भरत में दोषों का स्वरूप भावात्मक माना है और गुणों को दोषानाव कहा है। नामह, भरत के इस निर्णय में केवल अमहत्त्व ही नहीं है जपितु इसके विपरीत उन्होंने दोषों को गुणानाव स्वरूप ही माना है तथा दोष विशेष को गुण के रूप में परिवर्तित करने का विधान भी किया है। उदाहरणतः एकार्य दोष विशेष परिस्मृति में जहाँ शब्द को पुनरक्ति, नययोगादि अर्थों में हुई हो, काव्यात्मक चारत्व का विशेष रूप से आघातक होना हुआ गुण हो जाता है। मम्मट प्रमृति आचार्यों ने दोषों के नित्य नित्य होने का जो विधान किया है उनका मूलस्रोत नामह का उक्त विवेचन ही है। उनका कथन है कि विशेष रूप में मन्त्रिवेश होने पर दोष भी उसी प्रकार शोभावाह अर्थात् गुण हो जाता है बिन प्रकार पुष्पों की माला के बीच-बीच गुंथे हुए बाले घत्ते, माला के सौन्दर्य की वृद्धि ही करते हैं।^२ आश्रय के सौन्दर्य से अनापु भी विलक्षण सौन्दर्य का आघातक हो जाता है जैसे कान्ता के विलोचनों में लगा बाजल भी बहुत अधिक सुन्दर लगता है।^३

भरत के ममान ही नामह ने भी दोषों का विभाजन पद, वाक्य, अर्थ एवं रस के आधार पर नहीं किया है, जैसा कि मम्मट प्रमृति उत्तरकालीन अलंकारिकों ने किया है। आचार्य नामह

१. अक्षर्य व्यर्थमेकार्य ससंज्ञापमप्रथमम् ।

शब्दहीनं यतिगुणं भिन्नवृत्तं विसन्धि च ॥१॥

देशकालकलालोकान्यायागमविरोधि च ।

प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहीनं दुष्टं च नेष्यते ॥२॥ —नामह, काव्यालंकार, चतुर्थ-परिच्छेद ।

२. सप्रिवेशविशेषात्तु दुरुक्तमपिशोभने ।

नीलं पलाशमाविद्धमन्तराले स्रजमिव ॥

—काव्यालंकार १।५४ ।

३. किञ्चिदाश्रयसौन्दर्याद् घत्ते शोभानताप्यपि ॥

कान्ताविलोचनन्यस्तं मलौमममिवाञ्जनम् ॥

—काव्यालंकार १।५५ ।

काव्य में दोष के निराकरण के प्रति बड़े ही जागरूक प्रतीत होते हैं। उनकी राय है कि—काव्य में एक पद भी ऐसा नहीं प्रयुक्त होना चाहिए जो अव्यय हो। क्योंकि उनमें मनुके काव्य का मूल्य उन्नी प्रकार कम हो जाता है जिन प्रकार कपुत्र के दूतों में पिना की ही नर्तक निन्दा होती है।^१ उनकी दृष्टि में कवि का उत्तरदायित्व महान् है। वह कहते हैं कि कवि न होना कोई पाप नहीं, न उनमें कोई व्याधि ही उत्पन्न होती है। अथवा कोई व्यक्ति इसलिए दण्ड का भागी नहीं हो सकता कि वह कवि नहीं है किन्तु कुकवि होना ही व्यक्ति की माझान् मन्तु ही है।^२

(३) दण्डी

काव्य में दोष के निराकरण के विषय में दण्डी भामह ने भी अधिक मावधान एवं उग्र प्रतीत होते हैं। उनका कथन है कि रचना में रचनाव भी दोष हो तो उनकी उद्देशा नहीं करनी चाहिए। क्योंकि वह पूरे काव्य के मौख्य को उन्नी प्रकार खींच कर देना व जिन प्रकार नवीय-मुन्दर गरीर में श्वेत कोड का एक दाग।^३ मूढरूप में प्रयत्न गों गन्द में कामदेव का पुन्यनरूप हो जाता है। किन्तु यदि उन्नी पद का प्रयोग या उच्चारण अगुद्ध रूप में किया जाय, तो वही पद, प्रयोक्ता के गौत्व अर्थात् मुख होने का नष्टन करेगा है।^४

काव्यादर्श के नृतीय परिच्छेद में दण्डी ने काव्य के इन दोषों का निरूपण किया है। जो भामह के तृतीय परिच्छेद में निरूपित दोषों में नाम एवं स्वरूप उभयन नाम्य रखने हैं। यहाँ तक कि उनका क्रम भी बही है जो भामह में उपलब्ध होता है। अपवाद का स्थल केवल 'प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानि' नामक दोष है। जिसको दण्डी ने स्वीकार नहीं किया है। आचार्य दण्डी का कथन है कि काव्य का पाठक प्राय ऐसा होता है कि प्रतिज्ञा, हेतु एवं दृष्टान्त की हानि होने से उत्पन्न दोष को नमस्त्रने में मनस्य नहीं होता। क्योंकि यह सब दार्शनिक विचार हैं, जो प्रायः अल्पन रूढ़ होते हैं। अतः काव्य में इनका वर्जन करने का प्रयोजन ही क्या है।^५ दण्डी, भामह के बहोक्ति दोषों को भी नान्यता नहीं देते। वह उन्हें गुणान्नाव रूप ही नमस्त्रने हैं। उदाहरणतः कालिगुण का अभाव ही अतनुक्ति एवं नेयत्व 'अर्थव्यक्ति नान्यगुण का विरुद्ध-भाव है। दण्डी परम्परा-प्राप्त दोषों की दन नख्या के बने रहने के ही पक्षधारी थे। यद्यपि उन्हें दोषों के अनेक अन्य प्रकारों की भी जानकारी थी।

१. सर्वेषां पदमप्येकं न निगाद्यमव्ययम् ।
विलम्बणा हि काव्येन कुःसुवेनेव विन्यते ॥ —काव्यालंकार ११११।
२. नाकवित्वमधर्मय व्याधये दण्डनाय वा ।
कुकवित्वं पुनः साझान् मृतिमाहर्मनोपिणः ॥ —काव्यालंकार ११२।
३. तदल्पमपि नोपेक्ष्यं काव्ये दुष्टं कथंचन ।
स्वाद्बनुः सुन्दरमपि दिवत्रेर्नकेन दुर्नगम् ॥ —काव्यादर्श ११०।
४. गीर्वाः कामदुषा सम्यक् प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।
दुष्प्रयुक्ता पुनर्गीर्त्वं प्रयोक्तुः संव शंसति । —काव्यादर्श ११६।
५. प्रतिज्ञाहेतुदृष्टान्तहानिर्दोषो न वेत्सौ ।
विचारः कुरुप्रप्रापस्तेनालोडेन कि फलम् ॥ —काव्यादर्श ३१२३।

दण्डी ने भरत के द्वारा उठाये गये उन प्रश्न की ओर ध्यान नहीं दिया कि दोषों का स्वरूप भावात्मक है अपवा गुण दोषानाव रूप होते हैं। उपमादोष के सम्बन्ध में दण्डी ने मान्हु से लागे जाकर उनका विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। भामहू ने मन्वतः मेधावी के लज्जानुकरण पर ही उपमा दोष का निरूपण किया था। किन्तु दण्डी ने उपमादोष के सम्बन्ध में कहा कि काव्य में विषय, अनादृश्य तथा अनम्भव की कमी से उपमा का अनाव होता है। इसलिए उन्हें उपमादोष कहना मायिक है। भामहूदाहृत 'हीनता' 'अधिकत्व' एवं 'बचोनेद' दोषों को दण्डी ने उपमा-दोष के रूप में स्वीकार नहीं किया है।^१ समूचे विवेचन का उद्देश्य दग्ने हुए उन्होंने व्यवस्था दी है कि कोई रचना वहाँ लदोष है वहाँ निर्दोष इसका निदानक एवमात्र सहृदय-हृदय या मनीषी की वृद्धि ही हो सकती है।^२ यदि वह सहृदय के आस्वाद को नग करता है तो उसे दोष अवश्य कहना चाहिए। उदाहरण प्रत्युदाहरण देकर उन्होंने इनको रहन एवं विस्तृत भीमाना की है। इन प्रकार पद्यपि दण्डी ने दोष विवेचनको मौलिक बनाने के लिए बहुत प्रयास किया है किन्तु भामहू की तरह वह भी सर्वथा मरुल नहीं हो सके हैं। यहाँ ठक कि दोषों की परम्परागत दग मरुदा को बनाये रखकर उन्होंने भी एक तरह में परम्परा का पालन ही किया है।

(ऋ) वामन

भामहू तथा दण्डी की तुलना में वामन का दोष विवेचन अधिक व्यापक तथा पर्याप्त विकसित है। यहाँ विवेच्य विषय की जटिलता ममाप्त हो गई है, एवं दोषों का स्पष्टतया विवेचन हुआ है। जाचार्य वामन ने अपनी वृत्ति 'काव्याङ्कार मृत् एव वृत्ति' में अलङ्कारान्त के अन्व तत्त्वों की तरह ही दोषों का निरूपण भी मुख्यवस्थित ङंग से किया है और पूरा एक प्रकार दोष-विवेचन में लगाया है। ग्रंथ के आरम्भ में ही उन्होंने कहा है कि काव्य इसलिए ब्राह्म्य है कि उसमें अलङ्कार होते हैं। सौन्दर्य ही काव्य का अलङ्कार है। काव्य में सौन्दर्य का आधा दोषों के निराकरण एवं गुणालंकार के ग्रहण से ही होता है।^३ वामन के प्रसिद्ध टीकाकार रामधेनु ने मृत्तों के समर्थन में उनकी व्याख्या करते हुए कहा है कि जमीष्ट की जोर लप्रमर होने के पूर्व अनिष्ट का निराकरण अल्पन आवश्यक होता है। अतः कवि को चाहिए कि अपनी रचना को गुणालंकार में मंडित करने के पूर्व उसे दोष रहित करे। इस रक्ष्य को सूचित करने के लिए ही सूत्र में 'दोषहान' शब्द का उल्लेख पहले हुआ है अनन्तर गुणालंकार के आदान का।^४

१. नलिङ्गवचने भिन्ने न हीनाधिकतापि वा ।

उपमाहूपपायालं यनोद्वेगो न धोमताम् ॥

—काव्यादर्श २।५१ ।

२. ईदं वज्यते सविभ कारणं तत्र विलयताम् ।

गुणदोषविद्याराय स्वयमेव मनीषिभिः ।

—काव्यादर्श २।५६ ।

३. काव्यं प्राहृमलंकारात् । सौन्दर्यमलंकारः । स दोषगुणालंकारान्नादानान्याम् ।

—काव्यालंकार सूत्र १।१।१, २, ३

४. इष्टानुवर्तमानं कुर्यात् प्रागनिष्टनिर्वनमितिनीत्या गुणालंकारादानात् पूर्वं दोषहानमेव कविना कर्तव्यमिति सूचितं दोषहानस्य प्रथमतो निर्देशः ।

—कामधेनु टीका, काव्यालंकार सूत्र १।१।१ ।

वामन ने अपने ग्रंथ का पूरा द्वितीय अधिकरण ही दोष निरूपण के लिए दिया है तथा उसे दोषाधिकरण के नाम से निश्चित किया है। प्रकरण के प्रथम सूत्र में ही दोष का सामान्य उल्लेख करते हुए वह कहते हैं कि दोष वह है जिसका स्वरूप गुणों का अभाव अर्थात् विपर्यय है।^१ वह भरत के सिद्धान्त के विरोधी हैं कि दोष भावहन होते हैं तथा गुण दोषाभाव स्वरूप हैं। मम्मट अर्थशारदास्त्र के इतिहास में वामन प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने भरत में प्राप्त परम्परा की न केवल अवहेलना ही की अपितु उनका माझा विरोध भी किया और अपनी नयी मान्यता की प्रतिष्ठा करते हुए दोष को गुण विपर्ययात्मक बनाया।

इन पर यह कहा जा सकता है कि यदि दोष गुणाभाव रूप ही हैं तो गुणों के विवेचन से ही दोषों का निराकरण हो जाता, उनके स्वरूप निरूपण के लिए स्वतंत्र रूप से प्रकरण देने की क्या आवश्यकता थी? इन आक्षेप का उल्लेख कर उत्तर देने हुए आचार्य वामन कहते हैं कि यह सचा ठीक है। वास्तव में गुणों के अभाव से ही दोषों का ग्रहण हो जाना चाहिए। किन्तु सौकर्य के लिए ऐसा किया गया है। दोषों का परिचयन कर उनके लक्षण उदाहरण दे देने में उनका ज्ञान सर्वनामान्य को भी अच्छी तरह से हो जायेगा।^२ अतएव वामन ने अपने पूर्ववर्ती भरत, भामह, दण्डी प्रभृति आचार्यों की अपेक्षा दोषों का निरूपण अत्यधिक सुव्यवस्थित रूप से किया है।

वामन ने दोषों का वर्गीकरण चार विभागों में किया है—१. पददोष, २. वाक्यदोष, ३. पदार्थदोष, ४. वाक्यार्थदोष। दोषों का यह वर्गीकरण पूर्ववर्ती आचार्यों से नवैया निम्न एवं मौलिक है। मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों ने वामन के दोष विभाजन को उक्त तरंग का परोक्ष मात्रा में अनुसरण किया है। वामन के अनुसार पद दोष पाँच होते हैं—अज्ञान, कष्ट, शान्द, अप्रज्ञान तथा अनर्थक। पदार्थ दोष भी पाँच ही होते हैं—अन्वयार्थ, भेदार्थ, गूढार्थ, वशील एवं क्लिष्ट। वाक्यदोष केवल तीन ही होते हैं—निम्नवृत्त, यतिग्न्य तथा विनयि। जब कि वाक्यार्थ दोषों की संख्या नवसे अधिक मात्र है—व्यर्थ, एकार्थ, सदिग्ध, अनुक्त, अनर्थक, लोकाविरुद्ध तथा विद्याविरुद्ध। कुल मिलाकर दस दोष पद-पदार्थगत एवं दस ही वाक्य-वाक्यार्थगत हैं। वामन को भी परम्परागत दस संख्या का व्यामोह कुछ ऐसा रहा है कि विनीत-विनी प्रकार उल्टे ही उसे बनाने रखा है। भामह एवं दण्डी के दोषों से तुलना करते पर ज्ञात होता है कि वामन ने भी दोषों के स्वरूप एवं उनकी संख्या में मौलिक रूप से कुछ भी वृद्धि नहीं की। उनके नवीन ढंग से वर्गीकरण का श्रेय वामन को अवश्य है जिससे वही दस दोष, वीन की संख्या में प्रतीत होते हैं।

प्रकरण का मनावन करते हुए आचार्य वामन ने दोषों के विषय में यह व्यवस्था दी है

१. गुणविपर्ययात्मनो दोषाः । —काव्यालंकारसूत्र २।१।१
गुणानां वक्ष्यमानानां ये विपर्ययाः तदात्मनो दोषाः । —वृत्ति २।१।१ ।
२. अर्थतत्त्ववगमः २।१।१ गुणस्वरूपनिरूपणात् तेषां दोषाणाम् अर्थाद्वगमो अर्थसिद्धिः ।
किमर्थं ते दूयकं प्रवच्छन्ते इत्याह-सौकर्यायप्रपञ्चः । सू० २।१।३ ।
सौकर्याय प्रपञ्चो विलसो दोषाणम् । उद्दिष्टा लक्षिता हि दोषाः सुज्ञाना भवन्ति ।
—काव्यालंकार सूत्र एवं वृत्ति ।

कि वाक्य तथा वाक्यार्थ मंत्रक उक्त दोष त्याग करने के लिए हैं तथा जो शब्दार्थ दोष है वह सूक्ष्म है और वे मूल-विशेष पर गुण के रूप में भी ग्राह्य हैं। इन्हींके लिए उनका विवेचन गुण-निरूपण के अवसर पर किया है।^१ कामधेनु ने इस पर टीका करते हुए कहा है कि उन अधिकरण में लक्षणीय मनी दोष वाक्य के असाधुत्व के आधादन हैं अतः स्पष्ट है। सूक्ष्म दोष वह है जो गुणभाव रूप होते हैं।^२ उदाहरणतः ओज एक गुण है अतः रचना में ओजगुण के अभाव से जो दोष होगा वह सूक्ष्म दोष है। स्पष्ट दोष सामान्य रूप से ही वाक्य में मौन्द्य का अपकर्ष करते हैं जैसे गुण सामान्य रूप से ही वाक्य में मौन्द्य का आधान करते हैं। इन्हींके ओजगुण सर्वत्र गुण नहीं है। शृंगार एव करण के स्थलों में वही दोष हो जाता है। केवल वीर तथा रौद्र भाव की रचनाओं में ही वह गुण रहता है। उपमादोष के विषय में वानन ने कुछ नहीं कहा है।

(सु) आनन्दवर्धन

आनन्दवर्धन एव अनिन्दगुण प्रवृत्ति ध्वनिवादी आचार्यों के विवेचन के अनन्तर ही गुणों के समान दोषों का भी रम में माशान् नम्बन्ध स्थापित हुआ। ध्वनिवादी ने अनौचित्य को ही रमभंग का एकमात्र कारण बताया और रम की निष्पत्ति का रहस्य अनौचित्य के अनिन्दवर्धन को ही कहा।^३ मसूत-अलकारग्रन्थ के इतिहास में ध्वनिमिद्वान्त की सर्वोत्तमता या सर्वोत्कृष्टता का रहस्य यही है कि एकमात्र वही वाक्य के दोष-गुणालंकार रीति एवं रस आदि तन्त्रों को उनके स्वरूप के अनुसार उचित स्थान प्राप्त हुआ है। आनन्दवर्धन के ध्वनि-मिद्वान्त में महद्वय के आस्वाद को बहुत अधिक महत्व दिया गया है। दोषादोष के निर्माण या अनौचित्य-अनौचित्य की व्यवस्था का एकमात्र आधार महद्वय-हृदय को ही माना गया है। अतएव उन्होंने दोषों का विवेचन विस्तारपूर्वक नहीं किया। इसलिए भी दोषों का विवेचन नहीं किया कि उन महावचनों की कृतियों में जिनको महत्त्व मूक्तियों के प्रकाशन से स्यात्तिल मिल चुकी है, दोषान्देष करना अपना ही दोष देवना होगा। अतः उन्होंने स्वतंत्र रूप से दोषों का विवेचन नहीं किया।^४ वस्तुस्थिति भी यही थी कि दोषों के पाण्डित्यपूर्ण विवेचन एवं कवियों की रचनाओं में दोषोद्भावन से महद्वय पाठक को क्या मिल सकता है? प्रत्युत विस्तारपूर्वक दोष विवेचन से विद्वानों में व्यर्थ की एक ऐसी परम्परा का शीघ्रपणे हुआ जिसमें पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों में दोष दिखाना ही पाण्डित्य एव कवित्व की कसौटी हो गयी। महाकवि कालिदास के अनुसार

१. एते वाक्यवाक्यार्थदोषान्प्रयोगात् ज्ञातव्याः । ये त्वय्ये शब्दार्थदोषाः सूक्ष्मास्ते च गुणविवेचने दशदन्ते उपमादोषान्चोपमाविचारे ।
—काव्यालंकारसूत्र धृति २।१।३ ।
२. अन्मिन्नधिकरणे लक्षणीया दोषाः काव्यस्यासाधुत्वापादकाः स्पृष्टा इत्यवगन्तव्यम् ।
—काव्यालंकार सूत्र कामधेनु टीका २-१-३ ।
३. अनौचित्यादुते नान्यत्रमनङ्गस्य कारणम् ।
प्रमिद्धौचित्यद्वन्द्वस्तु रसस्योपनिषत्परम् ॥
—ध्वन्यालोक तृतीय उद्योत ।
४. ननु सूक्तिमहत्त्वद्योनितात्पन्नानां महात्मनां दोषोद्घोषणं श्राव्य एव दूषणं मन्त्रनीति न विभज्य दासितम् ।
—ध्वन्यालोक धृति, पृ० १५ ।

भी उत्तम रचना में एकाग्र दोष का रह जाना स्वाभाविक ही है और वह दोषगुणों में उसी प्रकार सप जाता है जैसे चन्द्रमा की किरणों में उमका कलक।^१ श्रीके० कृष्णमूर्ति ने इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टर्ली नामक त्रैमासिक पत्रिका के बीमर्बे अंक में दोषों पर एक निबन्ध लिखा है जिसमें संस्कृत साहित्य के हास का सबसे बड़ा कारण यही बताया है कि कवियों एवं आलोचकों ने दोष के सम्बन्ध में आनन्दवर्धन के इस दृष्टिकोण की अवहेलना कर दी कि रचनाओं में दोष देखन की अरेक्षा औचित्य या सौन्दर्य देखने का ही प्रयत्न करना चाहिए। इस अवहेलना के कारण काव्य एवं कवियों में पाण्डित्य प्रदर्शन की प्रतिस्पर्धा ही चली। परिणामस्वरूप काव्यों में आल-कारिक एवं शाब्दिक चमत्कार की ही प्रधानता हो गई और मुहावरेदार के प्रयोग जो काव्य में औचित्य का आधान करने में समर्थ थे, ग्राम्य आदि दोषों की सजा देकर निरस्तृत कर दिये गये।^२

महिमभट्ट के पूर्ववर्ती आचार्यों के दोषविषयक विवेचन का यही संक्षेप है। इसमें बणिन आचार्यों के अतिरिक्त रुद्रट, कुन्तक आदि ने भी अपने ग्रंथों में यथावसर दोषों का विवेचन किया है जो इतना नगण्य है कि यहाँ उमका उल्लेख नहीं हो सका है। इसके पश्चान् हम व्यवित्तविवेक-कार महिमभट्ट के वृत्त अनीचित्य विचार का विस्तारपूर्वक विवेचन करेंगे।

१. एको हि दोषो गुण-सन्निपाते निमज्जतोन्दोः किरणेष्विवाङ्कं । —कुमारसम्भव १।३ ।

२. इंडियन हिस्टोरिकल क्वार्टरली, सितम्बर, १९४४. बीसवां अंक, पृ० २१७ ।

द्वितीय-विमर्श

महिमभट्ट दोष का-विवेचन

(क) दोष का सामान्यलक्षण एवं स्वरूप

ध्वनि के बहु आलोचक होते हुए भी महिमभट्ट इस बात में महमत है कि रस ही काव्य की प्रात्मा है।^१ अतः काव्यदोषों के स्वरूप के विषय में आनन्दवर्धन एवं महिमभट्ट एकमत हैं कि रसभंग से ही काव्य में दोष की संभावना होती है। उन्होंने स्पष्ट कहा है कि अनौचित्य ही एकमात्र वह तत्त्व है जिसके कारण रसास्वाद भंग होता है।^२ अतएव आनन्द एव महिमदोषों में ही दोष के स्थान पर अनौचित्य पद का ही प्रयोग किया है। अनौचित्य का सामान्य लक्षण बरते हुए व्यक्तिविवेककार बहते हैं कि—वाच्यार्थ के रूप में विवक्षित रस आदि की प्रतीति में जो विघ्न का विधायक ही वही दोष है।^३ आगे लक्षण की व्याख्या करते हुए वह बहते हैं कि—काव्य में रस का भंग साक्षात् भी हो सकता है, परम्परया भी रसभंग के माझान् हेतु को अन्तरस तथा परस्परसा हेतु को बहिरंग दोष कहा है। रस का माझात् भंग रसादिके परस्परके विरोध एवं विभावानुभाव व्यभिचारिभावों के अनुचित वितियोग से ही होता है। विनावादि के रूप में उपर्णित शब्द, अर्थ एव वाक्यादि में जो अनौचित्य है वह विनावादि के द्वारा परम्परया ही रसभंग का हेतु होता है। अतः वह बहिरंग दोष है।

आचार्य महिमभट्ट ने यह अनुभव किया कि अन्तरंग दोषों का विवेचन आनन्दवर्धन ने पर्याप्त विस्तारपूर्वक कर दिया है। अतः उनके विवेचन के विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। बहिरंग दोषों का विवेचन किन्हीं भी आचार्य ने मन्तोपजनक नहीं किया। अतः उनका ही विस्तारपूर्वक विवेचन व्यक्तिविवेक ग्रन्थ में विवक्षित है।^४ पहले ही कहा जा चुका है कि आचार्य आनन्दवर्धन ने दोषों का विवेचन विस्तारपूर्वक नहीं किया है। इस सम्बन्ध में उनका कहना है कि कालिदास प्रभृति जिन महात्माओं ने सहस्रों सूक्तियों की रचना करने का शौभाग्य प्राप्त किया है तथा उनके कारण लोक में जिनको पर्याप्त प्रतिष्ठा मिल चुकी है, उनकी रचनाओं में दोषोद्भावन करना स्वयं दोष है। उन्होंने कवियों के लिये महात्मा शब्द का प्रयोग कर

१. काव्यस्यात्मनि संनिजि रसादिरूपे न वस्यच्चिद्विमतिः । —व्यक्तिविवेक १।२६।
२. अनौचित्यादृते नान्यद् रसमङ्गस्य कारणम् । —ध्वन्यालोक, तृतीयोद्योत।
३. एतस्य च विवक्षितरसादिप्रतीतिविघ्नविषयापित्वं नाम सामान्यलक्षणम् । —व्यक्तिविवेक, पृ० १५२।
४. अन्तरङ्गमाधरैवोपनमिति नेह प्रतन्यते । —व्यक्तिविवेक, पृ० १४९।

उन्हें बहुत ही गौरव दिया है। महात्माओं के चरित्र या कृति में दोष देखना तो किसी मतिमन्द का ही स्वभाव होता है।^१

दोषों का विवेचन आचार्य महिमभट्ट का भी प्रिय विषय नहीं है। उनका विश्वास है कि दूसरों के दोषों को देखना एवं उनका विवेचन करना खलो का ही काम है मज्जनों का नहीं।^२ किन्तु उनकी विस्तृत व्याख्या के लिये वह विवका से प्रतीत होते हैं। विद्वान् पाठक उन्हें सबल न समझ ले, अतः दोष विवेचन के लिये वह कबो प्रवृत्त हुए हैं। इसका स्पष्टीकरण ना करते हुए उन्होंने कहा है कि—प्रश्न का उत्तर न देने पर लोग नाना प्रकार की सभावनायें करने हैं कि व्यक्ति मूर्ख तो नहीं है क्या? अन्यथा पुनः पुनः प्रश्न करने पर उत्तर न देने को अमम्मना उमे नहीं करती चाहिये। अथवा वह विद्वानों से ईर्ष्या या मालिन्य तो नहीं रखना, और इनीलिये मौन धारण कर लिया है। लोग यह सब या अन्य इनी प्रकार की सभावनायें न करे इमलिये तथा छात्रों को पुनः पुनः अन्यर्थना पर आज मुझे महना मज्जनों के मार्ग का परित्याग कर नवके ममध ही उन दुष्टता को अपनाता पड रहा है जिसका आचरण अभागे ही करते हैं।^३ कहने का आशय यह है कि दोषों का निरूपण भले व्यक्तियों का काम नहीं है किन्तु छात्रों के हित के लिये विवका होकर ही उन्होंने काव्य-दोषों का निरूपण किया है। आचार्य का कथन है कि जो व्यक्ति अपनी कृतियों में दोषों के निराकरण करने में ममर्थ नहीं है वह दूसरों को कैसे अनुमानित कर सकता है। अर्थात् उनकी कृतियों के दोष गुण की नमीक्षा किन प्रकार कर सकता है? ऐसा नहीं कहना चाहिये। क्योंकि जिस प्रकार कोई वैद्यराज स्वयं अपय्य का सेवन करना हुआ भी दूसरों के लिये उनका निषेध करता है। वही स्थिति नमालोचक की होनी है। स्वयं सफल कवि न होने हुए भी वह कविता की उत्तमता एवं अधमता को कवि से अधिक पहचानता है और इस प्रकार वह उनकी गलत ममीक्षा कर सकता है।^४

(व) दोषों का विस्तृत-विवेचन

आचार्य महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक के प्रथम विमर्श में काव्य के आधायक विविध तत्वों का नामोपाग निरूपण कर काव्यानुमितिवाद की हर प्रकार से प्रतिष्ठा की है। द्वितीय विमर्श में उन्होंने काव्य में सघटित होने वाले दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। दोष को उन्होंने मानान्वयता अनौचित्य के नाम से अभिहित किया है। क्योंकि उनके अनुसार रम ही काव्य का

१. द्विपन्ति मन्दस्वरितं महात्मनाम् ।

—कुमारसंभव, ५१०५ ।

२. तानखलान् खला इव ध्याहयास्यामः ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १५२ ।

३. मृगः किं किमसम्य एष भजते भास्वर्यपीनं नु किं पृथ्यो न प्रतिवक्ति यः किल जनस्तत्रैति सम्भावयेत् ।

छात्रान्यर्थनया ततोऽथ सहसंबोत्सृज्य मार्गं सतां

पीरोभाष्यमभाष्यभाजनजनरसेच्चं मयाङ्गोहितम् ॥१॥ —व्यक्तिविवेक, पृ० १५२ ।

४. स्वकृतिध्वयन्वितः कथमनुशिष्यादन्यमयमिति न वाच्यम् ।

वारपति भियगपय्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तन् ॥२॥

—व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।

सर्वम्ब है तथा रसभग से ही वाक्य में दोष सम्भव है। वह रसभङ्ग अनौचित्य के बिना नहीं होता। इन प्रकार उन्होंने दोषों को सामान्यतया विवक्षित रसाग्नि की प्रतीति वा प्रतिबन्धक माना है। और बताया है कि दोष, माक्षात् एव परम्परया उभयविधि मे रस का अपवर्णन करने हैं। विमर्ग के आरम्भ में ही प्रथमकार ने कहा है कि दोष के दो भेद होते हैं—शब्द-विषयक और अर्थ-विषयक। अर्थ-विषयक दोष अन्तरग बने जाते हैं एव शब्द-विषयक बहिरग। विभावानुभाव एव व्यभिचारिभाव के संयोजन में त्रुटि रह जाने से रसों में जो अपवर्णन हो जाता है, वह अन्तरग दोष है। इसलिए व्यक्तिविवेक में उभवा विचारपूर्वक विवेचन नहीं किया है। आद्य आचार्यों ने इनका जन्मप्राय मुख्यरूप में आनन्दवर्धन में है। बहिरग दोष साधारणतया पाँच प्रकार के होते हैं—१. विधेया-विमर्ग, २. प्रक्रम-भेद, ३. क्रमभेद, ४. पीनस्वत्व एव ५. वाच्यावचन। यद्यपि वृत्त वा दुःश्रवत्व भी एक प्रकार से शब्ददोष ही है क्योंकि छन्द भी रसानुगुण प्रवृत्ति ही दृष्ट है, तथापि जैसे विधेयाविमर्गादि दोष केवल वाचकत्वाश्रय होते हैं उन्हीं प्रकार छन्ददोष केवल वाचकत्वाश्रय ही नहीं होता किन्तु रसाग्नि भी होता है। अतः यहाँ पर उनकी श्रेणी में इसका भी उपादान नहीं किया है।^१

१. विधेयाविमर्ग दोष एवं उसमें प्रौढभूत समस्यायें —

(अ) नञ्-समाप्त के प्रसंग में प्रमज्ज-प्रतिषेध का विधान

विधेया-विमर्ग वह दोष है जहाँ विधेय का ठीक-ठीक विचारन कर यथोचित विमर्ग के बिना ही उसे वाक्य में जहाँ कहीं स्थान दे दिया गया हो। इनका उदाहरण दिया है—

‘संरम्भः करिकोटमेघशकलोद्देशेन मिहस्य यः

सर्वस्यैव स जातिमात्रनिपतो हेवाक्लेशः चित् ।

इत्याशाद्विरदक्षयाम्बुदघटाबन्धेष्व्यसंरब्धवान्

योग्ती कुत्र चमत्कृनेरतिशयं यात्वम्बिकादेसरी ॥

गजकुम्भ और मेघलण्ड के प्रति सिंह का संरम्भ (अत्यमण के लिये उत्साह-प्रदर्शन) अत्यन्त स्वानात्रिक है क्योंकि वह समूची सिंहजाति में विद्यमान एक महत्स्वाकांक्षा है यह सूच कर दुर्गा का याहन सिंह दिग्गनों और प्रलयंकारी मेघों की घटा उमड़ने पर

१. इह खलु द्विविधमनौचित्यमुक्तम् अर्थविषय शब्दविषयं चेति । तत्र विभावानुभावव्यभिचारिणामपयापयं रसेषु यो विनियोगस्तन्मात्रक्षणमेकमन्तरङ्गमाद्यैरेवोक्तमिति नेह प्रतन्यते । अपरं पुनर्वहिरङ्गं बहुप्रकारं सम्भवति । तद्यथा—विधेयाविमर्गः, प्रक्रमभेदः क्रमभेदः, पीनस्वत्वयं, वाच्यावचनं चेति । दुःश्रवत्वमपि वृत्तस्य शब्दानौचित्यमेव, तस्याप्यनुप्रासादेरिव रसानुगुण्येन प्रवृत्तेरिष्टं त्वान् । केवलं वाचकत्वाश्रयमेतन्न भवतीति न तत्तुल्यवक्ष्यतयोपात्तम् ।

भो आक्रमणाभिमुख नहीं होता फिर अन्य किस पर अपने पीरुप-प्रदर्शन द्वारा चमत्कार की अनिदायता को प्राप्त करे ।

यहाँ पर प्रयुक्त अमरव्यवान् में नञ् का प्रयोग विमर्श पूर्वक नहीं हुआ है । क्योंकि प्रकृत स्थल में उनका विषय पर्मुदास है । वहाँ पर विभोपण होने के कारण नञ् का सुबन्त उत्तर पद के साथ सम्बन्ध युक्तिमग्न है । कहा भी गया है कि जहाँ पर त्रिविध प्रधान और निषेध गौण हो तथा जहाँ नञ् का उत्तर पद के साथ सम्बन्ध हो उसे पर्मुदास समझना चाहिए ।^१ इसका उदाहरण दिया है—

जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः ।

अपृष्णुराददे सोऽर्थमसक्वः सुखमन्वभून् ॥

निर्मोक होकर उसने अपनी रक्षा की, बिना आतुरता के धर्म का सेवन किया, लोभरहित होकर प्रजा से घन ग्रहण किया तथा अनासक्त भाव से विषय-सुख का अनुभव किया ।

यहाँ अक्वन्., अतानुर, अगृष्न् अन्क ये सभी पर्मुदासके उदाहरण हैं । नञ् दो प्रकार का होता है—पर्मुदास और प्रमज्य । पर्मुदास मदनप्राही होता है और प्रमज्य निषेधात्मक^२ । प्रमज्य प्रतिषेध पर्मुदास से विपरीत उन म्यलो में होता है जहाँ विधि अप्रधान हो और प्रतिषेध की ही प्रधानता हो तथा जहाँ क्रिया के साथ नञ् का विधान हुआ हो । इसका उदाहरण दिया है—

“नवजलयरः सन्नद्धो य न दृष्टनिशात्तरः

सुरधनुरिदं दूरादृष्ट न तस्य शशसनम् ।

अथमपि पशुधारासारो न बाणपरम्परा

कनकनिकृषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोवंशी” ॥

यह उन्मत्त राक्षस नहीं अपितु उमड़ता हुआ काला बादल है । दूर तक खिन्ना हुआ यह उसका धनुष नहीं अपितु इन्द्र धनुष है । वर्षा की यह निरन्तर लगी झड़ी जल धृष्टि है बाण वृष्टि नहीं । कसौटी पर कसौ सुवर्ण की रेखा के समान कमनीय यह विद्युत् ही है मेरी प्रिया उवंशी नहीं ।

उपर्युक्त उदाहरण अमरव्यवान् में पर्मुदास का आश्रयण इसलिए असंगत है कि वहाँ न तो विधि की प्रधानता है और न नञ् का उत्तर पद के साथ सम्बन्ध ही । जित्नु उसके विपरीत प्रतिषेध की ही प्रधानता है । एवं क्रिया के साथ नञ् का सम्बन्ध होने से वह प्रमज्य का ही उदाहरण है । यह निश्चय होने पर कि यहाँ नञ् प्रमज्य है नमान नहीं बनता । क्योंकि नमान होने पर विशेष्यमान होने के कारण नञ् का ही अर्थ प्रधान होगा और अनुद्यमान होने से उत्तर

१. अत्र दृष्टसंरथवानिति नञ् समासस्तावदनुपपन्नः । तस्य हि पर्मुदास एव विषयः, तत्रैव विशेष्यभावात्तज्ज्ञः सुबन्नेनोत्तरपदेन सम्बन्धोपपत्तेः । तदुक्तम्—

“प्रधानत्वं विधेर्धत्र प्रतिषेधे प्रधानता ।

पर्मुदासः स विशेषो यत्रोत्तरपदेन नञ् ॥”

—अध्वनिविवेक, पृ० १५४-१५५ ।

२. नञायीं द्विविधौ प्रोक्तौ पर्मुदासप्रसज्यकौ ।

पर्मुदासो सद्दशप्राही प्रसज्यस्तु निषेधकृत् ॥ प्रकोणं

पदार्थ गौण ही जायेगा तथा इम प्रकार के वाक्यों में प्रतिषेध की ही प्रधानता होगी। ममाम होने पर यह विध्यनुवादभाव भी ममाप्त होने लगेगा। जहाँ पर ऐसा नहीं है अपितु दमके विपरीत है वहाँ ममान होता ही है यथा—

“काव्यार्थतत्त्वावगमो न वृद्धाराधनं विना ।

अनिष्टवान् राजसूयं कः स्वर्गं मुख्यमश्नुते” ॥

वृद्धो की सेवा के विना काव्यतत्त्व का बोध नहीं हो पाता। ठीक ही है, राजसूय यज्ञकिये विना स्वर्ग के सुख का भोग कौन कर सकता है ?

यहाँ पर राजसूय यज्ञ करने पर ही स्वर्ग की प्राप्ति होती है न करने पर नहीं, अभि-प्राय के इम वाक्य में माध्य स्वर्ग है, राजसूय ही उमका हेतु है। वहीं प्रधान है, नञ् का अर्थ अप्रधान। अतः विध्यनुवादभाव के अभाव में राजसूय-यज्ञ रूप उत्तर पदार्थ की प्रधानता में अनिष्टवान् में नञ् समाप्त हुआ है।^१ अन्तरश्लोकों में व्यवस्था देते हुए कहते हैं कि अनिष्टवान् की तरह असरव्यवान् में नञ् का विधान नहीं है। क्योंकि वहाँ क्रियांग कारकांग दो हैं। दोनों अर्थों में से क्रियांग का ही नञ् में निषेध करना अभीष्ट है, कारकांग का नहीं। नेष्टवान् में तो प्रतीयमान क्रियांग का ही निषेध हुआ है। पूर्वत्र शब्द-शक्ति के स्वभाव में क्रियांग का निषेध प्राधान्येन विवक्षित है। उमका ठीक-ठीक विमर्श न होना ही विधेयाविमर्श दोष है।^२

क्रियांग और कारकांग में क्रियांग ही निषेध्य है ऐसी बात नहीं है। कर्तांग भी अपोह्य होता है। लेकिन ममामादि वृत्ति में उमके विपरीत कारकांग ही प्रतिषेध्य होता है, क्रियांग नहीं। जैसे न कुम्भकार अकुम्भकार, इम पद में 'कुम्भ करोनीति' विग्रह में कर्मणि अण् प्रत्यय होकर कुम्भकार पद कुम्भाल का वाचक होता है। यहाँ अकुम्भकार. नञ् से कारक कुम्भकार का ही निषेध होता है न कि 'कु' क्रिया का, जो कि कुम्भकार पद में अनुस्यूत है। यह नियम शब्द शक्ति के स्वभाव से है। जहाँ पर नञ् अर्थ गौण होकर प्रतीय होता है वहाँ तो ममाम होता है और जहाँ उमका ही अर्थ प्रधान होता है उमका ममाम नहीं होता। इम अर्थ के स्पष्ट हो जाने पर असरव्यवान् में ममाम करना, जहाँ नाञ् अर्थ की प्रधानता होती है, ठीक नहीं है अनएव इममें विधेयाविमर्श दोष है।^३ फिर भी कुछ विद्वान् व्यामोहवशात् पर्युदाम नञ् में भी ममान करना पसन्द नहीं करते। उदाहरणतः—

१. इह च पर्युदासाध्यणमसं ज्ञतम् अर्थस्यायुक्तत्वप्रसङ्गात् । संरब्धावत्प्रतिषेधो ह्यत्राभिमतः नासंरब्धवर्द्धिः तत्रैव क्रियांगप्रतिषेधावगतौ नञः क्रियाभिसम्बन्धोपपत्तेः । न चासौ प्रतीयते गुणोभूतसंरम्भनिषेधस्यार्थान्तरस्यैव संरब्धवत्सद्भास्य विधौ प्रतीतेः । न च तत्प्रतीतौ विवक्षितार्थसिद्धिः काचित् । तत्सिद्धिपक्षे च समासानुपपत्तिः । नार्थस्य विधीयमानतया प्राधान्यादुत्तरपदार्थस्य चानूद्यमानतया तद्विपर्ययात् । समासे च सति अस्य विध्यनुवादभावस्यास्तमयप्रसङ्गात् । यत्र तु .विपर्ययस्तत्र समासो भवत्येव ।
व्यक्तिविवेक, पृ० १५६-१५७ ।

२. क्रियाकर्त्रंशभाग्यो वाक्येऽपोह्यो नञा यदि ।

क्रियांग एवापोह्यः स्यान्नेष्टवानितिवत् तदा ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० १५८।३ ।

३. अकुम्भकार इतिवद् वृत्तौ तु स्याद्विपर्ययः ।

इत्येष नियमोऽर्थस्य शब्दशक्तिस्वभावतः ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० १५८।४ ।

ननु साधु कृतं प्रजासृजा शशिकान्तोयु मनो न कुर्वता ।
न हि चेतनतामवाप्य ते विरमेयुर्गलितेन केवलम् ॥

यहाँ पर 'न कुर्वता' में समास नहीं किया है जिसमें करोति' क्रिया के निषेध की ही प्रतीति होती है, जो वाक्यार्थ के अनुगुण नहीं है। अथवा—“गृहीत ये नामी परिभवभयाद्भो-
चिनमपि ।” में 'अनुचितमपि' के स्थान पर समास न करके 'नोचितमपि' कहने में विपरीत अर्थ की प्रतीति होती है ।

यदि यह कहे कि जैसे अथाद्धभोजी ब्राह्मण की भानि प्रमज्यप्रतिषेध में भी समास होना ही है उसी प्रकार यहाँ पर 'अमरव्यवान्' में भी समास होने में क्या दोष है ? यहाँ अमरव्य-
वान् के निषेध का ही ज्ञान होना ठीक है अमरव्यवान् की विधि का नहीं। और इस प्रकार यहाँ भी प्रमज्यप्रतिषेध कर लेने से ही काम चल जाता है। पर्युदाम के आश्रयण की क्या आवश्यकता है ? लेकिन ऐसा नहीं मान सकते क्योंकि इस प्रकार अथाद्धभोजी पद में अव्यवहितोत्तर श्रूय-
माण श्राद्ध पदार्थ के साथ नञ् के निषेधनिषेधक भाव रूप अभिमन्वन् की प्रतीति नहीं होती। अपितु भोजी अर्थ के साथ अर्थान् श्राद्ध भोज्यकर्ता के साथ मन्वन् की ही प्रतीति होती है।
यहाँ पर भी कर्ता का अर्थ ही प्रधान है, क्रिया का नहीं। अतएव कर्ता श्राद्धभोजनशील प्रतीत होता है। उसके भोजन मात्र अर्थ में कर्ता में गिनि प्रत्यय का विधान नहीं हुआ है। कहने का अभिप्राय यह है कि 'श्राद्ध भोज्यशीलम् अस्य इति श्राद्धभोजी, न श्राद्धभोजी अथाद्धभोजी कश्चिन् पुत्र्य' इस व्युत्पत्ति से शब्द में दो अर्थ हैं एक भुज् क्रिया रूप दूसरा गिनि का अर्थ कर्ता। क्रिया कर्ता का विशेषण है अतः अप्रधान है। स्वतंत्र होने से कर्ता ही प्रधान है। नञ् का अन्वय किममे हो इस सदेह में 'सदिग्ध राज' न्वाय से प्रधान अर्थान् कर्ता में ही उनका अन्वय उपपन्न होगा अप्रधान क्रिया में नहीं। इस प्रकार क्रिया के साथ अन्वय न होने के कारण यह प्रमज्य-
प्रतिषेध का उदाहरण नहीं हो सकता, पर्युदाम का ही हो सकता है। फिर इसकी तुलना 'अमरव्य-
वान्' से कैसे हो सकती है।^१ अतः उक्त 'अमरव्यवान्' में विधेयाविमर्श दोष है ही। इसी विषय को सप्रहकारिका में कहते हैं कि नञर्थ के प्रधान एव निषेध के अप्रधान होने पर नञ् समास नहीं होता। क्योंकि समास होने से गौण की प्रधानता तथा प्रधान की गौणता रूप अर्थ-विपर्यय दोष उपस्थित होता है।^२

(इ) यतद्पदो के प्रयोग का विचार

विधेयाविमर्श दोष में यत् और तत् शब्द का प्रयोग प्राय आता है। यत् और तत् में

१. नन्वश्राद्धभोजीत्यत्र प्रसज्यप्रतिषेधोऽपि यथा समास इध्यते तद् विहापि भविष्यति । संरन्ध-
वन्निषेधश्च प्रतिपत्स्यते नासंरन्धवद्विधिरिति प्रसज्यप्रतिषेध एवायमस्तु कि पर्युदामाश्रय-
णेन । नैवंशब्दार्थं, यतो न तावदत्र नञ् श्राद्धेनोत्तरपदार्थेनाभिसम्बन्धः कश्चित्प्रतीयते,
अपि तु विशेष्यतया प्राथम्येन तद्भोज्यार्थेनैव । तत्रापि कर्तृश एव प्रधानो न क्रियांशः ।
श्राद्धभोजनशीलो ह्यतः कर्ता प्रतीयते न तद्भोजनमात्रं कर्तरि गिनेविधानात् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० १५९-१६० ।

१. नञर्थस्य विधेयत्वे निषेधस्य विपर्यये ।
समासो नैत्यतेऽर्थस्य विपर्ययप्रसङ्गतः ॥

—व्यक्तिविवेक, पृ० १६२ ।

में केवल किमी एव का प्रयोग उपपन्न नहीं माना जाता। क्योंकि विरोधत्व प्रतीतिवागी शब्द के अभाव में वाक्य में निराकांक्षत्व का ज्ञान नहीं होगा। अनुवाचकत्वमात्र प्रतीतिवागिन्ना में विषयविषयक आकांक्षा जगन्मूक रहती है। इसीलिये कहा गया है कि यन् और तत् का सम्बन्ध नित्य है। जहाँ वही भी इनमें से किमी एक का उपादान होगा, वहाँ दूसरे का विधान आवश्यक होता है। इन दोनों का उपपन्न और उपनहार दो प्रकार का होता है—शब्द और अर्थ। जहाँ पर दोनों का शब्द उपादान होता है वहाँ शब्द होता है, जैसे—

‘यदुवाच न तन्मिथ्या यद् ददाी न जहार तत् ।’

तथा—‘स दुर्मतिः श्रेयसि यस्य नादरः स पूज्यवर्मा सुहृदां शृणोति यः’ ।

अर्थ वहाँ पर होता है जहाँ यन् और तत् दोनों में एक का तो शब्द उपादान किया जाय और दूसरा अर्थ का जाय या दूसरे का अर्थ के मान्य से आक्षेप हो जाता हो। केवल तत् शब्द का प्रतिधान होने पर अर्थ तीन प्रकार का होता है—प्रतिद्वार्य विषयक, अनुभूतिविषयक और प्रब्रान्तविषयक। जहाँ पर प्रतिद्वार्य वस्तु की विषयता में कल्पित यत् में प्रतिधान स्थापित किया जाय उसे प्रतिद्वार्यविषयक कहते हैं। उदाहरणस्वरूप—

‘द्वयं यत् संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।

कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोचस्य च नेत्रौमुदौ’ ॥

यहाँ पर तत् शब्द का प्रयोग में प्रतिद्वार्य चन्द्रमा की कला के दोष के लिये या में यत् पद का आक्षेप हो जाता है। अनुभूतिविषयक वह है जहाँ यत् शब्दार्थ अनुभवगम्य हो। उदाहरणस्वरूप—

ते लोचने प्रतिदिशं विद्युरे क्षिपन्ति ।

इसमें तत् पद ‘ते’ के उपादान से बहूनाः अनुभूत उन नेत्रों का ग्रहण हो जाता है जिनका पहले जनेक द्वार माझाकार हो चुका है। प्रब्रान्तविषयक वह है जहाँ तत् से यत् शब्दार्थ की प्रतीति प्रकरणवत् होती है। यथा—

‘वातर्यं केवला नीतिः शौर्यं द्वापदचेष्टितम् ।

अतः सिद्धिः समेतान्ध्यामभान्ध्यामन्वियेप सः’ ॥

यहाँ पर तत्पदार्थ से प्रब्रान्त अग्निवर्ण राजा में गवेपित यत् का अर्थ निकलता है। प्रकरण में अग्निवर्ण का वर्णन हो रहा है, अतः तत् शब्दार्थ प्रब्रान्त विषयक एवं प्रमुख है। बुद्ध लोग इनके एक चीथे प्रकार का भी विधान करते हैं। जहाँ पर दोनों यन् और तत् का शब्द उपादान न हुआ हो किन्तु वर्णित वस्तु विषय में दोनों का ही आक्षेप हो जाता हो। उदाहरण स्वरूप—

‘ये नाम केचिदिहं नः प्रययन्त्यवतां

जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैप धनः ।

उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा

बालो हृष्यं निरवर्षिविपुला च पृथ्वी ॥’

उक्त पद्य में, ‘वह जो उत्पन्न होगा उसने प्रति हमारा यह प्रयत्न सफल होगा’ अर्थ होने से यहाँ

यन् और तद् दोनों का अर्थ मे ही आशेष होता है। इसी अभिप्राय को मप्रहृत्काङ्क्षा मे कहते हैं।^१ ऐसा इमलिये होता है कि कर्त्वाच्च इदमादि शब्द मे तद् शब्द का सम्भव नहीं होता।

यन् का अर्थ उपक्रमोपहार दो प्रकार मे सम्भव है—प्रकान्तवस्तुकल्पित विषयक एव तत्कर्मादिविषयक। जहाँ पर वस्तु का वर्णन प्रकल्पन विहित होता है उसे कान्तविषयक कहते हैं। जैसे—‘यं सर्वशैला’ इस पद मे प्रकरणवश प्रथम यन् शब्द मे अल्पतमस्यादिनि मे हिमालय का परामर्श होता है। दूसरे का उदाहरण है—आत्मा जानाति यन्पिना, माता जानाति यत्पिना’ यहाँ पर ‘यन्पिना तन् आत्मा जानाति यत्पिना न माता जानाति’ उभयपक्ष तद् पदके आशेष मे ही वाक्यार्थ उपपन्न होता है। जहाँ कहीं पर तन् शब्द का या वाग तथा यत् शब्द का एक ही बार प्रयोग मिलता है। जैसे—यन् तद्गुणितमन्वयं क्षानं तेजोऽस्य भूषते। इत्यादि पद मे तन् पद का दो बार तथा यन् का एक ही बार उपदान हुआ है। फिर भी उभय कहे गये दो प्रकार के भेदों मे ही इसका भी समावेश ही जाना है। क्योंकि यत् के प्रकान्तविषयक होने से तद् का एक जगह तो शब्दनन्वय है, दूसरे यन् के प्रयोग में यत्पद के प्रसिद्ध तेजोनिष्ठतया उपकल्पित यन् के साथ सम्बन्ध होने मे आर्थ है।^२

इन प्रकार यहाँ यह प्रश्न उठता है कि योऽपमिह योऽसौ इत्यादि स्थलों मे केवल यन् शब्द का ही उपादान हुआ है फिर उनका सम्बन्ध किन्ने माना जाय? यह वाक्य मुक्तक है इसमे उनमे सम्बन्धित कोई ऐसा अर्थ सम्भव नहीं जो प्रकरणवश कला आ रहा हो किन्ने साथ उसके सम्बन्ध की कल्पना कर ली जाय। उपकल्पित यन् शब्द के साथ उन यन् शब्द का सम्बन्ध सम्भव नहीं। यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि इन स्थलों मे यन् शब्द का प्रयोग निराकाक्ष है। क्योंकि उनके साथ अद्भुत शब्द का प्रयोग हुआ है और उनमे ही वाक्यार्थ की परिपूरणा ही जाती है वाक्यार्थ की विध्यात्ति होने पर विधेयाविभक्त शेष की सम्भावना कथमपि नहीं होती। किन्तु यह ठीक नहीं है। अद्भुत शब्द का अर्थ तद् शब्द के अर्थ के समान नहीं माना जा सकता। दोनों की समानार्थक मानने से विध्यनुवादभावहमज्ञान की निराकाक्षता ही जायगी। इसके अनिश्चित अद्भुत शब्द को तन् का समानार्थक स्वीकार कर लेने पर जहाँ केवल अद्भुत शब्द का ही प्रयोग

१. यद्वचकवाचये कर्त्तृत्वेनोक्तो यद्वचरेमादिभिः ।
तच्छब्देन परामर्शो न तयोपपद्यते ॥६॥
यतोऽप्यज्ञापमाणोऽयं स तेभ्यः प्रनिपद्यते ।
न चातो तत्परानर्शतहिष्णुरसम्बन्धान् ॥७॥ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।
२. यदः पुनरायो द्विप्रकारः सम्भवति प्रकान्तवस्तुकल्पिततत्कर्मादिविषयेण तदा तस्याभि-
सम्बन्धान् । यथा ‘यं सर्वशैला’ इत्यादी ‘स हिमालयोऽस्तीति । यथा च ‘आत्मा जानाति
यन् पानं माता जानाति यत्पिना’ इत्यादी तदात्मा जानातीत्यर्थावगनेः ।
“यन् तद्गुणितमन्वयं क्षानं तेजोऽस्य भूषतेः ।
दोष्यनाश्रंस्तदानेन नूनं तदपि हारितम् ॥”
इत्यादी च यद्यपि तयो द्विउपादानं तदृत्त्व यदस्तथापि तत्र यद्योवनसम्बन्धद्वैविध्याननि-
वृत्तिः । तथा हि यदः प्रकल्पनानविषयेण तदपीत्यनेन तदाभिसम्बन्धाच्छब्दः । यत्तदित्यस्य
तु प्रसिद्धतेजोनिष्ठतयोपकल्पितेन यदाभिसम्बन्धावायंः । व्यक्तिविवेक, पृ० १६७-१६९ ।

है वहाँ पर भी उसमें यत् का परामर्श होगा, किन्तु ऐसा होना नहीं है। अदम् शब्द के साथ यत् का विधेयाविमर्श नहीं बनना।^१

इस प्रकार यत् और तत् शब्द के सम्बन्ध का विस्तृत विवेचन कर ग्रंथकार ने नाना-प्रकार के उदाहरणों से यह प्रदर्शित किया है कि इन प्रयोगों की ठीक-ठीक जानकारी के बिना विधेयाविमर्श दोष का होना अत्यन्त स्वाभाविक है। इस समूचे विवेचन को निम्नलिखित मप्रह-कारिकाओं में भी संकलित कर दिया है—

अनुक्त्वं परामर्शं प्रयोगो यत्र यत्तदोः ।

निरन्तरः पुनस्तत्र तयोर्वितर्नं दुष्यति ॥२।८॥

'यत्तद्भोजन' आदि स्थलों में जहाँ सर्वनाम से परामर्श किये जाने योग्य अर्थ को बिना कहे यत् और तत् का प्रयोग, बिना किसी व्यवधान के कर दिया जाता है वहाँ उनका पुनः वचन मा दोष नहीं होता।

तयोर्निरन्तरोपात्तेष्विदमेतददस्सु च ।

तयोस्तेषां च नापेक्षा तेष्वसत्सिद्धव्युत्पत्तिः ॥२।९॥

इसी प्रकार इदम्, एतद् और तदम् सर्वनामों का यत् और तद् के साथ बिना किसी व्यवधान के मिला कर प्रयोग किया गया हो फिर भी यत् से तत् और तत् से यत् की आर्कांक्षा उसी प्रकार शान्त नहीं होती जैसे उनके न रहने पर अर्थात् यत् तत् के प्रयोग में अन्य सर्वनामों के प्रयोग में वान्य में आर्कांक्षा की पूर्ति नहीं होती।

उदाहरणजातं यत् तत्संकर्यं समुद्भवम्

तस्य दिङ्मात्रमस्माभिरुक्तं विस्तरभीरुभिः ॥१।१०॥

यत् और तत् के इदम् आदि की मिलावट में अलग-अलग तथा दोनों को मिलाकर अर्थात् यत् शब्द के स्वतन्त्र रूप में अदम् आदि शब्दों के माहृचर्य से, तद् शब्द के स्वतन्त्र रूप से इदम् आदि के माहृचर्य में, तथा दोनों के सम्मिलित रूप में इदम् आदि के माहृचर्य में जितने उदाहरण सम्भव होते हैं मैंने उनका दिग्दर्शन मात्र कराया है। क्योंकि हम यहाँ इसका बहुत विस्तार नहीं करना चाहते।

(३) समाससमास में विवक्षा की विधि

आचार्य महिमभट्ट ने विधेयाविमर्श दोष के विवेचन के अन्तर्गत समान को भी लिया है और विस्तृत विवेचन कर यह बताया है कि वाक्य में वहाँ ममाम विवक्षित होना है वहाँ नहीं। उनका कहना है कि जहाँ विनोय अंश को विधेय बनाने की विवक्षा हो वहाँ ममाम-वृत्ति नहीं होती। प्रधानेतरभाव की व्यवस्था में शब्दों में ममाम या ममाम का अभाव विवक्षाधीन होता है। ममाम में जिसके अर्थ की प्रधानता होती है वही पद विधेय होता है। उसका विमर्श न होने पर वहाँ विधेयाविमर्श दोष पड़ता ही है। पूर्वोदाहृत पद्य 'सरम्भः बरिक्कीट.....अम्बिका-

दोष विवेचन

केनरी' में प्रयुक्त नमस्त पद 'अम्बिकाकेमरी' में इसी प्रकार का विधेयाविमर्श दोष है। निम्न मन्त्रकारिकाओं में समान विपक्ष विवेचन का सकलन कर दिया है—

पदमेकमनेकं वा यद्विधेयार्थतां गतम् ।
 न ततसमासमन्येन न चाप्यन्योन्यमर्हति ॥११॥
 लोहितस्तभक्त इति समासोऽत्रापि नेष्यते ।
 लौहित्यस्य विधाबुवनन्यायात्तस्याप्रवृत्तितः ॥१२॥
 स्वरूपमानस्योक्तौ तु लौहित्याव्यभिचारतः ।
 उष्णोऽग्निरिति वत् पक्षो न चास्त्यन्यस्तदत्यये ॥१३॥
 विनोत्कर्षापकर्षान्यां स्वदन्तोऽर्यां न जातुचित् ।
 तदर्थमेव क्वयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥१४॥
 तौ विधेयानुवाद्यत्वविशेषैकनिबन्धनौ ।
 सा समासेऽस्तमायातीन्यसकृत् प्रतिपादितम् ॥१५॥^१

ममान में विधेयाविमर्श दोष प्रायः होता है। श्रयकार का कहना है कि इसीलिये काव्य में वंदनीं रीति को ही सर्वोत्तम माना गया है क्योंकि उनमें ममान लेशनात्र भी प्राह्य नहीं होता। ममान से केवल अन्वय का ही बोध कराना चाहिए। उत्कर्ष या अपकर्ष का नहीं। क्योंकि उनकी प्रतीति तो वाक्य से ही होती है। 'न्यकारो ह्ययमेव' नामक रावण की उक्ति का उदाहरण देने हुए ग्रन्थकार ने 'उमे ममज्ञाया' है। ममान के विषय में एक दूसरे प्रकार की व्यवस्था देने हुए वह कहते हैं कि काव्य में ममान की वृत्ति रसाभिव्यक्ति की अपेक्षा करके होती है। इन प्रकार ज्ञान, शृङ्गार एवं करुण नामक रसों में ममान का प्रयोग करना ठीक नहीं है क्योंकि वीररादि में ही ममान-बहुला-भदावली प्रशस्त होती है। ममान, वृत्त, वृत्तियां, काव्य तथा वाचिकाभिनय रसाभिव्यक्ति के ही हेतु माने गये हैं। ममान कैना होना चाहिए इनका विधान करते हुए कहते हैं कि अर्थावधि एवं अन्तावधि ही ममान है, इनमें अधिक नहीं। अन्यथा पद्यात्मक रचना भी नशात्मक हो जायगी। गद्य में वृत्त (छन्द) के अभाव में रसाभिव्यक्ति पद्य की अपेक्षा कम होती है। श्रयकार ने ममान में एक प्रकारके नियम का और विधान किया है कि उनमें पदायों के परस्पर सम्बन्ध का विच्छेद नहीं होना चाहिए। क्योंकि बीच-बीच में सम्बन्ध विच्छेद ने रसमग्न होना है। इन पूरे व्याख्यान को निम्नलिखित आन्तर-श्लोकों में प्रतिपादित किया है—

अत एव च वंदनीं रीतिरेकं च शस्यते ।
 यतः समाससंस्पर्शस्तत्र नंबोपपद्यते ॥१६॥
 सम्बन्धमात्रमर्थानां समासो ह्यवबोधयेत् ।
 नोत्कर्षमपकर्षं वा वाक्यात्तु भयमप्यदः ॥१७॥
 किन्तु प्रवृत्तिरेतस्य रसाभिव्यक्त्यपेक्षया ।
 शान्तशृङ्गारकरुणान्तरेण प्रशस्यते ॥१८॥
 यतः समासो वृत्तं च वृत्तयः कारवस्तथा ।
 वाचिकाभिनयात्समासो रसाभिव्यक्तिहेतवः ॥१९॥

स चापान्नावधिः कापौ नाधिको गद्यनापितः ।
 गद्ये हि दूतदंशत्वे न्यूना तद्व्यक्तिहेतुता ॥२०॥
 तन्माच्छिन्नः पदार्पितां सम्बन्धरचेत् परस्परम् ।
 न विच्छेदोऽन्तरा कापौ रमनद्यक्करो हि सः ॥२१॥^१

विषय प्रधान का उल्लंघन है । इसलिए वाक्य में प्रधान का विनय न होने से दोष ही होता है । उदाहरणम्बतः—

स्नेह समारिद्धति कञ्जलमादधानि
 सर्वान्गुणान् ददति पात्रमधः करोति ।
 योग्य वृत्तानुक्रममंचपत्तम्भूतान्मा
 दीपः प्रकाशयति तन् तमसो महत्तम् ॥^२

यहाँ पर प्रकाशन क्रिया की ही प्रधानता विवक्षा है अन्य पानाधानादि की नहीं । इसलिए उनका नुस्य श्रेयितया प्रकाशन दोष ही है । यहाँ पर प्रकाशन के अतिरिक्त अन्य सभी क्रियाओं का निर्देश शन आदि के द्वारा ही होना चाहिए था । जहाँ सभी क्रियाओं की सामान्य विवक्षा है वहाँ पर नुस्यत्वेन प्रतिपादन दोष नहीं है । इसी वान को मप्रहकारिका में कहते हैं—यहाँ पर एक कर्ता की अनेक क्रियाएँ प्राधान्य एवं गौण भाव से विहित हो वहाँ पर प्राधान्य का आख्यान के रूप में तथा गौण भाव का शन आदि प्रत्ययों के माध्यम से ही प्रतिपादन होना चाहिए ।

यत्रैककृतंका नैका प्राधान्येतरभाक् क्रिया ।

तत्राख्यानेन वाख्याद्या शत्राद्यैरपरा पुनः ॥२२॥

अन्य में समान विषयक व्याख्यान का समाहार करते हुए कहते हैं कि समासादि दूत के द्वारा उद्देश्य विषय भाव का विधान नहीं हो सकता इसीलिए 'नमयः पदविधि' सूत्र में 'नमय' पद का ग्रहण किया । समासविधि और उनके प्रतिषेध में यही कारण है न कि बहुलग्रहण । क्योंकि उन्मगोपवाद का विषय बहुलग्रहण का अभाव नियम है, समास के विधि-निषेध रूप अन्य नियम नहीं । इसलिए जिस शब्द का अर्थ प्रकरणादि के द्वारा अपरान्तर की प्रकट करता है वहाँ समास नहीं करना चाहिए । क्योंकि वहाँ पर इष्टार्थ की प्रतीति के भंग होने का भय रहता

१. व्यक्तिविवेक, द्वितीय-विमर्श ।

२. अग्नि कणों के समूह से पूरित जो यह दोष है वह स्नेह अर्थात् तैल का पान करता है और कञ्जल उत्पन्न करता है; सब प्रकार के कपास कीटों तथा सन आदि की बनी हुई रस्सियों को जलाना है तथा स्नेह और वस्त्रों के आधार भूत पात्र की स्थिति को अपने नीचे किये रहना है । इस रूप में दीपक जो प्रकाश करता है, वह अग्निकार की ही महिमा है क्योंकि उल्लेख के कारण दीपक का आश्रय लेना पड़ता है ।

इस पद्य का दूसरा अर्थ यह भी है कि क्रोध लगी अग्नि का आधिक्य जिस व्यक्ति में होता है वह अपने ही में विद्यमान प्रेमभाव (स्नेह) को पी जाता है रहने नहीं देता । कञ्जल अर्थात् दीपजनक वाक्य का उच्चारण करता है, अपने में स्थित आभिजात्य, पाण्डित्य आदि गणों का दहन अर्थात् सर्वनाश करना है और अपनी सत्याजना को भी निरस्तृत करना है । यह सब कुछ उस व्यक्ति में विद्यमान तमोगुण के आधिक्य के कारण ही होता है ।

है। अतः 'अम्बिका केमरी' इत्यादि स्थलो मे जहाँ पर विशेष्य के उत्कर्ष या अपकर्ष का हेतु विशेषण है, वहाँ या तो विशेषण ही विधेय होना चाहिए अथवा समाम ही नहीं होना चाहिए। इसके अतिरिक्त स्थल मे अर्थात् जहाँ पर केवल अर्थ के साथ सम्बन्ध का प्रतिपादन स्पष्ट हो, उत्कर्षापकर्षादि स्पष्ट न हो, वहाँ के लिए बहूल ग्रहण है। अर्थात् वहाँ समाम करने या न करने की स्वतंत्रता है। इसी अभिप्राय से समर्थ ग्रहण किया गया है। मापेक्षनादि अन्य दोषमूह की निवृत्ति के लिए उसी प्रकार नहीं, जिस प्रकार 'पितरौ बन्धौ' इम वाक्य मे नित्य माहर्च्य होने से अपने ही माता-पिता की बन्दना का विधान होता है। इसी व्याख्यान को निम्न-लिखित संप्रहकारिकाओं मे सञ्चित किया है।

विधेयोद्देश्यभावोऽयं वक्तुं वृत्त्या न पार्यते ।
 यत् तेनानभिधानं वा समर्थग्रहणं च वा ॥२३॥
 कारणद्वयमेवेष्टं बहुलग्रहणं न तु ।
 अज्ञव्यनियमो ह्यर्थो विषयस्तस्य नेतरः ॥२४॥
 प्रकरणकाव्यादिसत्त्वो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।
 इष्टार्थभङ्गभोतेः शब्दो न समासमर्हति सः ॥२५॥
 यत्रोत्कर्षोऽपकर्षो वा विशेष्यस्य विशेषणात् ।
 तदेव वा विधेयं स्यात् समासस्तत्र नेष्यते ॥२६॥
 अन्यत्र त्वर्थसम्बन्धमात्रे वक्तुमभीप्सते ।
 कामचारस्तदर्थं हि समर्थग्रहणं मतम् ॥२७॥
 न तु सापेक्षताद्यन्यदोषजातनिवृत्तये ।
 पित्रोः स्वतेव बन्धत्वे सा हि न्यायेन सिध्यति ॥२८॥

२. प्रश्नभेद दोष तथा उसकी समस्याये

दूनरा दोष प्रक्रमभेद है। जिस प्रकार उदङ्खाद्य भूमि मे रथ पर बैठकर यात्रा करने

१. ननु चाचार्येणैवानिष्टनिवृत्त्यर्थं समासविधौ बहुलग्रहणं कृतम् । अतस्तेनैव क्वचिदेवंविधे विषये वृत्तिर्न भविष्यत्यन्यत्र भविष्यतीति किमनेन प्रधानेतरभावपरिकल्पनप्रयासेन । सत्यम् । किन्तु समासविधेः प्रधानेतरभावविवक्षानिबन्धनस्य च तत्प्रतिषेधस्योत्सर्गापवादनावेनावस्थानं द्रष्टव्यमित्यपवादस्यैवायं विषयो भवितुमर्हति न बहुलग्रहणस्य । यत्र तु क्वचिदुत्सर्गापवादयोर्विषयव्यवस्थानियमः कथंचनापि कर्तुमशक्यः स तस्य विषयो वेदितव्यः । अन्यथा गोदः कम्बलद इत्यत्राणभावोऽपि तद्विषयः स्यात् । इह तूक्तक्रमेण नियमः शक्यक्रिय एवेति नायं बहुलग्रहणस्य विषयः कल्पनीयः । न चायमर्थः स्वमनोधिकर्षैवास्माभिरुपकल्पितः किन्तु हि, आचार्यस्याप्यभिमत एव । यदयं समासविधौ समर्थग्रहणं कृतवान् । केवलं तदभिप्रायमनवगच्छद्भिर्भार्याख्यानूभिः सापेक्षतादिदोषान्तरव्यावृत्तिपरतयैव तद् व्याख्यातं न पुनरेतद्व्यावृत्तिपरतयापीनि तदभिप्रायमेवास्माभिः प्रकटयद्भिस्तस्यैवार्थत्वमपि प्रतिपादितं न त्वपूर्वं किञ्चित् ।

वाले की अनुभूति दुःखप्रद होगी है ठीक उसी प्रकार रमविशेष में प्रवृत्त पाठक की अनुभूति में जिगमे चार-चार परिष्कलन होता है, उसे प्रक्रमभेद दोष कहते हैं। वाक्य में इस दोष के होने पर पाठक को अत्यन्त उत्तम भी रचना का आनन्द उसी प्रकार नहीं मिलता जिस प्रकार गर्नबहुल पद्य पर रथ से जाना हुआ पथिक पतनभय से निरन्तर जागृत रहना है तथा उसे यात्रा के सुख की रचनात्र भी अनुभूति नहीं होती।^१

शब्दार्थ के व्यवहार में विद्वान् लोग भी सर्वत्र लौकिक क्रम का अनुसरण करते ही हैं। रमान्वाद की प्रतीति में विघात नहो इसके लिए लोग शब्दार्थ व्यवहार को उसी क्रम में आदर देना है जिस क्रम में वे होते हैं। प्रकृति, प्रत्यय तथा पर्यायादि एव तद्विषयक अभिन्न भावों की अनन्तता के कारण प्रक्रमभेद अनन्त प्रकार का सम्भावित है।^२

मूच्यतया इसके तीन भेद होते हैं—१ प्रकृतिप्रक्रमभेद, २ प्रत्ययप्रक्रमभेद और ३ पर्यायप्रक्रमभेद। प्रकृति प्रक्रमभेद का उदाहरण है—

सनतमनभिभाषणं मया ते परिपणितं भवतीमनापयन्त्या ।

गन्धृतिरवलम्बितं वतासूननलमनालपनादहं भवत्याः ॥क

यहाँ पर भाष् और लप् दोनों क्रियाओं का अर्थ समान होने पर भी चूकि भाष् क्रिया से ही वाक्य का समास किया है, अतः उसी से निर्वाह करना उचित या अन्य लप् से नहीं। इन प्रकार के प्रक्रमभेदान्य शब्द भेद में विध्यनुवादभाव की ही उपलक्ष्य होती है। अतः इन्हें विधेयाविमर्श का प्रसार भी कहा जा सकता है।

शब्द की पुनरक्ति और प्रक्रमभेद को एक नहीं समझना चाहिए, क्योंकि दोनों का विषय भिन्न है। प्रक्रमभग का विषय है—उद्देश्य के अनुकूल ही प्रतीति का निर्देश। शब्द पुनरक्ति इसके ठीक विपरीत भाव में होती है। इसलिए इसमें उनकी प्रसक्ति नहीं हो सकती। प्रत्यय प्रक्रमभेद का उदाहरण है—

यशोर्धमन्तुं सुखलिप्तया वा मनुष्यसंस्थामतिवर्तितुं वा ।

निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाहृकमुपैति सिद्धिः ॥ख

१. व्यक्तिविवेक, पृ० २४३-२४४ ।

२. किंच सर्वत्रैव शब्दायं व्यवहारो विद्वद्भिर्हरपि लौकिकप्रमोऽनुसर्तव्यः । लोकरुच मा भूदस्ता-
स्वादप्रतीनेः परिम्लाननेति यथाप्रक्रमभेदेव नमाद्रियते नाग्यथा । स चायमनन्तप्रकारः
सम्भवति । प्रकृतिप्रत्ययपर्यायादीनां तद्विषयभावानिमितानामानगत्यात् ।

—व्यक्तिविवेक, पृ० २४४ ।

क. तुम उन्हें लेकर जो नहीं आई इसके कारण हमारा तुम्हारा सम्भाषण सदा के लिये बन्द हो गया ऐसा मैंने निश्चय किया है क्योंकि मुझमें अब धर्म नहीं रहा। उनसे बात करने के अति-
रिक्त मेरे प्राण धारण करने के लिये अन्य कोई अवलम्ब सम्भव नहीं।

ख. यश की प्राप्ति के लिये, सुख की कामना से, अथवा मनुष्यों की बहूत बड़ी संख्या को अति-
फात कर महान् होने के लिये उत्कण्ठा मात्र से रहित होकर जो महान् पुरुषार्थ करते हैं, मिद्धि उत्कण्ठता नायिका के समान स्वयं उनके अंक में आ जाती है।

दोष-विवचन

यहाँ पर 'सुखलिप्मया वा' के स्थान पर 'सुखमीहिनु वा' यह तुमल प्रयोग ही होना चाहिए था। अतः यहाँ प्रत्ययप्रक्रम दोष है। पर्यायप्रक्रमभेद का उदाहरण है—

महोभूतः पुत्रवतीऽपि दृष्टिस्तस्मिन्नपत्ये न जगाम तृप्तिम् ।
अनन्तपुष्पस्य मघोहि चूते द्विरेफमाला सत्रिषोपसङ्गा ॥^१

यहाँ पर पुत्र और अपत्य शब्द एक दूसरे के पर्याय होने से प्रक्रम के विषय है—उत्तमर्षं मे प्रयुक्त पुष्प और चूत शब्द नहीं। क्योंकि उनका कथन सामान्य विशेषभाव से हुआ है। पूर्वाङ्ग में भी इसी प्रकार 'पुत्रवती' के स्थान पर अपत्यवती पाठ होना चाहिए। अथवा—

खमिव जलं जलमिव खं हंस इव शशी शशीव क्लहसः ।
कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि ॥

यहाँ पर पूर्वाङ्ग में प्रयुक्त 'इव' से १० प्रक्रम हुआ है उसी में उपमहार भी जाना चाहिए था, आकार शब्द से नहीं। इस प्रक्रमभेद के अनेक उपभेद होने हैं। उनमें सर्वनाम प्रक्रमभेद, विभक्ति प्रक्रमभेद, उपमर्ग प्रक्रमभेद, वचन प्रक्रमभेद, काङ्क्षगक्ति प्रक्रमभेद शब्द प्रक्रमभेद, आर्य प्रक्रमभेद, क्रम प्रक्रमभेद एवं वस्तु प्रक्रमभेद आदि मुख्य हैं। इनका विस्तृत विवेचन यहाँ अवशिष्ट नहीं है। यहाँ पर एक प्रश्न उठता है कि जिस प्रक्रमभेद को यहाँ दोष के रूप में वर्णित किया है और उसे रम-प्रतीति के विघात का हेतु माना है, महाकवियों की कृतियों में ऐसे स्थलों की भरमार है फिर वे सभी दोषयुक्त बँमे हैं? इसका उत्तर देने हुए कहते हैं कि ऐसी बात नहीं है किचित् मात्रा में दोष भी कहीं-कहीं अलंकार बन जाता है।

३. क्रम-भेद दोष का स्वरूप एवं लक्षण

जहाँ पर न्यायक्रम का उल्लंघन हो उसे क्रमभेद दोष कहते हैं। यथा—'नवजलधर-मन्नयोऽय नदृष्टनिशाचरः' इसमें नवजलधरपद के पूर्व या परवान् 'इदम्' शब्द का प्रयोग करना चाहिए था। जैसे 'शुक्लितेयं न रजतम्' इसमें 'इयम्' पद का प्रयोग हुआ है। अथवा—

कला च सा कान्तिमती कलावतः ।

त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥

यहाँ पर द्वितीय 'च' शब्द का प्रयोग भिन्न क्रम से हुआ है। उसे प्रथम च के समान 'त्वम्' के अनन्तर ही प्रयुक्त होना चाहिए था। इस प्रकार इसके अनेक उदाहरण प्रस्तुत कर दिये हैं, जिनमें प्रायः अव्ययों का प्रयोग उचित क्रम से नहीं हुआ है। सग्रहनाटिकाओं में क्रमभेद के विषयविवेचन में कहा है कि—जहाँ पर वस्तुव्य वस्तु के स्वरूप का अवच्छेदक इति शब्द इष्ट होता है उन स्थल में इति शब्दके पहले वस्तुव्य वस्तु से भिन्न अन्य किसी शब्द का कथन नहीं

१. यद्यपि महीधर हिमवान् पुत्रवान् ये तथापि उनकी दृष्टि अपनी गीरी रूप सन्तानके प्रति (स्नेहातिरेक से) तृप्ति को नहीं प्राप्त होती थी। अर्थात् गीरीके प्रति उनकी दृष्टि में एक विशेष प्रकार का ही वास्तव्य था। ठीक ही है बसन्त में नाना प्रकार के पुष्प बिले रहते हैं फिर भी चमरोंकी पंक्ति आश्रमञ्जरी पर ही विशेष रूप से आसक्त रहती है।

होना चाहिए ।^१ जिन प्रकार उपाधि वा धर्म, धर्मों में ही स्वत्व का आधान करता है और स्वयं उमके उत्तर में प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार इति प्रभृति शब्द हैं जो जिनके उत्तर में प्रयुक्त होने हैं उनमें ही अपनी अवच्छेदना रूप शक्ति का आधान कर जाते हैं । इसलिए इनका निर्देश यथास्थान ही करना चाहिए । क्योंकि ऐसा न होने में जिनका अवच्छेदन अपेक्षित है उनका न होकर अनर्क्षित का ही अवच्छेदन होने में अर्थ में असंगति होगी । इत्य, एवं इत्यादि तज्जातीय अर्थ का बोध कराने वाले अव्ययों की गति भी इति के समान ही समझना चाहिए । चादि अव्यय जिनके अनन्तर प्रयुक्त होते हैं उसी के अर्थ का अवच्छेदन करते हैं अन्यथा अनामंत्रस्य उपस्थित होता है । यदि यह कहें कि अर्थ में औचित्य के लिए ही इति प्रभृति शब्दों के आनन्तर्य-नियम का विधान है, तो यह इसलिए व्यर्थ है कि अर्थ के औचित्यवश ही यह प्रयोजन निष्पन्न होता है । औचित्य काव्य का प्राण है । अतः औचित्य ही पदार्थों के मगम का नियामक ब्रह्म नहीं हो सकता ? इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि—यह बात ठीक है कि औचित्य में ही पदार्थों का आनन्तर्यनियम हो सकता है, किन्तु औचित्य के माध्यम में कृद् व्युत्पन्न लोभों की ही तथा किन्हीं थोड़े से प्रयोगों की ही प्रतीति ही मक्नी है, मक्नी नहीं^२ और न मनी प्रयोगों में । अन्यथा सहृदय सहृदय विभाग ही नहीं बनेगा । इसलिए व्युत्पन्नाव्युत्पन्न सर्वमाधारण के लिए उक्त नियमों का विधान करना आवश्यक है ।

४. पौनरुक्त्य में दोषादोष विचार

जहाँ पर शब्दार्थ का पुनर्वचन हो उसे पौनरुक्त्य दोष कहते हैं । पुनरक्ति के दो भेद—शब्द एव अर्थ, होते हैं । शब्दकृत पौनरुक्त्य उसी शब्द के भटोषट. के समान अनिधान करने से होता है । अर्थकृत पौनरुक्त्य शब्द के पर्यायवाची पदान्तर के प्रयोग से होता है । प्रथकार को शब्द पौनरुक्त्य मान्य नहीं है । चूंकि अर्थ के बोध के लिए ही शब्द का प्रयोग किया जाता है । अतः अर्थ के जिनने प्रकार होंगे शब्द भी उतने ही प्रकार का होगा । क्योंकि यह नियम है कि अर्थभेद में शब्द भिन्न होते हैं । इसलिए अर्थ के भिन्न रहने पर शब्द की समानता में कोई दोष नहीं । उदाहरणस्वरूप—

हसति हसति स्वामिन्मुचुचंः हृदयपि रोदिति ।
द्रविणकणिकाश्रीतं यन्त्रं प्रनृत्यति नृत्यति ॥^३

१. उचितस्वरूपावच्छेदफलो यथेतिरिष्यते ।

न तत्र तस्मात् प्राक् किञ्चिदुक्त्वेरन्यत् पदं वदेत् ॥३३॥ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।

२. यतस्ते चादय इव श्रूयन्ते यदनन्तरम् ।

तदर्थमेवावच्छिन्नपुरासमञ्जस्यमन्यया ॥३६॥

अयानन्तर्यनियमस्तोषामर्थो चित्तोवशात् ।

अन्यतस्तहि तत्कार्यसिद्धेस्तै स्युरपार्यकाः ॥३७॥

किञ्चिदेव हि केषांचिद् दूरस्थैरपि सद्गतिः ।

न ज्ञातु सर्वैः सर्वेषामित्येतदभिधास्यते ॥३८॥

व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।

३. स्वामी के हंसने पर जोरों से हंसता है तथा उसके रोने पर जोरों से रोता भी है । यही नहीं उसके नाचने पर नृत्य भी नाच उठता है क्योंकि वह चाँदी के टुकड़ों में खरीदे हुए यंत्र के समान है ।

दोष-विवेचन

यहाँ पर 'हननि, रोडिनि, नृत्यति' आदि पदों की पुनरक्ति हुई है किन्तु उनके अर्थ भिन्न होने से दोष नहीं है। वही-वही तो ऐसी पुनरक्ति गुण भी माना गया है। जैसे—

वस्त्राग्नौ नदीनां सितकुसुमधराः शक्रसंकाश काशाः ।

काशाभा भान्ति तासां नवपुलिनगताः श्रौतदीहस ! हंसाः ॥^१

इत्यादि में लाटानुप्रमा के प्रयोग से रचना में चमत्कार का ही आधान होता है। इनमें विपरीत स्थिति में ही दोष होता है। ग्रथकार ने पौनरुक्त्य दोष का बहुत ही विस्तारपूर्वक विवेचन किया है और नाना प्रकार से उन्हे उदाहृत किया है। इम मन्त्रग्रन्थ में अनेक विषयों पर बाद-प्रतिवाद उठाकर उनका समाधान भी किया है। सप्रहकारिकाओं में विम्बुत विवेचन का समाहार करने हुए कहते हैं कि पौनरुक्त्य दो प्रकार का होता है—शाब्द एव आर्थ। सामर्थ्यमिद्व अर्थ की पुनरक्ति आर्थ ही कही जाती है तथा तात्पर्य भेद में शब्द की दो बात उक्ति शाब्द पौनरुक्त्य है। एक दूसरे प्रकार से पौनरुक्त्य के दो भेद होने हैं—गौण एव मुख्य। गौण पुनरक्ति ही दूषण है। जहाँ पर मुख्यता पुनरक्ति होती है वह भूषण मानी गयी है। उनका उदाहरण लाटानुप्राम सज्ञक शब्दालंकार पहले ही दिया जा चुका है। पौनरुक्त्य दूषण अनेक प्रकार का होता है—प्रकृति पौनरुक्त्य, प्रत्यय पौनरुक्त्य तथा दूसरे प्रकार से पद पौनरुक्त्य एव वाच्य पौनरुक्त्य। जहाँ पर प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ अभिन्न हो ऐसे पद का वाच्य के आदि में प्रयोग नहीं करना चाहिए। इसी तरह बहुव्रीहि मसाम के अनन्तर विहित मत्वर्थीय आदि शब्दों की कर्मधारय की आसंका से पुनरुक्तता स्पष्ट ही है। उन पद में जिन तद्धित की उत्पत्ति हो उनी तद्धित से अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए। कभी भी ऐसे तद्धितान्त के साथ मसाम नहीं होना चाहिए। विशेषण के स्थलों में ही जहाँ पर विशेष्य का उत्कर्षोपकर्ष बनाना अभीष्ट हो वहाँ पर विशेषण का प्रयोग करना चाहिए। अन्यत्र वह पुनरक्तिदोष प्रसन्न माना जायगा।^२ जहाँ पर उपमावाचक शब्द के एक बार के प्रयोग से ही तत्पदान्तर अन्य पदों में उपमानत्व की प्रतीति होगी वहाँ पर मादृश्यवाचक पद का पुनः पुनः प्रयोग दोष ही है जिन प्रकार नियत कारक की विशेषण-गुण्य उक्ति, पुनरक्ति ही होती है उसी प्रकार अनुमित जय की उक्ति भी पुनरक्ति है। उन जिनके वन से जिन वस्तु की अभिव्यक्ति स्वतः हो जाती है उनका शब्दना उपादान करना दोष ही है।^३ जो पदार्थ, जिस पदार्थनिष्ठ धर्म के उपचार से उपलक्षित होता है अथवा जिन पदार्थ का जिन पदार्थ के साथ अन्वय होता है उनका निरूपण आर्थ माना गया है अर्थात्

१. हे राजन्! आप इन्द्र के समान हैं। श्वेत पुष्प धारण किये हुए काश नदियों के वस्त्र के रूप में प्रतीत हो रहे हैं। हे क्षीर रूपी नदी के हंस! उन नदियों के तट पर बालू में बंठे हुए हंस काश के समान शोभित हो रहे हैं।

२. विशेषणवशादिच्छेद्विशिष्टं यत्र संज्ञितम् ।

युक्ता तत्र विशेषोक्तिरन्यथा पौनरुक्त्यकृत् ॥५३॥ व्यक्तिविवेक, द्वि० विमर्श

३. सृष्टेर्देव प्रयुक्तेन यत्र साम्याभिधायिना ।

अन्येषामुपमानत्वं सामर्थ्यादवगम्यते ॥५४॥

तत्रासृष्टत् प्रयोपोऽस्य पौनरुक्त्याय कल्पते ।

पदद्वयभिचारस्य कारकस्याविशेषणा ॥५५॥ व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श

अर्थः ही उनकी प्रतीति हो जाती है । वहाँ धर्म का शब्दः उपादान करना दोष है ।^१ प्रकृत पदों के अन्तर्गत ही जिन पदों का अर्थ प्रतीति हो जाता है उनका प्रयोग भी परानुक्त दोष है ।^२ कर्ता के प्रधान एवं उनकी क्रिया के रूप होने पर उनके मापवतन जगों की शब्दः उक्ति हट नहीं है क्योंकि आचार्य के मत में ही उनकी प्रतीति हो जाती है ।^३ उक्त दोषों दोष प्राप्त नमानविषय है । लक्षण-रूप विद्वानों ने समानवृत्ति को ही प्रयोग की कर्ता ही माना है । इसलिए नमान एवं नमानानाम में अनाधारण विशेषण का अर्थ होने पर विशेषण की उक्ति अनुचित ही होती है । क्योंकि जहाँ अनाधारण विशेषण का अर्थ होता है वहाँ विशेषण का अर्थ ही होता है ।^४ किन्ती पदार्थ का जो स्वरूप है यदि उन स्वरूप की उक्ति में ही उनके अर्थ का ज्ञान हो जाता है तो अर्थज्ञान के लिए बिना प्रयोजन के ही दोनों की उक्ति करना पुनरुक्ति है ।^५ जो धर्म धर्मों का अर्थविचारी है उन धर्म के माप धर्मों का नमान ही नहीं होता, क्योंकि प्रधान के ज्ञान में ही तद्गत धर्म की प्रतीति स्वतः ही जाती है ।^६ यदि क्रिया की प्रतीति, कारण के ज्ञान के माप नियत हो तो कारण की अप्रतीति से ही अनेक के कारण उन क्रिया की भी प्रतीति नहीं होगी । जैसे चन्द्र और जालोक में अनेक होने से जालोक की प्रतीति के अभाव में चन्द्र की प्रतीति नहीं होती । चूंकि कारण ही त्यागपाकादि क्रिया के स्थानों में क्रिया की प्रकृति का निमित्त होता है अतः पूर्वोक्त अर्थ के अनुसार कारण की ही उक्ति हीनी चाहिए ।^७ किन्ती शब्द के प्रयोग करने या न करने से अर्थ में कोई अन्तर नहीं होता सो कवियों

१. अर्थस्यानुमितस्योचितनान्येति पुनरवतताम् ।
यद्दशाद्यदभिव्यक्तिरतदुक्तौ नाददीन तन् ॥५६॥ ध्वनिविदेह, द्वितीय विमर्श ।
२. यो यद्गमोपचारेण यत्सम्बन्धान्वितोऽपि वा ।
तस्य तद्रूपमाप्योष्टा न शाब्दी पौनरव्ययतः ॥५७॥ वही
३. कर्तार्योगिनि वृत्तायां तन् क्रियायां च नेष्यते ।
वाक्यसाधकतमांगानामौचित्यादेव तद्गमनेः ॥५८॥ वही
४. दोषद्वयमिदं प्रायः समाप्तविषयं मनम् ।
यतोऽवकरभूयिष्ठा लक्षणैकपरार्थः ॥६०॥ वही
वृत्ताः प्रतीतिविमुखं दृश्यन्तेऽनेकधा हि ते ।
समाप्तमत एवाहुः कवीनां निरुपं परम् ॥६१॥ वही
युक्तावितरया चोक्ते नान्यभाजि विशेषणे ।
विशेष्योक्तिरपुस्तंभे रयान् तदव्यभिचारतः ॥६२॥ वही
५. यो यदात्मा तदुक्त्यैव तस्याप्यस्य गतिर्धतः ।
तेन प्रयोजनाभावे द्वयोक्तिः पुनरुक्तिवृत् ॥६३॥ वही
६. यो यस्य नियतो धर्मस्तस्य तेन न धमिणा ।
समाप्तः शस्यनेऽन्यार्थस्तत एव हि तद्गमनेः ॥६४॥ वही
७. क्रियाप्रतीतिः कारणप्रत्ययान्व्यभिचारिणी ।
तदप्रतीतौ तादात्म्यान् संबानवसिता भवेन् ॥६५॥ वही
यदेतन् त्यागपाकादी विशेष्युक्तोतिव्ययनम् ।
तद्व्यवितयं दशाद्यस्य तदुक्तौ नाददीन तन् ॥६६॥ वही

दोष-विवेचन

को उनका प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि उसे दृष्ट माना गया है।^१ अन्योन्य का आश्लेषक होने में अन्य व्यतिरेक दोनों का कथन पुनरक्ति का अनिक्रमण नहीं करता।^२ अन्त में पौन-रुध्य दोष के विषय विवेचन का उपनहार करते हुए ग्रथकार कहते हैं कि पुनरक्ति के प्रकारों का यह दिग्दर्शन मान कराया गया है। उनका विन्मृत विवेचन बौन कर सक्ता ?^३

५. वाच्यावचन दोष

जब क्रम-प्राप्त पद्यन एव अन्तिम दोष वाच्यावचन का निरूपण करने हैं। वाच्यावचन शब्द में नञार्थक अकार का योग दो प्रकार में विहित है—वाच्य का अवचन तथा अवाच्य का वचन। दोनों प्रकार से जो दोष पड़ता है उसे वाच्यावचन दोष कहते हैं। यथा—

‘कमलमनम्भसि कमले कुबलये तानि कनकलनिवापाम्
सा च सुकुमारसुभगेत्युत्पातपरम्परा केयम् ॥’

यहाँ पर द्वितीय कमल शब्द के स्थान पर सर्वनाम का प्रयोग होना चाहिए था। उनका जो स्थ-शब्द से कथन हुआ है, उससे वाच्यावचन दोष होता है। इसलिए यहाँ पर ‘नस्मिञ्चकुबलयै’ यह पाठ होना चाहिए था। सग्रहश्लोक में एतद्विषयक नियम का विधान करने हुए कहते हैं कि सर्वनाम के द्वारा जिसका परामर्श सम्भव हो उनका न्वशब्द से अभिधान करने पर वाच्यावचन नामक दोष होता है।^४

‘द्वयं गतं सम्प्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः’

इत्यादि कालिदास के प्रसिद्ध पद्य में वाच्यावचन का परामर्श करते हुए कहते हैं कि यहाँ पर कपाली शब्द या तो धर्मों शिव एव उनका विशेषण रूप धर्म कपाल से युक्त होना, दोनों का बोधक है अथवा विशेष्यमात्र शिव का ? अथवा कपाल सम्बन्ध से गृहित विशेषणमात्र का ? ये तीन पक्ष हैं। पहले पक्ष में विशेष्य के ज्ञान के लिए एक और कपाली शब्द का ग्रहण करना चाहिए त्रिनसे निन्दा व्यक्त हो। द्वितीय पक्ष में धर्म के आश्रय की प्रतीति के लिए उसी तात्पर्य में जयवा सर्वनाम के द्वारा विशेष्य का अवश्य कथन होना चाहिए। जैसा कि—

‘कुर्या हस्त्यापि पिनाकपाणोर्धैर्यच्युति के मम धन्विनोऽप्ये ।’

इत्यादि कालिदास की उक्ति में ही ‘हर’ शब्द का पिनाक-पाणि के पर्याय के रूप में कथन हुआ है। अनएव तृतीय पक्ष भी यहाँ सम्भव नहीं। क्योंकि आवृत्ति के बिना एक ही शब्द अनेक अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ नहीं होता। इसीलिए यहाँ पर वाच्यावचन दोष है। और पाठ में

‘द्वयं गतं सम्प्रति तस्य शोच्यतां समागमप्रार्थनया कपालिनः’

इस प्रकार का परिवर्तन, अल्पदोष होने से पूर्वापेक्षा उत्तम है। अन्तरश्लोक में इसी

१. प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्नर्थगतिः समा ।

न तत् पदमुपादेयं क्विनावकरो हि सः ॥६७॥

२. अन्योन्याश्लेषकत्वे सत्यन्दयव्यतिरेकयोः ।

उभयोरञ्जिनरेकस्य नात्येति पुनरवतताम् ॥६८॥

३. पुनरक्तिप्रकाराणामिति दिद्धमात्रमीरितम् ।

विवेकं को हि कास्त्र्येन शक्नोत्यवकरोत्करम् ॥६९॥

४. सर्वनामपरामर्शविषये योऽर्थवस्तुनि ।

स्वशब्दवाच्यतादोषः स वाच्यावचनाभिधः ॥७०॥

—व्यक्तिविवेक, द्वि० विमर्श ।

—वही

—वही

—वही

नियम का विधान करते हुए कहा है कि यद्यपि अर्थभेद में शब्दों में भिन्न होने का निदान है, किन्तु यह आवृत्ति व्यवहार केवल सादृश्य जन्म है। इसके मूल में एकता का ग्रह होने से प्रतिपाद्य अर्थ में सगति नहीं बैठती। अतः उक्तवाच्यक उपपादान करना ही उचित है। इसलिए उमी तात्पर्य के द्वारा अथवा सर्वनाम के द्वारा उक्तवा निर्देश अवश्य होना चाहिए। अर्थ की निष्पत्ति के लिए धर्मों और धर्म दोनों का प्रतिपादन करना ही अभीष्ट है।^१ इनके अतिरिक्त जहाँ पर एक अलंकार के विषय में अलंकारान्तर का निवन्धन हो वहाँ भी वाच्यावचन दोष होता है। ममानोक्ति के विषय में श्लेष का उपनिवन्धन होने से दोष का उदाहरण देते हैं—

“अलंकारालङ्काराणीमारवतच्छदसुन्दरम् ।

आमोक्षिकर्णशकान्तं भाति तेऽज्जमिवाननम् ॥”

यहाँ पर नमूचित विशेषण अज्ज के उपपादान के सामर्थ्य में गम्य उक्तवा उपमानभाव ममानोक्ति का ही विषय है, श्लेष का नहीं। क्योंकि ममानोक्ति में ही उपमानभाव की अनुमीयमानता में मचेतनरों चमत्कार की प्रतीति होती है। श्लेष में उसके वाच्य होने में चमत्कार का अभाव होता है। अतः यहाँ वाच्यावचन दोष है। श्लेष के विषय में उपमा का निवन्धन होने से वाच्यावचन का उदाहरण बाप के हृषं चरित में देने हैं—

‘भरेवाचार्यस्तु दूरादेव दृष्ट्वा राजानं शशिनमिव जलनिधिश्चाल’

यहाँ पर राजन् शब्द उभयार्थक होने से शशि का भीषोषक है। अतः वही श्लेष का विषय है। अतः शशि शब्द का अलग उपपादान कर के राजन् और शशिन् शब्द में जो उपमेयोपमानभाव का जो निवन्धन हुआ है वह भी वाच्यावचन दोष का विषय है।

इन प्रकार और कई अलंकारों का उदाहरण देते हुए अलंकारों के उपनिवन्धन में वाच्यावचन दोष के नियम का विधान करते हुए कहते हैं कि—श्लेषोपमादि अलंकारों की अभिव्यक्ति के लिए जो शब्द उनसे भिन्न, अलंकार के विषय हैं और उन्हीं शब्दों में यदि उनकी व्यञ्जना होती है तो यहाँ पर दूसरे अलंकार ही प्रादृश्य होने हैं, श्लेषोपमादि नहीं। क्योंकि इसी में लाघव है। कवि की अपनी वृत्ति में अलंकारों का कोई अपना विशेष स्थान नहीं होता जिसमें एक का विधान और दूसरे का निषेध किया जाय।^२ रम के बन्धन में उद्यत कवि अलंकार की निष्पत्ति के प्रति चेष्टमान नहीं होता। क्योंकि रम की निष्पत्ति हो जाने पर अलंकारों का उपनिवन्धन

१. अर्थभेदाद्विभिन्नेऽपि शब्दे सादृश्यमात्रजः ।

आवृत्तिव्यवहारोऽयं मूलमस्यैकताग्रमः ॥७१॥

अतश्च—

तत्पर्यायेण तेनैव सर्वानाम्ना विनिश्चिन्तु ।

आर्यहेतुवनिष्पत्तौ धर्मधर्मोभयात्मकम् ॥७२॥

व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।

२. यदलंकारव्यक्त्यं ये शब्दास्तदितरोऽपि तरेव ।

धृज्येताल्पतरयंदि तदती गृह्येत लाघवाग्रान्यः ॥७३॥

न ह्यस्ति निजे बभंष्यलंघनीनां स कश्चनातिशयः ।

येन विधोयेनैकापरा निविध्येन वा कविभिः ॥७४॥

स्वरु हो जाना है। विभावादि ही साक्षात् निष्पादित होने से रस के अंग हैं। विभावादि रूप शरीर में वैचित्र्य का आधान करने से अलंकार तदाश्रय होते हैं। अन्तर नामा प्रकार के उदाहरण देकर बाह्यावचन दोष की विनाश व्याख्या प्रयत्न में की है। इन दोष से रचना को बचाने के लिए अनेक प्रकार के नियमों का प्रतिपादन भी किया है जिनका संकलन निम्नलिखित अन्तर-श्लोकों एवं संग्रहकारिकाओं में हुआ है।

अनुवाद्यमनुस्वैव न विधेयमुदीरयेत् ।
न हृद्यलक्ष्यास्पदं किञ्चित् कृद्चित्प्रतिष्ठति ॥२।१४॥

वाक्य में उद्देश्य और विधेय में से उद्देश्य का कथन बिना विधेय का कथन नहीं करना चाहिए। क्योंकि कोई भी विधेय वस्तु अशुद्धि आधार पर बिना कही भी प्रतिष्ठित नहीं होती (उचित नहीं प्रतीत होती)।

विधेयोद्देश्यभावोऽयं रूप्यरूपकतात्मकः ।
न च तत्र विधेयोचितहृद्देश्यात् पूर्वमिष्यते ॥२।१५॥

यह जो उद्देश्य विधेयभाव है वह रूप्य-रूपक भावके समान होता है जिनमें 'मुग्ध चन्द्र' की तरह रूप्य का पहले एव रूपक का बाद में स्पष्ट बिना जाना है। यहाँ पर भी उद्देश्य ने पहले विधेय का कथन ठीक नहीं समझा जाना।

पदानामभितम्बन्धस्याव्ययाभावमात्रतः ।
यत्रानिष्टप्रतीतिः स्याद् रचनां तां परित्यजेत् ॥२।१६॥

यहाँ पर पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के वैपरित्य के कारण अभिलिखित अर्थ की प्रतीति न होकर ऐसे अर्थ की प्रतीति होनी हो जो इष्ट नहीं, उस रचना का नव्या परित्याग कर देना चाहिए।

येन यस्याभिसम्बन्धो दूरत्येतापि तेन सः
पदानामसमाप्तानामानन्तर्यमकारणम् ॥२।१७॥
इति प्रतीत्यो वैचित्र्यमनालोच्यैव चञ्चितम् ।
गुणदोषमपश्यद्भिर्दूरादूरोत्ययोस्तयोः ॥२।१८॥

जिन पद से जिनका सम्बन्ध है, वाक्य में भिन्न स्थल पर प्रयुक्त होने पर भी वह उनके साथ सम्बन्धित होकर ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उन पदों में जिनमें समाप्त नहीं हुआ होता आन्तर्य अर्थान् एक पद के तुरन्त बाद दूसरे का होना अनिवार्य नहीं समझा जाता। क्योंकि वहाँ आन्तर्यके अभाव में अर्थ की प्रतीति में बाधा नहीं होती।

यह बात उन लोगों के द्वारा कही गई है जिन्होंने पदों के दूर और समीप में प्रयुक्त होने पर होने वाली प्रतीति में गुण और दोष को ठीक तरह से समझा नहीं है।

स्वहरेऽवस्थितिर्येषां शब्दानामिति नेष्यते ।
न तानन्वध्यवहितान् प्रयुञ्जीत विवक्षणः ॥२।१९॥

जिन शब्दों की स्थिति उन्हीं रूप में इष्ट नहीं है विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि उनका प्रयोग दूसरे पदों के व्यवधानपूर्वक नहीं करें।

सर्वनामपरामर्शयोग्यत्वार्यस्य या पुनः ।
स्वशब्देनानिषा दोषः स बाह्यावचनाभिः ॥२।२०॥

ऐसे अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए जिनका परामर्श कितनी सर्वनाम के प्रयोग में ही सम्भव हो, स्वशब्द का प्रयोग करना बाह्यावचन नामक दोष ही है।

पर्यायमात्रभिप्रस्य यदेवस्यैव वस्तुनः ।

उपमानोपमेयत्वमवाच्यवचनं च तत् ॥२।१०१॥

एक ही अर्थ के अभिधायक विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का उपमानोपमेय भाव से बयान अवाच्यवचन नामक दोष है ।^१

(ग) महिमनट्ट के दोष-विवेचन की विनोपता

व्यक्ति-विवेचकार महिमनट्ट ने पाँच दोषों का विवेचन बहुत ही विस्तारपूर्वक किया है । इनके विषय इतने व्यापक हैं कि वाच्य-रचना सम्बन्धी किसी भी प्रकार का दोष इनसे छूट नहीं गया है । प्रथमकार का वाच्यविषयक यह अध्ययन बहुत ही व्यापक एवं बलि गहन है । कालिदास, भारवि, माघ, वाण, भवभूति, श्रीहर्ष, भट्टनारायण प्रभृति प्रख्याताप्रख्यात कवियों में से कोई भी ऐसा नहीं बचा है जिसकी रचनाओं का उद्धरण देकर उनमें दोष न दिखाया हो । यही नहीं दोष का निराकरण कर निर्दुष्ट पाठ का विधान भी साथ में ही हुआ है । व्यक्तिविवेक के द्वितीय विमर्श का अध्ययन कर प्रत्येक विद्वान् इस उक्ति से सर्वथा सहमत होगा कि अल-कारशास्त्र के समूचे इतिहास में ऐसा कोई भी आलोचक नहीं हुआ है जिसने मंस्वृत भाषा, उनके साहित्य एवं वाच्यत्मक समालोचना पर उतना अधिकार प्राप्त हो जितना महिमनट्ट का है । इसी दोष-प्रकरण में ध्वनिकार आनन्दवर्धन की ध्वनिकारिकाओं में भाषा एव भाव गत उभय-विध दोषों का विवेचन अनेकत्र हुआ है । कालिदास प्रभृति कवियों की उत्कृष्ट उन रचनाओं में भी, जिनकी उत्तमता पर अगुल्यानिर्देश दुस्माहम ही कहा जायेगा, महिमनट्ट ने दोषों का ऐसा युक्तिबद्ध निरूपण किया है कि विचारशील अध्वेता उनसे प्रभावित हुए बिना नहीं रहता । श्री वे० कुण्ड ने अपने एक निबन्ध में महिमनट्ट के दोष-विवेचन के विषय में लिखा है कि—

जहाँ तक हम जानते हैं मंस्वृत-साहित्यशास्त्र के इतिहास में महिमनट्ट प्रथम आचार्य हैं जिन्होंने वाच्य-दोषों का विवेचन सर्वथा मौलिक रूप में वर्गीकरण करके अत्यन्त विग्रह रूप में किया है । उन्होंने वर्गीकृत दोषों का जो लक्षण एवं स्वरूप निरूपित किया है वह वाच्य-दोष के रूप में अत्यन्त ही युक्तिसंगत है ।^२ वास्तव में महिमनट्ट का दोष-विवेचन स्वतंत्र रूप में एक प्रबन्ध का विषय है जिसमें मंस्वृत भाषा एवं साहित्य के मौष्टव के रहस्य का प्रतिपादन बड़ी ही मार्मिकता के साथ हुआ है । कवियों के लिए तो ग्रंथ का यह विमर्श इसलिए परम उपादेय है कि इन समूची सामग्री को हृदयंगम कर लेने पर एक ऐसा विवेक जागृत हो सकता है कि उससे वाच्य-रचना में किसी प्रकार की त्रुटि की सम्भावना रहती नहीं । उत्तरवालीन मम्मट आदि आर्थकारियों की त्रुटियों पर महिमनट्ट के दोष-विवेचन का जो प्रभाव पड़ा है वह अशुण्य है जिसका विवेचन हम आगे करेंगे । वाच्य-दोष के सम्बन्ध में यहाँ पर हम यही कह सकते हैं कि—

यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत् श्वचित् ।

१. व्यक्तिविवेक, द्वितीय विमर्श ।

२. इण्डियन हिस्टारिकल क्वारटर्ली, बीसवाँ अंक, पृ० २१७ ।

तृतीय-विमर्श

उत्तरवर्ती आचार्यों के दोष-विवेचन पर महिमभट्ट का प्रभाव

महिमभट्ट के उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी अपनी कृतियों में दोष का विवेचन किया है। प्रस्तुत यह कहना उचित है कि महिमभट्ट के अनन्तर ही माहित्यशास्त्र के ग्रन्थों में काव्य दोषों का सम्बन्ध एव शास्त्रीय विवेचन हुआ है। दोष का सामान्य लक्षण देकर उनके भेद प्रभेदों का सांगोसांग विवेचन करने तथा कवियों के विविध काव्यों में उनका उदाहरण प्रस्तुत करने का त्रिण परम्परा का श्रावणम महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक में हुआ, परवर्ती आचार्यों में उस परम्परा ने इतना अधिक विकास किया कि आज 'मन्वृत-माहित्यशास्त्र में दोष-मिद्धान्त' पर स्वतंत्र रूप में शोध-प्रवृत्त प्रस्तुत किया जा सकता है। महिम के परवर्ती आचार्यों में दोष-मिद्धान्त के निरूपण में जिनको पर्याप्त सफलता मिली है वह हैं—काव्यप्रकाशकार मम्मट तथा माहित्यदर्शनकार कविराज विश्वनाथ। प्रवृत्तविमर्श में हम इन्हीं दोनों के दोष-विवेचनों का संक्षेपतः निरूपण करते हुए उन पर महिमभट्ट के प्रभाव का मूल्यांकन करेंगे।

(अ) मम्मट

महिम के उत्तरवर्ती आचार्यों में मम्मट का स्थान प्रत्येक दृष्टि से सर्वप्रथम है। काव्य-प्रकाश के नाम उल्लाम में इन्होंने दोषों का विस्तारपूर्वक विवेचन किया है। इनके विवेचन की मरमे बड़ी विशेषता यह है कि इन्होंने पूर्ववर्ती सभी आचार्यों की दोषविषयक सामग्री का पूरा पूरा उपयोग किया है तथा काव्यप्रकाश में जिन मुख्यवस्तुओं के अनुसार उनका उपस्थापन हुआ है वह अन्यत्र दुर्लभ है। ग्रन्थकार की दृष्टि में मौलिकता है।

दोष का सामान्य लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है कि—दोष वही है जिनसे काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य अर्थ का अपकर्ष होना हो।^१ यहाँ पर ग्रन्थकार ने मुख्यार्थ शब्द का वह अर्थ नहीं किया है जो प्रचलित है तथा द्वितीय उल्लाम में अभिधा के निरूपण के अवसर पर स्वयं इन्होंने ही जिसे मुख्यार्थ कहा है।^२ प्रस्तुत यहाँ मुख्यार्थ से इनका तात्पर्य काव्य के मुख्य प्रतिपाद्य तत्त्व रम से है। अतएव भ्रान्ति को दूर करने के लिए वही पर स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि रम ही वह मुख्य अर्थ है। वाच्य के लिए भी मुख्य पद का अभिधान इन्हींलिए हुआ है कि वही रम की व्यञ्जना का आश्रय होता है। अतः रम के आश्रय वाच्य का अपकर्ष होने से भी काव्य में दोष उपस्थित होता है। शब्द एवं वर्णरचना आदि रम एव वाच्य दोनों के लिए

१. मुख्यार्थहतिदोषः ।

२. स मुख्योऽर्थस्तत्र मुख्यो व्यापारोऽस्याभिधोध्यते ।

उपयोगी होने हैं अतः इनका अपनपं भी दोष माना गया है।^१ मम्मट में दोषों का स्वरूप बानन की परम्परा में गुणविपर्ययात्मक न होकर नाट्यशास्त्र की परम्परा में भावात्मक है। पर केवल गुणों के अभाव को भी यह दोष नहीं मानते। अतः भरत के इस बचन से मम्मट सहमत नहीं हैं कि गुण दोषविपर्ययस्वरूप होते हैं। इनके अनुसार दोष रहित रचना, गुणादि के अभाव में भी यत्किञ्चित् आह्लादकर अवश्य होती है। अनएव काव्य-लक्षण में शब्दार्थ का प्रथम विशेषण अदोषी दिया है। अनन्तर मगुणी की उक्ति इस बात का प्रमाण है कि मम्मट दोष तथा गुण इनमें से किसी को किसी का विपर्यय नहीं मानते। आचार्य मम्मट के अनुसार दोषों के मूलतः दो भेद होते हैं—नित्य एव अनित्य। इन दोनों प्रकार के दोषों के प्रकारान्तर में तीन भेद होते हैं—१ शब्ददोष, २ अर्थदोष एव ३ रमदोष। शब्ददोष वह है जिनकी प्रतीति वाक्यार्थ-बोध के पूर्व ही होने लगती है। वाक्यबोध के अनन्तर प्रतीयमान दोष अर्थदोष बहे जाते हैं। ये दोनों प्रकार के दोष परम्परया ही रम के अपनपंक होते हैं माक्षान् नहीं। तीसरे प्रकार के दोष वह है जो रम के माक्षान् अपरुपंक हैं। अनएव इन्हे रमदोष की मजा दी गई है। काव्य में शब्द, अर्थ एव रम की यथापूर्व उपस्थिति होती है। उन- यहाँ पर दोषों का निरूपण भी इसी क्रम में हुआ है। शब्द तीन प्रकार का होता है। पद, पदांश एव वाक्य। अतः तदाश्रित शब्ददोष भी तीन प्रकार के होते हैं—पददोष, पदांशदोष, एव वाक्यदोष। वाक्य की रचना में पदों की प्रथमता के कारण ही काव्यप्रकाश में सबसे पहले पद-दोषों का निरूपण किया है। तदनन्तर पद-भेद पदांशदोष और फिर वाक्यदोषों का।

पद दोषों की संख्या सोलह है जिनके नाम श्रुतिवट्ट, च्युतमसृष्टि, तथा अप्रयुक्त आदि हैं। महिममट्ट ने अपने ग्रन्थ में सबसे पहले जिन विधेयाविमर्श दोष का निरूपण किया है वह सामान्यतः शब्ददोष ही है। आगे च्युतमसृष्टि, जनमर्थ एव निरर्थक इनकी छोड़कर दोष वही तरह पददोष, वाक्य एव पदांश दोष बहे गये हैं। इनके उदाहरण प्रत्युदाहरण अवश्य भिन्न हैं। वाक्यमात्र में घटित होने वाले दोषों की संख्या इक्कीस है। उनमें भग्न-प्रक्रम एवं अक्रम नामक दो दोष ऐसे हैं जिनका उल्लेख महिममट्ट ने प्रक्रमभेद एवं क्रमभेद के नाम में ही किया है। व्यक्तिविवेक में उदाहृत पद्यों को ही यहाँ पर भी उद्धृत किया है। अतः इनका सादृश्य या सदृशता परिलक्षणीय है। अर्थ-दोषों की संख्या तेरह है जिनमें से पुनरुक्ति का इसी नाम से उल्लेख व्यक्तिविवेक में हुआ है। इसके परवान् काव्यप्रकाश में यह वर्णन उपलब्ध होता है कि कौन दोष वहाँ दोषाभाव है तथा वहाँ गुण रूप। अनन्तर तेरह रम-दोषों का वर्णन किया गया है। इन सबका समाहार महिममट्ट के द्वारा विवेचित दाच्यावचन दोष में सुतरां किया जा सकता है। अन्य दोषों का भी महिम के पूर्वोक्त पाँच दोषों में अन्तर्भाव उक्त रीति से विचारणीय है।

इसके अतिरिक्त मन्त्र के प्रयोग को छोड़ दोषादोष की जो समस्या होती है, यत्तद् पदों के सापेक्षिक प्रयोग में दोष का जो विमर्श हुआ है, तथा समाना समान में विध्यनुवादभाव का विचार, आदि ऐसे विषय हैं जिनके विवेचन में काव्य-प्रकाशकार नि.मन्वेह व्यक्तिविवेककार

२. रसद्वय मुख्यस्तदाश्रयाद्वाच्यः ।

उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि ॥

—काव्यप्रकाश ७११ ।

के ऋषी हैं। यदि दोषों के विभाजन की प्रक्रिया पर ध्यान दिया जाए तो हम यह बलपूर्वक कह सकते हैं कि मम्मट ने आनन्दवर्चन के रम से सम्बन्धित अनीवित्य विवेचन, जिसे महिम-भट्ट ने अन्नरग की सज्ञा दी है और यह कह कर छोड़ दिया था कि इमका विवेचन आद्य आचार्यों ने बहुत किया है, तथा महिम के बहिरग दोषों के विवेचन को मम्मन्वित कर नये टग में व्यवस्थित कर देने मान में ही काव्यप्रकाशकार की मौलिकता है। जहाँ तक उन प्रकरण के विवेचन उक्त विषयों के विवेचन का सम्बन्ध है मम्मट पूर्णरूपेण महिमभट्ट से प्रभावित हैं। इन्होंने महिम के उन वित्नुत एव दुरुह विवेचन को ही जो अन्तव्यम्न रूप में बिकरा पडा था, मूलज्ञा कर व्यवस्थित मान कर दिया है। इनके विवेचन में उन मौलिकता का सर्वथा अभाव है जिनकी प्रतीति व्यक्तिविवेक में हमें प्रतिपृष्ठ पर होती है।

(इ) विश्वनाथ कविराज

मम्मट तथा भोज के पश्चान् साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ कविराज ने अपने ग्रन्थ के मध्यम परिच्छेद में दोषों की विस्तारपूर्वक मोमांना की है। आनन्द एव महिम की सरणि पर ही इन्होंने भी दोषों को एकमात्र रत्नाकर्षक कहा है।^१ रम-भग के द्वारा ही वह काव्य के अकर्षक होते हैं। अतएव काव्यलक्षण-निरूपण के अवसर पर दोषों को काव्य का अपकर्षक कहा है।^२ दोष-लक्षण की व्याख्या करने हुए दर्पणकार कहते हैं कि—जिन प्रकार वाणत्व, खजत्व आदि दोष शरीर के द्वारा आत्मा के अपकर्षक होते हैं एव मूर्खत्व आदि दोष आत्मा के साक्षात् अपकर्षक माने गये हैं, ठीक उसी प्रकार श्रुतिदुष्ट एव अपुष्टार्थ आदि दोष शब्दार्थ के द्वारा परम्परया काव्यात्मा रम के अपकर्षक हैं तो शब्दादि में अभिहित व्यभिचारिभाव आदि के अस्मात्तय्य विनिमय से उत्पन्न दोष रम के साक्षात् अपकर्षक हैं।^३ अनन्तर ग्रन्थकार ने काव्य-प्रकाश की सरणिपर ही दोषों के पाँच भेद किये हैं—पददोष, पदांश दोष, वाक्यदोष, अर्थदोष तथा रम-दोष।^४ पश्चात् इसी क्रम से उनके भेदोपभेद एव उनके लक्षणोदाहरण का मम्यक् निरूपण हुआ है। दोष विशेषों के नाम एव उनकी परिभाषायें काव्यप्रकाश के सर्वथा अनुत्प हैं। उदाहरण प्रत्युदाहरणों में अन्तर अवश्य है। इम सम्बन्ध में इन्होंने महिमभट्ट की सामग्री का अधिक उपयोग किया है।

महिमभट्ट के उत्तरवर्ती आचार्यों में मम्मट, तथा विश्वनाथ दो ही प्रमुख हैं जिन्होंने दोष का शास्त्रीय रीति से विवेचन किया है। सख्तन साहित्य के अलंकारशास्त्र के इतिहास में व्यक्तिविवेक, काव्यप्रकाश तथा साहित्यदर्पण इन तीनों ग्रन्थों में जितनी विषय रूप से दोषों की मोमांना हुई है उतनी अन्यत्र बड़ी नहीं। इन तीनों के विवेचनों की परस्पर तुलना करने

१. रसाकर्षकाः दोषाः ।

—साहित्यदर्पण ७।१ ।

२. वाक्यं रसात्मकं काव्यम् । दोषास्तस्यापकर्षकाः ।

—साहित्यदर्पण १।३ ।

३. श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वत्रज्जत्वादय इव शब्दार्थद्वारेण देहदारेणेव व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दाव्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात् काव्यस्यात्मनूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षकाः इति उच्यन्ते ।

—साहित्यदर्पण वृ० १।२ ।

४. ते पुनः पञ्चधा मताः ।

—साहित्यदर्पण ७।२ ।

पदे तदंशे वाक्येषु सम्भवन्ति रसेऽपि यत् ।

पर हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि मम्मट और विश्वनाथ का दोष-निरूपण इतने विस्तार में सम्भव नहीं था यदि इनके पूर्व महिमभट्ट ने दोषों की इतनी विस्तृत मीमांसा न की होती। अभी भी इनका दोष विवेचन महिमभट्टन दोष-विवेचन का अर्द्धांग भी नहीं है। कारण स्पष्ट है कि काव्यदोष-विवेचन के लिए जिन बहुमुखी प्रतिभा एवं शास्त्रान्तरों की महत् व्युत्पत्ति की अपेक्षा है महिमभट्ट में वह सबसे चटकर थी। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि काव्य के आघातक अन्य तत्वों के समान ही काव्यदोष-विवेचन के विषय में भी उत्तरकालीन प्रायः सभी आचार्य महिमभट्ट के बहुत श्रेणी हैं। विशेष रूप से दोष के सामान्य लक्षण, नञ्-समास के प्रसंगजन्य प्रसंग्यप्रतिषेध का निरूपण, नित्यानित्यदोष-विवेक, दोषगुणालंकारों का सव्यवहार नियमन, यत्तद् शब्द के प्रयोग का विमर्श तथा समास में विध्यनुवाद भाव आदि समस्याएँ ऐसी हैं जिनको सर्वप्रथम व्यक्तिविवेककार ने ही उठाया एवं उनका समुचित समाधान भी किया। अनन्तर सभी आलंकारिकों ने अपनी कृतियों में दोष-विवेचन के जबरन पर इनमें से ही कतिपय समस्याओं को उठाकर उनका समाधान अपने ढंग में प्रस्तुत किया है। काव्य-दोष के निरूपण के प्रसंग में महिमभट्ट का यह अनुदान अलंकारशास्त्र के इतिहास में चिर-स्मरणीय है।

सप्तम अध्याय

प्रथम विमर्श

अलंकार का लक्षण एवं स्वरूप

अलंकार सन्तुष्ट-नाहित्य-शान्त्र के प्राचीनतम तत्त्वों में से मुख्य हैं। नाट्यशास्त्र में यद्यपि अलंकार को परिभाषित नहीं किया गया है फिर भी उपमा रूपक, दीपक एवं यमक-द्वय चार अलंकारों का विवेचन हुआ है। निरुक्त में उपमा के श्रौती आदि भेदों तथा वाग्मीकि रामायण में अलंकारों के विविध प्रयोगों को देखने हुए काव्य में अलंकारों के ज्ञान एवं उनके प्रयोग की प्राचीनता का जखलाप कौन कर सकता है ?

अलंकार पद की तीन व्युत्पत्तियाँ दी जाती हैं—अलंकारोक्ति, अलंक्रियते अनेन इति, अलंक्रियते अनेन इति, अलंकारेण वा अलंकारः। एम० एन० दाम गुप्त ने अलंकार पद का ग्रीक आगम शब्द से व्युत्पन्न किया है ? जिसका अर्थ सुवर्ण होता है। इस प्रकार अलंकार पद का शब्दार्थ सुवर्णोत्तरण है। प्राचीन समय में विनी भी वस्तु की महिमा सुवर्ण से ही आंकी जाती थी। सुवर्ण शब्द ही इस बात का प्रमाण है कि वह कीमती धातु होने के साथ-साथ अपने सुन्दर वर्ण (रंग) की दृष्टि से भी कम महत्व का नहीं होता। अपने इसी वर्ण की सुन्दरता के गुण के कारण सुवर्ण दूसरों की शोभा का आघातक माना जाता है जब अलंकार अर्थात् आभरण के रूप में वह धारण कर लिया जाता है। इसलिए काव्य की शोभा के आघातक तत्व को भी आरम्भ में अलंकार की संज्ञा दी गई।^१ भामह के विवरण के अनुसार काव्य में अलंकार की पहली संज्ञा सौशब्द्य है^२ जो सुवर्ण की भाँति ही उसी सरणि पर की गई प्रतीति होती है। तथा इसका सम्बन्ध केवल शब्द से ही माना गया अर्थात् शब्दिक चमत्कार ही काव्य की शोभा का आघातक तत्व है। वही काव्य को वाङ्मय की अन्य विधाओं में पृथक् करने वाला तन्त्र है जिसे उमका माधारण घर्म कहा जा सकता है। क्योंकि जहाँ तक अर्थ की व्युत्पत्ति (ज्ञानार्जन) होने का प्रश्न है उसके लिए काव्य की सृष्टि नहीं हुई है।^३ अतः अर्थविशेष को लक्ष्य कर की गई अभिव्यक्तियाँ काव्य ही नहीं हैं उनका अलंकार होना तो दूर की बात है। पर भामह ने स्वयं इस मन का उन्वयान स्रष्टन करने के लिए ही किया है और कहा है कि हमें तो काव्य की शोभा के आघातक-तत्त्व के रूप में शब्द और अर्थ दोनों ही अभीष्ट हैं।^४ इसलिए भामह, उद्भट, दण्डी से ही अलंकारों के दो भेदों शब्दालंकार और अर्थालंकार के पृथक्

१. हिस्ट्री ऑफ़ संस्कृत लिटरेचर, क्लासिकल पोरिपड पृ० ३१३

२. काव्यशोभाकरान् घर्मनिलंकारान्प्रचक्षते

३. तदेनदाहुः सौशब्द्यम् ।

४. नायं व्युत्पत्तिरौद्देशी ॥

५. शब्दानिषेयालंकारभेदाद्विष्टं द्वयं तु नः ॥

—दण्डी, काव्या० २।१।

—भामह, काव्यालंकार १।१५।

—भामह, काव्या० १।१५।

—काव्यालं० १।१५।

पृथक् निरूपण की प्रथा चली जिमवा निर्वाह जयदेव एव पण्डितराज जंगराय तब के प्रयो मे पाया जाता है। ध्यान देने की बात है कि अलंकारो के विभाजन का यह आचार नाट्यशास्त्र मे उल्लङ्घन नहीं होता। सम्भवतः इसलिए भी कि वही केवल चार अलंकार निरूपित हुए है। उनमें से एक अन्तिम यमक महालकार तथा पूर्व के शेष तीन उपमा, रूपक एवं दीपक अर्थालंकार है।

अलंकार के स्वरूप-निरूपण के लिए तीगरे युग वा ममारम्भ वामन मे होना है। ये अलंकारो के शब्द एव जय उभयविध आशय को तो स्वीकार करते है पर उन्हें काव्य की शोभा ये स्वरूप का आघातक न मानकर उमके अतिशय का आघातक मानते है। काव्य की शोभा का सृजन तो गुणो से होना है।^१ उन्ही में यह धामता है कि किन्ही उक्ति की काव्य की पदवी प्राप्त करा दें। अलंकार तो गुणो के द्वारा कृत (सृष्ट) काव्य की शोभा में उत्कर्ष का आघात करने है। जनः अलंकार काव्य-शोभा के स्वरूपघायक न होकर उत्कर्षाघायक है। गुणो के लिए हम अलंकार पद का प्रयोग कर सकते है। पर उन समय उनकी व्युत्पत्ति 'अलं-कृति अलंकार' होगी जिसका अभिप्राय यह है कि अलंकरण की प्रक्रिया अर्थात् पदमंघटनात्मक व्यापार ही, जिसे रीति भी कहते है अलंकार पद की प्रवृत्ति वा निमित्त होगा। उपमा रूपक तथा दीपक आदि के लिए जिस अलंकार पद का प्रयोग किया गया है वह इमसे निम्न है तथा उसकी व्युत्पत्ति 'अलंक्रियते अनेन इति अलंकारः' है। जो अलंकरण अर्थात् शोभा की वृद्धि के साधक तत्वो वा बोध कराता है न कि उनकी मृष्टि का जिन्हें गुण या रीति बहा जाता है। इम प्रकार गुण काव्य की शोभा के आघातक उपादान कारण है तो अलंकार निमित्त। उपादानो को ही दृष्टि मे रखकर अलंकार को काव्य वा सौन्दर्य घोषित किया है।^२

दृष्ट और आनन्दवर्चन के विवेचनो से ज्ञात होता है कि वामन के द्वारा की गई अलंकार की परिभाषा को बाद में बहुत महत्व मिला और काव्य में अलंकारों की महत्ता पहले की अपेक्षा अवश्य कम हो गयी। ध्वनि और रस-सिद्धान्त के उद्भव से काव्य में अलंकारो का स्थान यथार्थ में गौण हो गया। वामन ने काव्य की शोभा के कारक और उनके उत्कर्ष के आघातक होने की जो बात कही थी वह बहुत ही पसन्द की गई। यद्यपि इमके आगे चलकर उनका गुण या रीतिवाद भी उनके ही द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त की लपेट में आ गया तथापि उसने काव्य के तत्वों वा उसके स्वरूपघायक एवं उत्कर्षाघायक के रूप में दर्शाकरण कटी सुगमता के साथ होने लगा जो बहुत रोचक भी था। इमका प्रभाव यह पड़ा कि ध्वनि एवं रस के काव्य के स्वरूपघायक सिद्ध हो जाने पर अलंकारों के लिए उसके उत्कर्षाघात के अतिरिक्त और कोई चारा ही नहीं रह गया। और इम प्रकार अलंकार काव्य के स्वरूप या प्राण होने से तो बञ्चित ही हो गये, उत्कर्षाघायक के रूप में भी वे काव्य के शरीर शब्द एव अर्थ पर आश्रित चमत्कार के अतिरिक्त और कुछ नहीं रह गये। यही नहीं काव्य में उनकी स्थिति अनिवायं न होकर वैकल्पिक भी हो गई।^३

१. काव्यशोभायाः कर्तारो धर्माः गुणाः । तदतिशयहेतवस्त्वलंकाराः ।

—वामन, का० सू० ३।१।१, २।

२. सौन्दर्यमलंकारः ।

—वामन, का० सू० १।१।२।

३. अनलंङ्कृती पुनः क्वापि ।

—का० प्र० १।४।

अतएव आनन्दवर्धन ने इनके रस-परक होने में ही इनकी अकारणता मानी है।^१ अन्यथा ये चित्र मात्र हैं, जैसे पहेलियाँ आदि हुआ करती हैं। चित्रका काव्य के भेदों में परिगणन भी नहीं किया है।^२

आनन्दवर्धन ने काव्य और अलंकार में अंगों और अंग का सम्बन्ध माना है। उनका कहना है कि अन्कार का काव्य के अङ्गों के रूप में निवृत्तन कभी नहीं करना चाहिए। अङ्गी रस जादि ध्वनि ही हो नकने हैं।^३ इसलिए काव्य में अलंकारों को रचना के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता नहीं। अन्कार वही है जो स्वाभाविक रूप में रसादि के निवृत्तन के साथ ही चित्रा किमी विशेष प्रयत्न के रस में आश्रित होकर स्वयं उपनिबद्ध हो जाये।^४ ध्वनिम्कार ने तो काव्य में रस आदि मनो अलंकारों की अङ्गता (अप्रदानता) की निवृत्ति के लिये एक विधान भी प्रस्तुत किया है जिसमें पाच नियम होने हैं।^५

१. अलंकारों की विवक्षा सर्वत्र रस को प्रयत्न मानकर रस-परक हो।
२. उनका विनिवेदना अङ्गी (प्रधान) रूप में किमी भी दशा में नहीं होना चाहिए।
३. कविता में अलंकार का ग्रहण एव त्याग उचित अवसर पर हो जाना चाहिए।
४. कवि में आरम्भ अलंकार के अन्त तक निर्वहण वा सुराग्रह नहीं होना चाहिए।
५. यदि किमी अलंकार का अन्त तक निर्वहण हो ही जाय तो इन बात के लिये सदा भवते रहना चाहिए कि वह अङ्ग रूप में ही बना रहे वही अङ्गी न हो जाय।

महाकवि के एक ही प्रयत्न में काव्य में रस का आधान और अलंकारों का उपनिवृत्तन दोनों कार्य हो जाते हैं। दम्पुन कवि का प्रयत्न काव्य के अङ्गीभूत रस रस की निष्पत्ति के लिये ही होगा चाहिए। साथ ही अलंकारों की रचना भी यदि स्वयं हो जाय तो ठीक है, अन्यथा यह आवश्यक नहीं कि काव्य में अलंकार भी रहे। अलंकारों के बिना कानिमी की शोभा में किमी प्रकार की कमी नहीं होती। उनका तो यहाँ तक कहना है कि जिन प्रकार नारियों में भी नौन्दर्प का आवादन मुख्य तत्व उनका लज्जामात्र ही है न कि कटक कुण्डल आदि आभूषण। उनी प्रकार महाकवियों की अलंकार मुख्य रचनाओं में भी चातक वा आधायक मुख्यतत्व उनकी अङ्गीभूतता ही है।^६ प्रतीपनात की छाया अर्थात् स्वयं के बिना काव्य काव्य नहीं हो सकना चाहे वह अलंकारों के सभी प्रकारों में मण्डित ही क्यों न हो। अलंकारों का कविता में वही स्थान है जो नायिका के शरीर पर। अर्थात् उनमें इनका आधय अंग ही होता है अङ्गी

१. रसाविरता यत्र सोऽलंकारो ध्वनेर्मतः । ध्वनिकारिका २।८
२. काव्ये उने तोऽन्यथात् त्विचित्रमित्यभिधीयते । ध्वनिकारिका ३।४२
३. विवक्षा तत्परत्वेन नाद्रिगतत्वेन कदाचन । ध्वनिका० २।१८
४. रसाभिप्लवना यस्य वक्ताः शक्य-श्रियो भवेत् ।
अन्यथाऽनतिवर्धयः सोऽलंकारो ध्वनी मतः । ध्वनिका० २।१६
५. विवक्षा तत्परत्वेन नाद्रिगतत्वेन कदाचन । काले च ग्रहणत्यागी नातिनिर्वर्णयिता ।
निर्वृणोति चाद्रिगतत्वे यत्नेन प्रत्यवेक्षणम् । स्वकादिरलंकारवर्गस्याद्रिगतत्वात्पथम् ।
—ध्वनिकारिका० २।१८, १९
६. मुक्ता महाकविगिरामलंङ्घनिभूतामपि ।
प्रतीपनातच्छाया भूया लज्जेव धोयिताम् । —ध्वनिकारिका०—३।३८

नही। शब्द और अर्थ ही काव्य के शरीर अर्थात् अङ्ग हैं। अतः अलंकारों के आशय ये ही माने गये हैं। गुण और अलंकार में यही भेद है कि गुणों का विनिवेश काव्यात्मा रस के आशय होता है तो अलंकार शब्द और अर्थ पर आश्रित होते हैं जो काव्य के अंग माने गये हैं।^१ यही नहीं रमादि भी जहाँ काव्य या व्यंग्य अर्थ के आश्रित किसी अन्य रस की अनिश्चिति में गौणभाव से विनियोजित होकर अङ्गरूप में जाते हैं वहाँ 'रमवत्' आदि अलंकार ही बूटे जाते हैं। कोई भी ध्वनि काव्य की आत्मा बही होता है जहाँ उसका निरूपण अङ्गीके रूप में होता है। इनके विपरीत अङ्गरूप में विनिश्चित होकर तो वह भी अलंकार ही जाता है। रस आदि अलंकार तो केवल अङ्गरूप में ही उपनिबद्ध हो सकते हैं अङ्गीरूप में नहीं। जहाँ वहाँ भी इन्हें अङ्गीरूप में रखा जायगा वह काव्य न होकर चित्र बहा जायगा जो शब्द-चित्र और अर्थचित्र भेद से दो प्रकार का होता है।^२

आचार्य महिमनट्ट के पूर्व अलंकार के स्वरूप एवं महत्व का एक इतिहास बन गया है। नामह ने पूर्व काव्य-जन्म जिन चारना को मीगच्छ कहा गया था नामह और शशी ने उसे अलंकार के रूप में काव्य की गोभा का एवमात्र आशयक तत्त्व माना। उनके अनुसार काव्य का सौन्दर्य और अलंकार पर्याय थे। उन्नी अर्थ में अलंकार काव्य के सर्वस्व बूटे गये। पर वामन ने उन्हें काव्य की गोभा के अनिगत का आशयक कहकर उनके मूल्य को जो कम किया था आनन्दबर्धन ने उनको और भी कम कमलिये कर दिया कि उनके अनुसार अलंकार काव्य के वाह्यतत्त्व ही मिट्ट बर दिये गये। उन्होंने काव्य में उनकी स्थिति अनिर्वापन मानते हुए उन्हें गौणभाव में व्यवस्थित होने का ही विधान किया है। काव्य के सर्वस्व होते का जहाँ तक प्रश्न है वह म्यान अलंकार्य ध्वनि में ले लिया। और रस को उस ध्वनि का ही आत्मा कहकर काव्य के अङ्गीरूप में उसे ही व्यवस्थित किया। विगुड या स्वरुन्वरूपसे अलंकार परक रचना को काव्य ही न मानना अलंकारों की महत्ता का सर्वथा अन्तान ही करता है जो ध्वनि-मिद्धान्त में आकर हुआ है। मम्मट ने काव्य-रसप्रप में 'अदलंङ्गी पुनः क्वचित्' पर के मन्त्रिवेद्य से ध्वनि-मिद्धान्त के अनुसार काव्य में अलंकारों के स्थान का ठीक-ठीक मूल्यांकन कर दिया है जो उस समय तक के अलंकार शान्तीय-नृत्यों के दिव्यता के ज्ञान का अर्थात् प्रतिनिधित्व करना है।

महिमनट्ट ने अलंकारों के विषय में ध्वनिकार के पक्ष का प्रकारान्तर से मनर्षन ही किया है। उनका कहना है कि काव्य-विषयक व्यापार (काव्य रचना) में कवि की प्रकृत विवेच्य-वस्तु में सौन्दर्य के अनिरेक का आधान करने के लिए होती है न कि अलंकारों का प्रदर्शन करने के लिए। वे तो उसमें स्वतः निष्पन्न हो जाते हैं। क्योंकि किसी वस्तु की अनिश्चिति

१. अङ्गाधितास्वलंकारा मन्तव्याः षट्काविवत् । —ध्वनिकारिका २।६।

२. प्रधानगुणभावाम्नां व्यङ्ग्यस्वयं व्यवस्थिते ।
उभे काव्ये तनोऽप्यटन् तच्चित्रमनिघोषने ॥ —ध्वनिका० ४।४६।

चित्रं तदशयंभेदेन द्विविधं च व्यवस्थितम् ।

तत्र चित्रचित्रमचित्रं वाच्यचित्रमपारम् ॥

—ध्वनिका० ४।४२, ४९।

लिए हुए अनेक प्रकार की अभिव्यक्ति ही तो अलंकार है ।^१ इस प्रकार उनके अनुसार अलंकारत्व काव्य के विवेच्य-विषय में न होकर उनके कहने के प्रकार (भणिति) में ही निहित होता है । किसी रमात्मक वस्तु का काव्य में उपनिबन्धन दो प्रकार से किया जाता है—सरलतया तथा विचित्र ढंग से । विचित्र ढंग से प्रतिपादन होने पर उनमें घोभा का अतिरेक और हो जाता है । इसीलिए इस दूसरे मार्ग को अलंकार कहते हैं । इस तरह विवेच्य-वस्तु की विचित्र ढंग से अभिव्यक्ति ही अलंकार है । जैसे किमी नाचिवा का अपने प्रियतम के पाम अभिनरण ही उनकी प्रवृत्ति का मुख्य प्रयोजन है । साथ ही यदि वह देनकाल के अनुगुण वस्त्राभूषण धारण कर आती है तो उससे दोनों की प्रीति में एक विलक्षण योग हो जाता है । प्रीति के पास जाना तो उमे है ही यदि वह सजयज कर जाती है तो उमकी अपनी विमेष चारना है । अन्यथा वह सरलतया बिना किमी विमेष चुङ्गार के भी जा सकती है और प्रियतम की प्रीति का भाजन भी हो ही सकती है । इसके विपरीत बिना किमी प्रयोजन के वस्त्रालंकार से सुमग्जित होकर वही निकलना जैसे प्रदर्शनमात्र होने से व्यर्थ है उनी प्रकार रमादि विवेच्य-वस्तु की व्यपेक्षा किये बिना स्वतन्त्र रूप से केवल अलंकारों की रचना मात्र-प्रदर्शन के और कुछ नहीं है । यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि ध्वनिकार में जिम वात की अपृथग् यत्न निर्वर्त्य' पद से अभिहित किया था उसी के लिए व्यक्तिविवेककार ने 'नान्तरीयक सिद्धि' पद का प्रयोग किया है । आशय दोनों का प्रायः एक ही है । अलंकारों के लिए अलग से प्रयत्न करने की आवश्यकता का निराकरण ही उनका 'अपृथग्यत्ननिर्वर्त्य' होना है जो उनकी 'नान्तरीयक सिद्धि' का ही निरूपण करता है । जिसके बिना कोई कार्य सिद्ध न हो उसे नान्तरीयक कहते हैं । अथवा एक कार्य के होने से दूसरे कार्य का स्वतः हो जाना ही उनकी नान्तरीयकता है । रमादि के उपनिबन्धन के लिए भङ्गीभणिति का मार्ग अपनाते से चूकि अलंकारों की निष्पत्ति स्वतः हो जाती है अतः काव्य में उनकी स्थिति को नान्तरीयकता में ही निष्पन्न हुई माना है । कहा भी है कि रम के उपनिबन्धन के लिए उद्यत कवि अलंकार की रचना के लिए प्रयत्न नहीं करता क्योंकि रम की निष्पत्ति होने पर अलंकारों की निष्पत्ति स्वतः हो जाती है ।^२ व्यक्तिविवेक व्याख्यान-कार रम्यक ने रमादिरूप सौन्दर्य-निष्पादन की क्रिया को काव्य का प्रयोजक तथा अलंकार की निष्पत्ति को उनके पीछे स्वतः होनेवाली क्रिया कहते हुए नाग की पाक क्रिया और उसके बाद निष्पादनीय आघमन की क्रिया का दृष्टान्त दिया है ।^३ अलंकार के सामान्य लक्षण एवं स्वरूप के विषय में महिमभट्ट के विवचन का यही सारांश है ।

आनन्दवर्धन और महिमभट्ट के अलंकार-विवेचनो में घोडा सा अन्तर भी है जो अन्यन्त सूदन है । आनन्दवर्धन काव्य में अलंकार की स्थिति को अनिवार्य नहीं मानते । उनका कहना

१. किञ्च सौन्दर्यातिरेकनिष्पत्तयेऽर्थस्य काव्यक्रियारम्भः क्वः नत्वलंकारनिष्पत्तये तेषां नान्तरीयक तर्पय निष्पत्तिसिद्धेः भङ्गीभणितिभेदानामेवालंकारत्वोपगमान् ।

—व्यक्तिविवेक पृ० ३४१, २ ।

२. न चालंकारनिष्पत्त्यं रसबन्धोद्यतः कविः ।

यन्ते ते हि तत्सिद्धिनान्तरीयकसिद्धयः ॥

—व्य० वि०, सं० का० २।७५ ।

३. किञ्चेत्यादिना काव्यक्रियायां सौन्दर्यनिष्पत्तेः प्रयोजकत्वमलंकारनिष्पत्तेः च अनुनिष्पादित्वं यथा पस्तावोदनावामपोरित्याह । —व्य० वि० कारिका २।७५ पर व्याख्यान ।

है कि रमादि के बन्धन के साथ-साथ वे स्वतः निष्पन्न हो जायें तो ठीक है अन्यथा यदि उनका उपनिबन्धन वाक्य में नहीं हो पाता तो उससे वाक्य की शोभा या सौन्दर्य को कोई टेस नहीं पहुँचती है। उनके 'अपृथग्यलनिर्वर्त्यं' होने का यही अनिवाय है। इसीलिए ध्वनिकार ने एक स्थल पर कहा है कि रस से युक्त विषय-वस्तु यदि वहाँ अलंकारों से भी युक्त हो तो वहाँ उनकी रचना के लिए अलग से प्रयत्न अपेक्षित नहीं होना। रस-निष्पादन के एक ही प्रयत्न में दोनों निष्पन्न हो जाते हैं।^१ इसका तात्पर्य यह है कि रसवान् वस्तु सर्वथा अलंकार महित ही नहीं होना, वही उससे रहित भी हो सकता है। इसके विपरीत महिमभट्ट की उक्ति 'नान्तरीयकमिद्धि' वाक्य में अलंकारों की स्थिति की अनिवार्यता का संकेत वर्तता है। ध्वनि-कार के अनुसार अलंकार वाक्य-शरीर शब्दार्थ के घर्भ-मात्र हैं जबकि महिमभट्ट अलंकारों को अभिव्यक्ति का एक ऐसा प्रकार मानते हैं जिसका आश्रय लिये बिना रमादि की निष्पत्ति में चमत्कार का आधान नहीं हो सकता। जिसके बिना जो सिद्ध न हो पाता हो उस (माध्य) से उस (साधक) का आश्रय करना ही नान्तरीयकता है।^२ यदि अलंकारों की मिद्धि नान्तरीयक है तो उसका तात्पर्य यही है कि अलंकारों के बिना वाक्य में सौन्दर्यातिरेक की निष्पत्ति सुतरां नहीं हो पाती। अतः उसके लिए उनका आश्रयण नान्तरीयक अर्थात् अनिवार्य रूप से अपेक्षित हो जाता है। व्यक्ति-विवेक के टीकाकार रय्यक ने भी इसका यही अर्थ समझा है। वह 'नान्तरीयकसिद्धि' पद की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि रस-बन्ध की मिद्धि होने पर अलंकारों की सिद्धि अवश्यम्भाविनी है।^३ इसीलिए व्याख्यानकार ने रसादि और अलंकार की निष्पत्तियों के सम्बन्ध का दृष्टान्त भात और आचमन की क्रियाओं का दिया है। जो यद्यपि स्पष्ट नहीं होता कि पवने की क्रिया में भात और आचमन का क्या सम्बन्ध है पर अनुनिष्पादन पद के प्रयोग से यही ज्ञात होता है कि जिस प्रकार पवने पर भात की क्रिया (भोजन) के अनन्तर आचमन की क्रिया का अनिवार्य रूप से होना सर्वथा स्वाभाविक है उसी प्रकार रस-बन्धन के साथ अलंकार की निष्पत्ति का होना भी अनिवार्य रूप से स्वाभाविक है।

अलंकारों और रसों के अंगांगिभाव का विवेचन भी व्यक्तिविवेककार ने ध्वनिकार से भिन्न रूप में ही किया है। उनका कहना है कि रस का साक्षात् निष्पादन होने से विभाव आदि उसके अंग माने गये हैं। विभावादि की उक्ति में विचित्रता रूपी चमत्कार का आधान चूँकि अलंकारों से होता है अतः वे परम्परया ही रस के आश्रय सिद्ध होते हैं, साक्षात् नहीं। रस के साक्षात् आश्रय विभावादि हैं। अलंकारों के उनके भी आश्रय होने से वे भी विभावादि के द्वारा परम्परया रस के आश्रय सिद्ध हो जाते हैं।^४ अलंकार और रसों का यह आश्रया-

१. रसवन्ति हि वस्तूनि सालंकारीणि यानि च ।

एकेनैव प्रयत्नेन निर्वर्त्यन्ते महात्मनः ॥

—ध्व० का० २।१६ पर सं० श्लोक ।

२. येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाभिष्यते ।

३. ते हि तत्सिद्धीति—रसबन्धसिद्ध्यालंकारा अवश्यं सिद्धयन्तीत्यर्थः ।

—ध्व० वि० सं० का० २।७५ पर व्याख्यान ।

४. रसस्याङ्गं विभावाद्याः साक्षान्निष्पादकवतः ।

तत्रैविव्योक्तिवपुषोऽलंकारास्तु तदाश्रयाः ॥

—ध्व० वि० सं० का० २।७६ ।

श्री भाव भी रम के स्थल में अलंकारों की अनिवार्यता में स्थिति का ही बोधक है जो ध्वनि-कार को मान्य नहीं है।

व्यक्ति विवेचकार ध्वनिकार के इन कथन में नम्र हैं कि काव्य में अलंकारों की स्थिति अप्रधान है जिनकी पुष्टि काव्य के अंगोभिन नन्व रम गी उनमें माझान् स्थिति न होने की बात से भी हो जानी है। अतः काव्य के विवेच्य-वस्तु की चांगना का ध्यान रखने हुए अलंकारों का वहाँ जिन रूप में ग्रहण एवं परिष्कार करना चाहिए वह सब उत्तम कवि की स्वयं की कल्पना के विषय है।^१ इन्का इदमिन्ध रूप में विधान नहीं किया जा सकता। आनन्दवर्धन ने जिसे ग्रहण और त्याग शब्दों में कहा था वहाँ उसी अनिप्रपञ्च को आधान एवं उद्धरण पदों से व्यक्त किया गया है। कवि का कविन्व दर्शन ही है कि वह भगी-भगिति हन अलंकार के मूलन की पद्धति अपनाते और न अपनाते या छोड़ने के अवसर को पहचानने में निरुण हो। व्याख्यानकार ने वहाँ टीका करने हुए कहा कि आधान एवं उद्धरण पदों के प्रयोग से यह ध्वनि होना है कि अलंकारों के आगच्छात्त्व ही निरूपण में परम्पर वैशिष्ट्य भी होता है। किनी विशेष प्रकार के चांग्य की निरूपण किनी विनिष्ट अलंकार में ही सम्भव है। अतः उन अवसर के अनुरूप अलंकार-विशेष का ग्रहण और पूर्वगृहीत अलंकार के अवसर के अनुरूप न होने से उनका परिष्कार ही अलंकारों का आधान एवं उद्धरण है।^२

महिमन्ट के उत्तरवर्ती आचार्यों ने मन्मट ध्वनिकार आनन्दवर्धन के अनुयायी हैं। इन्होंने भी काव्य में अलंकारों की स्थिति को अनिवार्य न मानते हुए ध्वनिकार की मरणि पर ही अलंकार का लक्षण किया है कि अलंकार वे हैं जो शब्द एवं अर्थ स्वी काव्य के अंगों के द्वारा काव्य-शोभा का उत्कर्ष उनी प्रकार करते हैं जिन प्रकार हार आदि अलंकारों के शरीर के अंग-प्रत्ययों में घाटण किये जाने पर व्यक्ति के सौन्दर्यकी वृद्धि होती है।^३ अलंकारों के विवेचन के लिए मन्मट के शब्द स्वयं तथा जयदेव विनोदरूप से प्रसिद्ध हुए हैं। ये दोनों ही महिमन्टने प्रभावित प्रतीत होते हैं। स्वयं ने अपने अलंकार-सर्वस्व में अलंकार-नामान्य का अना विनोद लक्षण तो नहीं किया है पर पूर्ववर्ती आलंकारिकों के मतों का अत्यन्त मक्षेप में निरूपण करते हुए अलंकारत्वकी अनिधान का एक प्रकार माना है। व्यञ्जनावादी होते हुए भी स्वयं ने रगदशदिकी अलंकारता और चित्र की वाच्यता स्वीकार की है जो ध्वनि-निदान के विरुद्ध है। चित्र की अममवाच्यता तो मन्मटने भी मानी है पर सर्वस्वकार ने तो उसे ही आदार बनाकर 'अलंकारसर्वस्व' नामक ग्रंथ का प्रपदन किया है। जयदेव ने अपनी कृति

१. तेनैषामप्रधानत्वादाधानोद्धरणोदयः ।
चांक्षनापेक्षयार्थस्य कल्प्यन्ते कविना स्वयम् ॥ —व्यं वि०, सं० का०, २।७७ ।
२. अवस्थास्त्वं यथा निरूपयन्ते तथा तेषामुपनिबन्धः कार्यः । तत्प्रयोजनात्वाधानोद्धरणोदयः
इत्युक्त्या अलंकाराणां परस्परं चास्त्वनिरूप्यादने विशेषः प्रतिपादितः ।
—व्यं वि०, सं० का० २।७७ पर व्याख्यान ।
३. उपरुचंलि तं सन्नं येऽङ्गद्वारेण जानुचिन् ।
हारादिवदलंकारास्तेऽनुप्रासोपमादयः ॥ —काव्यप्रकाश, ८।२ ।

‘चन्द्रालोक’ के आरम्भ में ही भम्मट के द्वारा काव्य में अलंकार की स्थिति को वैकल्पिक कर देने पर अपना धोम ध्वजत किया है। उनकी दृष्टि में जिस प्रकार उष्णता से रहित अग्नि की कल्पना नहीं की जा सकती उसी प्रकार अलंकार में रहित काव्य कबमपि सम्भव नहीं।^१ यही पक्ष महिमभट्ट का घा जिमका प्रतिपादन ऊपर किया जा चुका है।

१. अङ्गीकरोति यः काव्यं शब्दापरिविनलंकृतम् ।
असौ न मग्यते कस्मादनुष्णमनलं कृतम् ॥

द्वितीय-विमर्श

अलंकारों के प्रयोगाप्रयोग का विवेक

१--अलंकार-दोष

आचार्य महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविवेक में अलंकारों का विवेचन स्वतन्त्र रूप से उन प्रकार नहीं किया है जिन प्रकार भाभट्ट, दण्डी, वामन या मम्मट, विश्वनाथ एवं पण्डित-राज जगन्नाथ ने अपनी कृतियों में किया है। उन्होंने दोषों के विवेचन के प्रसंग में गौणरूप से यत्र-तत्र कुछ अलंकारों का निखनण भी किया है। वस्तुतः उनका यह विवेचन अलंकार-दोषों का निरूपण करता है किन्तु उनके इस उल्लेख से ही तत्सद् अलंकारों के स्वरूप के विषय में उनकी मान्यता का ज्ञान हमें होना है। महिमभट्ट का कहना है कि ध्वनिकार आनन्दवर्धन की इस उक्ति का कोई विरोध नहीं है कि कवियों की अलंकारपरक रचनाओं में भी सौन्दर्य का आवायक मृदु तन्त्र प्रतीयमानता ही है।^१ अतएव कवि माना प्रकार के अलंकारों की रचना में समर्थ होते हुए भी उनमें से कुछ का ही समावेश अपनी कृतियों में करता है^२ सबका नहीं। वह काव्य में अलंकारों को बहुत महत्त्व नहीं देना चाहता। क्योंकि अलंकार-बहुल रचनाओं में काव्य के मुख्य प्रतिपाद्यवस्तु एवं रसादि को व्याघात पहुँचाता है। चूँकि सभी अलंकारों का प्राणभूत उपमा ही है और वह प्रतीयमान (अनुमेय) होकर ही बहुसहस्रदोषों के अधिकाधिक आस्वाद का विषय होनी है इसलिए इस रहस्य के ज्ञाता आलंकारिकों ने स्पक आदि अलंकारों के समूह तथा यमक का भी निरूपण उपमा के ही प्रपञ्च के रूप में किया है।^३ यहाँ उनका उसी रूप में निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है।

(क) उपमा एवं रूपकादि

व्यक्तिविवेककार का कहना है कि विद्वान् को वाच्य की अपेक्षा प्रतीयमान अर्थ अधिक चमत्कारमालो लगना है। रूपक आदि उन सभी अलंकारों में जहाँ किसी न किसी रूप में उपमानोपमेयभाव विद्यमान रहता है, उपमा प्रतीयमान होती है, इसीलिए कवियों की अलंकारपरक रचनाओं में उपमा की अपेक्षा रूपक आदि उन अलंकारों को विशेष महत्त्व

१. यदाहुः—मुख्या महाकविगिरामलंकृतिमृनामपि ।

प्रतीयमानच्छायां च भूया लब्धेव सोपिताम् ॥ इति ।

२. अतएव बहुष्वभ्येत्त्वलंकारेषु सत्स्वपि ।

कदिचदेव निबन्धानि शशिनमरुपि सत्स्वविः । —व्य० वि०, सं० का० २७८ ।

३. यतः सर्वेष्वलंकारेषूपमा जीवितायने । ता च प्रतीयमानं च तद्विदां स्वदत्तेनराम् ॥

रूपकादिरलंकारवर्गो यमक एव हि । तत्रप्रपञ्चनया प्रोक्तः कश्चित्तत्पर्यरक्षिभिः ॥

—व्य० वि०, सं० का० २७९, ८० ।

दिया जाना है जिनमें उपमानोपमेय भाव के रूप में उपमा प्रतीयमान होती है । उपमान, उपमेय, साधारणधर्म एवं उपमावाचकपदमें चार तत्व ही उपमा के लाघायक होते हैं । इनमें उपमावाचक पद 'इव' व, आदि बड़े जाते हैं । इनका साधान् प्रयोग होने पर उपमावाच्य बर्ती जानी है जन्मवा वह प्रतीयमानही होती है । लेकिन 'इव' आदिशब्दों के प्रयोग के बिना ही यदि उपमानोपमेयभाव की प्रतीति हो जाय तो उसके लिए किया गया इव आदि का प्रयोग पुनरक्त दोष को जामग्नित करना है । उदाहरणस्वरूप 'निर्मोक्षमुक्तामिव गगनोरपस्य लीलाललाटिका-मिव त्रिविष्टपदित्थम्' (आकाशरानी सप की अलग हृदय केंचुल तथा स्वर्ग रानी विट के ललाट पर धारण की जाने वाली पट्टी के समान । इन वाक्यों में उपमावाचक 'इव' पदों का प्रयोग इसलिए व्यर्थ है कि उनके बिना रूपक अलंकार में भी उपमानोपमेयभाव की प्रतीति सुनरी हो जाती है । क्योंकि उनके बिना आकाश पर सप एवं स्वर्ग पर विट के आरोप बन नहीं सकते ।

रुक् के द्वारा उपमानोपमेयभाव की प्रतीयमानता का उदाहरण दिया है—

आलानं जदलक्षणस्य करिणः सेतुर्द्विपद्वारिषे,
पूर्वादिः करवालवण्डमहसो लोलोपयानं श्रियः ।
सप्रानामृतसागरद्वयमयनश्रीडाविषी मन्दरो
राजन् राजति वीरवैरिवनिता बंधव्यदस्ते भुजः ॥

हेराजन् ! शत्रु के योद्धाओं की पलियों को बंधव्य प्रदान करनेवाली आपकी यह भुजा ही विजयश्री हाथी को बांध रखने का स्वप्न, विपत्ति रानी ममूद को पार करने का सेतु, कृपाण रानी प्रचण्ड मूर्य के उदय होने का आश्रय उदयाचल नामक पर्वत, गृहिणी रानी लक्ष्मी के माय विविध प्रकार की कामक्रीड़ाओं के लिए तबिया तथा संग्रामरथी अनृतमागर के मग्नन के लिए मन्दराचल है ।

यहाँ विजय पर हाथी, विपत्ति पर ममूद, कृपाण पर मूर्य, गृहिणी पर लक्ष्मी, तथा संग्रम पर अनृतमागर का आरोप उनमें निहित सादृश्यभाव के कारण ही हुआ है जो व्यंग्य है । क्योंकि सादृश्य के विद्यमान न रहने पर कोई भी मुबुद्ध व्यक्ति एक वस्तु पर दूसरी का आरोप नहीं करता ।

उत्प्रेक्षा के द्वारा उपमानोपमेयभाव की प्रतीयमानता का उदाहरण है—

अङ्गुलिभिरिव केदासञ्चयं सन्निगृह्य तिमिरं मरीचिभिः ।
कुड्मलोत्तसरोजलोचनं चुम्बतीव रजनीमुखं शशी ॥

चन्द्रमा अपनी किरणरूपी अङ्गुलियों से रात्रि रानी नायिका के अंधकाररूपी केद-ममूद को पकड़कर उसके मुख (मग्भवतः पूर्वदिशा) को मानो चूम रहा है अतएव (मारे लज्जा के) उम (रात्रि रानी नायिका) ने भी अपने कमलरूप नेत्रों को संकुचित कर बली कर लिया है ।

इस पद्य में 'चुम्बतीव' में प्रयुक्त उत्प्रेक्षा का वाचक 'इव' पद व्यर्थ होकर इसे पुनरक्त दोष का भाजन बना देता है क्योंकि चन्द्रमा के द्वारा रजनी के मुखचुम्बन वर्णन में मुखार्थ का

१. वाच्यान् प्रतीयमानोऽयंस्तद्विदां स्वदत्तेऽधिकम् ।

रूपकादिरतः श्रेयानलंकारेषु नोपमा ॥

—व्यक्तिविवेक, का० २।३९ ।

दान होने में उनकी परिणति स्वतः नाद्वय अर्थ में ही जाती है। जिस अनिप्राय की प्रतीति अन्य प्रकार से ही जाय उनके लिए वाच्य शब्द का प्रयोग दोषावह ही होता है। इनका दोष-रहित उदाहरण दिया है—

स्मरहुनागतमुर्धुरूपतां दयुरिवाग्रवतस्य रजःकपाः ।

निरतिवा परितः पथिकञ्जानुपरि ते परितेपुरतो भूयम् ॥

आन्वयन के दूल्कन पथियों के ऊपर पड़कर उन्हें ऐसा पीठित कर रहे हैं मानो वाम को जलानेवाला अग्नि ही चर-चर होकर उन पर चिन्न रहा हो। यहाँ घलिकप के अग्नि-वृत्त होने की सम्भावना उत्प्रेक्षा उत्पन्न है जो उनमें निहित नाद्वयभाव के बिना बन नहीं सकता। अतः नाद्वयवाचक पद का प्रयोग न होने में ही उत्प्रेक्षा का भी चमत्कार है क्योंकि इनमें नाद्वयभाव प्रतीयमान बना रहता है वाच्य जोड़ने में नहीं आने पाता। इस प्रयोग में एक और उदाहरण प्रतिबन्धनमा का दिया है—

तृप्तिप्रयोगः परेणापि न महिम्ना महोपसाम् ।

पूर्वोच्चन्द्रोदयाकाशी दृष्टान्तोऽत्र महार्णवः ॥

बहुत अधिक महिमा पाकर भी इतों को त्रुट नहीं होता। जल से परिपूर्ण होने हुए भी मधु चन्द्रोदय की जो आकाशा जिना कृता है वही उनका दृष्टान्त है। यहाँ प्रतिबन्धनमा अक्षरों में ही महापुरुष एव मधु में नाद्वयभाव की प्रतीति ही जाती है उनके लिए दृष्टान्त पद का प्रयोग उक्ति को पुनरक्ति-दोष में प्रवृत्त कर देता है। यही यदि प्रतीयमान होता तो महद्वयों के अधिक आन्वय का विषय बनता, जगत् महार्णव कालिदास के रघुवच के निम्न पद्य में नाद्वयवाचक पद का प्रयोग नहीं हुआ है—

सञ्चारप्लूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनान्ते निलमाय गन्तुम् ।

प्रचञ्चमे पल्लवरागनाम्ना प्रभाषनं पत्स्य मुनेश्च धेनुः ॥

दिन भर दिग्दिगन्तरालों को जदने नञ्कार ने पथिक करके अन्त में मग्ध्या नमय नये निकले पत्ने के समान ताग्रवर्ण वाणी मूर्ध की प्रभा और मुनि की देव शैला अपने अपने निवास-स्थान की ओर चले शी। यहाँ पद 'प्रनेद भानो नृर्गन्मर्होय' के द्वारा इन दोनों में निहित नाद्वयभाव को वाच्य-मुक्त में अभिव्यक्ति कर सकता था किन्तु ऐसा न करके दीपक अक्षरों के माध्यम से उपमानोत्प्रेक्षा-भाव का निलक्षण किया है। इसी प्रकार ममानोक्ति, अनन्त-प्रसंगा आदि अन्य अक्षरों में भी समझना चाहिए।

आचार्य महिमनदट का कहना है कि शब्द एव अर्थ की पुनरक्ति के समान अक्षरों की पुनरक्ति भी दोष है। जहा पर एक ही अक्षर शब्द और अर्थ भेद में दो बार आता है वह स्पष्ट नञ्कारने पुनरक्ति का ही है।^१ उनका उदाहरण कालिदासके रघुवच का निम्न पद्य है—

उभावपाइवो शरत्तमना यया, यया जयन्ते शचीपुरखरी ।

तथा नृपः सा च सुवेन मागधी नदग्दस्तुत्तत्तद्गो न तत्तमी ॥

१. एवंवाच्येनिर्यत्र शाब्दत्वार्यत्वभेदतः ।
 द्विश्यन्ते तां मग्धन्ते पुनरक्तिमतिक्रुदाम् ॥ । —८७० दि० स० का० २।४०,
 ३४

पुत्र रघु के जन्म लेने में दिल्लीप और मुदक्षिणा उन्नी प्रकार आह्लादिन हुए जिस प्रकार कुमार कार्तिकेय के जन्म से शिव-पार्वती और जयन्त के जन्म में इन्द्र और गन्धी । यहाँ दिल्लीप, शिव तथा इन्द्र एवं उनकी पत्नी मुदक्षिणा, पार्वती और इन्द्राणी तथा कुमार एवं जयन्त के साथ नवजात शिशु रघु का उपमानोपमेय-भाव स्पष्ट है अर्थात् अर्थतः शात है । वह यह है कि जिस प्रकार वे दोनों पुत्र प्रभावशाली हुए उन्नी प्रकार कुमार रघु भी था या होगा । उनकी प्रतीति के लिए यथा आदि मादृश्यवाचक पदों का प्रयोग यहाँ उक्त रीति से पुनरक्ति-दोष की ही मृष्टि करना है । इसी प्रकार किसी वस्तु या विषय का कोई रूप स्वतः जान हो जाता हो तो उसकी अनिब्यक्ति के लिए उपमा या रूपक का आश्रय लेना भी पुनरक्ति-दोष ही है ।^१ उदाहरणतः —

स्फुरदधीरनडिप्रथना मुहुः प्रियमिवागलितोरपयोधरा ।

जलधारावलिप्रतिपालितस्वतमया समयाग्जगतीपरम् ॥

चमकने तथा चञ्चल बिजुल रूमी नेत्र तथा पीनपयोधर से युक्त मेघ-मालाएँ अपने निर्धारित (ऋतु) काल का ध्यान न रखने हुए समय में पूर्व ही अपने प्रियतम के समान उन पर्वत पर घिर जाईं ।

यहाँ पर जगतीपर (पर्वत) एवं जलधारावलियाँ प्रेमी और प्रेमिका के समान वर्णित हैं । उनके उपमानोपमेय भाव रूप मादृश्य की प्रतीति ममामोक्ति अलंकार में ही हो जाती है फिर भी उनकी प्रतीति के लिए 'प्रियमिव' में मादृश्यवाचक पद 'इव' का प्रयोग अर्थतः प्रतीत होने वाले भाव की पुनरक्ति होने में दोष ही है । क्योंकि जब तक प्रस्तुत पर्वत और मेघमाला पर प्रेमी-प्रेमिकानाथ रूप अप्रस्तुत ध्यवहार का समारोप नहीं होता तब तक नयन के स्फुरत् और अधीर तथा पयोधर के जगलित एवं उरु (विशाल) विशेषण, समय वर्षा-ऋतु तथा संवेत-काल के प्रतिपालन के अर्थ ठीक बैठ नहीं सकते । यह समारोप ही जगतीपर (पर्वत) और प्रिय (प्रेमी) में निहित मादृश्य-भाव का बोध कराने में पूर्ण समर्थ है अतः उसके लिए पद्य में हुआ 'इव' का शब्दतः प्रयोग निश्चित ही पुनरक्ति-दोष है ।

यही नहीं किसी वस्तु के उस धर्म का जो केवल उसी में पाया जाता हो, कारण किसी अन्य वस्तु पर हो तो उन दोनों के बीच स्थित उपमानोपमेय-भाव की अनिब्यक्ति के लिए शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती ? उदाहरणतः—

अररागममोरणेरितः श्रमशीर्षाकुलमूलसन्ततिः ।

तद्वन् सुकरः सहिष्णुना रिपुदन्मूलधितुं महानपि ॥

अरराग-ममीर—प्रजा के विरोध की आंधी से श्वमीरे जाने के कारण जिसकी जड़ें अमात्यवर्ग क्रमशः शीर्ष होकर जिसे प्रायः छोड़ चुके होते हैं ऐसा महान् शत्रु को भी किसी

१. यस्य यद्रूपताव्यक्तिः सामर्थ्यादेव जायते ।

तस्योपमा रूपकं वा तदर्थं पीनद्वत्त्वकृत् ॥

—ध्य० वि० सं० का० २।४१ ।

२. यदर्थं काश्रजी धर्मो धन स्यादधिरोपिता ।

उपमानोपमेयत्वं न तयोः शाब्दमिष्यते ॥

—ध्य० वि०, सं० का० २।४२ ।

अलंकारों के प्रयोगाप्रयोग का विवेक

घंटासाली के द्वारा वृक्ष की तरह उसाड फेंकना आमान होता है। इस पद्य में उन्मूलन के मात्र तत्त्वमें होने से राजा पर उनका आरोप होकर ही वाच्य की विश्रान्ति होती है। अतः उसके नामर्थ से ही दोनों का उपमानोपमेय-भाव सिद्ध हो जाता है। उसके लिए अलग से सादृश्य-वाचक पद के प्रयोग की आवश्यकता यहाँ नहीं है। इन प्रकार रूपक एवं पर्यायोक्ति आदि अनेक अलंकारों का दृष्टान्त देकर आचार्य ने यह बताया है कि अलंकारों के प्रयोग में भी तद्वाचक पदों का प्रयोग तब नहीं करना चाहिए जब उनमें अभिलिपित उपमानोपमेय आदि भावों की प्रतीति किसी अन्य सामर्थ्य से म्बन हो जाती है।

(ख) पुनरुक्ति एवं अनुप्रास

यहाँ तक शब्दालंकारों का प्रश्न है महिमभट्ट का कहना है कि चाहे समास-बहुल-रचना हो या (समास) विहीन, अनुप्रास के मभी भेदों में से वह भेद जिसमें प्रायः प्रत्येक पद के प्रथमवर्ण एक ही होते हैं, कवियों को बहुत प्रिय होता है। समास-बहुल-रचना का उदाहरण है—

त्वत्कीर्तिकेतकीवल्लुप्तकान्तकर्णावितंसकः ।

दिगङ्गनागणो राजन् राजत्यामोदनिभंरः ॥

हे राजन् ! आपकी कीर्ति रूपी केतकी पुष्प का कर्णावितंस (कनफूल) पहनकर आमोद (सुगन्ध, प्रमत्तता) से परिपूर्ण दिशाहूपी त्रिवयो का समूह किना अच्छा लग रहा है। यहाँ कीर्ति, केतकी, कल्पूत, कान्त तथा कर्णावितंस पदों के आदि में प्रयुक्त कवार छेदानुप्रास की सृष्टि करता है। अतः समास में भी कवार की ही छटा का उदाहरण है—

कृतः कुबलयं कर्णे करोषि क्लभापिणि ।

किमपाङ्गमपर्याप्तमस्मिन् कर्मणि मग्यसे ॥

मनुरालापिनि प्रिये ! कानो में नीलकमल को कनो पहनती हो ? क्या तुम ऐसा समजती हो कि तुम्हारे अपाङ्ग (नेत्रप्रान्त) उम काम में समर्थ नहीं है ? यहाँ पर भी कृतः, कुबलयं, कर्णे, करोषि एवं क्लभापिणि पदों के आदि में कवार का प्रयोग अनुप्रास की सृष्टि करता है। पूर्व से इममें अन्तर इतना ही है कि वहाँ पूर्वाङ्ग में प्रयुक्त सभी पदों का समान हुआ है जबकि उत्तरपद्य में पूर्वाङ्ग के प्रत्येक शब्द अलग-अलग स्वतन्त्र रूप से प्रयुक्त हुए हैं।

मञ्जेष में पुनरुक्ति दो प्रकार की होती है—आर्यी और शाब्दी। अभीष्ट अर्थ की प्रतीति जब किसी अन्य सामर्थ्य से निद्ध हो तो उनके लिए शब्द का प्रयोग आर्यी-पुनरुक्ति है। शाब्दी पुनरुक्ति वह है जहाँ किसी तात्पर्य-विशेष में किसी शब्द की पुनरुक्ति करनी पड़ती है। इनमें प्रथम प्रकार गौण तथा द्वितीय मुख्य होता है। तथा प्रथम आर्यी-पुनरुक्ति ही दोष है। शाब्दी तो अलंकार की सृष्टि करती है। शब्दालंकार के प्रयोग में पद्य विद्वान या कवि

१. समासे चासमासे चानुप्रासेष्वखिलेष्वपि ।
पदादिवर्णानुप्रासः कवीनामधिकं प्रियः ॥

इने ही लाटानुमान कहते हैं ।^१ इन प्रकार लाटानुमान का दोष पुनरन्ति ही है जो दोष और गुण दोनों ही होती है ।

(ग) श्लेष में पद की आवृत्ति

श्लेष दो प्रकार का प्रसिद्ध है—शब्दविपयक और अर्थविपयक । इन भेदों के विनिर्णयक सूत्रों के विषय में आलवारिकों में अनुमेद भी है । दण्डी आदि ने श्लेष के व्यापारक अनेक तत्त्वों का प्रतिपादन किया है तथा उसके शब्द, अर्थ एवं समझ, अनङ्ग नामक भेदों का विवेचन प्रायः करने दिया है । अनङ्ग को शब्द एव अनङ्ग को ही अर्थश्लेष की भी संज्ञा दी गई है । पर महिनमट्ट का कथन है कि श्लेष के शब्द एवं अर्थ विपयक भेद अविनाशान्त में नियमित होते हैं । उनी शब्द के प्रयोग के दिना यदि श्लेष नहीं रहता तो वह नन्दश्लेष है और यदि उसके किसी अन्य पद्यों के प्रयुक्त होने पर भी यदि श्लेष बना रहता है तो वह निश्चित रूप से अर्थश्लेष है । इसके लिए शब्द की नोड़ना पड़े चाहे न । शब्द-श्लेष का लक्षण करते हुए उन्होंने कहा है—जहाँ पर केवल शब्द के प्रयोग से दो वस्तुओं के ऐसे साम्य का निरूपण किया जाय जो किसी में कम हो न अधिक वह शब्द-श्लेष अलकार है । यह कर्तव्य कर्म आदि प्रधान अर्थों के साथ नित्य-अन्वय धर्मों और धर्मवाचक शब्दों में प्रयोग से ही दो प्रकार का होता है ।^२ व्यक्तिविवेकवार ने अर्थश्लेष के लक्षण आदि का विवेचन नहीं किया है । किन्तु उनका कहना है कि श्लेष के दोनों प्रकारों में अर्थद्वय की अनिव्यक्ति का कोई कारण अवश्य बताया जाना चाहिए अन्यथा कवि का श्लेष की रचना का अर्थ व्यर्थ हो जायगा ।^३ कहने का आशय यह है कि श्लेष में नौ दूसरे अर्थ की प्रतीति बाध्य ही होती है । पर वह बाध्य तब तक नहीं होगी जबतक रचना में कोई ऐसा प्रयोग न किया गया हो जिससे बाध्य होकर पाठक को दूसरे अर्थ की ओर उन्मुख होना पड़े । अन्यथा या तो उसकी प्रतीति नहीं होगी या यदि होगी भी तो प्रतीयमान के रूप में होने से रचना में श्लेष का चमत्कार नहीं रह पायेगा ।

धर्मों अर्थवाले शब्द की श्लेष से अनिश्चिता का उदाहरण है—

अनान्तरे फुल्लमल्लिकाम्बलाद्दहासः कृत्स्नमसमधुगुणुपसंहरत्न-
जुम्भत प्रीष्णानिधानो महाकालः ॥

१. सामर्थ्यसिद्धस्वार्थस्य यथार्थोपनन्दतता ।
तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विरुक्तिः शान्द्यपोष्यते ॥४६॥
पीनरक्त्यमिनि द्वेषा गौणमुत्पत्त्या स्थितम् ।
तत्र दूषणमेवाद्यमपरं भूषण स्मृतम् ॥४७॥
शब्दालंकारनिर्णयलाटानुमानसंज्ञया ।
तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु वितन्पते ॥४८॥ — व्यक्तिविवेक, द्वितीय-दिनसं ।
२. यत्रान्युनातिरिक्तेन सादृश्यं वस्तुनोद्भयोः । शब्दमात्रेण कथ्येत स शब्दश्लेष इत्यने ॥
स शब्दः कर्तृ कर्मादिप्रधानार्थाविनाकृतः । निबद्धो धर्मधर्मार्थद्विविधः परिकीर्तितः ॥
— व्य० वि० सं० । का०, २।८१, ८२ ।
३. उभयस्याप्यभिधेयत्वं बाध्यं किञ्चिद्विबन्धनम् ।
अन्यथा व्यर्थ एव स्याच्छ्लेषबन्धोद्यमः कवेः ॥ — व्य० वि० सं० का० २।८४ ।

इसके बाद ग्रीष्म नामक ऋतु का आगमन ऐसे हुआ मानो महाकाल ने जन्हाई ली । मल्लिका के श्वेत पुष्पों की रागि की रागि क्या करने लगी ऐना लगना था कि महाकाल ने झूट्टहाम ही किया है और फलस्वरूप दूधों एव सनाओं के फूलने की ऋतु समाप्त होने पर आई मानो दुग् का ही सहार समीप हो । यहाँ पर 'महानमय' या 'ग्रीष्मकाल' उन विरोध के प्रयोग से ही लम्बे समय तक रहने वाली ग्रीष्म ऋतु एव देवता-विरोध महाकाल की प्रतीति 'धवलदृष्टहाम' तथा 'युगनुपनहरन्' पदों के प्रयोग के सामर्थ्य से ही हो जाती उनके लिए 'महाकाल' पद का प्रयोग जादृष्टिमान है जो नमानोजि के लिए हुई है । अहा पर इस प्रकार की पुनरक्ति के लिए कोई कारण न हो वहाँ पद की आवृत्ति व्यर्थ होती है ।
उदाहरणतः—

आश्चर्यादितापतद्विगम्बरमुन्व्वर्गामात्रभ्य च स्पिननुवप्रविनाल भृङ्गम् ।

भूर्जिस्त्रलसुहिनदीधितिकोटिभेनमुद्रोक्ष्य को भुवि न विस्मयने गिरीशम् ॥

इस पृथ्वी-जल पर ऐना कौन है जो इस गिरीश को देखकर विन्मन न हो जाय । यहाँ 'गिरीश' विशेष के दो अर्थ हैं—गिरिराज हिमालय, तथा बँलाज पर्वत पर सोने वाले शिव । प्रयुक्त सभी विशेषण दूधार्थक हैं । हिमालय पक्ष में इनका अर्थ है जिनने जन्ती विभुलता से दिनाओं एव अम्बर (आजान) दोनों को डूँक लिया है, जो जोरो से पृथ्वी को दबाकर बहून ऊँचाई लिए स्थित है, जिनके शिखर ऊँचे तथा विनाश हैं, जिनके ऊपरी भाग पर बर्फ की अनेक पर्तें चनक रही हैं । शिव पक्ष में—जितने दिना रूपों लम्बे चौड़े बन्ध से अपने अंगों को ढक रखा है, जो नन्दी नामक ऐसे बँल पर नवान है जिनकी नीचे विनाल एवं ऊपर की उठी हैं तथा जिनके ललाट पर चन्द्र की कला छिटक रही है । यहाँ पर 'गिरीश' पद की आवृत्ति का कोई कारण नहीं । जिनका कथन होना चाहिए था, न होने से वाच्य का अवचन अर्थात् न कहा जाना वाच्या वचन दोष है ।

यहाँ पर यह कहा जा सकता है कि जिन प्रकार प्रदीप जिन वस्तु को देखने के लिए जजाना जाता है उसके आग-भान रखी हुई जल्य वस्तुओं का भी ज्ञान करा देता है उसी प्रकार यहाँ 'गिरीश' शब्द मुख्यतः हिमालय अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये प्रयुक्त हुआ है साथ ही प्रसंगवश उसने शिव अर्थ की भी प्रतीति हो जाती है तो इसमें क्या क्षति है ? इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि वास्तु ऐसी ही नहीं । प्रदीप के प्रकाशन एवं शब्द के अर्थ-प्रदानन व्यापारों में भेद है । शब्द को किसी अर्थ की प्रतीति के लिए जिस प्रकार पहले अपना परिचय देना पड़ता है अर्थात् उसे मन्त्रप्रह आदि पर निर्भर होना पड़ता है, प्रदीप को उसी प्रकार स्वयं के प्रकाशन के लिए किसी अन्य की सहायता अनपेक्षित नहीं होती । इसलिए प्रदीप अन्य वस्तु का प्रकाशन अकारण कर सकता है पर शब्द अन्य अर्थ का बोध बिना किसी उप-युक्त कारण के अनाजान नहीं कर सकता । इसके अनिश्चित शब्द अपने बोद्धा का परानर्श करके ही अपान्तर की अभिव्यक्ति करता है । प्रदीप के द्वारा अन्य वस्तु के प्रकाशन में उनके देखने-बाधे की अपेक्षा नहीं होती । चाहे कोई देखे या न देखे मुख्य वस्तु के समीप में स्थित अन्य वस्तु प्रकाशित होगी ही । प्रकृत पद्य में शिव परक अर्थ-प्रतीति की अनिवार्यता का ऐना कोई भी कारण बताया नहीं गया है अतः यहाँ श्लेष के द्वारा अन्य अर्थ के अनुपन्धान का प्रयाग व्यर्थ है ।

एक शब्द में अनेक अर्थ की प्रतीति के सम्बन्ध में निदर्शनों का विधान करते हुए कहा है कि जहाँ पर एक ही शब्द दीपक के समान स्वभाव में ही संकेत स्मरण आदि की अपेक्षा किये बिना ही अनेक अर्थों की प्रतीति कराना है वह तन्त्र का विषय है। अर्थात् उनमें अभिव्यक्त अर्थ समान कोटि के होते हैं, प्रधान एवं गौण नहीं। ऐसे स्थलों में शब्द स्वरूपनः एक होते हुए भी वस्तुतः एक नहीं रहना बल्कि जितने अर्थ उतने शब्द होते हैं। उनके ध्वन्यात्मक स्वरूप की समानता से लोभ ठग जाते हैं और उन्हें एक ही शब्द समझने लगते हैं। इसलिए केवल ध्वनि-साम्य से उन्हें अनेक अर्थ का प्रतिपादन एक शब्द नहीं मानना चाहिए। अतएव शब्द प्रमग का भी आम्पद नहीं होता। एक ही शब्द द्वारा प्रतिपादित अनेक अर्थों में प्रधान गुण भाव का होना ही उसका प्रमग का आस्पद होना है। फलतः किसी शब्द के द्वारा अर्थ का प्रतिपादन बिना किसी कारण के युक्तियुक्त नहीं। वह कारण अव्यय तथा उनसे भिन्न भी अनेक प्रकार का कहा गया है।^१ इसलिए एक शब्द से उसके वाच्य से अनिश्चित अन्य अर्थ की भी यदि अभिव्यक्ति होती है और उसका कोई निमित्त विद्यमान नहीं है तो श्लेषमयी रचना का आग्रह कवि के लिये क्लेशप्रद ही होता है। उससे चमत्कार का आधान होना तो दूर की बात है।^२ क्योंकि शब्द सयोगादि से नियन्त्रित होकर संकेतित किसी एक ही अर्थ की अभिव्यक्ति स्वभावतः या जनिधा-नक्ति में कराना है। अन्य अर्थ की प्रतीति सर्वथा अनुमेय ही होगी जिसे हेतु-साध्य-भाव से ही व्यवस्थित मानना होगा। बिना किसी हेतु के उससे अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती।

(घ) अप्रस्तुत प्रशंसा में प्रस्तुताप्रस्तुत की उक्ति का विधान—

जहाँ अप्रस्तुत से ही प्रतिबिम्ब से बिम्ब के समान प्रस्तुत अर्थ की प्रतीति होती है वहाँ प्रस्तुत का कथन नहीं होना चाहिये क्योंकि उस अप्रस्तुत के कथन से ही वहाँ प्रस्तुत का बोध हो जाता है। अतः ऐसे स्थलों में प्रस्तुत का कथन दीपयुक्त होता है जिसका उदाहरण निम्न पद्य है—

द्विविणमापदि भूषणमुत्सवे शरणमात्मभये निशि दीपकः ।

बहुविधाभ्युपकारभरक्षमो भवति कोऽपि भवानिव सन्मणिः ॥

घन केवल आपत्ति में काम आता है, आनूपण उत्सवों में ही धारण किये जाते हैं,

१. एकोऽनेकार्थं कृद्यत्र स्वभावेनैव दीपवत् ।
समयस्मृत्यनाकाङ्क्षस्तान्नस्य विषयो हि सः ॥
शब्दे त्वसिद्धमेकत्वं प्रत्ययं तस्य भेदतः ।
साद्दृश्यविप्रलम्बस्तु लोकस्तत्त्वमवस्थति ॥
नैतावतावगन्तव्या तस्यानेकार्थं युक्तिता ।
मानएव प्रसङ्गस्य पदं शब्दोऽवकल्पते ॥
न चानिवन्धना युवता शब्दस्यार्थान्तरे मतिः ।
तच्चवानेकविधं प्रोक्तमव्ययानव्ययात्मकम् ॥ व्य० वि० सं० श्लो० ८५-८८ ।
२. तस्मादर्थान्तरव्यवितहेतौ कस्मिन्नचनासति । यः श्लेषबन्ध निबन्धः श्लेषार्थं कथेरती ॥

अलंकारों के प्रयोगाप्रयोग का विवेक

रक्षक प्राणों का संकट आने पर तथा दीपक रात्रि में ही अपेक्षित होता है। आपके समान पुष्प-रत्न तो (सहस्रों में) कोई ही होना है जो प्रार्थी का बहुमुखी उपकार करने में ममर्थ हो। यहाँ पर 'भवानिव' शब्द से मग्जनपूरुष का उपमान होना विहित है जिसकी प्रतीति उपमेय रूप से उल्लिखित द्रविण आदि अप्रस्तुत पदार्थों के निरूपण में ही हो जानी है। अतः यहाँ इनका प्रयोग नहीं होना चाहिए था। उसके विपरीत की स्थिति प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति बिना किसी कारण विशेष के सम्भव नहीं होनी। अतः उसके लिए उम अप्रस्तुत का शब्द कथन दोष नहीं है। उदाहरणतः—

निम्नमुश्रतमवस्थित चलं वक्रमार्जवगुणान्वितं च यत् ।

सर्वमेव तमसा समीकृतं धिङ्महत्त्वमसतां हृतान्तरम् ॥

नीचा, ऊँचा, स्थिर, चञ्चल, टेडा तथा मरलना से युक्त जो भी है उसे अन्वकार ने बराबर कर रखा है। (गुण दोष के) भेद को न समझने वाले तुष्टों की प्रभुता को धिक्कार है। यहाँ तम प्रस्तुत है अतः उनके कथन में अमत्पुरुष की प्रतीति कराने की धमना नहीं है। इसलिए उनका शब्दतः उपादान होना ही चाहिए। इस विवेचन का निष्कर्ष यह निकला कि प्रतिविम्ब से उसके विम्ब की प्रतीति के समान अप्रस्तुत के कथन के सामर्थ्य से ही जहाँ पर प्रस्तुत की प्रतीति सम्भव हो वहाँ प्रस्तुत का शब्द कथन उचित नहीं होना। इसके विपरीत प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति चूक अकारण नहीं होनी अतः ऐसे स्थलों में प्रस्तुत के माथ अप्रस्तुत का कथन अस्महित ही होता है।^१

(इ) समासोक्ति एवं उत्प्रेक्षा

जहाँ पर किसी अर्थ की उपमानना समानोक्ति अलंकार से ही ज्ञान हो जाय वहाँ उनका कथन नहीं होना चाहिए और यदि कथन करना ही पड़े तो वह शब्द होना चाहिए अन्यथा अन्य पदार्थ के धर्मों से अन्यवस्तु का सम्बन्ध क्या होगा? इसलिए उपमान का वाच्य या आर्थ (व्यंग्य) होना दोनों ही अवसर-भेद में सदोप है।^२

इसी प्रकार जहाँ पर एक स्थान की उत्प्रेक्षा में बहुत से अर्थों का बोध होना हो वहाँ उत्प्रेक्षावाचक 'इव' आदि पदों का प्रयोग उनमें में प्रधान के माथ ही करना चाहिए किन्तु अन्य के माथ नहीं।^३ उदाहरणतः—

१. अप्रस्तुतोक्तिसामर्थ्यात् प्रस्तुतं यत्र गम्यते ।

प्रतिविम्बाद् यथा विम्बं तस्योक्तिस्तत्र शस्यते ॥

प्रस्तुतात्तु तदन्यस्य प्रतीतिरनिवन्धना ।

न सम्भवत्येव ततस्तदुक्तिस्तत्र शस्यते ॥ —व्य० वि० सं० का० १०६, १०७।

२. यत्रार्थस्योपमानत्वं समासोक्तयैव गम्यते ।

न तत्र पुनर्वाच्यमुक्ती वा शब्दमस्तु तत् ।

अन्यथा त्वन्यधर्मः कः सम्बन्धोऽन्यस्यवस्तुतः ।

तेन वाच्यत्वमार्थत्वं चेत्यस्य द्वयमप्यस्तु ॥—व्य० वि० सं० का० ११०८, १०९।

३. एवत्रोत्प्रेक्षितत्वेन यत्रार्था बहवो मताः ।

तत्रेवादिः प्रयोक्तव्यः प्रधानादेव नान्यतः ॥ —व्य० वि० सं० का० २।११०

पत्ता पित्रव फंमं हृणापुनिष्णाए सामलङ्गीए ।

विहुरा रत्रन्नि जलविन्दुएहि चण्यस्त व भएण ॥^१

श्यामा नायिका स्नानकर बाहर निचली है । उसके केश नितम्ब तक लटक रहे हैं । उनमें जलविन्दु टपक रहे हैं मानों अभी बाँधे जायेंगे इसके भय से वे रो रहे हैं । यहाँ पर केशों का चन्दन में उगना और रोना—दोनों अर्थ उल्लेखित हैं । उनमें रोदनकी ही प्रधानता है। जन उसी के बाद उल्लेखावाचक 'इव' का प्रयोग होना चाहिए था न कि जैसा हुआ है चन्दन के साथ । क्योंकि प्रधान के साथ उल्लेखावाचक पद का प्रयोग हो जाने पर उनके सामर्थ्य में ही अन्य अर्थ भी उल्लेखित हो जाते हैं ।

२ एक अलंकार के विषय में अन्य अलंकार का प्रयोग

वाच्यावचन-दोष के निरूपण के प्रसंग में ही महिमनट्ट ने अलंकार-दोष का गहन विवेचन किया है । उनका बहना है कि जहाँ पर किसी अलंकार का निवन्धन एक दूसरे अलंकार के विषय में हुआ हो वह भी वाच्यावचन-दोष ही है । इस प्रसंग में कई अलंकारों का उदाहरण प्रस्तुत कर उसकी गहन-मीमांसा भी की है । यहाँ पर उनका दिष्टमात्र दशित किया जाता है ।

(क) समामोक्ति के विषय में श्लेष का उपनिबन्धन

ऐसे अनेक स्थलों की सम्भावना है जहाँ समामोक्ति होने में ही चमत्कार की मृष्टि होती । पर उसके स्थान पर श्लेष अलंकार की रचना यदि की जाय तो वह वाच्यावचन-दोष की श्रेणी में जाता है । उदाहरणतः—

अलकालिकुलाकीर्णमारुतच्छदमुन्दरम् ।

आमोदिकणिकावान्तं भाति तेऽज्जमिवाननम् ॥

केमरुती भौरों के समूहसे शिवा तथा (हालके ही निबले होने में) जिञ्चिन्स्वनवर्ष के पने स्त्री जखरो ने मुन्दर एवं सुगन्धिरूप प्रसन्नता में सुकत बीजरूप कर्णपूल में सरोहर तुम्हारा मुग्ध कमल के समान अच्छा लग रहा है । यहाँ पर समुचित विरोधों के ग्रहण के सामर्थ्य में आक्षिप्त कमल के उपमान होने का दोष वस्तुतः प्रस्तुत में अप्रस्तुत के समारोप रूप समामोक्ति का ही विषय होना उचित था किन्तु पदों के द्वारा जेवक अर्थों के अभिवान रूप श्लेष का नहीं। क्योंकि समामोक्ति अलंकार में ही आरोप्यमान अर्थ की अनुमीयमानता (प्रतीपमानता) के द्वारा सहृदय को चमत्कार की अनुभूति होती है । श्लेष में जो दोनों अर्थों के बाध्य होने से वह चमत्कार नहीं हो पाता । इस पर यह कहा जा सकता है कि उपमान एवं उरमैय के लिए प्रयुक्त विरोधों की समानता (एकता) से यहाँ भी अप्रस्तुत अर्थ की प्रतीत हो ही जाती है । तथा उद्भट आदि अलंकारिकों ने भी समामोक्ति का लक्षण यहाँ किया है कि प्रस्तुत अर्थ के दोषक वाच्य से उसके समान विरोधों के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ का

१. प्राप्ता नितम्बरसर्वा स्नानोतीर्णायाः श्यामलाद्रग्याः ।

विहुरा ददन्ति जलविन्दुनिर्वाणस्यैव भयेन ॥ (संस्कृत-छाया)

अन्तारों के प्रयोगाप्रयोग का विवेक

कथन ही समासोक्ति है। महिमभट्ट ने उद्भट वृत्त ममानोक्ति के इस लक्षण को उद्धृत कर इनका सङ्गठन करते हुए कहा है कि केवल विशेषणों की समानता ही अप्रस्तुत अर्थ का बोध कराने के लिए पर्याप्त नहीं होती अपितु प्रस्तुत के ऊपर अप्रस्तुत के कार्य (व्यवहार) का मनारोप होना अत्यावश्यक है। ममान विशेषणों का प्रयोग तो श्लेष आदि जैसे अलंकारों में भी होता है जहाँ दोनों अर्थ वाच्य ही होते हैं।

(ख) श्लेष के विषय में उपमा

श्लेषालंकार के विषय-स्यक्तों में उपमा की सम्भावनाएँ इसलिए हो जाती हैं कि उपमा में सापेक्ष्य की प्रतीति के लिए कभी-कभी भावाग्रणवाचक ऐसे पदों का प्रयोग हो जाता है जो श्लेष होते हैं और उपमान एवं उपमेय में समानदर्शना केवल शब्दी ही रह जाती है। अथवा उपमान और उपमेय वाचक पदों में से किसी एक ही से दोनों की प्रतीति सम्भव होती है। उदाहरणतः—

“भैरवाचार्यस्तु दूरादेव दृष्ट्वा राजान शशिनमिन्द्रजलनिधिश्चचार ॥”

भैरवाचार्य दूर से ही राजा को देखकर उसी प्रकार चल पड़े जैसे चन्द्रमा को देख कर समुद्र। यहाँ केवल 'राजा' पद से ही श्लेष के द्वारा उपमान चन्द्रमा और उपमेय राजा दोनों का ग्रहण हो सकता था क्योंकि 'राजा' शब्द दोनों अर्थों में सन्नेहित है। अतः दोनों में समानोपमेयभाव की प्रतीति के लिए 'शशिनमिव' पद के प्रयोग से उपमा का जो आशय दिया गया है वह श्लेष के विषय में होने से मदीय है। केवल 'राजा' पद के रहने से उपमा-सौम्यभाव प्रतीयमान होना जिसके अर्थ से निकलने में ही चमत्कार था। शब्द से प्रतिपादित होकर तो वह वाच्य हो गया। फलतः इसमें वह चमत्कार नहीं रहा जो प्रतीयमानता के सत्पन से होता। उक्त वाक्य महाकवि बाण के हर्षचरित का था। कवि-कुल-गुरु कालिदास भी इस प्रकार के बोध से सर्वथा मुक्त नहीं हैं। रघुवश का एक उदाहरण प्रस्तुत है—

तदन्वये शुद्धिमति प्रसूतः शुद्धिमत्तरः

दिलीप इति रामेन्दुरिन्दु क्षीरनिधाविव ॥

मनु के वंश में सकरला नहीं आई। उसी विगुद्धवश में दिलीप नाम का राजा हुआ जो सात्विकता में बढकर ही निकला। इन्द्राकु-कुल के राजाओं में चन्द्रमा की तरह देदीप्यमान राजा दिलीप पर उस कुल को उसी प्रकार गर्व था जिन प्रकार समुद्र का चन्द्रमा पर। इन पद्य में भी श्लेष के विषय में रूपक के उपनिबन्धन का निरस्कार कर उपमानुरागी कवि ने उपमा की ही रचना की है। किन्तु उपमा, श्लेष एवं रूपक के साथ स्पर्धा नहीं कर सकती क्योंकि उन दोनों में प्रतीयमानता का सत्पन नियत रूप से रहना है जबकि उपमा उनसे रहित होती है। यहाँ पर वाच्य रूपक का कथन न करना वाच्यवाचन-दीप है।

(ग) रूपक के विषय में उपमा

रूपक के विषय में उपमा के प्रयोग का दृष्टान्त पूर्व उदाहरण में यद्यपि दिया जा

१— प्रकृतार्थेन वाक्येन तत्समानविशेषणः ।
अप्रस्तुतार्थरूपयन् समामोक्तिरदाहृता ॥ —उद्भट, का० सा० सं० २।१० ।

चुका है पर वह श्लेष के साथ मर्कटों का । विगुडरूप से मूत्र के स्थल में उटना वा उदाहरण निम्नलिखित है—

ततो द्रुम उरनदाभितः सोज्जीवरस्यात् भवदाद्रिकृञ्जात् ।

विनिर्गमी दानवगन्धहन्ती महाद्रिकृञ्जादिव गन्धहन्ती ॥

उसके अनन्तर गन्धहररूपी वह दानव शत्रुता और मरने से उन्मत्त होकर अपने परम रमणीय भवन में उसी प्रकार तैली में घाहर निजला जिन प्रकार अपनी मर-गन्ध से उन्मत्त हाथी विगाल पर्वत के कृञ्ज में निवासना है । यहाँ 'दानवगन्धहन्ती' के श्लेष हुए भी 'गन्धहन्ती' 'डब' शब्द का प्रयोग दानव और गन्धहन्ती में उपनातोपनेपभाव की अभिव्यक्ति के लिए हुआ है । पर वह तो द्वितीय गन्धहन्ती एव उसके साथ उपमावाचक 'डब' के प्रयोग के बिना भी प्रतीत हो सकता था । जो रूप उच्चारण वा विषय है । यहाँ रूपक अलंकार के विषय में उपमा का प्रयोग शोषयुक्त ही हुआ है क्योंकि उसने दानव एव हन्ती में प्रतीयमान उपनातोपनेपभाव वाच्य होगया है । फलतः जलकार की चार्त्ता उतनी नहीं रह गई है जिसकी रूपक के द्वारा उसके अनुभव होने पर होती । यदि यह बहे कि यहाँ प्रयुक्त प्रथम 'गन्धहन्ती' पद प्रथमा एव द्वितीय उपमानवाचक है तो वह इसलिए ठीक नहीं कि प्रथम प्रयोग में ही प्रथमा एव उपमान दोनों जनों की अभिव्यक्ति वाच्य एव प्रतीयमान के रूप में सम्भव है । यहाँ यह प्रश्न ही नगता है कि यदि ऐसी बात है तब तो उपमा या श्लेष आदि ऐसे अलंकारों के लिए कोई अवधान ही नहीं रहेगा जहाँ सब कुछ वाच्य ही रहता है । और इस प्रकार निम्न पद्य में श्लेष का उपनिबन्धन भी दोष-युक्त ही माना जायगा ।

अतिरहृततापसु पदं फलहीनां सुमनोनिर्गिताम् ।

सलतां सलतानिवास्तनीं प्रतिपद्येत कथं बुधो जनः ॥

विज्ञान तपस्विता के लक्ष्य को छोटे दिना आवागलता के समान अन्तः उन सलता (दुष्टता) को कैसे जानाएँ जो निष्कल है अतएव सुमनो में उन्मत्त (नग्नो से परित्यक्त या पुष्पो में रहित) है । यहाँ उक्त बधन इसलिए ठीक नहीं है कि आवागलता की उपमानता बहि को वाच्यरूप में ही विनिर्दिष्ट है अन्यथा 'फलहीना' और 'सुमनोनिर्गितां' जैसे विशेषणों के प्रयोग की यहाँ जरूरत नहीं थी जो उनपार्थक्य होते हुए भी आपाततः लता का ही बोध कराते हैं । इनके अतिरिक्त उपमा, अतिनरोक्ति, समासोक्ति आदि अनेक अलंकारों की मृष्टि में श्लेष का योग होता है । इसलिए जहाँ किसी अलंकार की प्रतीय कराने के लिए श्लेष पदावली का प्रयोग किया गया होता है वहाँ उसकी वाच्यता से ही श्लेष की अभिव्यक्ति होती है । वह मृष्ट अलंकार श्लेष के विषय को अपना नहीं बना लेता । अतः किसी अन्य प्रयोजन के न रहने पर अकारण ही एक बार पठित शब्द का उनी पद्य में उपमान के रूप में जो पुनः पाठ होता है वह श्लेष की ही अभिव्यक्ति है । वहाँ किसी अन्य अलंकार का स्पर्श भी नहीं होता । उक्त पद्य में तो यह आगमना ही नहीं उठती कि यहाँ उपमा है या श्लेष । फिर उक्त दोनों दोषों का योग न होने में यह वाच्य नदोष या अन्तः कैसे कहा जा सकता है ?

इस सम्बन्ध में नियम का विधान करते हुए व्यक्तित्वविशेषकार ने कहा है कि जिन शब्दों को किसी अलंकार विशेष की रचना के लिए प्रयुक्त किया गया हो केवल उन्हीं या उनसे

अलंकारों के प्रयोगाप्रयोग का विवेक

भी वन में यदि किसी अन्य अलंकार की अभिव्यक्ति हो जानी हो तो लाघव के कारण वहाँ वही दूसरा अलंकार ही ग्रहण करना चाहिए अन्य नहीं। वन्दु-स्थिति तो यह है कि कवि का व्यापार काव्य-विषयक शोभा के चमत्कार की मूर्ति बनना है इसलिए उनमें अलंकारों के प्रयोग से कोई आतिशय्य नहीं हो जाता जिनमें वह निम्न अलंकार का विनोय रूप से विधान तथा दूसरे का निषेध करें।^१ चमत्कार का आशय मुख्य तत्त्व तो प्रतीयमानता है जिसे महिमभट्ट ने अनुमेय कहा है और जो पूर्णरूप से वेदल रस में ही निहित होता है। अलंकारों के उचित प्रयोग से उनका उत्कर्षमात्र हो जाता है।

ऊपर कहा जा चुका है कि महिमभट्ट के द्वारा अलंकारों के स्वरूप का यह विवेचन अलंकार-दोष के रूप में हुआ है। महिमभट्ट के पूर्व आनन्दवर्धन ने अलंकारों के अंगी रूप में विवेचन का निषेध किया है तथा अवसर के अनुरूप उनके ग्रहण एवं त्याग का भी विधान किया है। पर कौन अलंकार कहा पर सदोष होगा उनका विचार किसी भी आलंकारिक को नहीं सूझा था। पद, पदान, वाक्य, अर्थ एवं रस-दोषों तक का तो विवेचन मम्मट प्रभृति उत्तरवर्ती आचार्यों ने भी किया है किन्तु अलंकार-दोष का निरूपण उनमें भी नहीं बन पाया है। महिमभट्ट के द्वारा 'स्थालीपुलक' शब्द से ही वृत्त इन विवेचन से कवि और भावक दोनों को आँखें खुल जाती हैं और अलंकारों का विशेषस्वरूप एवं विषय भी स्पष्ट हो जाता है। इनके साथ ही महिमभट्ट के द्वारा प्रस्थापित काव्यानुभिनि पक्षका भी इससे समर्थन होता है। अलंकार की प्रतीयमानता के स्थलों में अर्थान्तर या अलंकारान्तर की प्रतीति शब्द से ही नहीं होती अपितु उसका कोई न कोई अन्य हेतु अवश्य होता है। फलतः उस प्रतीति में हेतु-नाश्व-भाव के विद्यमान होने से वह अनुमेय ही है व्यय नहीं।

१. यदलंकारव्यवहारं ये शब्दास्तदितरोऽपि तरेव ।

व्यग्रेताल्पतरैर्यदि तदसौ गृह्यते लाघवाद्गान्धः ॥

२. न ह्यस्ति निजे कर्मण्यलङ्कृतीनां स कश्चनातिशयः ।

येन विधीयतेकापरानिषिष्येत वा कविभिः ॥

—द्य० वि० का० २।७३ ।

—द्य० वि० का० २।७४ ।

तृतीय-विमर्श

स्वभावोक्ति की अलंकारता

(क) मानह, दण्टी एवं उद्भट

स्वभावोक्ति की अलंकारता पर धारण में ही प्रवृत्तनामक विद्वान् एता मित्ता है । मस्त्हन-अलंकार-शास्त्र के जाट आचार्य मानह का कथन है कि स्वभावोक्ति को भी कुछ गेय अलंकार मानने हैं, जो हिन्दी अर्थ अर्थात् वस्तु, विषय या व्यक्ति के स्वभाव के अर्थात् वचन के अतिरिक्त और कुछ नहीं हैं ।^१ यहाँ 'विविधप्रवृत्त' से यह ध्वनि होता है कि मानह के पूर्ववर्ती विन्नी आलङ्कारिक ने स्वभावोक्ति को अलंकार माना या जिसका संभवतः विरोध भी हुआ । इसीलिए मानह ने मनी अलंकारों का निरूपण करने के बाद अन्तमें स्वभावोक्ति का उल्लेख एवं उदाहरण प्रस्तुत किया है । इनके बीच विपर्यय दण्टी ने स्वभावोक्ति का निरूपण प्रथम अलंकार के रूप में ही किया है । स्वभावोक्ति का उल्लेख करते हुए उन्होंने कहा है कि स्वभावोक्ति और जाति उन एक ही अलंकार के दो नाम हैं जो जाति, गुण, क्रिया तथा द्रव्य नामक पदार्थों के विविध रूपों का वर्णन प्रत्यक्ष के समान प्रस्तुत करता है ।^२ आचार्य दण्टी का मत है कि शास्त्रों में तो स्वभावोक्ति का ही साम्राज्य है क्योंकि वहाँ विविध-विषय के स्वल्प का ही अर्थात् निरूपण किया जाता है । पर आचार्य ने भी इनका निरूपण इसीलिए अभीष्ट है कि इनमें भी चमत्कार का आदान होता है ।^३ दण्टी के उक्तवर्ती आचार्यों में कानन ने स्वभावोक्ति का उल्लेख तक अपनी कृति में नहीं किया है जो इस बातका स्पष्ट प्रमाण है वे स्वभावोक्ति को अलंकार मानने को प्रस्तुत नहीं । किन्तु उनके ही समकालीन मद्दोद्भट ने स्वभावोक्ति का उल्लेख किया है ।

उद्भट, रघुक और जयदेव—ये तीन आचार्य अलंकार-शास्त्र के निरूपण के विषय में प्रामाणिक माने जाते हैं क्योंकि इन्होंने अपनी पूर्ववर्ती पूरी परम्परा को अपने विवेचन में मनेत्र लिया है और उनके मन का उद्घाटन अपनी अपनी कृतियों में किया है । अलंकारों के लिए उनके मन में विशेष आस्था है । इनमें प्रथम दो-उद्भट एवं रघुक ने ही स्वतन्त्ररूप से

१. स्वभावोक्तिरलंकार इति केचित्प्रवृत्तते । अर्थस्य तदवस्थात्वं स्वभावोक्तिरिति ददा ॥

—मानह, आलंकार २।१३ ।

२. नानावस्था पदार्थानां ह्यर्थात् विविधवर्ती । स्वभावोक्तिरस्य जातिरस्येताया सात्त्विकीरिति ॥

—दण्टी, आलंकार २।८ ।

३. जातिगुणक्रियाद्रव्यस्वभावस्यैव साम्राज्यं कान्येन्द्रियैर्दोक्तितम् ॥

स्वभावोक्ति की अलंकारता

बन्धकारो का ही विवेचन किया है पर तीमरे जयदेव ने भी अपनी कृति 'चन्द्रालोक' का जिनहीं अर्थकारों के विवेचन में ही लगाया है। इन तीनों ने ही स्वभावोक्ति को अलंकार के रूप में स्वीकार कर उसके लक्षण उदाहरण का मविद्य विवेचन किया है। स्वभावोक्ति का लक्षण बन्ने हुए उद्भट ने कहा है कि किमी पद्म, पत्नी या बालक की अपनी जाति के अनुसार नाना प्रकार की क्रियाओं में प्रवृत्ति का उपनिबन्धन ही स्वभावोक्ति है।^१ उद्भट का स्वभावोक्ति-लक्षण भामह एवं दण्डी की ही सरणि पर हुआ है। अन्तः केवल इतना ही है कि जहाँ भामह दण्डी ने किसी भी पदार्थ के स्वरूपमान का वर्णन स्वभावोक्ति माना है वहाँ उद्भट ने पद्म एवं डिम्भ (बालक) आदि की अपनी जाति के अनुत्प क्रियाओं का ही।

(ख) रदट

रदट में अपनी कृति काव्यालंकार के सप्तम अध्याय में अर्थालंकारो के निरूपण का आरम्भ किया है। आरम्भ में ही इन अर्थकारो के आचार अर्थ अर्थात् पदार्थ के होने का प्रतिपादन हुआ है। चूकि पदार्थ के द्रव्य, गुण, क्रिया एवं जाति—ये चार ही प्रकार होते हैं^२ अतः ही देन एवं काज से नियमित होकर क्रमशः, बान्धव, औपम्य, अनिगद्य एवं श्लेष के रूप में उनका रूप दीपक आदि अर्थालंकारो के सभी भेद-प्रभेदों की सृष्टि के मूल आधार है।^३ उपमानोपमेयभाव, अनिगद्योक्ति एवं श्लेष से रहित वह वर्णन जो वस्तु के स्वरूप का प्राणागिक एवं यथार्थ हो बान्धव कहलाना है। जो महोक्ति, यही समुच्चय, पर्याय, दीपक एवं व्यतिरेक आदि तेईस अर्थालंकारो का उपादान है। स्वभावोक्ति इन्हीं में से एक है जिनको यहाँ जाति की संज्ञा दी है।

जाति का लक्षण करते हुये आचार्य रदट ने कहा है कि किमी पदार्थ के स्वाभाविक रूप, सुद्रव्यो, क्रियाकलाप एवं विभव वेश आदि का ठीक वैसा ही निरूपण जैसा लोक में बहुत दिनों से प्रचलित होता है जाति अलंकार है।^४ टीकाकार नमिनानु ने बान्धव एवं जाति के परस्पर के भेद का विवेचन करते हुए कहा है कि वास्तव से जाति की विशेषता यह है कि वास्तव वृक्ष और जाति उमकी शाखा के समान होता है। वास्तव में वस्तु के सामान्य रूप का निरूपण किया जाता है जो उसके सहोक्ति आदि सभी भेदों में सामान्य रूप से पाया जाता है। जब कि जाति उसके स्वरूप का ऐसा वर्णन है जो श्रोता को उन अप्रत्यक्ष वस्तु का भी साक्षात् अनुभव करा दे।^५ स्वभावोक्ति का वह प्रकार विशेषरूप से रमणीय हो जाता है जिनमें शिशु, मुग्धा

१. क्रियायां सप्रवृत्तस्य हेवाकानां निबन्धनम् । वस्तुचिन्मगडिन्भादेः स्वभावोक्तिरदाहता ॥
—उद्भट, काव्या० सा० सं० ३१५ ।
२. अर्थः पुनरभिधावान्प्रदन्ते यस्य वाचकः शब्दः । तस्य भवन्ति द्रव्यं गुणः क्रिया जातिरिति भेदाः ॥
—रदट, काव्यालंकार ७११ ।
३. सर्वैः स्वं स्वं रूपं घत्तेऽप्यौ देशकालनियमं च । तं च न खलु बध्नीयान्निष्कारणमन्यथा-
निरस्तात् ॥ अर्थस्यालंकारा दास्तवपौपम्यमतिशयः श्लेषः । एषामेव विशेषा अन्ये तु भवन्ति
निःशेषाः ॥
—वही ७१९ ।
४. संस्थानावस्थानक्रियादि यद्यस्य यादृशं भवति ।
लोके चिरप्रसिद्धं तत्स्थानमनन्यथा जातिः ॥
—रदट, काव्यालंकार-७१३० ।
५. बान्धवं हि वस्तुस्वरूपकरणं तच्च सर्वत्रापि तद्भेदेऽप्यु सहोक्त्यादिषु स्थितम् । जातिस्त्वनुभव-
जनयति यत्र परस्परं स्वरूपं वर्ण्यमानमेवानुभवमिदंतीति स्थितम् । वही, का० ७१३० पर
वन्तितायु का टिप्पण ।

नायिका, कातर पक्षी, संभ्रान्त एव हीन पात्रों के द्वारा अवसर एवं अवस्था के अनुरूप की गई चोट्टाओं का यथार्थ निरूपण किया गया होता है।^१ इस प्रकार रूद्र ने जाति के नाम से स्वभावोक्ति का अलंकार के रूप में जो विवेचन प्रस्तुत किया है वह माधार है। उसमें अलंकारता का आधायक तत्त्व वस्तु स्वरूप या स्वभाव नहीं अपितु उसके वर्णन की सजीवता है जो थोड़ा की अनुभव कोटि में आकर विशिष्ट हो जाता है। वस्तु का सामान्य के अतिरिक्त एक विशिष्ट स्वभाव भी होता है जो कवि के वर्णन में ही जा सकता है। उमी और नमिमाघृ का निर्देश है। इनके स्वभावोक्ति के विवेचन से एक अन्य तथ्य पर भी प्रकाश पड़ता है कि वस्तु या व्यक्ति के स्वभाव का निरूपण केवल जाति या स्वभावोक्ति को ही नहीं अपितु सहोक्ति प्रभृति अनेक अलंकारों को जन्म देता है। स्वभाव का निरूपण और निरूपण की स्वाभाविकता भिन्न भिन्न अलंकारों की सृष्टि करते हैं।

(ग) कुन्तक द्वारा स्वभावोक्ति को अलंकारता का खण्डन

वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तक ने स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन करते हुए वक्रोक्ति को ही सर्वत्र अलंकारता का आधायक माना है। उनका कहना है कि जो आलंकारिक स्वभावोक्ति को भी अलंकार मानते हैं उनके यहाँ अलंकार्य क्या है यह वान विचारणीय है। क्योंकि वस्तु या पदार्थ के स्वभाव के अतिरिक्त नहीं भी कुछ बहाना नहीं जा सकता। उसमें रहित वस्तु का निरूपण ही क्या होगा? इस प्रकार वस्तु का स्वभाव ही अलंकार्य होता है। वही काव्य का शरीर है। यदि शरीर ही अलंकार हो जाय तो वह अपने से भिन्न किस तत्त्व को अलंकरण करेगा? अलंकार में अलंकार्य भिन्न होता ही चाहिये। कोई भी व्यक्ति जिस प्रकार स्वयं अपने ही कर्ण पर बैठ नहीं सकता उसी प्रकार वस्तु का स्वभाव अलंकार और अलंकार्य दोनों नहीं हो सकता। वस्तु-स्वभाव को ही अलंकार मान लेने पर प्रश्न यह उठता है कि भूषित और भूषण के बीच भेद की प्रतीति किस रूप में होगी? यदि दोनों के भेद की प्रतीति स्पष्ट अर्थात् वाच्य होगी तो अवश्य ही उन सब स्थलों में संसृष्टि होगी और वह अस्पष्ट अर्थात् प्रतीयमान रूप से होगी तो संकर होगा। और फलतः इन दोनों के अतिरिक्त अन्य अलंकारों के लिये कोई अवकाश नहीं होगा।^२

आचार्य कुन्तक के उक्त विवेचन का आशय यह है कि स्वभावोक्ति वस्तु के स्वरूप का यथार्थ कथन मात्र नहीं अपितु उसका स्वभाव ही है जो काव्य का अलंकार्य तत्त्व है। अन्य अलंकारों से उसका ही अलंकरण होता है। यहाँ स्वभाव और उसकी उक्ति को एक बहुर स्वभावोक्ति की अलंकारता का खण्डन करना युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होता। आनन्दवर्धन प्रभृति

१. निशुभाद्ययुवतिकातरनिर्यक्संभ्रान्तहीनपात्राणाम् ।

सा कालावस्योचितचेष्टासु विशेषतो रम्या ॥ —कुन्तक, व० जी० ७।३१ ।

२. अलंकारकृतां येषां स्वभावोक्तिरलंकारिताः । अलंकार्यतया तेषां किमन्यदवशिष्यते ।

स्वभावोक्तिरेकेण वस्तुमेव न युज्यते । वस्तु तद्रहितं यस्मात्प्रिरूपाल्यं प्रसज्यते ॥

शरीरं चेदलंकारः किमलंकारे परम् । आत्मैव नात्मनःस्कन्धं वयच्चिदप्यधिरोहति ॥

भूषणत्वे स्वभावस्य विहिते भूषणान्तरे । भेदावबोधः प्रकटस्तयोरप्रकटोऽथवा ॥

स्पष्टं सर्वत्र संसृष्टिरस्पष्टे संकरस्ततः । अलंकारान्तराणां च विषयो नावशिष्यते ॥

—कुन्तक, वक्रोक्तिजीवित का० १।११-१५ ।

आचार्यों ने जिसे अलंकार्य कहा है वह वस्तु का अपना स्वभाव ही हो यह आवश्यक नहीं। क्योंकि वस्तु का एक ही स्वभाव एक साथ ही वाच्य और व्यंग्य दोनों नहीं हो सकता। ध्वनि-मिद्धान्त के अनुसार किसी तत्त्व का अगभाव ही उनकी अलंकारता है चाहे वह वस्तु, अलंकार या रम ही क्यों न हो। जब काव्य का मुख्य-प्रतिपाद्य तत्त्व रम अलंकार हो सकता है यदि वह गौण (अग) रूप से विनिवेशित हुआ हो^१ तो वस्तु के स्वभाव का अग्ररूप में वर्णन अलंकार क्यों नहीं हो सकता? इसलिये ब्रह्मोक्तिगोवितकार की यह उक्ति कि अलंकार्य वस्तु का स्वभाव ही होता है, प्रमाण-पुष्ट नहीं प्रतीत होती। अन्यथा रसबन् आदि अलंकार होने से बचन रह जायेंगे। ध्वनिकार का यह कथन कि रूपकादि की अलंकारता उनके द्वारा रनादि वृत्त काव्य की शोभा के उत्तरधानन में ही है। उन्हें रम-परञ्च ही होना चाहिये अन्यथा वे चित्र मात्र हैं।^२ वस्तु के स्वरूप वर्णन में भी रमपरना रहती है, यदि वह अग्रभूत हो। इन प्रकार ध्वनि-मिद्धान्त के अनुसार भी स्वभावोक्ति की अलंकारता का निषेध नहीं किया जा सकता।

(घ) महिमभट्ट द्वारा स्वभावोक्ति की अलंकारता का विधान

अवाच्यवचन दोष के विवेचन के प्रसंग में महिमभट्ट ने विशेष्य-विशेषण-भाव का विधान प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वाक्य में उम विशेषणका प्रयोग नहीं करना चाहिये जो विशेष्य के स्वरूप मात्र का बोधक हो। वाक्य में प्रयुक्त जिस पद का अपना विशेष्य प्रयोजन न हो उसे कवि की प्रतिभा से उत्पन्न नहीं समझा जाता बल्कि वह छन्द की प्रतिमात्र करता है। न ही उमसे कविता में किसी प्रकार के चमत्कार का आधान होता है।^३ उदाहरण के लिये सिन्धुपालवध का एक पद्य है—

ककुभां मुलानि सहस्रोन्ज्वलयन् दददाकुलत्वमधिकं रतये ।

अदिदीपदिन्दुरपरो दहनः कुसुमेधुमत्रिनयनप्रभवः ॥४१४२॥

चन्द्रमा स्त्री एक अन्य प्रकार का अग्नि जो दिनयन शिव से नहीं प्रत्युत अग्नि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न था, तद्दमा दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ रति को अधिक आकुल तथा काम को अत्यन्त उद्दीप्त कर दिया जिनसे गुणों का वाष्प के रत्ता था। इन पद्य में 'अत्रिनयन-प्रभव' पद इन्दु का विशेषण है जिसका प्रयोग उनके अग्नि ऋषि के नेत्र से उत्पन्न होने के स्वरूप का अनुवाद मात्र करता है। वह इसलिये अवाच्य है कि चन्द्र में उमका अभाव कभी भी नहीं रहेगा। विशेषण वही मार्थक होता है जिनमें मभव और व्यभिचार दोनों सत्तायें हो। इसमें

१. प्रधानेऽत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गनुरसादयः ।

काव्ये तस्मिन्नलंकारो रसादिरिति मे मतिः ॥

—ध्वनिकारिका २१५ ।

२. रसभावादिनात्पर्यमाश्रित्य विनिवेशनम् । अलङ्कृतीनां सर्वासामलंकारत्वसाधनम् ॥

—ध्व० का० २१५ पर परिकरश्लोक ।

३. यस्त्वरूपानुवादेऽकफलं फलम् विशेषणम् । अप्रत्यक्षायमापार्यं वृत्तमप्रतिभोद्भवम् ॥

तदवाच्यमिति शेषं वचनं तस्य दूषणम् । तद्वृत्तपूरणार्थं न कविवाच्यं कल्पते ॥

—ध्व० वि० का० २१११, ११२ ।

तो केवल संभव मत्ता ही है। अतः उक्त प्रयोग उन्नी प्रकार व्यर्थ है किम प्रकार अग्नि के विभोषण के रूप में 'उष्ण' पद का प्रयोग। यही नहीं उन्नु के विभोषण के रूप में प्रयुक्त 'ऊपर' शब्द भी निरर्थक होने में अवश्य ही है क्योंकि 'अग्निपतन' पद में प्रयुक्त नन्त् से ही उसके शिव में उल्लस अग्नि से निम्न (ऊपर) होने की प्रतीति हो जाती है। उन्नी प्रकार व्यक्तिविषय वाग ने विभोषण के व्यर्थ प्रयोग का एक दूसरा उदाहरण भी दिया है—

उत्कृत्स्नमल्लोमरपरामगौरुते मम हि गौरि !

अग्निदाञ्जितं प्रनिष्ठयतु भगवति युष्मत्प्रसादेन ॥

पूषं विवस्मिन्न कम्पत् के केसर के पत्रों की तरह गुग्गुलु शक्ति से मन्त्र है देवि गौरी ! आपकी कृपा से मेरा अग्निपतन कार्य निष्ठ हो जाय। इस पद में उत्कृत्स्न, पराम तथा गौर पदों की एक प्रकार से पुनरग्नि ही हुई है क्योंकि वृत्ति विवस्मिन्न कम्पत् में ही केसर गुग्गु उन्नी के दाद प्रयोग किया है अतः अमल-केसर कहना ही पर्याप्त था। तथा पत्रों की शक्ति गुग्गु ही होती है अतः वृत्ति के विभोषण के रूप में गौर पद का प्रयोग व्यर्थ ही हुआ है। जो यही हुई दाद की पुनरग्नि मात्र करता है।

इस पर प्रश्न यह उठता है कि यदि किसी वस्तु के विशेषण में उन्नी स्वभाव का विशेषण करनेवाले पदों का प्रयोग नहीं होगा तो स्वभावोक्ति नामक व्यवहार की सृष्टि कैसे हो सकती है? क्योंकि जहां तक किसी वस्तु के स्वभाव के बयान का संबंध है वह प्रायः ऐसे ही विभोषणों में होता है जिन्हें व्यर्थ कहा गया है। ऊपर के पद इसके उदाहरण हैं। इसमें तथा स्वभावोक्ति अलंकार में कोई अन्तर नहीं। उन्नी का उन्ना देते हुए व्यक्तिविषयवाग ने स्वभावोक्ति के बान्धविक स्वरूप का निरूपण किया है। उन्ना कहना है कि किसी भी वस्तु के दो रूप होते हैं—सामान्य एवं विशेष। सामान्य रूप वह है जिम्हें विषय में अनेक विचल्य मानव हों अर्थात् वह अनिश्चित प्रत्यक्ष का विषय होता है। वस्तु का यह सामान्य रूप ही प्रायः उन्नी शब्दों का विषय कहा गया है। अतएव उन्नी भी शब्द मूलतः सामान्य अर्थ का ही बोधक होता है। वस्तु का जो विशिष्ट रूप है वह विशेष प्रकार की दृष्टि अर्थात् निश्चितत्व प्रत्यक्ष का विषय है। क्योंकि एकाग्रचित्त में उन्ना साक्षात्कार होता है, प्रतीति नहीं। वस्तु का वही विशिष्ट रूप नवनवीनपमादिनी प्रतिमा में प्रोद्भूत मन्त्र कि ली दासी का विषय होता है।^१ वृत्ति का चित्त जब रम के अनुसंधान शब्द और अर्थ के चिन्तन में लगन-भर के लिए निश्चल अर्थात् एकाग्र ही जाना है उन्नी मानव वस्तु के उन विशिष्ट स्वरूप की मूल्य उन्नी

१. अर्थं तर्हि स्वभावोक्तेरन्वयस्त्वमिष्यते ।

न हि स्वभावनात्रोक्ती विशेषः कदचनानयोः ॥

—वा० वि० २।११३ ।

२. उच्यते वस्तुनस्तादद् द्वैरप्यभिहृ दिद्यते ।

तत्रैवमत्र सामान्यं यद्विचल्यैवगोचरः ॥

स एव सर्वसाधनानां विषयः परिकीर्तितः ।

अतएवाभिधेयं सामान्यते धोषयन्तदलम् ॥

विशिष्टमस्य यद्वैपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः ।

स एव सत्त्वविधिरां गोचरः प्रतिमानुबान् ॥ —व्य० वि० वा० २।११४, ११५, ११६ ।

स्वभावोक्ति की अलंकारता

हो जाते हैं। उम विविष्ट स्वरूप के स्पर्श में उत्पन्न प्रज्ञा ही कवि की (नवनबोम्बेपनालिनी) प्रतिभा ही कही गई है। जो भगवान् शिव के तृतीय नेत्र के समान होती है। क्योंकि उसमें कवि तीनों काल के पदार्थों के विविष्ट स्वरूप का माझालकार कर लेता है।^१ वस्तु के उनी विविष्ट स्वभाव को उक्ति स्वभावोक्ति अलंकार है। जहाँ कवि की उक्त प्रकार को प्रतिभा में विभिन्न पदार्थ ऐसे लगते हैं मानो उनका माझालकार हो रहा हो।^२

(३) निष्कर्ष

इस प्रकार दण्डी और उद्भट के द्वारा विशेषण में विभिन्न स्वभावोक्ति की अलंकारता का स्वभावोक्तिवित्तकार ने जो खण्डन कर दिया था, महिमनट्ट के उक्त विवेचन में उमका पुनः मजबूत हो गया। दण्डी और उद्भट ने तो उमका माझालकार लक्षण मात्र प्रस्तुत किया था। उद्भट ने वाम्बव के एक भेद के रूप में ज्ञानि के नाम में स्वभावोक्ति की अलंकारता का प्रतिपादन प्रामाणिक तौर पर सबसे पहले किया। कृष्ण के अश्वेय का विषय मध्य रूप से वही विवेचन है जिसमें उन्होंने वस्तु के स्वभाव के मजीब धारण को ज्ञानि कहा है। उद्भट से महिमनट्ट की स्वभावोक्ति विषयक-धारणा का पार्थक्य भी है। महिम वस्तु के सर्वमान्य द्वारा ग्रहण स्वरूप के वर्णन को स्वभावोक्ति नहीं मानते। वे उनमें उम विविष्ट स्वरूप का निरूपण करते हैं जो कवि की प्रतिभा का ही विषय होता है। वस्तु का नामान्य स्वभाव ही अन्य अलंकारों का विषय है। अन्यथा जो अर्थ विस्पष्ट नहीं हैं उसे अलङ्कृत करने में कौन ममर्थ है? कहने का आशय है कि अन्य अलंकारों में वस्तु के स्वरूप के अनिश्चित और कुछ विशेष होता है। जो उसके निरूपण के प्रकार में निहित होता है जिनमें उनके स्वरूप का आच्छादन मा ही हो जाता है। वस्तु का विविष्ट स्वरूप जो मात्र अनुभव का विषय है उसे अन्य अलंकारों से अलङ्कृत किया नहीं जा सकता। यदि किया जाय तो वह और भी रहस्य हो जायगा। फलतः चमत्कार की मृष्टि न होकर काव्य में अस्पष्टता दोष आ जायेगा। महिमनट्ट के दूसरे ग्रंथ तत्त्वोक्ति कोण में संभवतः इन विषयों का विस्तृत विवेचन किया गया था किन्तु दुर्भाग्यवश वह ग्रंथरत्न उपलब्ध नहीं हो सका है।

आचार्य महिमनट्ट के स्वभावोक्ति विषयक विवेचन का मरान यह निकला कि वस्तु के स्वरूप का यथार्थनिरूपण स्वभावोक्ति नहीं है अन्तु कवि की नवनबोम्बेपनालिनी कारिणी प्रतिभा द्वारा रस-बन्धन के प्रभाव में अवलोकित वस्तु का वह विशेष स्वरूप है विचारा माझालकार सर्वमान्य को नहीं हो पाता। अलंकार विषयक मान्यताओं के सर्वम्ब के प्रतिपादन के लिए विख्यात राजानक म्यक ने अपनी कृति 'अलंकारसर्वम्ब' में स्वभावोक्ति के लक्षण की व्याख्या करते हुए कहा है कि वस्तु के स्वभावनात्र का वर्णन अलंकार नहीं है। ऐसा होने

१. रमानुगुणसद्धार्यचिन्तास्तमित चेतसः । अणं स्वरूपस्पर्शतया प्रहंभ प्रतिभा क्वेः ।
सा हि चक्षुर्भगवतस्तृतीयमितिगोपते । येन साक्षान्करोद्वेय भावात्सर्वकाल्यवर्तिनः ॥
—व्य० वि० सं० का० २।११७।११८

२. अर्थस्वभावत्वोक्तिर्या सालंकारतया मता ।

यनः साक्षाद्विवाभान्ति तत्रायौ प्रतिभापिताः ॥

३. सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालंकारगोचरः ।
म्लिष्टमर्थमलंकृतुमन्यया को हि शक्नुयान् ॥

—व्य० वि० का० २।१२०

—व्य० वि० का० २।१२१

पर जो जो कुछ भी लिखा जायगा स्वभावबोध होने में जलवार से युक्त ही माना जायगा । क्योंकि ऐसा कोई वाक्य ही नहीं है जहाँ वस्तु के स्वभाव का वर्णन नहीं है । इसी भाव की अभिव्यक्ति के लिए सूत्र में 'सूक्ष्म' पद का ग्रहण किया गया है जिसका अभिप्राय यह है कि यहाँ वस्तु का वही स्वभाव अभिप्रेत है जो केवल कवि की प्रतिभा से दृष्ट होता है इसलिए कवि को उस प्रतिभा से अवलोकित वस्तु के उस स्वभावविरोध का ऐसा वर्णन कि वह न उसने अधिक ही न कम, स्वभावबोधित जलवार की सृष्टि करता है ।^१ इस प्रकार हम देखते हैं कि स्वभावबोधित अलंकार विषयक महिमभट्ट का विवेचन हीरक के इस विवेचन का स्रोत है । आचार्य महिमभट्ट ने स्वभावबोधित की अलंकारता का विधान करते हुए दृष्ट कवि की प्रतिभा का जो निरूपण किया है वह कोई कवि ही कर सकता है जिसे वस्तु के विशिष्ट स्वरूप का साक्षात्कार हो चुका हो । जयदेव, विद्यानाथ तथा पण्डितराज जगन्नाथ प्रभृति उत्तरपत्तों प्रायः सभी आलंकारिकों ने स्वभावबोधित की अलंकारता तो निर्विवादरूप से स्वीकार कर ली है पर उनके वर्षाविषय वस्तु के विशिष्ट स्वभाव की ओर मग्नबत. उनका ध्यान नहीं गया है । स्वभावबोधित कि अलंकारता का विवेचन यहाँ अत्यन्त मक्षेप में हुआ है जो निर्गलित मात्र है ।

१. सूक्ष्मवस्तुस्वभावस्य यथावद्वर्णनं स्वभावबोधितः । का० सू० ८७

इह वस्तुस्वभाववर्णनमात्रं नालंकारः तत्त्वे सति सर्वकाव्यमलंकारि स्यात् । नहि तत्काव्यमस्ति यत्र न वस्तुस्वभाववर्णनम् । तदर्थं सूक्ष्मग्रहणम् । सूक्ष्मः कवद्रितुमात्रस्य गम्यः । अतएव तन्निमित्त इव यो वस्तुस्वभावस्तस्य यथावदव्यूनानतिरिक्तत्वेन वर्णनं स्वभावबोधितरालंकारः ।

—(रूपक, अलंकार-सर्वस्व सू०) ७८ पर इति ।

उपसंहार

अन्तिम-विमर्श

उपलब्धियाँ

इस अन्तिम अध्याय में ग्रन्थ का उपसंहार करने हुए हम काव्यशास्त्र के प्रमुख विवेच्य विषयों पर महिमनदत्त के अनुदान का निरूपण करेंगे। यह नहीं है कि व्यक्तिविवेचकार ने साहित्यशास्त्र के विवेच्य सभी विषयों का विवेचन नहीं किया है अपितु कुछ अत्यन्त महत्वपूर्ण ऐसे विषयों को ही लिया है जिनका विवेचन माझान् रूपसे सापरम्पर्या ध्वनि का विषय रहा हो तथा पूर्ववर्ती आचार्यों के द्वारा उनके निरूपण में कोई विशेष प्रकार की कमी गृहीत हो। अथवा महिमनदत्त जिन विषय पर कुछ नयी बात कहना चाहते थे उसे भी उन्होंने अपनी विवेचना का विषय बनाया है। वैसे तो आचार्यों ने अपनी ओर से काव्य शास्त्र का कोई भी विषय अछूना नहीं छोड़ा है, और सबके विवेचन के अवसर पर कुछ न कुछ नयी बात अवश्य कही है, जिनका उल्लेख पूर्ववर्ती आचार्यों की कृतियों में उपलब्ध नहीं। परन्तु अनिष्ट परिगणित विषय ऐसे हैं जिनका आचार्यों ने खुलकर एक विद्वान् विवेचन किया है। उनके विषय में जो कुछ कहा है वह सर्वानुगामी एवं साहित्य-शास्त्र के लिए परम महनीय बन्यु है। मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों की कृतियों पर उनके विवेचन का प्रभाव सुनिश्चित परिलक्षणीय है। जिन विषयों पर महिमनदत्त का विवेचन विशेष रूप से हुआ है, तथा जिन तत्वों पर कुछ नयी युक्ति एवं नई उद्भावना के लिए वह अमर हैं वह हैं—

१. काव्य का प्रयोजन
२. काव्यलक्षण
३. शब्दार्थ-सम्बन्ध
४. शब्दशक्ति
५. रसनिर्घाति
६. अनाधिक्य (काव्य दोष)
७. अठंकार का स्वरूप

ग्रहन विनर्ग में इन क्रमग इनके विवेचन में महिमनदत्त की मौलिकता का निरूपण करते हुए उनकी उपलब्धियों का मूल्यांकन करेंगे।

१. काव्य-प्रयोजन

काव्य-प्रयोजन का विवेचन करते हुए महिमनदत्त ने स्पष्टतया कहा है कि वेदादि शास्त्र एवं काव्य के प्रयोजन में कोई अन्तर नहीं है। वेदादिशास्त्रों का जो प्रसिद्ध प्रयोजन है, काव्य का भी वही। इतरादृश्य विवेचार्थ विधिनिषेधमय व्युत्पत्तिमूलक उपदेश ही वह प्रयोजन या फल

हे ।^१ बल्कि एक स्थल पर तो उन्होंने काव्य को भी शास्त्र ही कहा है । शास्त्र के तीन भेद किये हैं—शब्दप्रधान, अर्थप्रधान एवं उभयप्रधान । शब्दप्रधान शास्त्र वेदादि हैं, जिनके पारामर्श अर्थात् पाठमात्र से अन्वय का प्राप्ति होती है । वहाँ थोड़े से भी पाठपरिवर्तन से प्रत्यवाय लगना है । अर्थप्रधानशास्त्र इतिहासपुराणादि हैं । क्योंकि यों केवल अर्थवादरूप हैं । जिनमें शब्द एवं अर्थ दोनों की प्रधानता होती है वह सर्गबन्धरूप काव्य ही है । उसमें शब्द अर्थ दोनों की प्रधानता इसलिए होती है कि काव्य रसात्मक ही होना है तथा रस का परिपोष शब्दार्थ के औचित्य से ही देखा जाना है । उन काव्य को भी शास्त्र कहना उपयुक्त ही है ।^२ वेदादिशास्त्र से काव्य-नाट्यरूप शास्त्र के भेद का निरूपण करते हुए आचार्य ने व्यवस्था दी है कि—वेदादिशास्त्र से काव्यरूपी शास्त्र में भेद केवल उपायमान का है फल का नहीं । वेदादिशास्त्रों में जिन विषयों का विधित्तिपेधात्मक उपदेश के रूप में नाशान् प्रनिपादन होता है, काव्य में उन्हीं का रस सम्पूजन ऐसा वर्णन किया जाना है कि गुडजिह्विकया वटु औषधपान की तरह साधारण बौद्धा भी अनायास उनका ग्रहण कर सकें ।^३ विमोक्षरूप से काव्य उन लोगों के लिए है जो शास्त्र के श्रवणआदि से विमुख सुकृमन्मनि मूर्खी राजपुत्र आदि हैं अथवा उन लोगों के लिए जो अल्पत जड़-बुद्धि हैं और वेदादि ज्ञानों के दुरह मार्ग में उन्हें वृत्पाटित्य का विवेक-वदापि नहीं कराया जा सकता । इसके विपरीत वह मनी, नृत्य, मगीत आदि में ही निरन्तर प्रसक्त रहते हैं । काव्य के द्वारा रसास्वाद के सुख का अनुभव कराकर उन्हें भी सत्कार्यों में उनी प्रवार प्रवृत्त किया जाता है जिन प्रकार वाद्यक के मूह में शहद जादि कोई मीठी वस्तु लेकर साथ बट्ट की औषध मिला दी जाती है । अन्यथा वाद्यक की वट्टौषधि के पान की ओर स्वतः प्रवृत्ति न होने की तरह, उनको भी शास्त्र की ओर प्रवृत्ति ही नहीं होगी, उनसे व्युत्पत्ति की बात तो दूर की है । इसीलिए काव्य में पूर्णरूप में सफल होने की कामना करने वाले कवि को चाहिए कि वह अपनी वृत्ति को ऐसी बनावे कि उनमें अर्न्तनिहित उपदेश के साथ-साथ वह रसात्मकता भी अवश्य हो ।^४

१. कविव्यापारो हि—काव्यमुच्यते । तच्च—द्विविधम् । सामान्येनोभयमपि च तच्छास्त्र-द्विधित्तिपेधविषयव्युत्पत्तिफलम् । —व्यक्तिविवेक, पृ० ९५-९६ ।
२. त्रिविधं हि शास्त्रं शब्दप्रधानमर्थप्रधानमुभयप्रधानं चेति । तत्र शब्दप्रधानं वेदादि, अप्ययना देवान्मुदयश्रवणात् मनागपि पाठविषयसि प्रत्यवायश्रवणाच्च । अर्थप्रधानमितिहासपुराणादि तस्यार्थवादमात्ररूपत्वात् । उभयप्रधानं सर्गबन्धादि काव्यं तस्य रसात्मकत्वाद् रसस्य क्षोभयौचित्येन परितोषदर्शनात् । काव्यस्यापि शास्त्रत्वमुपपादितमेव ।—वही, पृ० ४२२ ।
३. केवलं व्युत्पाद्यजनजाड्याजाड्यतारतम्यापेक्षया काव्यनाट्यशास्त्ररूपोऽयमुपायमात्रभेदो न फलभेदः । —व्यक्तिविवेक, पृ० ९६ ।
४. एवं च ये सुकृमन्मनसः शास्त्रश्रवणादिविमुक्ताः सुखिनो राजपुत्रप्रभृतयः पूर्वत्राधिहृताः ये चात्यन्तमोर्षि जडमतयस्तावता व्युत्पादयितुमशक्याः स्त्रीनृत्पातोद्यादिप्रसवताउनयेऽपितेऽभिमतवस्तुपुरस्कारेण गुडजिह्विकया रसास्वादसुखं सुखं दत्वा तत्र वटुकौषधपाना-शिविव प्रवर्तयितव्याः । अन्यथा प्रवृत्तिरेवेयां न स्यात्, किमुत व्युत्पत्तिः । काव्यारम्भस्य साफल्यनिच्छता तत्प्रवृत्तिनिवन्धनभावेनास्य रसात्मकत्वमवश्यमुपगन्तव्यम् ।

महिमभट्ट के पूर्व के अज्ञकारमान्त्र के ग्रन्थों में काव्य के चतुर्वर्ग मनोविनोद इत्यादि अन्य प्रयोजनों का प्रतिपादन किया जाता रहा। आनन्दवर्धन एक विशेषरूप से अतिव्यक्त ने इन सब प्रयोजनों का एकमात्र आनन्द में समाहार कर दिया और मम्मट ने उन्हीं काव्य का परम-प्रयोजन, प्रधानप्रयोजन अथवा मरल प्रयोजन मानना कहा।^१ महिमभट्ट ने आनन्द के काव्य का प्रयोजन होने के पक्ष का खट्टन कर एक प्रमाण ने काव्य के पूर्वोक्त सभी प्रयोजनों की नायता का एक साथ ही अपलाप कर दिया है। साथ ही उपदेश को काव्य का एकमात्र प्रयोजन कहकर अर्थ आदि प्रयोजनवग लिये नये काव्यों की महता को नमाना या कर दिया है। रस काव्य की आत्मा है इसमें विमर्शवाद न करने हुए भी रस को आनन्दस्वरूप अमूर्ति को काव्य का प्रयोजन न कहकर उसे उपदेश रूप प्रयोजन की प्राप्ति के उपाय होने का जो विधान किया है वह सर्वथा सुविशुद्ध ही नहीं। यथार्थ भी है। क्योंकि जो नायक है वही उनका फल या प्रयोजन कैसे हो सकता है? अज्ञकारमान्त्र के इतिहास में महिमभट्ट का काव्यप्रयोजनविषयक पहल, उपन्यायन की दृष्टि में सर्वथा नवीन है और एकमात्र महिमभट्ट की सब सर्वान्मेषिणी प्रतिभा एवं बहुधन व्युत्पत्ति को देन है। उत्तरकापीन मम्मट विद्वनाय कविगण प्रभृति आचार्यों ने भी महिमभट्ट की इस देन का नम्य समता और अपनी कृतियों में प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से उपदेश को काव्य के प्रयोजन में परिगणन करने की परम आवश्यकता का अनुभव किया। इन मन्त्रयुक्त महिम्नदर्शन के प्रथम परिच्छेद का काव्यलक्षणविषयक मन्त्रा विवेचन उद्देश्यीय है, जिसका उल्लेख पूर्वक काव्य प्रयोजन का विवेचन करने हुए द्वितीय परिच्छेद में विस्तारपूर्वक किया जा चुका है।

काव्य के प्रयोजन का प्रथम काव्य के स्वरूप एवं उनमें रचना की प्रवृत्ति के साथ सामान्य सम्बन्धित है। कारणरूप ही कर्ता की प्रवृत्ति होती है। पाठकों ने भी अनेक स्तर होते हैं। काव्य का उद्देश्य एवं तदनुरूप उनका स्वरूप ही उन स्तर की उत्तमता के आशयक होते हैं। महिमभट्ट का काव्यप्रयोजन या काव्यरचना का उद्देश्य ऐसा है जो भारतीय मन्त्रि के दृष्टिकोण से भी मंगल एवं अनुहृणीय है। अतएव भी उनका मूल्य अधिक है।

२. काव्य-लक्षण

किसी भी विषय का लक्षण उनके ज्ञान का महत्वपूर्ण विवेचनीय तत्व होता है। काव्य के समीक्षक सभी शास्त्रीय प्रयोगों में काव्य-लक्षण का निरूपण हुआ है। किन्तु महिमभट्ट का काव्य-लक्षण महिम्न-मान्त्र के इतिहास में अपना विशेष महत्व इसलिए रखता है कि मन्त्र में पहले इन्होंने ही काव्य का एक ऐसा नामान्वय लक्षण प्रस्तुत किया जो जब्याप्ति, अविब्याप्ति एवं अनम्भव नामक लक्षण के दोषों ने रहित होने के साथ ही काव्य के अनाधारण धर्म रस से भी सम्बन्धित है। इनके पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षण रीतिगुणालंकार वक्रोक्तिध्वनि आदि काव्य-विशेष के लक्षण थे, उनएव एकांगी थे। व्यक्तिविवेककार ने पहले ध्वनिकार के काव्यलक्षण

१. तत्र प्रीतिरैव प्रधानम्, प्राधान्येन आनन्द एवोक्तः ॥

—लोचन, ध्वन्यालोक टीका, पृ० १२ ।

२. सफलप्रयोजनमौलिभूतं—विगलितवेदान्तरमानन्दम् ।

—काव्यप्रकाश, वृत्ति । ११२ ।

की विशद मीमांसा की ओर उसमें भाषा एवं भावतन्मन्वी दशाधिन दोषों की उद्भावना करते हुए निर्दुष्ट काव्य-लक्षण का निरूपण किया। इस प्रकार उन्होंने शास्त्र के इतिहास में आचार्यों द्वारा पूर्ववर्ती काव्य-लक्षणों की परीक्षात्मक समालोचना करके काव्य का निर्दुष्ट लक्षण प्रस्तुत करने की एक सर्वथा नवीन परम्परा का श्रृंगणेश किया।

कवि-व्यापार को ही इन्होंने सामान्य रूप से काव्य कहा तथा उसे स्पष्ट करने के लिए उसमें दो और विशेषण लगा दिये—विभावादि संयोजनात्मा एव रसानिर्व्यक्त्यव्यभिचारी। कवि की उक्तिही काव्य है ऐसा कथन तो अनेक्य उपलब्ध होता है 'तथा कवे.कर्म काव्यम्' काव्य का ऐसा मुलन व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ तो जापानर प्रसिद्ध था। महिमभट्ट के काव्य-लक्षण की विशेषता उसका संसंपत्त होना है। अण्वार-शास्त्र के इतिहास में महिमभट्ट ने सर्वप्रथम काव्य-लक्षण में रमपद के उपादान का प्रश्न उठाया। चूंकि काव्य का अनाधारण धर्म रम है और लक्षण सदा वस्तु का अनाधारण धर्म ही होता है, अतः काव्य-लक्षण में रम का शब्द. उपादान होना परमावश्यक है। विश्वनाथ कविराज प्रभृति उत्तरकालीन आलंकारियों के काव्य-लक्षण में रमपद का साक्षात् प्रयोग इस बात का पुष्कल प्रमाण है कि महिमभट्ट की काव्य-लक्षण विषयक धारणा का पर्याप्त आदर हुआ।

काव्य-लक्षण के सम्बन्ध में महिमभट्ट की एक और महत्वपूर्ण देन यह है कि सबसे पहले इन्होंने ही पूर्ववर्ती आचार्यों के काव्य-लक्षणों की शास्त्रीय रीति से समीक्षा कर अपने निर्दुष्ट लक्षण के प्रतिपादन की परम्परा का आरम्भ किया, अनन्तर प्रायः सभी आचार्यों ने यही किया। विश्वनाथ कविराज ने मम्मट के काव्य-लक्षण का गुण-दोषविश्लेषण कर अपना काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया। पण्डितराज जगन्नाथ ने दोनों के काव्य लक्षणों की विस्तृत मीमांसा करके ही अपना निर्दुष्ट काव्य-लक्षण प्रस्तुत किया। महिमभट्ट ने ध्वनि-काव्य-लक्षण का विशद विश्लेषण कर उसमें जो दोषों की उद्भावनाएँ की उसका भी प्रभाव पड़े बिना नहीं रहा और उत्तरकालीन प्रत्येक आचार्य ने अपने काव्य-लक्षण का उपस्थापन बहुत ही सोच विचार करके किया।

महिमभट्ट के पूर्व काव्य का लक्षण करने की जो प्रथा थी वह काव्यविशेष को लेकर ही थी। रीति, वक्रोक्ति अथवा ध्वनि किसी न किसी सिद्धान्त के अनुसार ही दामन, बुन्दर, आनन्दबर्धन प्रभृति तत्तद् आचार्यों ने रीतिकव्य, वक्रोक्तिकाव्य तथा ध्वनिकाव्य के लक्षण अपने-अपने ग्रन्थों में किये। काव्य का कोई ऐसा सामान्य लक्षण किसी ने प्रस्तुत नहीं किया जो सर्वमान्य हो। इसका परिणाम यह होता था कि उस सिद्धान्त विशेष का खण्डन हो जाने पर उसके आधार पर किया हुआ काव्य-विशेष का लक्षण भी खटाई में पड़ जाता था। महिमभट्ट ने बहुत जोर देकर कहा कि आलंकारिक आचार्यों को चाहिए कि वह पहले काव्यसामान्य का लक्षण प्रस्तुत करें। काव्य-विशेष के स्वरूप का ज्ञान तो उसके सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या में स्वतः ही जाता है। स्वयं ध्वनिविश्लेषणकार ने यथावसर काव्य के सामान्य एवं विशेष दोनों प्रकार के लक्षण किये हैं। सामान्यलक्षण का कथन ऊपर ही चुका है। उनके अनुसार काव्या-नुमिति ही विशेष काव्य है। उसका लक्षण करते हुए कहा है कि—जहाँ पर काव्य या उसमें अनुमित अर्थ किसी भी सम्बन्ध से अर्पणान्तर का प्रकाशन करें उसे काव्यानुमिति कहते हैं।

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोऽर्पणान्तरं प्रकाशयति ।

सम्बन्धतः कृतश्चिन् सा काव्यानुमितिस्त्वुक्ता ॥ व्य० वि० १।२५

महिमभट्ट यद्यपि काव्यानुमितिवादी थे और पूर्वप्रचलित परम्परा के अनुसार उन्हें काव्यानुमिति या अनुमिति-काव्य का ही लक्षण करना चाहिए था तथापि इन्होंने काव्य के ऐसे नामान्य लक्षण का विधान किया है जिनमें अनुमान के लिए कोई स्थान नहीं है। काव्यविषयक सर्वनाम मान्यता के अनुसार हम को काव्य का अनाग्रहण धर्म मानकर, काव्य का नामान्य-लक्षण स्थापन ही किया है। काव्यलक्षण के विषय में महिमभट्ट की यही देन है जिनका प्रभाव महत्त्व-साहित्य-ज्ञान पर अभी भी अक्षुण्ण है।

३. शब्दार्थ सम्बन्ध—माध्यमाद्यनभाव

साहित्य-शास्त्र की समीक्षा के सम्बन्ध में महिमभट्ट या शब्दार्थ-सम्बन्ध विषयक अनुदान हम महत्व का नहीं है। शब्द का अर्थ में क्या सम्बन्ध है इस पर विद्वानों में ऐकमत्य नहीं है। अनिपत्र विद्वान् शब्द और अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध में विश्वास करने हैं जिनका अभिप्राय यह है कि शब्द नित्य है, अर्थ नित्य है एव शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी नित्य है। इनके प्रकार के विद्वान् शब्द की नित्यता में विश्वास नहीं करने। अतः उन्होंने शब्दार्थ-सम्बन्ध को मानसिक माना है। साहित्य-ज्ञान के विद्वानों ने भी शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर पर्याप्त विचार किया है और वाचक, लाक्षणिक एव व्यञ्जक शब्दों के वाच्य लक्ष्य एव व्यंग्य अर्थों के अल्प विविध प्रकार के सम्बन्ध की कल्पना की है। महिमभट्ट साहित्यिकों की इन मान्यताओं से सहमत नहीं। उन्होंने शब्द एव अर्थ में नाप्यनाद्यनभाव नामक सम्बन्ध का विधान किया है। उनका कहना है कि किसी व्यक्ति को शब्द से अर्थ का ज्ञान तब तक नहीं हो सकता जब तक उसे उनमें अल्पनिहित युक्ति अर्थात् अनुमान की प्रक्रिया का ज्ञान न हो।^१ अतः शब्द में अर्थ का अनुमान होना है। शब्द, अर्थ का अभिप्राय माज्ञान् नहीं कर सकता। अनुमान, माध्य-नाद्यन भाव के बिना बन ही नहीं सकता। अतः अद्विज शब्द-व्यवहार माध्यनाद्यनभाव गर्भित होता है। नामान्यनः अर्थ की प्रतीति में अनुमान की पूरी प्रक्रिया का स्पष्टरूप से बोध इसलिए नहीं होता कि निरन्तर के अन्वय से उस प्रक्रिया में लाघव हो जाता है और शतपत्र बनने के नैदान के समान वहाँ भी क्रम लक्षित नहीं होता।

शब्दार्थ के सम्बन्ध में माध्यनाद्यनभाव की यह विनोपता है कि वहाँ दोनों के नियन्त्रण उपादान की आवश्यकता नहीं होती तथा दृष्टान्त एव व्याप्तिनाद्यक प्रमाण की अपेक्षा के बिना ही अनुमान की प्रक्रिया काम करती है। क्योंकि वहाँ ऐसे नाद्यन का उपादान किया जाता है जिनकी शक्ति सर्वविधित होती है। अतः माध्यन ही माध्य एवं व्याप्ति आदि का आश्रय हो जाता है। इस सम्बन्ध में प्राचीन उक्ति का उद्धरण देने हुए कहा है कि—अनुमान की प्रक्रिया में माध्य-नाद्यनभाव, व्याप्ति-नाद्यक-प्रमाण एवं दृष्टान्त आदि की अपेक्षा केवल मन्दमति उन को ही होती है। विद्वान् तो हेतुमात्र ने कार्य का बोध कर लेता है।^२ अतः शब्दार्थ के बीच माध्य-नाद्यनभाव सम्बन्ध ही मानना चाहिए। माध्यनाद्यनभाव मानने के सम्बन्ध में प्रयत्न ने एक

१. व्यक्तिविवेक, पृ० १७० कारिका ३७-३८ ।

२. तद्भावहेतुमात्रो हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।

व्याप्येने विदुषां वाच्यो हेतुरेव च केवलः ॥

युक्ति यह भी दी है कि शब्द का प्रयोग मुख्यतया दूसरे के लिये होता है । क्योंकि शब्द के बिना दूसरे को किसी कार्य में प्रवृत्त या उसमें निवृत्त किया जाना सम्भव नहीं। दूसरा व्यक्ति युक्ति के बिना प्रवृत्त या निवृत्त नहीं हो सकता और युक्ति अनुमानरूपा ही होती है। अतः निखिल शब्दव्यवहार साध्यसाधनभाव गर्भित होता है ।

साध्यसाधनभाव का निश्चय अविनाभाव सम्बन्ध से ही होता है, तथा वह लोक, वेद एवं अध्यात्म तीन प्रकार का होता है—लोकप्रमाणमन्त्र, वेदप्रमाणमूलक तथा अध्यात्मप्रमाण-मूलक । बहने का अभिप्राय यह है कि—किसी भी शब्द में उसके अर्थ-विशेष का निर्धारण अनायास नहीं हो जाता अपितु किसी न किसी प्रमाण के आधार पर ही होता है। वह प्रमाण या तो प्रत्यक्ष ही सकता है या आगम । अध्यात्म प्रत्यक्ष प्रमाण है तथा लोक एवं वेद आगम प्रमाण हैं । लोक वह आगम प्रमाण है जिसका उपनिबन्धन नहीं हुआ है अपितु कर्म-परम्परा में समाज में चला आ रहा है। वेद उपनिबद्ध आगम प्रमाण है। वेद का ग्रहण इतिहास पुराणादिका उपलक्षण है। यह साध्यसाधनभाव एक दूसरे प्रकार में दो तरह का होता है—शब्द और अर्थ। उनके भी पदार्थ, वाक्यार्थरूप से तथा पदार्थ के भी ज्ञान, गृण, क्रिया, द्रव्य आदि भेद में अनेक भेद-प्रभेद होने हैं, जिनके द्वारा ही शब्दार्थ का नियमन होता है। यही साध्यसाधनभाव अनुमान के रूप में पर्यवसित हो जाता है। क्योंकि साधन अर्थात् हेतु में साध्य का ज्ञान ही मोटे तौर पर अनुमान है। साध्यसाधनभाव से केवल अभिधेयार्थ की प्रतीति होती है। अर्थात्तर की प्रतीति के विषय में शब्द की हेतुता काम नहीं करती अपितु वाक्यार्थ ही उभवा हेतु होता है, अतः वहाँ अनुमान की प्रक्रिया साक्षात् काम करती है।

साध्यसाधनभाव का विधान व्यक्तिविवेकचार ने संकेतग्रह के साथ किया है। केवल संकेतग्रह मानने से इसलिए काम नहीं चलना कि अर्थात्तर की प्रतीति कराने में वह समर्थ नहीं। तथा उसमें शब्द से अर्थ-बोध होने के बीच की प्रक्रिया का ठीक-ठीक ज्ञान नहीं होता। शब्दार्थ सम्बन्ध के प्रसंग में साध्यसाधनभाव रूप अनुमान की प्रक्रिया का विधान केवल काव्यानुमितिवाद-पक्ष की मिद्धि के लिए मंगटन्त मात्र नहीं है अपितु अन्विताभिधानवादी मीमांसक आचार्यों ने भी अनुमान के द्वारा शब्द से अर्थ के निर्धारण होने का संकेत किया है। उनके मन से व्युत्पत्तु बालक प्रत्यक्ष, अनुमान एवं अर्थात्तर तीनों प्रमाणों से ही 'गाम्बानय' आदि वाक्यों में 'गो' आदि पदों के वास्तविक अर्थ का बोध करता है। महिमनट्ट की विशेषता इतने में ही है कि इन्होंने प्रत्यक्ष और अर्थात्तर का अपवाद कर केवल अनुमान को ही माना है और उनके गर्भ में साध्यसाधनभाव का विधान किया है। शब्दार्थबोध के सम्बन्ध में महिमनट्ट के द्वारा उक्त साध्यसाधनभाव के इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने में सबसे बड़ा लाभ यह है कि हम माना प्रकार की शब्द-शक्तियों एवं उनमें अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए शब्दार्थ, लक्ष्यार्थ एवं व्यंग्यार्थ के बीच विविध सम्बन्धों की मान्यता के गौरव में बच जाते हैं। माय ही दर्शन एवं व्याकरण के सिद्धान्तों में साहित्य शास्त्र की भी संगति बन जाती है। दुर्भाग्य की बात है कि उत्तरकालीन किसी भी आचार्य ने साक्षात् तौर पर महिमनट्ट के इस सिद्धान्त को नहीं अपनाया। फलतः यह सिद्धान्त लोकप्रिय न हो सका। अप्रत्यक्ष रूप से शब्द से अर्थ की प्रतीति में अनुमान का महारा मच ने लिया है। उदाहरणतः 'गो' शब्द का ज्ञान में संकेतग्रह मानने पर

बलशक्ति

जाति में व्यक्ति का बोध लक्षणा में होता है, मीनामकों के इन कथन का मम्मट ने खण्डन करते हुए कहा है कि जाति से व्यक्ति का बोध अनुमान में ही होता है।^१

४. शब्दशक्ति

शब्द की अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना नामक अनेक शक्तियों के विषय में महिमनदत्त का जो मत है वह यद्यपि माहित्यशास्त्र की परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है किन्तु भी माननीय विवेचन की दृष्टि में कम महत्व का नहीं। इन्होंने बड़े ही गहन पूर्ण उद्यम में उन मध्य की घोषणा की है कि शब्द की एकमात्र अभिधा ही शक्ति सम्भव है। मान्यता लक्षणा, व्यञ्जना आदि शब्द की शक्तियाँ नहीं हो सकती। क्योंकि तात्पर्य लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक व्यञ्जनों की प्रतीति का हेतु शब्द न होकर अर्थ ही होता है।^२

शब्द की आश्रय में अनेक शक्तियों का सम्मिश्रण मिश्र भी नहीं होता। एक आश्रय में अनेक शक्तियों के होने निदान का विवेचन करने हुए महिमनदत्त ने कहा है कि—अनेक शक्तियाँ जब एक ही वस्तु या विषय का समाश्रयण करती हैं तो ब्रह्मा ब्रह्म निश्चय देने जाते हैं। पहली बात तो यह है कि वह अपनी प्रवृत्ति में एक दूसरे की अपेक्षा नहीं करती, दूसरी बात उनमें पौर्वापर्य नियम नहीं होता तथा तीसरी बात यह कि वह एक साथ भी काम करती हुई पायी जाती हैं। जैसे अग्नि को दाहिना और प्रकाशिका शक्तियाँ। शब्द की तथाकथित अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना एवं तात्पर्य नामक शक्तियाँ उपर्युक्त क्रम से काम करती हैं, ऐसा नहीं माना जा सकता। न किमी आचार्य ने यह स्वीकार ही किया है। अपितु इनके विपरीत इनमें पौर्वापर्य का निश्चय अवश्यमाना ही है। अभिधा पहले काम करती है, लक्षणा और व्यञ्जना तदनन्तर। तथा कभी भी ये युगपत् कार्य नहीं कर सकती। अपितु 'शब्द-बुद्धि-रूपों विरम्य व्यापारभावः' के निदान के अनुसार एक के विरत होने पर ही दूसरी शक्ति प्रवृत्त होती है। इस प्रकार शक्तियों का एकाश्रयत्व नहीं बनता अपितु वे निताश्रय ही हैं और उनका निम्न भिन्न आश्रय यह है कि अभिधाशक्ति तो शब्दाश्रय होती है शेष लक्षणा, व्यञ्जना, तात्पर्य सभी तथाकथित शक्तियों का आश्रय एकमात्र अर्थ ही होता है।

माहित्यशास्त्र के इतिहास में किनी भी आचार्य ने शक्तियों के एक या निम्न आश्रय के सम्बन्ध में इतना गहन विचार नहीं किया है। न मम्मट प्रभृति उत्तरकालीन आचार्यों ने ही शब्द-शक्ति विवेचन के प्रकरण में महिमनदत्त के उक्त विवेचन की टोंका-टिप्पणी की है। व्यञ्जना के अनुमान में अन्तर्भाव के पक्ष का यद्यपि सभी ने खण्डन करने का प्रयत्न किया है किन्तु जब तक शक्तियों का शब्द में एकाश्रयत्व निश्चय नहीं हो जाता तब तक उनके अनुमान में अन्तर्भाव का खण्डन तुपावधान मात्र है। महिमनदत्त ने अभिधा के अनिरिक्त व्यञ्जनादि सभी शक्तियों का जो अनुमान में अन्तर्भाव माना है उसका बहुत बड़ा आकार उन शक्तियों

१. न च शौर्यबुद्धयः.....आक्षिप्यते । —काव्यप्रकाश द्वि० उल्लास की टीका करते हुए बालबोधिनीकार ने आक्षिप्यते का अर्थ अनुमीयते किया है ।—वही, बालबोधिनी टीका ।
२. अत्रोच्यते अभिधासंज्ञः शब्दस्वार्थप्रकाशने ।
व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्वोऽर्थस्य सोऽखिलः
३७ —व्यक्तिविवेक, १११७११

ने एकाग्रत्व का निष्ठ न होना ही है। अतः जब तक शक्तियों के एकाग्र शब्दाग्रत्व पक्ष की पुष्टि एवं तर्क में निष्ठि न बर दी जाय, उनकी अनुमानरूपता का स्रष्टन अनफल प्रयास मात्र है।

शक्तियों के एकाग्रत्व का स्रष्टन कर उन रीति में व्यक्तिविवेचन ने यह दिखा दिया कि उनका आश्रय शब्द और अर्थ दोनों ही हो नवने हैं एवमात्र शब्द नहीं। किन्तु आश्रय शब्द है वह शक्ति अभिधा ही है। अर्थात्तर की प्रतीति शब्द से नहीं हो सकती, यह बात महिममट्ट ने बहुत ही महत्वपूर्ण बही है, जिसका विस्तृत विवेचन नृतीन परिच्छेद में शब्द-शक्ति-विनय के अवनर पर दिया गया है। अतः अर्थ ही अर्थात्तर की अभिव्यक्ति में ममय होता है। इस प्रकार अभिधा के अतिरिक्त शेष शक्तियों को अर्थ का व्यापार कह नवने हैं। किन्तु एक जय से अर्थात्तर की प्रतीति का प्रतिपादन जब अनुमान से ही हो जाता है तो उनके लिए लक्षणा व्यञ्जना जादि विविध शक्तियों का मानना गौरवास्पद नहीं तो और क्या है? अथवा अनुमान की मान्यता पूर्वक विद्यमान होने में तथा उनके इनकी अपेक्षा महाविषय अर्थात् अधिक व्यापक होने में अनुमान में ही इनका अन्तर्भाव उचित है। कहा भी है 'परवाना आश्रयो भिन्न सोऽर्थस्यैवेति तद्व्यापारस्य अनुमानान्तरभावो जन्मपगतस्य एव।'

वाच्यार्थ से अर्थात्तर के साथ अविनाभाव सम्बन्ध की उपपत्ति के विषय में लोक को ही उन्होंने प्रमाण माना है और कहा है कि—शेव में लक्ष्मीगङ्गाया विवटकाय ध्यवित को देखकर उसे जेट या हाथी बहने से दूरनों को अर्थबोध होने में कोई भी विप्रतिपत्ति नहीं होती। इसके अतिरिक्त लक्षणा तथा व्यञ्जना के स्थलो में भी कोई न कोई सम्बन्ध अवश्य स्वीकार दिया जाना है चाहे वह सम्बन्ध सम्योग हो, समवाय हो, सामीप्य या वैपरीत्य कुछ भी हो। वह सम्बन्ध ही लिए अर्थात्तर निमित्त का काम बरता है। इस प्रकार सम्बन्ध रूप निमित्त से साध्य रूप अर्थात्तर की प्रतीति अनुमान के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। शब्द से अर्थात्तर की प्रतीति नहीं होती। इस सम्बन्ध में एक अवाटय युक्ति देते हुए महिममट्ट ने कहा है कि—शब्द का अर्थात्तर के साथ न तो स्वभाविक सम्बन्ध होता है न सामयिक। फिर वह अर्थात्तर की अभिव्यक्ति कैसे करा सकता है। जहाँ तक स्वभाविक सम्बन्ध का प्रश्न है शब्द का अपने अभिधेय अर्थ के साथ ही जब स्वभाविक सम्बन्ध नहीं है तब अर्थात्तर के साथ कैसे हो सकता है। स्वभाविक सम्बन्ध तब माना जाता है जब कि शब्द में भी व्युत्पत्ताव्युत्पन्न नवको जय या अर्थात्तर की प्रतीति उसी प्रकार होती जिस प्रकार मधुर-संगीत से आशामरतिथंक् सबको आनन्द की अनुमूति होती है। शब्द का सामयिक सम्बन्ध तो एवमात्र संकेतित जय से ही होता है। अर्थात्तर से इसलिए नहीं कि एक शब्द के तत्तद् अनेक अर्थात्तरों के साथ सजेतग्रह का विधान किसी भी शब्दशास्त्र के मामर्थ्य की बात नहीं। इस प्रकार साध्यमादनभाव के अनुगार शब्दोच्चारण से जिस अर्थ का बोध होता है वह वाच्यार्थ है उसकी प्रतीति में अभिधा-व्यापार काम करता है शेष जितने भी अर्थों की प्रतीति होती है उन सबमें अनुमान की प्रक्रिया ही काम करती है।

महिममट्ट का शब्द शक्ति विषयक उपर्युक्त मत अत्यन्त ही स्पष्ट एवं युक्तिसंगत है। इन्होंने लक्षणा व्यञ्जना आदि शब्द-शक्तियों के स्रष्टन में जो युक्तियों एवं तर्क उपस्थित किये हैं, प्रमाण की बमोटी पर नव खरे उतरते हैं। ध्वनिवार आनन्दबधन ने तार्किकों की

जिन विप्रतिपत्तियों का उल्लेख करके उनका समाधान किया है और व्यञ्जना नामक व्यापार की निम्न की है, महिमभट्ट ने उन सभी युक्तियों का उत्तर देकर उनके खण्डन में जो तक उल्लिखित किये हैं उनका समाधान उत्तरकालीन किसी भी ध्वनिवादी आचार्य ने नहीं बन पाया है। आज तक दार्शनिक ग्रंथों में किसी ने भी व्यञ्जना की मान्यता स्वीकार नहीं की। लक्षणा की मान्यता भीमानादि दर्शनों में अवश्य है किन्तु महिमभट्ट ने उनकी प्रसिद्ध कारिका 'अभिधे-
येन सम्बन्धान् सामीप्यात् समवायतः । वंपरीत्यान् क्रियायोगान् लक्षणा पञ्चधा मता
ना विवेचन करते हुए उनके आधार पर ही लक्षणा की अनुमानता का प्रतिपादन किया है।
अतः इन सब स्थलों में जब लक्षणा एवं व्यञ्जना के बिना काम चल जाता है तो साहित्य-
शास्त्र में ही उनकी मान्यता का क्या कारण है ? जब कि वहाँ भी अनुमान की प्रक्रिया का
व्यावृत्त नद्विवेक ही संभव है। शब्दराशि के सम्बन्ध में यह विचार ही साहित्यशास्त्र को
महिमभट्ट की मौलिक देन है।

५. रसनिष्पत्ति

रसनिष्पत्ति के सम्बन्ध में महिमभट्ट रसानुमितिवाद के समर्थक हैं। इस सिद्धान्त की उद्भावना का श्रेय श्रीगणेश को है। उन्होंने ही नाट्यशास्त्र की व्याख्या के अवसर पर रस के अनुमेय होने के सिद्धान्त का प्रतिपादन करने पहले किया जिनका खण्डन अभिनवगुप्त ने अभिनवभारती में उद्धरण देकर किया है। यद्यपि महिमभट्ट रसानुमिति सिद्धान्त की उद्भावना में तर्कशास्त्रीय नहीं हैं तथापि इनका रसविवेचन एकमात्र श्रीगणेश के पद-चिह्नों पर ही नहीं हुआ है। श्री गणेश के विवेचन में जो कमी रह गई थी महिमभट्ट ने उसे पूरा किया और अभिनव गुप्त के द्वारा उद्भावित विप्रतिपत्तियाँ का भी व्यावृत्त निवारण किया है।

रस अनुमेय है यह कहना महिमभट्ट के लिए नई बात नहीं थी। जपितु उनकी अनुमेयता का निरोधक सबसे बड़ा तर्क यह था कि जब विभावादि से रत्यादि की प्रतीति घटप्रदीपन-
न्याय से महभावेन अर्थान् एवकालावच्छेदेन होती है तो पूर्वोपर के अभाव में उनमें माध्यमायन-
भाव नहीं बन सकता। माध्यमायनभावकेन बनने से रस की अनुमेयता कथमपि सिद्ध नहीं हो
सकती। इसलिए महिमभट्ट ने सबसे पहले घटप्रदीपनन्यायसे विहित विभावादि एवं रत्यादि की
सहभावेन प्रतीति का खण्डन किया और अपने पक्ष के समर्थन में ध्वनिवार आनन्दवर्धन की
उक्ति का उद्धरण देते हुए यह सिद्ध किया कि रत्यादि की प्रतीति विभावादि की प्रतीति से अविना-
भावनी नहीं होनी अपितु उन दोनों के बोध में कार्यकारण भाव के रूप में क्रम अवश्य रहना
है। जो लाघववत् लक्षित नहीं होता। इस प्रकार विभावादि से रत्यादि तथा रस की प्रतीति में
सहभाव का खण्डन हो जाने से रस की अनुमेयत्वता का आधार बन जाता है और परार्थानुमान
में रस-ध्वनि का अन्तर्भाव सुतरां सिद्ध हो जाता है। रसानुमिति के अवनर पर साध्यसाधनभाव
के नियमनः उपादान तथा व्याप्तिमायक प्रमाण के प्रतिपादन की ध्वनिवार्यता का निराकरण करते
हुए महिमभट्ट कहते हैं कि—जिस प्रकार अनलक्ष्यक्रम ध्वनि में भी क्रम होता है पर लक्षित
नहीं होता, उसी प्रकार रसानुमिति के अवनर पर साध्यसाधनभाव एवं व्याप्तिग्राहक प्रमाण
आदि आवश्यक तत्वों का अभाव नहीं होता। किन्तु वह पूर्ववत् ही परिलक्षित नहीं होते। इसके

अतिरिक्त रसानुमितिपक्ष की एक और विशेषता यह है कि वहाँ इतने शक्तिशाली एवं प्रसिद्ध हेतु का विन्यास किया जाता है कि एवमात्र ज्ञान में ही साध्य को सुतरा प्रतीति होने लगती है। इस सम्बन्ध में विनी प्राचीन आचार्य की उक्ति का उद्धरण देते हुए कहा है कि कवि की शक्ति में अर्पित भावों में इतनी तन्मयता होती है कि वाक्य में उनसे रत्यादि भावों का झिलना शीघ्र एव घना स्फुरण होता है उनका प्रत्यक्ष नहीं हो पाता।

वदित्स्वर्यापना भावास्तन्मयोभावमुचिनतः ।

यथा स्फुरत्यमो वाक्यान् तयाध्यक्षतः किल ॥^१

रसानुमिति के लक्षण में जो मन्त्र में प्रबल युक्ति दी जाती है वह यह है कि अनुमान प्रमाण है, उससे होनेवाला ज्ञान प्रामाण्य ज्ञान ही होना चाहिए। रसानुमिति तो प्रामाण्य ज्ञान नहीं। अतः वह अनुमेय कैसे हो सकती है? महिमनट्ट ने इनका उत्तर बहुत ही मुक्तिपूर्ण दिया है। उनका कहना है कि भ्रान्ति भी समन्वयत प्रमाण ही जाती है। अज्ञानत्व ज्ञान में भी समन्वयविशेष से कार्यकारित्व आ जाता है। इस सम्बन्ध में घर्मवीर के प्रमाणवाक्य की एक कारिका को प्रमाण के रूप में उद्धृत किया है।

मणिरदीरप्रभयोर्मणि बुद्ध्याभिषाद्यतोः ।

निष्पातानाविशेषेऽपि विशेषोर्ध्वनिर्वा प्रति ॥^२

यहाँ पर महिमनट्ट ने स्पष्ट तौर पर यह दिया है कि वाक्य-विशेष में या रसानुमिति में मत्स्यामत्य के विचार का कोई उपयोग नहीं। इसलिए रस को अनुमेय कहने पर जो उसे प्रमाण की बमोटी पर कमतर परगना चाहते हैं, उनका प्रदान उपहानामन्द ही है। रसज्ञान ग्यानि-ज्ञान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है। क्योंकि उनके हेतु विनावादि सर्वथा वृथिम होते हैं तथा रत्यादि के स्थायिभाव जो अनुभूति का विषय होने पर रस बहे जाते हैं, एवमात्र प्रतिबिम्ब-वत्प होते हैं। उनसे अपार्यज्ञान ही ही कैसे मवता है? रसानुमितिपक्ष में भी रसानुमिति की प्रामाण्यज्ञान नहीं माना गया है। तथा उसे वाच्य, ज्ञाप्य, प्रमेय इत्यादि सब प्रकार के ज्ञान से परे कहा गया है। यहाँ पर विचारणीय बात यह है कि—अनिव्यक्ति पक्ष में रस, वाच्य, ज्ञाप्य, प्रत्येय आदि में भिन्न होता हुआ भी चर्चणा की निष्पत्ति के कारण कार्यश्राप्यादि पद से व्यपदिष्ट हो मवता है तो अपार्य ज्ञान न होने हुए भी साध्यसाधनभाव के द्वारा अनुमान की प्रक्रिया के ठीक-ठीक बैठ जाने में वह अनुमेय क्यों नहीं कहा जानसता? अन्धानुमीयमान विल-सपता ही उसकी अश्रीकृता है। अिन प्रकार बृहग्याप्त प्रदेग में हेतु धूम की भ्रान्त प्रतीति से वहाँ अविद्यमान भी वहिन की साध्य रूप में अनुमिति होने में कोई बाधा नहीं पड़ती, तथा उसका प्रामाण्यज्ञान कि वास्तव में वह अग्नि है कि नहीं, परतः प्रामाण्यवाद के अनुसार ज्ञान-ग्राहक अनुमान में भिन्न प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों के द्वारा ही मग्मव है, ठीक उसी प्रकार वाक्य में भी वृथिम विनावादि ने रस की अनुमेयता सर्वथा मुक्तिपुक्त एक मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया मात्र है जो उक्त रीति से शास्य मग्मव भी है। महिमनट्ट के रसानुमिति पक्ष के प्रतिपादन में उनके आशय को यथावत् न समझने में ही दोष शिष्याई देने है। अतएव उक्तवालीन

१. व्यक्तिविवेक, पृ० ७३ ।

२. वही पृ० ७४ ।

किन्ती भी आचार्य ने महिमभट्ट की मान्यता के साथ त्याग नहीं किया। जोर ध्वनि के प्रदल प्रवाह ने लोगों के प्रवाहित होने से उनके स्नानमिति निदान्त की उपेक्षा होती रही है।

रम तत्व के विषय में आचार्य महिमभट्ट की अपनी यह विनोप मान्यता है कि रम ने ही काव्य की आत्मा होने की क्षमता है। इनमें किन्ती को विमम्बाद नहीं होना चाहिए कि रम ही काव्य की आत्मा है। उनका उद्घोष है —

‘काव्यस्यात्मनि सतिनि रमादिरूपं न कर्म्याचिद् विमितिः’

अर्थात् रम ही काव्य की आत्मा है रम के कारण ही किन्ती रचना को काव्य की सजा निरती है इसमें किन्ती को विमम्बाद नहीं होना चाहिए। किन्तु महिमभट्ट रम को उभेय अर्थात् काव्य के द्वारा समाध्य प्रयोजन या काव्य का फल नहीं मानते। अन्तिवु के रम को इत्याहृत व्युत्पत्ति का सर्वोत्तम उपाय मानते हैं। इन प्रकार रम उभेय नहीं अन्तिवु उपाय है मात्र नहीं अन्तिवु भाव है। यहाँ ध्यान देने की बात यह है कि नाट्य-राम्यकाय रम ने रम का रूप या आत्म के पर्याय के रूप में प्रयोग किया है। उन्होंने स्पष्ट रूप में रम को नाट्य का उभेय या उपाय कृत् भी नहीं कहा है। आचार्य आनन्दवर्षन के ध्वनि-निदान्त के अनुसार रम काव्य के द्वारा व्यंग्य है। वस्तु जलकारादि जन्म तन्वी को योजना रम-रम ही होनी चाहिए, ऐसी उसी मान्यता है। अभिनवगुप्त ने रम को काव्य का परम प्रयोजन मानते हुए उसे स्पष्ट रूप में उभेय ही माना है जिनकी अनुभूति का उपाय काव्य होता है। आचार्य महिमभट्ट रम और काव्य को अरुपयोग्य मानते हैं। उनका कहना है कि काव्यार्थ ही जब जाम्बादनात्मक अनुभव का विषय हो जाता है तो रम कहलाना है—

आस्वादानात्मानुभवो रमः काव्यार्थ उच्चने ।

इसीलिए आचार्य महिमभट्ट ने रम को ब्रह्मानन्द महोदय आदि नहीं कहा है। वह रम की आत्मात्मिकता के पक्ष के समर्थक नहीं प्रतीत होते। किन्तु काव्यार्थ के आनन्द रूप में अनुभूतना होने के कारण का निरूपण करने हुए वे हनाग ध्यान वस्तु मीनर्य की ओर जाहृष्ट करना चाहते हैं। उनका कहना यह है कि वस्तु का यह स्वभाव है कि जब उनका उपयोग लोक व्यवहार में किया जाता है तो उनमें तत्त्व प्रकार के मुख दुःख माहादि की अनुभूति होती है। किन्तु वही वस्तु जब काव्य में वर्णित होती है तो उनमें एकनाम आनन्द की ही अनुभूति होती है जो एक विशेष प्रकार का चमकार है।

इस प्रकार आचार्य महिमभट्ट के अनुसार रम वह तन्व है जिनके मान्यन में कवि इत्याहृत्यविवेक रूप दुःख मास्त्रीन व्युत्पत्ति को मानाग्य पाठकी मरल बुद्धि में भी उसी प्रकार उदार देना है जिन प्रकार कोई कुशल वैद्य शहद में मित्राकर गुपकारी कठूकी औपनि वषों तक को जिला देता है।

श्रीमङ्क, भट्टनायक एवं अभिनवगुप्त के रम-निरूपण में महिमभट्ट की एक विनोपता यह भी है कि रमवादी होने हुए तथा रम को काव्य की आत्मा मानने हुए भी वे उ-काव्य का प्रयोजन न मानकर उसकी निधि कर उपाय ही मानते हैं जिनका उपाय मान-विशों को शान्नादि की व्युत्पत्ति की ओर उन्मुख करना है। जतएव महिमभट्ट ने काव्य को भी काव्य का ही एक प्रकार माना है।

६. अनांचित्य (काव्यदोष)

आनन्दवर्धन के बड़े आलोचक होने हुए भी महिमनट्ट इन बात से नहिमत हैं कि काव्य की जात्ता रम ही है। जन आनन्दवर्धन की भग्नि पर ही उन्होंने दोष की अनांचित्य ही कहा है और 'अनांचित्य से बचकर रमनग का अर्थ कोई वाग्म नहीं होता ध्वनिधार की उन उक्ति का समर्थन ही किया है। दोष के सम्बन्ध में इनका वैगिष्टय इसलिए है कि आनन्दवर्धन ने जिन अनांचित्य का महदोषों के अनुभव का विषय भावकर इसलिए छोड़ दिया था कि ऐसा करने से बड़े-बड़े कवियों की रचनाओं में दोष देखना पड़ता है। महिमनट्ट ने उसे उचित नहीं समझा। लोगों को अनांचित्य ज्यों काव्य-दोषों की अच्छी जानकारी हो इसलिए उन्होंने उनका विन्तुत विवेचन किया है। दोषों के स्वरूप एवं लक्षण के अतिरिक्त महिमनट्ट ने उनकी जो शास्त्रीय विवेचना की वह मनुके अठवारस्यास्य के इतिहास में प्रथितीय है। महिमनट्ट हत दोषनामान्य का लक्षण कि—'विवक्षितगमादि प्रतीतिविधिविप्रादिभ्य नाम दोषस्य सामान्यलक्षणम्' अत्यन्त ही वैज्ञानिक है। इनमें केवल रमनग की ही बात नहीं है किन्तु उसमें भी अथिब कुछ है।

महिमनट्ट के दोष-विवेचन की सबसे बड़ी विशेषता दोषों की मत्ता एवं उनके वर्गीकरण में है। यहाँ आचार्य ने शास्त्र की अथिल परम्परा का तिरस्कार कर मर्दया मौलिक विवेचन किया है। इन्होंने दोषों की बटती हुई मत्ता पर रोक लगा दी और नाट्यदाम्त्र के भी जाधे केवल पांच दोषों में ही सबका समाहार कर दिया। इनके से पांच दोष वैशेषिक के मत्तपदार्थ के समान हैं जिनका जलभाव वहीं भी नहीं दिया जा सकता। दोषों का यह वर्गीकरण महिमनट्ट की अपनी मौलिक मूत्र है।

दोष-विवेचन के प्रसंग में महिमनट्ट की विशेषता इस बात में भी है कि उन्होंने ऐसी समस्याओं की उद्भावना की जिनके प्रयोग में बड़े-बड़े कवि भी प्रायः स्त्रलत किया करते हैं। उदाहरणस्वरूप समानानमान में मन् के विधान में प्रायः लोग गलती करने पाये जाते हैं। विशेषाधिकारों दोष के अवसर पर उन्होंने मन् समानके प्रसंग को छोड़कर उनकी पूरी मीनाना की है तथा नाता प्रकार के उदाहरण देकर उसे अच्छी तरह से समझाया है। दूसरी समस्या पतद्गद्यों के विधान में है। मत् शब्द के साथ तत् शब्द का प्रयोग वहाँ होता है वहाँ नहीं, आदि विचार बहुत मूढम है। किन्तु महिमनट्ट ने शास्त्रान्तरों में उद्धरण दे देकर उसे अच्छी तरह से सुलजा दिया है। इनके अतिरिक्त समामादि वृत्तियों में विशेषका विनयों के होता है, तथा वहाँ विशेषण की विवेचता में वृत्ति क्यों नहीं होती, इन सबका विन्तार पूर्वक विवेचन किया है। सभी दोषों के विवेचन के अवसर पर केवल उनका लक्षण एवं उदाहरण देना पर्याप्त नहीं माना अपितु अनांचित्य की मौदा को लेकर उसने वाली मारी विप्रतिपत्तियों का समाधान भी किया है।

महिमनट्ट के दोष-विवेचन की महत्ता उदाहृत पद्यों को लेकर भी है। कोई भी ऐसा कवि नहीं बचा है जिनकी रचना में अनांचित्य का विवेचन कर उनका शुद्ध रूप में पाठ-परिवर्तन न किया गया हो। संक्षेप में महिमनट्ट का दोष-विवेचन अनांचित्य विषयक समग्रों का एक विरवकोम है। मन्मट एवं विश्वनाथ प्रभृति उत्तरकालीन सभी आचार्यों ने अपने दोष-विवेचन

व्यक्तिविशेष

में व्यक्तिविशेषकार का अनुसरण पर्याप्त मात्रा में किया है। इन्होंने दोष के प्रकरण में जिन मन्त्रियों को उठाया है उनकी मान्यता सार्वजनिक है।

महिमभट्ट के पूर्ववर्ती किसी भी आचार्य ने अलंकार नामान्य के निवर्तन में दोष का विवेचन नहीं किया है। इन्होंने ही कहा है कि मनामोक्ति आदि अलंकारों के स्थल में ग्लेषादि का उपनिवर्तन होने से दोष होता है। इसके अनेक उदाहरण दिये हैं और इसका विधान भी किया है कि एक अलंकार के विषय में दूसरे अलंकार का निवर्तन नहीं होता चाहिए। क्योंकि उनके भी रचना में उत्कर्ष की हानि होती है। फलतः कविता का परवर्तन समझ में होता है। महिमभट्ट ने आनन्दवर्धन के समान ही दोषोद्भावन के प्रयोग में ग्लेष का भी उदाहरण प्रस्तुत किया है अन्यथा प्रबन्धों में पद्य ही उदाहरण दिये जाते थे। मत्स्य में महिमभट्ट का शब्दादिप्रक दोष के विवेचन में यही अनुदान है।

महिमभट्ट ने अपने व्यक्तिविशेष में कहीं भी गणों का विवेचन किसी भी रूप में नहीं किया है। मद्यधि ग्रंथ के आरम्भ में विहित प्रतिज्ञा के अनुसरण उनका उद्देश्य ध्वनि-सिद्धान्त का अन्वय कर उनका अनुमान में अन्तर्भाव सिद्ध करना ही था तथापि प्रमदवशात् यथावसर वाक्य के आशयक सभी तत्त्वों के स्वरूप एवं लक्षण का भी निरूपण इनके ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। किन्तु गुणों का कहीं भी निरूपण न होने में हम इन निष्कर्ष पर पहुँच सकते हैं कि महिम भी गणों को भावरूप मानते थे एवं गुणों को अभावाम्बु। मन्त्रणाद्यमान्य में यही माना गया है तथा द्रष्ट ने भी गणों का समर्थन किया है। महिमभट्ट ने मन्त्रे ग्रन्थ में भरत के सिद्धान्त का विरोध कहीं भी नहीं किया है। अपितु स्थान-स्थान पर अपने पक्ष की पुष्टि के लिए भरतानुसंगतात्त्व में प्रमाण उद्धृत किये हैं। गुणों के सम्बन्ध में भी वह भरतमन के अनुयायी प्रकृत होते हैं और संभावतः दोषानाव रूप में ही उन्हें स्वीकार करते हैं।

३. अलंकार का स्वरूप

अलंकारों के विषय में भी महिमभट्ट की धारणा कोई उत्तम नहीं है। उनका कहना है कि काव्य-शिक्षा का आरम्भ सौन्दर्यानिरेक की निष्पत्ति के लिए ही करना चाहिए केवल अलंकार निरूपण के लिए नहीं। अलंकारों की निष्पत्ति तो स्वयं ही जानी है, क्योंकि भगी-भगिनि रूप अनिष्टा के ही भेद सभी अलंकार हैं। कहा भी है—

न चालंकारनिष्पत्त्यं रसबोधोद्यतः कविः ।

यतते ते हि तत्सिद्धिदानान्तरोपरसिद्धयः ॥ २।७५ ॥

अलंकार का लक्षण करते हुए महिमभट्ट ने कहा है कि—विनावादि रस के अंग हैं जो आशान् रस के निष्पादक हैं। विनावादि की वैचित्र्योक्ति अर्थात् भगीभगिनि ही अलंकारों का स्वरूप है, अतः ये भी परम्परया रस पर ही आश्रित होते हैं।^१ चूँकि रस पर आश्रित होने से काव्य में अलंकारों का स्थान गौण है, इसलिए चारता की अपेक्षा से कवियों के द्वारा दत्तकी कल्पना स्वयं कर लेनी चाहिए कि अलंकारों का कहीं विधान और कहीं निषेध करें।^२

१- रसस्याङ्गं विनावाद्याः साक्षात्त्रिष्पादकत्वनः ।

तद्वैचित्र्योक्तिवपुषोऽलंकारास्तु तदाश्रयाः ॥

२- व्यक्तिविशेष, कारिका २।७८, ७९, ८०, पृ० ३४३ ।

ध्वनिकार की कारिका का उद्धरण देते हुए उन्होंने कहा है कि—अलंकारवादी महाकवियों की कविता में भी प्रतीयमान की छाया ही मुख्यरूप में बाध्यत्व का आघातक होती है। जैसे नाना प्रकार के जाभूपणों से लदी हुई नायिका में राजा का भाव ही मुख्य मीन्द्र है। जनएव इनके अलंकारों के होते हुए भी शक्तिमान् कवि उनमें में कूट का ही निवन्धन करता है, मक्का नहीं। चंकि सभी अलंकारों का प्रागभूत उपादा ही है, इसलिए उसके प्रतीयमान होने पर ही उससे चमत्कार का आधान होता है। रूपकादि ममूषा अलंकार-वर्ग यमक ही है। कुछ तत्त्वार्थदर्शियों ने उन्ही यमक का विस्तारपूर्वक विविध अलंकारों में वर्णन किया है।

अनन्तर प्रथकार ने श्लेषालंकार के शब्द एव अर्थ विषयक दो भेद का विवेचन किया है। शब्दश्लेष की परिभाषा करते हुए कहा है कि जहाँ पर दो वस्तुओं में अल्पूनातिरिक्तत्वेन सादृश्य हो और उमका शब्दमात्र में बधन हो वह शब्दश्लेष है। अर्थश्लेष का लक्षण तो स्वतः प्रसिद्ध है, इसलिए प्रकृतस्यल में उमका लक्षण नहीं किया है। किन्तु दोनों के सम्बन्ध में एक आवश्यक नियम का विधान करने हुए कहा है कि—शब्द एव अर्थ उभयविधश्लेष की अभिव्यक्ति के लिए रचना में किसी न किसी कारण का उल्लेख अवश्य होना चाहिए। अन्यथा कारण के अभाव में श्लेष की रचना के लिए कवि का प्रयत्न निष्फल होगा।^१

गुणालंकार के विषय में महिमनट्ट का वही पक्ष है जो आनन्दवर्धन का था। बाध्य में औचित्य का आधान ही गुण है तथा अौचित्य दोष है। अलंकार की सत्ता एव उमका महत्व स्वतंत्र रूप से कुछ भी नहीं है। वह जब अङ्कारान्तर या दम्पुमात्र अथवा रस की अभिव्यक्ति का हेतु होता है तभी उममें चमत्कार का आधान होता है। केवल अङ्कार के लिए अङ्कार का पक्ष बधमपि मान्य नहीं। जनएव महिमनट्ट जब बाध्य में गुणालंकार को अधिक महत्व देने ही नहीं तो उनके विषय में इनका विरोध अनुदान ही ही क्या सकता है? इस सम्बन्ध में हम इतना ही कह सकते हैं कि बाध्य में गुणालंकार के अपेक्षित महत्व को वास्तविक रूप में पहचान कर इन्होंने जो उन्हें बहुत अधिक महत्व न देने की बात कही है यही उनकी विशेषता है।

संस्कृत-साहित्य-शास्त्र को महिमनट्ट की देन का विवेचन ऊपर के पृष्ठों में अत्यन्त ही सूक्ष्म पर स्पष्ट रूप में हुआ है जो समूचे ग्रन्थ में विन्ध्यस्त नामश्री का निर्गलित सार है। साथ ही परवर्ती आचार्यों पर महिमनट्ट के प्रभाव का निर्देश करते हुए उनकी देन मान्यताओं का मूल्यांकन भी कर दिया गया है। इस प्रकार इस विवेचन के माध्य ही ग्रन्थ का असंसार हो जाता है।

परिशिष्ट

- व्यक्तिविवेकसंग्रहकारिकाः
- संग्रन्यावली

व्यक्तिविवेक-संग्रहकारिकाः भाषानुवादसहिताः



अथ प्रथमो विमर्शः

अनुमानेऽन्तर्भावं सर्वस्वैव ध्वनेः प्रकाशयितुम् ।

व्यक्ति-विवेकं कुर्वते प्रणम्य महिमा परां वाचम् ॥१॥

अनुमान में (ही) ध्वनि के सभी प्रकारों का अन्तर्भाव प्रदर्शित करने के लिये (ग्रन्थ-कार) महिमभट्ट परावाक् को प्रणाम कर व्यक्तिविवेक (नामकग्रन्थ) की रचना करते हैं ।

१. अनुमान—'लिङ्गाल्लिङ्गिज्ञानमनुमानम्' लिङ्ग हेतु से लिंगी साध्य का ज्ञान ही अनुमान कहा जाता है । 'पर्वतो वह्निमान् घूमात्' वाक्य में घूम हेतु से साध्य वह्नि का अनुमान होता है । अनुमान को एक प्रमाण माना गया है जिसका स्थान प्रत्यक्ष से दूसरा है । अनुमान के मुख्यतः दो प्रकार होते हैं—स्वार्थानुमान एवं परार्थानुमान । हेतु साध्य एवं पक्ष तथा व्याप्ति, अनुमान के साधक तत्वों के पारिभाषिक नाम हैं । महिमभट्ट का कहना है कि ध्वनि के सर्वस्व व्यञ्जना का अन्तर्भाव अनुमान में सभव है ।

२. ध्वनि—महिमभट्ट के पूर्ववर्ती आचार्य आनन्दवर्धन के द्वारा उद्भावित एक सिद्धान्त है जिसके अनुसार काव्य की आत्मा ध्वनि है । आचार्य अभिनवमुप्त ने ध्वनि की पाँच प्रकार की व्युत्पत्तियाँ प्रदर्शित करते हुए उसके पाँच अर्थ किये हैं—

- १—ध्वन्यते व्यज्यते अनेन इति व्यञ्जकः शब्द ध्वनि ।
- २—ध्वन्यते व्यज्यते अनेन इति व्यञ्जकः अर्थः ध्वनि ।
- ३—ध्वन्यते व्यज्यते अनया इति व्यञ्जना वृत्तिः ध्वनि ।
- ४—ध्वन्यते इति व्यञ्जचार्यः ध्वनि ।
- ५—ध्वन्यते वाच्यापेक्षया प्राधान्येनाभिव्यज्यते अस्मिन्निति काव्यं ध्वनि ।

३. व्यक्तिविवेक—यह नाम उस ग्रन्थ का है जिसकी रचना महिमभट्ट ने की है । व्यक्ति व्यञ्जना को कहते हैं, उसका विवेक अर्थात् उसके युक्तायुक्त होने का विचार । यह सब जिस ग्रन्थ में हो उसका नाम व्यक्तिविवेक ठीक ही है—ध्वनेः व्यञ्जनायाः विवेको-युक्तायुक्तविचारो यस्मिन् ग्रन्थे स व्यक्तिविवेकः । वह ग्रन्थ जिसमें व्यञ्जना के वास्तविक स्वरूप का निरूपण किया गया हो ।

४. महिमा—यह व्यक्ति का नाम है जो ग्रन्थकार के लिये प्रयुक्त हुआ है तथा महिमन् प्रातिपदिक के प्रथमा एक वचन का रूप है । ग्रन्थकार ने अपने नाम का उल्लेख अपनी इस एकमात्र उपलब्ध कृति में अनेक प्रकार से किया है—महिमभट्ट, राजानक महिमक,

महिमा इत्यादि । यह एक काश्मीरी ब्राह्मण थे जो १००० ई० के लगभग विद्यमान थे ।
 ५. परावाक्—सामान्यतः वाक् (वाणी) के चार भेद उसकी उद्भूति के क्रम के अनुसार किये गये हैं—परा 'पश्यन्ती' मध्यमा और वंसरी । नाभि के पास में अवस्थित मूल-चक्रस्थ सर्वथा अव्यक्त ध्वनि को उसकी परा अवस्था कहा गया है । विद्वानों में इस विषय को लेकर बड़ा मतभेद है । वैयाकरणों का एक वर्ग जिसके नेता भर्तृहरि हैं परावाक् को शब्दब्रह्म के रूप में निराल ब्रह्मांड का मूलस्रोत आत्मतत्त्व मानता है ।^१ यहाँ पर ग्रन्थकार को संभवतः भर्तृहरि प्रोक्त परावाक् ही अभीष्ट है । प्रकृत ग्रन्थ के प्रथम अध्याय के द्वितीय विमर्श में इसका विवेचन विस्तार पूर्वक किया गया है ।

युतोज्यभातमसदृशान् प्रति मे प्रयत्नो
 नास्त्येव तज्जगति सर्वमनोहरं यत् ।
 केचिज्ज्वलन्ति विकसन्त्यपरे निर्माल-
 न्यन्ये घटभ्युदयभाजि जगत्प्रदीपे ॥२॥

अनुमान में ध्वनि के अन्तर्भाव करने का भेदा यह ग्रन्थ रूप प्रयास सर्व साधारण के लिये नहीं अपितु मुझ जैसे कुछ ही लोगों के लिये है । क्योंकि वे ही इसे उपयुक्त समझेंगे, सभी नहीं । उचित भी यही है क्योंकि इस संसार में वह वस्तु है ही नहीं जो सबको भा जाय । और तो और जगत् को प्रदीप की तरह प्रकाश देने वाला सूर्य भी जब उदित होता है तो सूर्यकान्त मणि जैसे कुछ तत्व ईर्ष्या भाव से जलने लगते हैं, और कुमुदिनी जैसे कुछ और नहीं तो अपनी आँखें ही मूढ़ लेते हैं । कमल सदृश कुछ ही व्यक्ति ऐसे होते हैं जो प्रफुल्लित हो उठते हैं । सर्व मनोहर का अर्थ है सब प्रकार से सुन्दर, सभी व्यक्तियों को भा जाने वाला तथा सभी काल में सुन्दर लगने वाला ।

इह सम्प्रतिपत्तितोज्यथा वा ध्वनिकारस्थ वचो विवेचनं नः ।

नियतं यतो प्रपत्स्यते यन्महतां संस्तव एव गौरवाय ॥३॥

किसी भी कृति की समीक्षा दो प्रकार से की जाती है—सौजन्य-मूलक एवं उसके विपरीत अर्थात् सण्डनात्मक । ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन की उक्ति ध्वनिसिद्धान्त का यह विवेचन जिसे मैंने अपने इस ग्रन्थ के रूप में प्रस्तुत किया है चाहे यह सम्प्रतिपत्तितः—सौजन्य-मूलक परीक्षा के ढंग से अथवा इसके विपरीत सण्डकनात्मक रीति से ही क्यों न किया गया हो मुझे यश का भागी अवश्य बना देगा । क्योंकि महान् लोगों का परिचय ही गौरवास्पद होता है । बड़े लोगों में किसी रूप में सम्बन्धित होने वाला व्यक्ति भी गौरव शाली हो जाता है ।

१—संप्रतिपत्ति—अनुकूल अर्थात् समर्थनात्मक समीक्षा ।

२—विप्रतिपत्ति—विपरीत अर्थात् सण्डनात्मक समीक्षा ।

३—संस्तव—स्तुति, प्रशंसा, परिचय या सम्बन्ध ।

सहसा यतोऽभिसत्तुं समुद्यतादृष्टदर्पणा मम धीः ।

स्वालंकारविकल्पप्रकल्पने वेत्ति कथमियावद्यम् ॥४॥

यस रूपी प्रियतम से मिलने के लिये मेरी बुद्धि आज अवस्मात् अभिस्तार करने पर

१. अनादि निषेधं ब्रह्म शब्दतत्त्वं घटक्षरम् ।

विवर्ततेऽर्धभावेन प्रश्रिया जगती यतः ॥

—वाक्यपदीय १।१

प्रथम परिशिष्ट

उद्यत हो गई। यहाँ तक कि दर्पण देखने तक को उने मुघ न रही। जन अपने वेदा-विन्यास रूप शृंगार में आनूपणों के कारण सम्बन्धी दोष को कैसे जान सकती है ?

‘यह समालोचना सर्वथा मौलिक है’ इन प्रकार के दण की सहना प्राप्ति के लिये ही मेरी बुद्धि ने भट्टनायक प्रभृति ध्वनि-विरोधी अन्य विद्वानों की ‘हृदयदर्पण’ आदि कृतियों को एकबार देख लेना भी जो स्वीकार नहीं किया उनके परिणाम स्वरूप अलंकार शास्त्र पर निश्चित अपने इस ग्रन्थ के दोषों के ज्ञान से उमका बचिन रहना भी सर्वथा वाभाविक है।

स्वालंकार से तात्पर्य अलंकार-शास्त्र सम्बन्धी अपना जो विकल्प अर्थात् पक्ष है उनकी प्रकल्पना अर्थात् निरूपण में क्या दोष है यह कैसे जान सकती है अर्थात् उसी प्रकार नहीं जान सकती जिस प्रकार अपने प्रियतम से मिलने के लिये जनावली नाचिजा शीतों में अपनी नाच-नग्ना ठीक तरह में देखे बिना ही यदि अभिरमण कर देती है तो तत्तद् अंगों में धारण किये हुए वस्त्रानूपण विषयक त्रुटियों को नहीं जान पाती। यहाँ समाप्तोक्ति अलंकार के माध्यम से ग्रन्थकार ने आत्मममोक्षण किया है।

१. दर्पण—भट्टनायक की अनुपलब्ध प्रख्यात कृति हृदय दर्पण।

२. अलंकार—नाहित्य शास्त्र—काव्य की नमीशा विषयक ग्रन्थ।

तथापि अपनी कठिनाइयों एवं दोषों का निरूपण करने हुए ग्रन्थकार कहता है—

ध्वनिवर्मन्व्यतिगहने स्वलितं वाग्याः पदे पदे सुलभम् ।
रभसेन यत्प्रवृत्ता प्रकाशकं चन्द्रिकाद्यदृष्ट्वैव ॥५॥

एक तो ध्वनि-मिद्धान्त स्वयं ही इतना गहन है उस पर चन्द्रिका आदि प्रकाशों की उपेक्षा करके मेरी वाणी जो अत्यन्त सीधता वश उन मार्ग पर प्रवृत्त हुई है उसके परिणाम स्वरूप उमका पय-पण लड़खड़ाना अत्यन्त स्वभाविक है।

चन्द्रिका संभवतः ध्वन्यालोक की टीका थी। उनकी सहायता से ध्वन्यालोक को अच्छी तरह समझा जा सकता था। अधिक संभव है वह टीका मूलग्रन्थ की विरोधिनी रही हो। पर व्यक्ति-विवेक कार ने ध्वन्यालोक को नमजने में उनकी भी सहायता नहीं ली।

ध्वनि मार्ग को अतिगहन कहने का तात्पर्य यह है कि वह अन्वकाराच्छन्न है। उसमें प्रमेय वस्तु का यथानव्य निर्णय नहीं किया गया है। जन जिस प्रकार अचरे मार्ग पर चरने में पैरों का लड़खड़ाना स्वाभाविक है उसी प्रकार ध्वनि-मिद्धान्त के विवेचन में प्रवृत्त मेरी वाणी में भी स्वलन का होना सर्वथा स्वाभाविक है।

इस पक्ष में प्रयुक्त अतिगहन, स्वलित, रभस एवं चन्द्रिका पद श्लिष्ट हैं।

१—अतिगहन का एक अर्थ है मिद्धान्तों से भरपूर अतएव श्लिष्ट दूनरा अन्वकाराच्छन्न।

२—स्वलित—पैर का लड़खड़ाना तथा शब्द अन्य पदभग दोष।

३—रभस—आवेग और वेग

४—चन्द्रिका—चाँदनी तथा ध्वनि-मिद्धान्त-विवेक कृति-विशेष।

किर भी आचार्य को अपनी कृति पर गर्व है और उसकी परीक्षा के लिये वह विद्वानों से निवेदन करते हैं—

किन्तु, तदवधोर्षार्थैर्गुणलेशे सततमवहितं भाव्यम् ।
परिपवनवदयवा ते न शिक्षितास्तु प्रहणम् ॥६॥

यद्यपि मेरी कृति में अनेक दोष संभावित हैं तथापि श्रेष्ठ पुरुषों को चाहिये कि वे

दोषों की अबहेलना कर गुणों को ग्रहण करने में ही गदा तत्पर रहे। अथवा उन के लिये इस तरह के सुझाव की कोई आवश्यकता नहीं क्योंकि गर्ण की तरह ही उनका भी यह जन्म-जात स्वभाव है कि वे भूमि को ग्रहण करना नहीं जानते। मेरी कृति की वे परीक्षा करें और यदि उसमें घाह्य सामग्री हो तो इसकी महत्ता स्वीकार करें अन्यथा इसका स्वतः तिरस्कार ही जायेगा।

परिपवन—मूष को कहने हैं जो नि गत्व अन्न या भूमि को फटक कर बाहर धर देता है। गरिष्ठ गामग्री ही उसमें टिक पाती है। यहाँ वैद्यम्यं दृष्टान्त पर जाषाग्नि व्यतिरेक अलंकार की सृष्टि हो गई है।

उपसृक्त छ श्लोक भूमिकात्मक हैं। जागे की कारिकाओं में यथास्थान विषय का विवेचन होगा।

ध्वनिकार द्वारा किये गये ध्वनि के लक्षण में दोष की उद्भावना गवमे पहले आवश्यक है उसी का विवेचन करते हुए कहते हैं—

उसतं गुणीकृतात्मत्वं यदर्थस्य विशेषणम् ।

गमरुत्याप्र तत् तस्य युक्तमव्यभिचारतः ॥७॥

ध्वन्यालोक की ध्वनिलक्षण कारिका 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यादि में 'उपमर्जनी कृत-स्वर्थों' की उक्ति में जो कहा गया है कि 'जहाँ अर्थ अपने को गौण करने हुए अर्थान्तर को व्यक्त करे, और इस प्रकार गुणीकृतात्मत्व को अर्थ का जो विशेषण बनाया गया है वह ठीक नहीं है। क्योंकि जहाँ एक अर्थ से दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति होती है वहाँ पहला अर्थ दूसरे का गमक होता है। दूसरा अर्थ गम्य होता है। गमक, गम्य की अपेक्षा सर्वदा गौण ही होता है वही भी मुख्य या मुख्य नहीं। कोई भी विशेषण तभी प्रयुक्त होता है जब वह वहाँ संभव हो तो वही अनभव। जहाँ केवल संभव सत्ता ही हो व्यभिचार सत्ता न हो वहाँ विशेषण का प्रयोग व्यर्थ माना जाता है। उक्त ध्वनिकारिका में अर्थ के गुणीकृतात्मत्व (उपमर्जनी कृतात्मत्व) विशेषण का ऐसा ही प्रयोग हुआ है। अतः वह ठीक नहीं है।

'गम्भवव्यभिचाराभ्यां स्याद्विशेषणमर्थवत्' न्याय से कोई भी विशेषण सार्थक तभी माना जाता है जब उसमें गम्भव एवं व्यभिचार दोनों सत्तायें विद्यमान हों। उदाहरणतः 'कृष्णा गौ' में गाय का कृष्णा विशेषण इसलिये सार्थक है कि गाय वाली भी होती है और बाली नहीं भी होती। किन्तु 'उष्णः अग्निः' में अग्नि का विशेषण 'उष्णः' निरर्थक है क्योंकि अग्नि सदा उष्ण ही होता है। यहाँ केवल सम्भवसत्ता है। 'शीतो वह्निः' के शीत विशेषण में भी केवल व्यभिचार सत्ता के होने से निरर्थकता है। ध्वनिलक्षण में प्रथम प्रकार का दोष है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जहाँ अर्थ अर्थान्तर की अभिव्यक्ति करता है वहाँ व्यभिचार सत्ता के अभाव के कारण उपमर्जनीकृतात्मत्व विशेषण का प्रयोग निरर्थक होगा। व्यक्तिविवेक के टीकाकार रघ्यव ने उक्त मंत्रहकारिका पर टीका करते हुए लिखा है कि अर्थ के गुणीकृतात्मत्व विशेषण में व्यभिचार सत्ता भी है। प्रतीयमान के साथ वाच्य अर्थ के सम्बन्ध को देखते हुए उसकी तीन दसायें संभव हैं। १—वह वाच्य प्रतीयमान का व्यञ्जक होने से उपेय प्रतीयमान की अपेक्षा उपायमूल वाच्य गौण ही रहेगा। २—प्रतीयमान की अपेक्षा उसमें चारुत्व कम होने से भी वह गौण ही रहेगा। ३—जहाँ प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति

प्रथम परिशिष्ट

तो होती है पर वाक्य की विधानित्वाच्च ने ही होती है वहाँ उपकारक होने से वाच्य की अपेक्षा प्रतीपमान गौण हो जाता है। यही वाच्य अर्थ के उन्नतर्जनीकृतात्मत्व विशेषण की 'व्यभिचारदशा' है। इन प्रकार मंभय एव व्यभिचार दोनों दशाओं के विद्यमान होने के कारण ध्वनि लक्षण पर किया गया उक्त आशेष निर्वीर्य है। अतएव नमामोक्ति आदि अलंकार ध्वनि के उदाहरण नहीं हो सकते यद्यपि वहाँ प्रतीपमानता है। शब्द में व्यञ्जित अर्थ के वाच्य का उपकार होने में उनमें वाच्य के प्रति गौणता का विद्यमान होना युक्ति एव तर्क से जमगत भी नहीं प्रतीत होता। उदाहरण—

अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः ।

अहो देवगतिश्चित्रा तयापि न समागमः ॥

इस पद्य में अनुरागवती, पुरस्सर तथा समागम पदों में नायक नायिका व्यवहार व्यंग्य है तथा उनमें नमारोपित सन्ध्यादिवस व्यवहार के ही वाच्य होने में प्रतीपमान के प्रति उनको मुख्यता या प्रधानता मुख्य है। अत उन्नतर्जनीकृतात्मत्व विशेषण मध्यमिचार ही है। इनका खण्डन प्रकृत ग्रन्थ के चतुर्थ अध्याय में विस्तारपूर्वक किया गया है।

व्यञ्जना खण्डन के प्रसंग में शब्दों के क्रियामूलक होने का विधान करने हुए कहते हैं—

घटतीति घटो ज्ञेयो नाघटन् घटतामियात् ।

अघटत्वाविशेषेण पटोर्जपि स्याद् घटोऽन्यथा ॥८॥

घड़े को घटा इसलिए समझना चाहिये कि उनमें घटन क्रिया सम्पन्न हुई होती है। यदि उनमें घटन (होने की) क्रिया नहीं होती तो वह घटत्व को ही नहीं प्राप्त होता। और यदि बिना घटन (गड़े जाने की) क्रिया के ही उसे घट कह दिया जाय तो पट को भी घट कहे जाने में क्या हानि है। पट भी घट पद से व्यवहृत हो सकता है

घटनञ्च तदात्मत्वापत्तिरुपा क्रिया मता ।

मूलञ्च तस्याश्चित्रार्थभासाविष्कृतिरोशिदुः ॥९॥

घटन (होना) उस क्रिया को कहते हैं जो वस्तुओं को आत्मत्व (जीवन) प्रदान करती है। इसका हेतु परमेश्वर की वह रचना है जो नाना प्रकार की विचित्र वस्तुओं को नूनन आविष्कार के रूप में प्रतिमानित करती रहती है। कहने का आशय यह है कि घटन अर्थात् होना मूर्ष्टि का स्वभाव है। प्रतिमानित (आविष्कृत) होने के पूर्व प्रत्येक वस्तु या पदार्थ को घटन (होने) की प्रक्रिया से होकर गुजरना पड़ना है। अतः किसी वस्तु को स्वरूप की प्राप्ति उनके होने में है। अनन्तर ही उनमें जाति, गुण एवं मन्त्रा का समावेश सम्भव है।

यः कश्चिदर्थः शब्दानां व्युत्पत्तौ स्यान्नित्यन्यम् ।

प्रवृत्तौ तु क्रियैवैव सत्तासादनलक्षणा ॥१०॥

अतः शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त जाति, गुण, क्रिया अथवा सत्ता कोई भी पदार्थ नके हो हो उनकी प्रवृत्ति का निमित्त तो एकमात्र क्रिया ही हो सकती है। क्योंकि उसी से ही वस्तु को उनकी मत्ता प्राप्त होती है। एवं वस्तु या पदार्थ की सत्ता प्राप्ति रूप क्रिया ही तन्म अर्थों में शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त होती है।

१—मत्ता का अभिप्राय वहाँ जाति है। वस्तु का प्राणप्रद धर्म होने में ही इसे सत्ता कहते हैं। उनका ज्ञानादन प्राप्ति ही है लक्षण कार्य जिनका उमे सत्तासादन लक्षण (क्रिया) कहा है।

तस्यामेव शिवाद्याश्च विधेयाः कर्तृभावतः ।

न तून्मानादाकारे तयोरर्थान् प्रनोतितः ॥११॥

इमलिये क्विन् आदि कृत् प्रत्ययों को जो नागरपत कर्ता में होते हैं क्रिया में ही हुआ समझना चाहिये। अर्थात् क्वन् वाचक क्विन् आदि प्रत्यय क्रिया में ही किये जाने चाहिये। यहाँ तक कि उपमान से वाचार अर्थ में जो क्विन् आदि प्रत्यय होते हैं उन्हें भी क्रिया में ही हुआ समझना चाहिये। उपमान एवं वाचार अर्थों की प्रतीति तो उनसे अर्थात् हो जाती है।

यथा हृषश्वनि बालेय इत्यतोऽर्थः प्रतीयते ।
अश्वत्वमातादपति सर इत्यर्थतः पुनः ॥२॥
अश्व-सुत्य-समाचारः सर इत्ययतीयते ॥

जैसे 'बालेय अश्वति'—गधा घोड़े की तरह आचरण करता है—इस वाक्य में इन अर्थों की प्रतीति होती है कि गधा अश्वत्व को प्राप्त हो रहा है। अनन्तर इस अर्थ में हम इसी निष्कर्ष पर पहुँचने हैं कि गदहे का वाचार (क्रिया बलाप) घोड़े जैसा है।

न तत्वासादनं पुनरतं तदतुल्यक्रियस्य हि ॥१३॥
सत्तायां व्यापृतिर्द्वेषा चित्रत्वपरिनिष्ठितः ।
संगच्छने जडस्पाधि घटादेर्घटनादिदत् ॥१४॥

यदि क्रिया अर्थवस्तु के अनुरूप नहीं है तो उस पदार्थ को तत्त्व जघान् पदार्थत्व (जानि) की प्राप्ति वन नहीं पाती। अर्थात् द्विती पदार्थ को पदार्थत्व की प्राप्ति निदानन्तः अनुपपुक्ता है यदि उनमें उसके स्वरूप की प्राप्ति के अनुरूप क्रिया न होती हो। सत्ता की प्राप्ति रूप इस व्यापार का आधार (मूलकारण) चित्रत्व अर्थात् वस्तुगत वैचित्र्य है जो घट आदि में होने वाली घटन क्रिया के समान जड वस्तुओं के सम्बन्ध में भी ठीक वैठ जाता है। बहने का वाचार यह है कि पदार्थ को सत्ता में व्यापार अर्थात् क्रिया का होना उसका अपना वस्तुगत स्वभाव है।

नाम्नः सत्त्वप्रधानस्य घातुकारोऽतएव हि ।
शब्दवररं कदेशादेर्धात्वर्थत्वमवोचत ॥१५॥

अन घातुकार (पाणिनि) ने घटपटादि नाम पदों को भी धात्वर्थपरक ही कहा है, यद्यपि उनमें निद्ववस्तुधर्म (सत्व) की ही प्रधानता होती है। क्योंकि इनकी अभिव्यक्ति का माध्यम शब्द एवं मुख का एक भाग होता है।

एवं दिपच्य घटो भवतीति क्तवोऽस्य पूर्वकालत्वम् ।
घटनापेक्षं ज्ञेयं भवनापेक्षन्तु नासन्नन्दधतः ॥१६॥

इस प्रकार 'दिपच्य घटो भवति—घटा पक्कर तैयार होता है'—इस वाक्य के (दिपच्य) पद में प्रयुक्त 'क्त्वा' में जो पूर्वकाल का बोधक है, घटन क्रिया की अपेक्षा ही पूर्व-कालिकता है न कि भवन क्रिया की अपेक्षा। भवन क्रिया की अपेक्षा पचन क्रिया की पूर्व-कालिकता इमलिये नहीं बन पाती कि पचन भी एक प्रकार का भवन ही होता है। पचन भवन में व्याप्त है। अतः पचन को उनसे सर्वथा पृथक् कर समझने में संगति कैसे बैठ सकती है।

बहिरङ्गत्वाच्च यथा भवत्यधिधित्य पाचकोऽपमिति ।
अत्र हि पाकापेक्षाधिधपतेः पूर्वकालतावपतिः ॥१७॥

इसके अतिरिक्त वह बहिरंग भी है। जिस प्रकार 'अधिधित्य पचति—चून्हे पर रख कर पकाता है', इस वाक्य में पचन क्रिया की अपेक्षा अधिश्रयण क्रिया के पूर्वकालिकता की प्रतीति स्वतः होती है वैसी पूर्वव नही होती।

तस्मान्नामपदेभ्यो यः कश्चिदर्थः प्रतीयते ।
न स सत्तामनासाद्य शब्दवाच्यत्वमर्हति ॥१८॥

इसलिये मंता पदों से भी जिम विनोप अर्थ की प्रतीति होती है उममें उनकी मत्ता को प्राण हुए बिना वाच्य होने की सामर्थ्य नहीं होती । अर्थात् सत्तापदों में भी उनका अर्थ वस्तु के अस्तित्व (होने) की क्रिया से सम्बन्धित है जो उनका वाच्य कहलाता है । यदि अर्थ वस्तु को मत्ता से उन अर्थ का सम्बन्ध न हो तो उनके लिये प्रयुक्त शब्द का वाच्य वह कदापि नहीं हो सकता ।

इत्यञ्चास्तिभवत्यादि क्रियासामान्यमुच्यते ।
नान्तरङ्गतपावश्र्यं वक्तारस्तत्प्रयुञ्जते ॥१९॥

इस प्रकार अस्ति, भवति (होना है) आदि क्रियायें सामान्य रूप में सभी पदार्थों में होने वाली क्रिया के बोधक हैं । अतएव इन्हें सामान्य-क्रिया कहा जाता है । वाक्य में इनका प्रयोग करना वक्ता के लिये इसलिये आवश्यक नहीं है कि ये अन्तरंग हैं । इनको यो ही ममज जिना जाता है ।

क्रियाविशेषो यस्त्वन्यः पादादिव्यभिचारिभाक् ।

बहिरङ्गतया तस्य प्रयोगोऽवश्यमिष्यते ॥२०॥

इनके अनिरक्त पादादि जो अन्य क्रियायें हैं उन्हें विनोप क्रिया कहा जाता है क्योंकि वे कही होने तथा कही न होने में व्यभिचरित रूप में प्रयुक्त होती हैं । बहिरंग होने में वाक्य में उनका प्रयोग अनिवार्यतः अपेक्षित होता है ।

शब्द के स्वरूप का निरूपण कर अब पुनः ध्वनि-लक्षण-कारिका का विवेचन आरम्भ करने हैं—

यद्यर्थ इति वाच्योऽर्थोऽभिमतोऽव्याप्तिरेव सा ।

येनैवंवादिनीत्यादावर्थस्यान्तरागतिः ॥ २१ ॥

यदि 'यत्रार्थः शब्दो वा' इत्यादि ध्वनि लक्षण कारिका में अर्थ शब्द से वाच्य अर्थ का ग्रहण अभीष्ट है तो कालिदास हृन् कुमार मंभव का 'एव वादिनि देवर्षी' इत्यादि पद्य, जहाँ व्यंग्य अर्थ में ही अन्य अर्थ का बोध होता है, ध्वनि का उदाहरण नहीं कहा जा सकता । इन प्रकार ध्वन्य अर्थ का प्राधान्य होने पर भी जब उक्त पद्य में ध्वनि वाच्यता नहीं रहेगी तो ध्वनि के लक्षण के अव्याप्ति दोष प्रस्त होने में मन्देह का अवसर कहाँ ? क्योंकि लक्ष्य में लक्षण का न घटना ही अव्याप्ति है ।

अथोभौ तद्व्यतिव्याप्तिद्वित्ववस्तुव्यवधिनि ।

प्रहेलिकाद्विहोऽपि काव्ये ध्वन्यात्मता यतः ॥२२॥

और यदि ध्वनि-लक्षण-कारिका में प्रयुक्त अर्थ पद से वाच्य एवं प्रतीयमान दोनों प्रकार के अर्थों का ग्रहण करना अभीष्ट है तो लक्षण अनिव्याप्ति दोष में प्रस्त हो जाना है क्योंकि पहिली आदि प्रकारों में भी जहाँ दो दो तीन-तीन अर्थों के व्यवधान के बाद ध्वन्य अर्थ की प्रतीति होती है, ध्वनि का लक्षण घटने लगेगा और वे भी ध्वनि के उदाहरण ही जायेंगे । किन्तु ऐसा होता नहीं । पहिलियों में भी एक अर्थ से अन्य अर्थ की प्रतीति ही अन्तर्निहित होती है ।

इस प्रकार अर्थ पद में केवल वाच्य या वाच्य एवं प्रतीयमान दोनों में से किसी भी पद का ग्रहण करने पर दोष बना ही रहता है । इसलिये ध्वनिकार हृन् ध्वनि का लक्षण निष्कृष्ट नहीं किन्तु सरोप ही है ।

अर्थस्य विशिष्टत्वं शब्दः सविशेषणस्तदः पुंस्तथम् ।
 द्विवचनवाशब्दो च, ध्वनिध्वनिर्नाम काव्यवंशिष्ट्यम् ॥२३॥
 वचनञ्च कथनकर्तुः कथिता ध्वनिलक्षणीति दशदोषाः ।
 ये त्वय्ये तद्भेदप्रभेदलक्षणगता न ते गणिताः ॥२४॥

अर्थ की विशिष्टता, शब्द वा (प्रयोग एव उसका) विशेषण होना, तत्पद वा पुल्लिंग 'स.' के रूप में प्रयोग, व्यङ्ग्य में द्विवचन, शब्द पद का पृथक् प्रयोग, व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना, ध्वनिसंज्ञा, काव्य की विशेषता, कर्ता 'सूरभि' में बहुवचन वा प्रयोग, ये दश दोष आनन्दवर्धन वृत्त ध्वनिलक्षण में पाये जाते हैं । इनके अतिरिक्त अन्य दोष भी सम्भव हैं जिनका विवेचन व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ में अन्यत्र हुआ है पर यहाँ उनको गणना नहीं की गई है । इन दश दोषों का स्पष्ट रूप निम्न प्रकार से बनता है ।

१. अर्थ के उपसंज्ञनीकृतात्मस्वरूप विशेषण का विफल प्रयोग ।
२. शब्द पद के उपादान की अनुपादेयता (अनर्थकता) ।
३. अर्थ पद का अनिश्चित अभिप्राय ।
४. 'तमर्थ' में तत्पद का पुल्लिंग में अभिधान ।
५. विक्ल्पार्थ में वा शब्द का असम्भव प्रयोग ।
६. व्यङ्ग्य में द्विवचन की अनुपपत्ति ।
७. व्यक्ति (व्यञ्जना) की सिद्धि में दोष ।
८. काव्यविशेष पद का पाठ ।
९. ध्वनिपद वा प्रयोग ।
१०. सूरिभि. में बहुवचन का निर्देश ।

वाच्यस्तदनुमितो वा यत्रार्थोर्थान्तरं प्रकाशयति ।

सम्बन्धतः कुतश्चित् सा काव्यानुमितिरित्युक्ता ॥२५॥

जहाँ पर वाच्य या उससे अनुमित अर्थ किसी भी सम्बन्ध से अन्य अर्थ को प्रकाशित करता है उसे ही काव्यानुमिति कहते हैं ।

काव्यस्यात्मनि संज्ञिति रसादिरूपे न कस्यचिद्धिमतिः ।

संज्ञायां सा, केवलमेवापि व्यवहृत्ययोगतोऽस्य कुतः ॥२६॥

आत्मभूत जिम तत्त्व को लेकर काव्य का व्यवदेश हुआ है वह रस ही है इसमें किसी को विमम्बाद नहीं । अर्थात् ध्वनिवार को भी यही अभीष्ट है कि काव्य की आत्मा रस है और वही काव्य का संज्ञी है । फिर ध्वनिसिद्धान्त से हमारा मतभेद संज्ञामात्र का है । जिसे वह ध्वनि कहते हैं हम उसे अनुमिति । और यदि व्यक्ति अर्थात् व्यञ्जना का हठ छोड़ दिया जाय तो काव्यानुमिति को ध्वनि के नाम से व्यवहृत करने में विप्रतिपत्ति क्यों होगी । क्योंकि—

शब्दस्यैकाभिधा शक्तिरर्थस्यैकैवल्लङ्घता ।

न ध्यञ्जकस्त्वमनयोः समस्तीत्युपपादितम् ॥२७॥

शब्द की शक्ति एक मात्र अभिधा ही संभव है । अर्थ में भी केवल एक ही शक्ति है लिङ्गता अर्थात् हमारे अर्थ की अभिव्यक्ति का हेतु होना । इस प्रकार शब्द और अर्थ, अर्थान्तर के व्यञ्जक नहीं हो सकते, यह बात सिद्ध हो गई ।

अर्थात् अन्य अर्थ की प्रतीति अर्थ में होती है शब्द में नहीं। अन्य अर्थ का बोधक अर्थ व्यक्त न होकर अन्याय की प्रतीति का हेतु होना है। अन् व्यञ्जना नाम की शक्ति मन्त्र नहीं। अनुमान से ही अन्याय का बोध होता है।

उच्यते वृष्येव शब्दस्योपादानं लक्षणं ध्वनेः ।
न हि तच्छब्दिनमूलेष्टा काचिदपरान्तरं गतिः ॥२८॥

ध्वनि के लक्षण में शब्द पद का ग्रहण व्यर्थ ही किन्ना। क्योंकि अर्थान्तर के बोध की प्रक्रिया में शब्द शक्ति की गति इष्ट नहीं।

न चोपसर्जनत्वेन तपोर्युक्तं विशेषणम् ।

यतः काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येषोपलब्धेव चास्ता ॥२९॥

शुक्ति वाच्य में गुणीभूत व्यङ्ग्य को लेकर भी चास्ता होने का विधान ध्वनि निदान मन्त्र है अतः शब्द और अर्थ के विशेषण उपसर्जनीयतात्मन्व का प्रतिपादन भी उपयुक्त नहीं हुआ है। गुणीभूतव्यङ्ग्य के मूल में जहाँ वाच्य का ही चमत्कार विशेष होता है अपने को गौण बनाने के अभाव में वहाँ ध्वनिकाव्यता उपपन्न नहीं होगी।

अतएव विशेषस्योपादानमपि नार्थवत् ।

संज्ञासम्बन्धमात्रैरुपलब्धं तदिति गम्यते ॥३०॥

अतएव (उपयुक्त कारण से) ध्वनिलक्षण कारिका में 'काव्यविशेष' पद में विशेष शब्द का कथन भी मार्थक नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि उनका एकमात्र प्रयोजन ध्वनि-संज्ञा में सम्बन्धमात्र की प्रतीति कराना है न कि ध्वनि की।

तदा चानिप्रसङ्गः, स्यात्संज्ञायां पत्य कस्यचिन् ।

यद्वाक्यवर्तितोऽन्यस्य विशेषस्य तदार्थतः ॥३१॥

यदि ऐसी ही बात है तो ध्वनिमज्ञा में जनिव्याप्ति दोष प्रसक्त होगा। क्योंकि प्रहे-लिका जादि किन्ना जगह से सम्बन्धित विशेष का ध्वनि में ग्रहण होने लगेगा अर्थात् किन्ना भी काव्य में स्थित विशेष का ध्वनिपद में ग्रहण होने लगेगा।

तस्मात्स्फुटतया पत्र प्राधान्येनान्यथापि वा ।

वाच्यशक्त्यानुमेयोऽर्थो भाति तत्काव्यमुच्यते ॥३२॥

इमलिये जब ध्वनिकार आनन्दवर्धन कृत ध्वनि वाच्य का लक्षण मन्त्र है तो वाच्य का निर्दोष या निष्कृष्ट लक्षण यही होना चाहिये कि जहाँ पर वाच्य अर्थ की शक्ति से अन्य अर्थ का अनुमान हो वहाँ वाच्य है चाहे वहाँ वाच्य अनुमेय अर्थ की अपेक्षा प्रधान हो वा गौण।

ध्वनि-निदान के अनुसार व्यंग्यार्थ को वाच्य की अपेक्षा अधिक चमत्कारी होना चाहिये तभी उस की प्रधानता रहेगी। किन्तु अनुमति-निदान के अनुसार अनुमेय अर्थकी स्पष्टता प्रतीति भर होनी चाहिये। चाहे वह मुख्य रूप में हो वा गौण रूप में। कहने का आशय यह है कि वाच्य में चमत्कार का आधान अर्थों के मुख्य गौण भाव पर निर्भर नहीं करता बल्कि अर्थान्तर की प्रतीति पर निर्भर करता है।

वाच्यप्रत्येययोर्नास्ति ध्वङ्गव्यञ्जकतार्थयोः ।

तपोः प्रदीपघटवत् साहित्येनाप्रज्ञाज्ञानान् ॥३३॥

वाच्य एवं प्रत्येय (व्यंग्य) अर्थों में व्यंग्यव्यञ्जकभाव नहीं बन सकता अर्थात् वाच्य

प्रतीयमान अर्थ का व्यंजक नहीं माना जा सकता, क्योंकि प्रकाशक प्रदीप एवं उससे प्रकाशित घट दोनों जिन प्रकार एक माध ही प्रकाशित होते रहते हैं उसी प्रकार वाच्य एव प्रतीयमान युगपत् प्रतीति के विषय नहीं हो सकते ॥

पक्षधर्मत्वसम्बन्धव्याप्तिसिद्धिव्यपेक्षणात् ।

वृक्षत्वामृतत्वयोर्ध्वद् यद्वच्चानलधूमयोः ॥३४॥

अनुमानत्वमेवान युक्तं तल्लक्षणान्वयात् ।

अन. पक्षधर्मता (हेतु धर्म की पक्ष आश्रय में उपलब्धि) के सम्बन्ध से व्याप्ति की सिद्धि की अपेक्षा नहीं रह जाती और वृक्षत्व एव आमृतत्व के समान अथवा अग्नि एवं धूम के समान यहाँ भी अनुमेयता ही स्वीकार करना युक्तियुक्त है । इसी में व्यक्ति (व्यञ्जना) के लक्षण का ठीक-ठीक अन्वय बन पाता है ।

असतश्चेन्द्रचापादेः वा व्ययितः कृतिरेव सा ॥३५॥

कार्यत्वं ह्यसतोऽपीष्टं हेतुत्वं न विरध्यते ।

सर्वसान्प्रयविगमाद् गगनेन्दीवरदिब्त् ॥३६॥

इन्द्रधनुष आदि के समान मत् से अमन् को प्रतीति को व्यक्ति (व्यञ्जना) नहीं कहा जा सकता अपितु इसके विपरीति उसे उत्पत्ति ही माना जाता है । अमत् वस्तु भी कार्य होने की क्षमता रखती है किन्तु वहाँ हेतुता नहीं बन सकती । क्योंकि उनमें हेतु होने की शक्ति बधमपि नहीं है जैसे आवाग-कुसुम । यह कुसुम अमत् होते हुए भी कार्य ती है ही, वही उसमें इतनी ही है कि वह कारण भाव से व्यवस्थित नहीं हो सकता ।

शब्दप्रयोगः प्रायेण परार्थमुच्यते ।

नहि तेन विना शब्दो व्यवहारयितुं परः ॥३७॥

व्यवहार में वाणी का प्रयोग प्रायः दूसरे के लिये ही होता है, क्योंकि शब्द के प्रयोग के बिना दूसरे के माध व्यवहार करना सम्भव नहीं ।

दूसरे के माध व्यवहार करने के लिये जिन उपादानों का हम उपयोग करते हैं, वाणी उनमें प्रमुख है । इसके माध यह भी समझना चाहिए कि वाणी या शब्द के प्रयोग की उपादेयता व्यक्ति को स्वयं के लिये न होकर दूसरों को समझाने के लिये है । किसी भी तथ्य को बिना शब्द निकाले ही स्वयं समझा जा सकता है पर उसे ही जब दूसरों को बताना होता है तो वाणी का प्रयोग करना अनिवार्य हो जाता है । क्योंकि दूसरों के माध व्यवहार करते समय वाणी के प्रयोग के बिना हमारा काम नहीं चल सकता ।

नच युक्तिनिरादांसात् ततः कश्चित्प्रवर्तते ।

निवर्तते बेत्यस्येष्टा साध्यसाधनगर्भता ॥३८॥

युक्ति अर्थात् अनुमान की प्रक्रिया के प्रयोग के बिना कोई व्यक्ति (बोद्धा) किसी कार्य में न तो प्रवृत्त होता है न उससे निवृत्त ही (यदि पहले से उसमें लगा हो) । अतः वाच्य-व्यवहार माध्य-माधन-भाव गर्भित होता है यह मानना ही युक्ति-युक्त है ।

केवल शब्द सुन कर ही कोई किसी काम को करने नहीं लग जाता या करते हुए काम को महत्ता छोड़ नहीं देता । अपितु शब्द के अर्थ और कार्य में अपनी प्रवृत्ति या उससे निवृत्ति के सम्बन्ध को 'वि' इम काम को क्यों करना चाहिये या क्यों छोड़ देना चाहिये' समझ कर

ही उने करता है या छोड़ देता है। इसी को यहाँ युक्ति कहा है। वही शब्द और अर्थ के बीच में स्थित माध्य-भावन भाव सम्यग् है।

ते प्रत्येकं द्विधा ज्ञेये शाब्दत्वार्यत्वभेदतः ।

पदार्थवाक्यार्थतया ते अपि द्विविधे मते ॥३६॥

साध्य साधन भाव के साध्य एव साधन दोनों तत्वों में से प्रत्येक शब्दगत एव अर्थगत भेद में दो दो प्रकार का होता है। ये भी चारों प्रकार पदार्थगत एव वाक्यार्थगत भेदों में पुनः दो दो प्रकार के होते हैं।

तत्र साध्यो वस्तुमात्रमलंकारः रसादयः ।

इति त्रिष्वैव, तत्राद्यी पदं शब्दानुमानयोः ॥४०॥

अन्त्योऽनुमेयो भवत्या तु तस्य व्यङ्ग्यत्वमुच्यते ।

साध्य-साधन-भाव के उक्त भेद-प्रभेदों में से माध्य अर्थ के तीन प्रकार होते हैं— वस्तुमात्र, अलंकार एव रसादि। इनमें आरम्भ के दो—वस्तुमात्र तथा अलंकार यथास्थान शब्द शक्ति अभिधा एवं अनुमान दोनों के विषय होने हैं। अन्तिम रसादि भेद केवल अनुमान का ही विषय होता है। नकि अर्थान् लक्षणा के कारण ही उसे व्यंग्य कहा है।

भक्तेः प्रयोजनांशो यश्चमत्कारित्वलक्षणः ॥४१॥

सतनास्तीतिः

क्योंकि रसादि में जो चमत्कार है वही लक्षणा का प्रयोजन है। अतः लक्षणा के प्रयोजन के रूप में रसादि वहाँ रहते हैं जिनकी अनुभूति सामाजिक को चमत्कार के रूप में होती है। अथवा रसादि को अनुमेय इमलिये कहते हैं कि लक्षणा में प्रयोजन रूप चमत्कार की जिस प्रतीति को व्यंग्य माना गया है, चमत्कार की वह अनुभूति रसादि के अनुमेय होने में भी होती है। अनुमेयता में भी वही चमत्कार रहता है।

.सोऽप्यस्य विभावाद्येकहेतुकः ।

अतएव न लोकेऽपि चमत्कारः प्रसज्यते ॥४२॥

तत्र हेत्वादयः सन्ति न विभावादयो मतः ।

अनुमेय के इन चमत्कार का कारण एकमान विभावादि हैं। अर्थान् विभावादि के द्वारा अनुमेय अर्थ में जिस चमत्कार का आधान होता है वही रसादि हेतु। चूँकि रसादि रूप अनुमेय अर्थ में चमत्कार के आधान के हेतु विभावादि हैं अतएव लौकिक अनुमेय अर्थों में चमत्कार की अनुभूति नहीं होती इस प्रकार 'वाक्यानुमिति के समान ही लौकिक अनुमिति में भी चमत्कार की अनुभूति होनी चाहिये' यह दोष प्रमत्त नहीं होता, क्योंकि लोक में विभावादि न होकर अनुमेय के कारण आदि ही विद्यमान होते हैं।

न चैकार्यत्वमाशंयमेयां लक्षणभेदतः ॥४३॥

स्वभावदशायमर्पानां यत्र साक्षादमी तथा ॥

स्वदन्ते सरकविगिरां गता गोबरतां यया ॥४४॥

लौकिक हेतु एवं वाक्यगत विभावादि को एक अर्थान् अभिन्न नहीं समझना चाहिए क्योंकि इनके लक्षण एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं। यह वस्तुओं का स्वभाव है कि इनकी माझात् उपलब्धि में उम चमत्कार का आस्वाद नहीं होता जो इनके विभी उत्तम कवि की रचना का

विषय होने में होता है। बहने का आशय यह है कि यही लौकिक विषय लोक में मुन्दु, श्वमोहादि नाना प्रकार की अनुभूतियाँ बराने हैं किन्तु इनका ही जब वाक्य में निरूपण होता है तो उनमें एक मात्र मुन्दाम्बाद रूप चमत्कार की अनुभूति होती है।

गोत्वारोपेण बाहोके तत्साम्यमनुमीयते ।

को हृषतस्मिन्नतत्तुल्ये तत्त्वं व्यपदिशोद् व्युपः ॥४५॥

'गोवर्तीक' (बाहीक बँल है) इस वाक्य में 'बाहीन' के ऊपर गोत्व का आरोप होने से बाहीक बँल के समान है इस रूप में साम्य की अनुभूति होती है। अन्यथा अतिदेश प्रकार की जानने वाला ऐसा कौन विद्वान् है जो किसी वस्तु में किसी ऐसी वस्तु का व्यवहार करे जो न तो वही वस्तु है और न तो उसके समान ही।

इस प्रकार यह सिद्ध हो जाने पर कि लक्षणा नामक वृत्ति शब्दवृत्ति नहीं अपितु अर्थ का ही व्यापार है उसका अन्तर्भाव अनुमान में इसलिये माधित हो जायेगा कि अनुमान एक व्यापक विषय है जिनमें गुणवृत्ति जैसे उन सभी तत्वों का अन्तर्भाव हो जाता है जो अल्प-विषय होते हैं। अतः जब लक्षणा नामक शब्द-व्यापार का च्युटन हो गया जिसकी सत्ता भीमानादि दर्शनों में भी स्वीकृत की गई है तो व्यञ्जना नामक शब्द-व्यापार की सिद्धि तो इसलिये भी और दूरानेत है कि व्याकरण एवं दर्शन के किसी भी सिद्धान्त में उसकी मान्यता नहीं है इसी उपर्युक्त विवेचन को ग्रन्थाकार ने निम्नलिखित कारिकाओं में स्पष्टीकृत कर दिया है : —

यः सतत्त्वसमारोपस्तत्सम्बन्धनिबन्धनः ।

मुख्यार्थं वाच्यं सोऽप्यर्थं सम्बन्धमनुपापयेत् ॥४६॥

किसी वस्तु पर दूसरी वस्तु का जो आरोप है उसका आधार उन दोनों वस्तुओं का परस्पर का सम्बन्ध ही होता है। मुख्यार्थ का बोध होने पर तत्वारोप के द्वारा उसी सम्बन्ध की अनुभूति होती है।

तत्साम्यतत्सम्बन्धी हि तत्वारोपेकारणम् ।

गुणवृत्तेद्विरूपायास्तत्प्रतीतिरतोऽनुमा ॥४७॥

किसी वस्तु पर दूसरी के आरोप का एकमात्र कारण किन्हीं दोनों वस्तुओं का साम्य या उनका परस्पर का सम्बन्ध होता है। क्योंकि गुणवृत्ति के ये दो प्रकार होते हैं अतः उनसे होने वाली प्रतीति की अनुभूति ही बहना चाहिए।

मूहप्रवृत्तिपरित्यागो न शब्दस्योपपद्यते ।

विहितोऽर्थान्तरे हृष्यर्थः स्वसाम्यमनुमापयेत् ॥४८॥

इसका एक कारण यह भी है कि शब्द के लिये यह सम्भव नहीं कि वह अपने मुख्य व्यापार अर्थात् का सर्वथा परित्याग करदे। फिर एक अर्थ में दूसरे अर्थ की प्रतीति का विधान उस अर्थ के द्वारा अर्थान्तर से अपने मादृश्य की अनुभूति करा देने के प्रतिरिक्त और कुछ नहीं है।

सुत्यादिषु हि लोकोऽर्थेष्वर्थं तद्दर्शनं स्मृतम् ।

आरोपयेन्न शब्दस्तु स्वार्थमात्रानुयायिनम् ॥४९॥

किसी वस्तु को देख कर लोगों को उसके समान ही किसी अन्य वस्तु की स्मृति स्वतः हो आती है। फिर श्लोक उन दृष्ट वस्तु में तत्तद्गुण वस्त्वन्तर का आरोप करने लगते हैं। अर्थात् आरोप एक वस्तु में अन्य वस्तु का होता है, किसी अर्थ में अर्थान्तर का होता है, न कि

प्रथम परिशिष्ट

शब्द का अर्थ में। क्योंकि शब्द तो अपने प्रतिपाद्य अर्थ का अनुगमन मात्र करता है। वह केवल अपने सर्वेतिव अर्थ का ही बोध करा सकता है, अन्य का नहीं :

इत्यमर्थान्तरे शब्दवृत्तेरनुपपत्तितः ।

फले लिङ्गकगन्धे स्यान् कृतः शब्दः स्वलदगति ॥५०॥

इस प्रकार पूर्वोक्त रीति में अर्थान्तर के बोध के विषय में शब्द-शक्ति अनमर्थ है क्योंकि शब्द शक्ति के द्वारा अर्थान्तर की प्रतीति नहीं कराई जा सकती। पर लिंगलिंगभाव (हेतुनाश्रयभाव) से वही शब्द अपने वाच्य अर्थ के माध्यम में उम प्रयोजन की प्रतीति करा सकता है बिनाकी अभिव्यक्ति के लिए तत्वागोप का प्राथम्य लिया गया होता है। कहने का भाग यह है कि प्रयोजन रूप जिस फल को ध्यान में रख कर लक्षणा का आश्रयण किया जाता है उसको प्रतीति कराने में शब्द की गति स्वलिन नहीं होती। क्योंकि प्रयोजन की प्रतीति तो शब्द के तत्वारोमात्मक उक्त विशेष प्रकार के प्रयोग के कारण ही होती है।

व्यापारोऽर्थे ध्वनेः साक्षान्मुखा वृत्तिरदाहता ।

अर्थारोपानुगत्स्वेप गौणी तद्व्यवधानतः ॥५१॥

ध्वनि अर्थान् शब्द का अर्थ की अभिव्यक्ति में जो नाशान् व्यापार है उसे ही मुख्यवृत्ति कहा गया है। एक अर्थ पर दूसरे के आरोप के बाद के व्यापार को गौणी वृत्ति के नाम से कहा जाता है। क्योंकि उसके और शब्द के बीच में अर्थ का व्यवधान बड़ा जाता है।

आनुभावादानालक्ष्यं किन्त्वर्थारोपमन्तरा ।

लोकने गौश्चेन्न इत्यादी शब्दारोपमवस्थति ॥५२॥

किन्तु एक अर्थ पर दूसरे अर्थ के आगेप की प्रक्रिया इतनी मूढ़म है कि नाशारणतया लक्षित नहीं होती। अतएव लोग 'गौश्चेन्न' (चेन्न बल है) इत्यादि स्थलों में अर्थ पर शब्द का ही आरोप समझने लगते हैं।

प्रधानतेरभावेनावस्थानादर्थ्यशब्दयोः ।

समशीषिक्यारोपो न तपोरुपपद्यते ॥५३॥

अर्थ में शब्द का आरोप ही भी नहीं सकता। क्योंकि अर्थ प्रधान और शब्द सर्वदा गौण होता है। आरोप तो सर्वदा ममभाव में होता है मुख्य गौण भाव में कदापि नहीं।

आरोपविषये यत्र विशेषः सम्प्रतीयते ।

अर्थारोपितात् तत्र गुणवृत्तिरदाहता ॥५४॥

गुणवृत्ति का स्थल वही माना गया है जहाँ आरोपित अर्थ से आगेप विषय अधिक गुणगौणी हो या उममें अधिक वैशिष्ट्य की प्रतीति होती हो।

गुणवृत्ती गिरां यावत् सामग्रीष्टा निवग्नतम् ।

सैव लिङ्गतपाम्माभिरिष्यतेऽर्थान्तरं प्रति ॥५५॥

गुणवृत्ति लक्षणा में जिसे शब्दवाणी या शब्द का व्यापार कहा जाता है, मुख्यार्थवाच्य, मुख्यार्थ से मध्यम एवं तटि प्रयोजनान्तर रूप जिन नामग्री का होना अनिवार्य माना जाता है, हम उन्हीं नामग्री को अर्थान्तर की प्रतीति के प्रति लिंग (माधक हेतु) मानते हैं।

न हि तत्समपानावादाद्यं शब्दस्य कल्प्यते ।

प्रतीपनानतायां च ध्वनमस्यानुमेयता ॥५६॥

उन अर्थान्तर को शब्द का वाच्य इनलिने नहीं बह सकते कि वह सर्वेतिव नहीं होता।

यदि उसे प्रतीयमान कहते हैं तो वह स्पष्टतया अनुमेय ही है। क्योंकि जिसे प्रतीयमान (व्यंग्य) की संज्ञा दी जाती है उसकी अनुमेयता मित्र हो चुकी है।

तस्मात्स्वार्थातिरेकेण गतिर्नार्थान्तरे गिराम् ।

वाचकस्वाश्रयेणातो गुणवृत्तेरसम्भवः ॥५७॥

इसलिये शब्दों में अपने सकेतित अर्थ की अभिव्यक्ति कराने के अतिरिक्त और कोई शक्ति होनी ही नहीं। अतः तथाकथित गुण-वृत्ति लक्षणा का आश्रय वाचक शब्द कथमाय नहीं हो सकता।

भक्त्या विभक्ति चैकत्वं रूपाभेदादयं ध्वनिः ।

न च नाध्याप्यतिध्याप्योरभावात्सलक्ष्यते तथा ॥५८॥

इस प्रकार ध्वनि और भक्ति एक ही ठहरते हैं क्योंकि इन दोनों के स्वरूप में भेद अर्थात् कोई अन्तर नहीं होता। इसलिये अध्यापित और अनिध्यापित दोनों के कारण ध्वनि के लक्षण होने का सपटन जो ध्वनिवार नहीं किया है वह ठीक नहीं है।

सुवर्णपुष्पामित्यादी न चाध्यापितः प्रसज्यते ।

यतः पदार्थवाक्यार्थभेदाद् भक्तिद्विधोदिता ॥५९॥

अभिधापुच्छभूता होने से लक्षणा को पदनिष्ठ तथा ध्वनि को वाक्यनिष्ठ कह कर इन दोनों में जो भेद बताया गया है वह भी ठीक नहीं है। क्योंकि भक्ति अर्थात् लक्षणा भी पदार्थ एव वाक्यार्थ भेद से दो प्रकार की बही गई है और इस प्रकार 'सुवर्णपुष्प' इत्यादि पद्यों में जो लक्षणा है उसके वाक्यार्थनिष्ठ होने से भक्ति के ध्वनि का लक्षण होने में अध्यापितदोष नहीं हो सकता।

यदि वाक्य में लक्षणा नहीं स्वीकार करेंगे तो लक्षणामूल ध्वनि की सिद्धि कैसे होगी ? अतः वाक्य में भी लक्षणा माननी ही चाहिए। एवं लक्षणा के वाक्यगत भेद को स्वीकार कर लेने पर ध्वनि का उसमें अन्तर्भाव सुतरां सिद्ध हो जाता है।

अतस्मिस्तत्समारोपो भवतेलक्षणमित्यते ।

अर्थान्तरप्रतीत्यर्थः प्रकारः सोऽपि शक्यते ॥६०॥

जो वस्तु जो नहीं है उसमें उसका आरोप ही भक्ति का लक्षण माना गया है जो वाक्य से अन्य अर्थ की प्रतीति कराने का एक प्रशस्त प्रकार है। उदाहरणतः 'गौर्वाहीकः' वाक्य में गो से वहीक अर्थ की प्रतीति कराना लक्षणा का ही कार्य है।

रुद्धा ये विषयेऽन्यत्र शब्दाः स्वविषयादपि ।

लावण्याद्याः प्रसवतास्ते न भवन्ति पदं ध्वने ॥६१॥

इस प्रकार ध्वनिवार ने जो कहा है कि 'आराम' आदि शब्द जो अपने व्युत्पत्तिमय अर्थ से भिन्न अर्थ में रूढ़ हो गये हैं ध्वनि के आस्पद नहीं होते, वह ठीक नहीं है क्योंकि मुख्यार्थवाधादि हेतुवश के विद्यमान होने से ये शब्द भी लक्षणा के ही हैं और उक्ति रीति से ध्वनि का लक्षणा में अन्तर्भाव होने के कारण ये ध्वनि के भी आस्पद हैं।

मुख्यां वृत्ति परित्यज्य गुणवृत्त्यर्थदर्शनम् ।

यद्बुद्ध्यर्थ फलं तत्र शब्दो नैव स्तलद्गतिः ॥६२॥

क्योंकि मुख्यवृत्ति अभिधा का परित्याग करके गुणवृत्ति लक्षणा के द्वारा अन्य अर्थ का

शेष त्रिन प्रयोजन के लिये होता है उनकी प्रतीति कराने में मूलशब्द अननर्थ नहीं होता, किन्तु प्रयोजन रूप उन उद्देश्य की प्रतीति नाशान् शब्द से ही हो जाती है।

वाचकत्वाश्रयेणैव गुणवृत्तिसंगता ।

गमकत्वैकमूलस्य ध्वनेः स्याद् विषयो न किम् ॥६३॥

गुणवृत्तिलक्षणा की संगति वाचकत्व अर्थात् शब्द के आश्रय से नहीं बनती, यह मिथ्य ही चुका है। तो फिर वह (लक्षणा) ध्वनि का विषय क्यों न मान लिया जाय जिसका एकमात्र आधार गमकत्व है। अर्थात् गम्यगमकभाव मन्दन्य से ही लक्षणा और व्यञ्जना दोनों वृत्तियाँ व्यवस्थित हैं और इस प्रकार इनका विषय भी एक ही है।

व्यञ्जकत्वैकमूलत्वमसिद्धं च ध्वनेर्यतः ॥

गमकत्वाश्रयापीष्टा गुणवृत्तिस्तदाश्रया ॥६४॥

प्रदीप से घट के समान वाच्य से व्यंग्य की प्रतीति युगपत् न होने के कारण 'ध्वनि का आश्रय व्यञ्जकत्व है', यह बात असिद्ध हो जाती है। इनके विपरीत गमकत्व ही लक्षणा के समान ध्वनि का एकमात्र आश्रय हो सकता है। इन प्रकार भी भक्ति और ध्वनि एक है।

समिद्धिश्चादयः शब्दाः प्रतिष्ठा गुणवृत्तयः ।

ध्वनेः पदादिव्यङ्ग्यस्य येनोदाहरणोद्धृताः ॥६५॥

नमिन् (ईधन) और 'इध्म' आदि शब्द गुणवृत्ति लक्षणा के आश्रय से प्रयुक्त होते हैं यह सर्वविदित है। किन्तु ध्वनि के शब्दगकपुद्भद नामक भेद के उदाहरण के रूप में इनका प्रयोग ध्वनिकार ने ही किया है। इनमें भी यही निश्चय होता है कि ध्वनि और गुणवृत्ति लक्षणा एक ही हैं।

तस्माद् व्युत्पत्तिशक्तिन्यां निवन्धो यः स्वरलङ्घतः ।

शब्दस्य सोऽपि विज्ञेयोऽनुमानविषयोऽन्यवत् ॥६६॥

इनलिये व्युत्पत्ति अर्थात् लोका, ज्ञान्त्र एवं काव्य आदि के पर्यालोचन में उत्पन्न निपुणता तथा कवित्व-बीज रूप शक्ति के द्वारा ऐसे शब्द का उपनिबन्धन भी, जित की गति स्वरलित नहीं है, उनी प्रकार अनुमान का विषय है जैसे अन्य शान्त्रीय विषय।

मीमांसकों के तात्पर्य का अनुमान में अन्तर्भाव—

विषयभङ्गणादपि परामेतद् गृहे भोजनस्य दारणताम् ।

वाच्यादतोऽनुमिमते प्रकरणवस्तृत्वरूपज्ञाः ॥६७॥

प्रकरण एवं वक्ता के स्वरूप को जानने वाले विषयभङ्गान्तक वाच्य के वाच्यार्थ से ही अनुमान कर लेते हैं कि वक्ता का अभिप्राय है—इनके घर भोजन करना विपत्ताने से भी बुरा है।

विषयभङ्गमनुमनुते नहि कश्चिदकाण्ड एव सुहृदि सुधीः ।

तेनाचार्यान्तरगतिरार्या तात्पर्यशक्तिजा न पुनः ॥६८॥

विषयभङ्गान्तक वाच्य में अन्य अर्थ की अनुमिति इनलिये भी कर लेने हैं कि कोई नला मित्र किना किनी उचित प्रयोग के विषयभङ्ग की मलाह नहीं दे सकता। इनलिये विषयभङ्गान्तक इन वाच्य में एक अर्थ (वाच्य) से अर्थान्तर (व्यंग्य) की प्रतीति आयीं ही है तात्पर्य शक्ति से प्रतिपादित शान्त्री नहीं। यहाँ भी अर्थ ही दूसरे अर्थ की प्रतीति का हेतु

होता है न कि भीमांकों की तात्पर्य शक्ति त्रिमका कार्य शब्दार्थों के परस्पर अन्वय द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराना है ।

वक्रोक्ति एवं अनुमान —

प्रसिद्धं मार्गमुत्सृज्य यत्र चञ्चिद्य सिद्धये ।

अन्यपर्यवोच्यते सोऽर्थः सा वक्रोक्तिरदाहृता ॥६९॥

वाच्य में समत्वार्थ के आधार के लिये (शब्द में अर्थ की अभिव्यक्ति के) प्रसिद्ध मार्ग (अभिधा) को छोड़ कर एक अन्य (वक्र) प्रकार में ही जो अर्थ वा प्रतिपादन होना है वही वक्रोक्ति है ।

पदवाक्यादिगम्यत्वात् सन्नार्थो बहुधा मतः ।

तेन तद्व्यवहारापीष्टा बहुपर्यवेति तद्विदः ॥७०॥

वहीं शब्द, वहीं वाक्य तो वही प्रकृति-प्रत्यय आदि अन्य तत्त्व में गम्य होने के कारण वह अर्थ अनेक प्रकार का माना गया है । उन्हीं के आधार पर वक्रोक्ति सिद्धान्त के प्रतिपादक उन विद्वान् को व्यापार की वक्रता के भी अनेक प्रकार अनौष्ट हैं ।

सिद्धान्त—

अरोच्यतेऽभिधासंज्ञः शब्दस्यार्थप्रकाशने ।

व्यापार एक एवेष्टो यस्त्वन्वयोऽर्थस्य सोऽस्त्विलः ॥७१॥

इन पर यही कहना है कि शब्द से अर्थ के प्रकाशन का व्यापार एक मात्र अभिधा ही मान्य है । इससे भिन्न लक्षणा, व्यञ्जना तात्पर्य एवं वक्रोक्ति आदि जितने भी व्यापारों की कल्पना की जाती है वह सब अर्थ के हैं ।

वाक्यादर्थान्तरं भिन्नं यदि तल्लिङ्गमस्य सः ।

तन्नान्तरीयकतया निबन्धो ह्यस्य लक्षणम् ॥७२॥

यदि वाच्य में अन्य अर्थ सर्वथा भिन्न है तो वाच्य ही उसके प्रतीति का निमित्त होता है । क्योंकि यह लक्षण लिंग (हेतु) का ही है जो लिंगी (माध्य) के माध्य अविनाभाव सम्बन्ध में व्यवस्थित होता है । ऐसे सभी स्थलों में अन्य अर्थ के माध्य वाच्य का उपनिबन्धन अविनाभाव सम्बन्ध से ही किया गया होता है । उन (वाच्य) के लिंग होने की यही पहचान है ।

अविनाभाव सम्बन्ध से वाच्य के व्यवस्थित होने का अभिप्राय यह है कि जहाँ वहाँ भी वाच्य से भिन्न अर्थ की प्रतीति होती है उन सब स्थलों में पहले वाच्य की प्रतीति अस्वभाविकी है । ऐसा कोई भी स्थल नहीं जहाँ अर्थान्तर की प्रतीति वाच्य की प्रतीति के बिना ही हो जाती हो । यही वाच्य और अर्थान्तर के बीच नान्तरीयकता अर्थात् अविनाभाव सम्बन्ध है । अन्तरेण तेन बिना न संभवति इति नान्तरीयः, मएव नान्तरियक, तस्य भावः नान्तरीयकता तथा नान्तरीयकतया अर्थात् उनके बिना अकेले सम्भव न होने से ।

अमेदे बहुता नस्यादुक्तेर्मान्तराग्रहात् ।

तेन ध्वनिवदेपापि वक्रोक्तिरनुमान विम् ॥७३॥

यदि इन वाक्य एवं अन्य अर्थों में लिंग-लिंगि-भाव न मानकर इन्हें एक दूसरे से भिन्न मानते हैं तो अर्थान्तर की वाच्य से भिन्नता या अर्थों की अनेकता नहीं बनेगी । क्योंकि शब्द से अभिव्यक्ति का अभिधा के अतिरिक्त और कोई मार्ग स्वीकार नहीं किया जा सकता ।

अतः पूर्वोक्त प्रकार से ध्वनि के समान कवि का यह वक्र व्यापार रपा बहोक्ति भी क्या अनुमान नहीं है ? अपितु अवश्य ही इसका भी अन्तर्भाव अनुमान में ही उसी प्रकार साधित हो जाता है जैसे ध्वनि का सिद्ध किया जा चुका है ।

स्वाभाविकं ध्वनेर्धुक्त्वं व्यञ्जकत्वं न दीपवत् ।

धूमवत् किन्तु कृतकं सम्बन्धादेरपेक्षणात् ॥७४॥

दीपक से घट के प्रकाश के समान ध्वनि में व्यञ्जकता स्वाभाविक नहीं है अपितु धूम से अग्नि के अनुमान के समान सम्बन्ध आदि की अपेक्षा करके ही व्यङ्ग्य-व्यञ्जक भाव व्यक्तस्थित होना है ।

प्रादीनां द्योतकत्वं यत् कैश्चिदभ्युपगम्यते ।

तद्भाक्तमेव तत्रैष्टं न मुह्यं तदसम्भवात् ॥७५॥

कुछ लोगों ने प्रादि उपमर्गों को द्योतक माना है किन्तु उनका यह कथन मामान्यतया गीर्ण है गलत नहीं । क्योंकि प्रादि में मुख्य-वृत्ति में द्योतकता सम्भव नहीं ।

तथा हि पत्य शब्दस्य भावाभावानुसारिणी ।

यदयं बहुद्विस्तस्यासौ वाच्योऽयं इति कथ्यते ॥७६॥

गोशब्दस्येव गौर्यः साम्यात्वात्त्वव्यवस्थिता ॥

वाच्यत्वव्यवहारदश्च न स्यादयंस्य कस्यचिद् ॥७७॥

अतः अन्वय एव व्यतिरेक के अनुसार शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वह अर्थ शब्द का वाच्यही कहा जाता है जैसे गो शब्द का अन्वय व्यतिरेक से प्रतीति होने वाला गायरूप अर्थ गोपद का वाच्य ही होता है । अन्यथा निम्न रूप से किमी अर्थ के बोधक होने पर भी यदि उन शब्द में व्यञ्जकत्व या द्योतकत्व मानेगे तो वाच्यवाचकभाव से होने वाली प्रतीति अव्यवस्थित हो जायगी । और किमी भी अर्थ को वाच्य कहना कठिन हो जायेगा ।

प्रादिप्रयोगानुगमव्यतिरेकानुसारिणी ॥

प्रकर्षादौ मतिस्तेन तस्य तद्वाच्यता न किम् ॥७८॥

प्रजादि उपमर्गों के प्रयोग से क्रियाओं में प्रकर्ष आदि विशिष्ट अर्थ की प्रतीति अन्वय-व्यतिरेक के अनुसार ही होती है। अतः वह प्रकृत अर्थ वाच्य नहीं तो और क्या है ? अर्थात् वह वाच्य ही है ।

विशेषाविगमस्याशुभावादानुपलक्षणात् ॥

श्रमस्य सहभावित्वं श्रमो भवतेतिबन्धनम् ॥७९॥

भक्ति अर्थान् लक्षणा के स्थलों में भी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति इतनी सीध होती है कि वाच्य से लक्ष्य की प्रतीति में इन लक्षित नहीं होता । अतएव उसमें सहभाव (एक साथ ही प्रतीति होने के भाव) का श्रम उत्पन्न होने लगता है ।

विशेषणं तु द्विविधमान्तरं बाह्यमेव च ॥

तत्राव्यहितं सद्यदयंकारि तदान्तरम् ॥८०॥

विशेषण दो प्रकार का होता है—आन्तरिक और बाह्य । आन्तरिक वह है जहाँ अर्थ की प्रतीति में कोई व्यवधान नहीं होता ।

स्फटिकस्यैव लाभादि द्वितीयमुभयात्मकम् ॥

आप्यनस्यैव तत्कान्तं तद्वरि द्विविधं भवम् ॥८१॥

असमानानमानाधिकरणत्वविभेदतः ॥

उक्त ज्ञानरिक्त शैशिष्ट्य स्फटिक मणि में लाभा आदि की प्रतीति के समान होता है ।

द्वितीय बाह्य विरोधम व्यवहित एवं अन्वयवहित उभयरूप होता है—जैसे स्फटिक का लाभादि एवं लोहे का अप्पकान्त मणि विरोधम होता है । दोनों प्रकार के बाह्यविरोधम व्यविकरण एवं समानाधिकरण भेद से पुन. दो दो प्रकार के होते हैं ।

विरोधोऽपि द्विधा भेदो धातुनामायंभेदतः ॥८२॥

शब्दत्वापर्यवभेदेन नामापोऽपि द्विधा मतः ॥

तत्रोपमर्गानां प्रायो पात्वयो विषयो मतः ॥८३॥

विरोध भी धातु जीव नामार्थ भेदों में दो प्रकार का होता है—शब्दत्व और अर्थत्व भेद में नामार्थ के भी दो प्रकार होते हैं । इनमें धातु अर्थ वर है जो प्राय. उभयगों का विषय होता है ।

चादीनां तु निदानानामुभयं परिकीर्तितम् ।

केवलं तु विरोध्यात् स्युः पूर्वं पदवाच्यं ते जमान् ॥८४॥

विरोधपातामन्त्रेषां पूर्वोपधंमयन्त्रिनम् ।

य आदि निदान मंत्रक अन्वयो के विषय शब्दार्थ एवं नामार्थ दोनों ही बड़े गने हैं । इनमें भेद इतना ही है कि जहाँ धात्वर्थ बोधक आदि विरोध से पूर्व में प्रयुक्त होते हैं वहाँ नामार्थ बोधक विरोध के बाद । अन्य विरोधों में पूर्वपश्चात् भाव का कोई जन नहीं होता । कभी पूर्व तो कभी विरोध के अनन्तर भी उनका प्रयोग होता है ।

इत्थं स्थिते स्वहृषेऽस्मिन् विरोधमविरोधयोः ॥८५॥

अदन्तरङ्गमुद्दिष्टमुभयात्मा विरोधणम् ।

विशये मन्मन्त्रिव तद्गावि गोत्वमिव स्थितम् ॥८६॥

विरोधण एवं विरोध के स्वरूप के इस प्रकार निश्चित हो जाने पर जो विरोध अन्तरण है वह विरोध से व्यवहित एवं अन्वयवहित उभयात्मक नहीं होता अपितु गो में व्यवहित रूप से मन्मन्त्र के समान अन्वहित ना रहता है ।

अनएवागुमावितवान् तन्प्रतीत्योः जमाग्रहः ।

यन्मूलदवायमनयोद्योतयद्योतकृतान्मनः ॥८७॥

इसलिये शीघ्रता से होने के कारण उनकी प्रतीति में पूर्वान्तर भाव का जन कथित नहीं होता, पर होता अवश्य है । यही कारण है कि प्रादि एवं उनके विरोध मूल धात्वर्थ में द्योत्य-द्योतक-भाव का जन हो जाता है ।

प्रादीनां धातुगंभैरौपगमाच्च यदुपनवान् ॥

अडादीनां व्यवस्थापार्थमित्यादि विदुषां वरः ॥८८॥

प्र आदि के धातु के नभं में नना जाने से ही विद्वानों में श्रेष्ठ मन्वृहरि ने 'अडादीनां व्यवस्थापंम्' इत्यादि कहा है ।

'अडादीनां व्यवस्थापंम्' इत्यादि वाक्यमन्वीय को कारिका है । जिसका अन्विषय यह है कि धातु ही एवमात्र अर्थ का अन्विषयक होता है । प्रकृति प्रत्यय का विनाश ही

समझने के लिये बाद में किया हुआ अतएव कृत्रिम है ।

अतएव व्यवहितर्द्धा नेच्छन्ति चादिभिः ।

सम्बन्धं ते हि शक्तिं स्वामुपदध्युरनन्तरे ॥८९॥

अतएव विद्वान् लोग वाक्य में व्यवहित अर्थात् दूरस्थ 'च' आदि के द्वारा विशेष्य विशेष-
ण में सम्बन्ध स्थापित नहीं करना चाहते अपितु वे अपनी सम्बन्ध बोधिनी शक्ति को
व्यवहित पद के अर्थ में ही निहित रखते हैं ।

सान्तरत्वे तु तां शक्तिमन्यत्रैवादधस्यमी ।

ततश्चायांसामञ्जस्यादनीचित्यं प्रसज्यते ॥९०॥

ये चादि विशेष्य से व्यवहित होने पर अपनी अर्थ प्रत्याशिका शक्ति का आधान अन्यत्र
ही करने लगते हैं उमने वाक्य के अर्थ में अमामजस्य पैदा होता है जिससे अनौचित्य
(दोष) की प्रसक्ति होने लगती है ।

बहिरङ्गान्तरङ्गत्वभेदात् तद्द्विविधं मतम् ।

तत्र शब्देकविषयं बहिरङ्गं प्रचक्षते ॥९१॥

द्वितीयमर्थविषयं तत् त्वाद्यैरेव प्रदर्शितम् ।

तत्स्वरूपमतोऽस्माभिरिह नातिप्रतन्यते ॥९२॥

वह अनौचित्य (दोष) बहिरंग और अन्तरंग भेद से दो प्रकार का होता है । बहिरंग
दोष वह होता है जिसका विषय एकमात्र शब्द है । दूसरा अन्तरंग नामक जो भेद है उसका
विषय अर्थ होता है । चूँकि पूर्ववर्ती आचार्यों ने अन्तरंग-दोष का निरूपण पहले ही बहुत कर
दिया है इसलिये हम यहाँ पर उसका विवेचन विस्तारपूर्वक नहीं करेंगे ।

पारम्येण साक्षाच्च तदेतत् प्रतिपद्यते ।

कवेरजाहकस्य रसभङ्गनिमित्तात् ॥९३॥

दोषों के अन्तरंग और बहिरंग भेद का विनियामक हेतु उनके द्वारा रस के भंग की
प्रक्रिया है । जिनसे रस का साक्षात् भंग होता है वे अन्तरंग तथा जिनसे परम्परया रस-भग
होता है वे बहिरंग दोष कहे गये हैं । ये दोनों ही कवि के प्रमाद के कारण सम्भव होते हैं ।
जागरूककवि की कृति में रसभग रूप दोष के लिये चाहे वह साक्षात् हो या परम्परिक कोई
स्थान नहीं होता ।

यत् त्वेतच्छब्दविषयं बहुधा परिदृश्यते ।

तस्य प्रक्रमभेदाद्या दोषाः पञ्चैव योनयः ॥९४॥

शब्दविषयक अनौचित्य के जो नाना प्रकार उपलब्ध होते हैं उन सबका मूल प्रक्रम-
भेद आदि पाँच ही दोष हैं । वे पाँच नाम इस प्रकार हैं—

१—विधेयाविमर्श । २—प्रक्रमभेद । ३—क्रमभेद । ४—पौनरवत्य ।

५—वाक्यावचन ।

तेषां संक्षेपतोऽस्माभिः स्वरूपमभिधारयते ।

यस्तु प्रपञ्चः पञ्चानां स्वयं तमवधारयेत् ॥९५॥

शब्द विषयक बहिरंग अनौचित्य के उक्त पाँच भेदों का निरूपण हम अधिम विमर्श
में संक्षेप में ही करेंगे । इन पाँचों के जो अन्य भेद-प्रभेद होते हैं, विद्वानों को चाहिए कि

उम विवेचन के आधार पर स्वयं उनका निर्धारण कर लें ।

ध्वनिलक्षणरूपण का उन्महार करते हैं :—

यदि काव्ये गुणीभूतव्यङ्ग्येऽपीष्टं वाक्ता ।

प्रकर्षशालिनि तर्हि व्यर्थ एवादरो ध्वनी ॥१६॥

यदि गुणीभूत व्यंग्य नामक भेद में भी काव्य वा उतरार्थ रूपा मीन्द्र्य अभीष्ट है तो ध्वनिकार ने ध्वनि के प्रति इतना आदर 'कि वही काव्य की आत्मा ही सबता है' व्यर्थ ही में प्रदर्शित किया । क्योंकि बिना आत्मा के जिस प्रकार व्यक्ति की सत्ता अशुभव है उसी प्रकार काव्यात्मा ध्वनि के बिना काव्य वा कोई भी प्रकार सम्भव नहीं होगा ।

नहि काव्यात्मभूतस्य ध्वनेस्तत्रास्ति सम्भवः

तेन निर्जीवतवास्थ स्यात् प्रकर्षकथंवा का ॥१७॥

वही (गुणीभूत व्यंग्य के स्थलो में) काव्य के आत्मभूत तत्व ध्वनि की सत्ता कथमपि सम्भव नहीं । अतः गुणीभूतव्यंग्य काव्य अपनी आत्मा ध्वनि के अभाव में सर्वथा निर्जीव ही टहरता है । उसके उत्तम या मध्यम काव्य होने की तो बात ही क्या ? कहने वा आशय यह है कि काव्य वा कोई भी भेद पहले काव्य होना चाहिए अनन्तर उसका उत्तम, मध्यम या अधम भेद । काव्यात्मा ध्वनि के अभाव में कोई भी रचना ध्वनि-मिद्वान्त के अनुसार काव्य ही नहीं बही जा सकती फिर उसके एक भेद होने की तो बात ही क्या ?

अतोऽतदात्मभूतस्य येऽभावं जगदुर्ध्वनेः ।

ते मुधंवा प्रतिक्षिप्ताः स्दोषितभावमपश्यता ॥१८॥

अतः जिन लोगों ने ध्वनि को काव्य की आत्मा होने का विधान किया गया है उन्होंने ही अपनी उक्ति के भाव को न देखते हुए अपनी ही दूसरी उक्ति का सङ्गन कर दिया है । अर्थात् गुणीभूत व्यंग्य को काव्य का एक भेद कहने से ध्वनि की काव्यात्मता का स्वतः अपलाप हो जाता है ।

अचेद्यते स तत्रापि रसादिव्यवत्यपेक्षया ।

काव्यमेवाग्यया न स्माद्रसात्मकमिदं यतः ॥१९॥

मिद्वान्त पक्ष तो यह है कि यदि गुणीभूतव्यंग्य आदि स्थलो में भी काव्यत्व अभीष्ट है तो वह रसादि की अभिव्यक्ति को लेकर ही बन सकता है । क्योंकि काव्य सदा रसात्मक ही होता है ।

इत्थं च गम्यमानार्थस्पर्शमाप्रमलंकृतिः ।

वाच्यस्यैतदुक्तं स्यान्मताः संवादानुमा ततः ॥१००॥

इस प्रकार ध्वनिकार आनन्दवर्धन के ध्वनि का अभिप्राय यदि यही है कि प्रतीयमान के संस्पर्श मात्र से वाच्य अलंकृत हो उठता है, तो वह अनुमान के अतिरिक्त और कुछ नहीं है ।

नाविचक्षितवाच्यस्य ध्वनेर्धुक्ता प्रकारता ।

न हि प्रकारस्तत्सर्वं स एवेत्युपपद्यते ॥१०१॥

अविचक्षित वाच्य ध्वनि के अर्थात्तरमंत्रमितवाच्य एवं अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य नामक भेद ठीक नहीं है क्योंकि कोई वस्तु स्वयं अपना ही प्रकार नहीं हो सकती ।

भक्तिः पदार्थवाक्यार्थं रूपत्वात् द्विविधा मता ।

तद्बुद्धिश्चानुमानान्तर्भूता यदुपपादिता ॥१०२॥

पदार्थ एवं वाच्यार्थ रूप दो प्रकार की जो भक्ति कही गई है उसमें उक्त दोनों भेदों का अन्तर्भाव हो जाता है। भक्ति (गुणवृत्ति) के अनुमान में अन्तर्भाव का निरूपण हो चुका है।

तत्तिरस्कृतवाच्यस्य ध्वनेर्भेदोऽद्य का भिदा ।

द्वितीयोऽपि प्रकारो यः सोऽपि संगच्छते कथम् ॥१०३॥

परस्परविद्वत्त्वाद् विवक्षात्परत्वयोः ।

अतः अतन्तिरस्कृत-वाच्य ध्वनि और भक्ति (लक्षणा) में क्या अन्तर है? विवक्षितान्वापर वाच्य संज्ञक ध्वनि का जो दूसरा (अभिधामूल) भेद है वह भी विवक्षा और अन्य-परता के परस्परविद्वत् होने से कैसे संभव हो सकता है?

यः शब्दशक्तिमूलोऽन्यः प्रभेदो वर्णितो ध्वनेः ॥१०४॥

सोऽयुक्तोऽन्यत एवासी तत्रेष्टार्थान्तरे मतिः ।

शब्दे शक्त्यन्तराभावस्यासकृत् प्रतिपादनात् ॥१०५॥

इति श्री राजानन्महिमभट्टविरचितायां व्यक्ति-विवेक संग्रह-कारिकायां

ध्वनिलक्षणाक्षेपो नाम

प्रथमोऽध्यायः ।

शब्द-शक्ति-मूल विवक्षितान्वापरवाच्य ध्वनि का जो दूसरा भेद मलक्ष्य एव अलक्ष्य इन नाम से वर्णित किया गया है वह भी युक्त नहीं क्योंकि विवक्षित अन्य अर्थ का बोध दूसरे प्रकार से ही होना है तथा शब्द में अभिधामूल के अतिरिक्त अन्य शक्ति के संभव न होने का प्रतिपादन इस ग्रन्थ में अनेक बार किया जा चुका है।

इति श्री ब्रजमोहन चतुर्वेदी द्वारा कृत महिमभट्ट के

व्यक्ति-विवेक की संग्रह-कारिकाओं के

भाषानुवाद का प्रथम-अध्याय पूर्ण

अथ द्वितीयो विमर्शः

मृग्यः किं किमसम्य एष नजते मात्सर्यमोर्न नृ किं

पृष्टो न प्रतिवक्ति यः किल जनस्तत्रेति सम्भावयेत् ।

छात्राभ्यर्पणतया ततोऽथ सहसंधोत्सृज्य मार्गं सतां

पौरोभाग्यमभाग्यभाजनजनासेष्यं मयाञ्जीकृतम् ॥१॥

जो व्यक्ति कुछ पूछे जाने पर उमका उत्तर नहीं देता, उसके बारे में संभावनायें की जाती हैं कि क्या यह मूढ़ तो नहीं है या असम्य है अथवा दूसरे विद्वानों के प्रति ईर्ष्याभाव के कारण चुप है। इसलिये छात्रों के अनुनय से मैंने आज महमा मज्जनों का मार्ग छोड़कर उन मार्ग को अपनाया है जिम पर अभाग्य लोग ही चरते हैं या जिम का सेवन कोई मला बादमी नहीं करता। इस प्रकार आज मैं रंगे हाथ पकड़ा गया। कहने का आशय यह है कि किमी में दोष देवना मज्जन पुरुषों का नहीं अपिन्तु दुष्ट लोगों का काम है। ग्रन्थकार इस प्रकरण में काव्य दोषों का विवेचन करना चाहता है यद्यपि काव्य-दोष किमी व्यक्ति के नहीं होते तथापि दोष के विवेचन मात्र से ग्रन्थकार अपने को दोष का भागी समझता है।

स्वकृतिष्वयन्त्रितः कथमनुशिष्यादग्न्यमयमिति न वाच्यम् ।

वारयति निषण्णप्यादितरान् स्वयमाचरन्नपि तत् ॥२॥

कोई कह सकता है कि जो व्यक्ति अपनी कृति में ही नियन्त्रित नहीं है अर्थात् जिमकी स्वयं की कृति दोषयुक्त है वह दोषगुण के विषय में दूसरे का अनुशासन कैसे कर सकता है? किन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं है क्योंकि एक बँध स्वयं गुप्य वा सेवन करते हुए भी दूसरों को उमका सेवन करने से मना करना है। इसलिये जो स्वयं उत्तम बवि नहीं है वह उत्तम आलोचक नहीं हो सकता, ऐसी बात नहीं।

विषयाविमर्शं दोष—

क्रियाकर्त्रंशभागयो वाचयेऽशोदृषो नञा यदि ।

क्रियांश्च सुवापीदृषः स्यात्प्रेष्टवान्कितियन् तदा ॥३॥

काव्यमेतन्त्रकेप्रयोगके द्वारा जहाँ-ऐसे अर्थ का निषेध किया जा रहा हो जिमका एक अंग क्रिया हो तथा दूसरा कर्ता, तो वहाँ क्रिया के अंग का ही निषेध होना चाहिए कर्ता के अंग का नहीं जसा कि 'नेष्टवान्' में होता है। यहाँ 'नेष्टवान्' इस प्रयोग में नञ् का सम्बन्ध 'ईष्टवान्' से है जिममें यञ् क्रिया और उमका कर्ता दोनों अन्तर्निहित हैं। किन्तु निषेध केवल क्रिया का होना है कर्ता का नहीं। अतः नेष्टवान् कहने से 'उमने यज्ञ नहीं किया' के द्वारा क्रिया का ही निषेध हुआ उम व्यक्ति का निराकरण नहीं।

अकृन्नकार इतिवद् वृत्तो नु स्याद् विषययः ।

हायेष निमनोऽप्यस्य दाम्बशितरवनावतः ॥४॥

किन्तु समाज में उक्त नियम उलट जाता है अर्थात् तन्त्र के द्वारा त्रिदास का नहीं कर्त्ता के अंग का ही निराकारण होता है। इसका उदाहरण है अक्षुम्भकारः—यहाँ तन्त्र से घट के कर्तृत्व का ही निषेध होता है, कृष्णधनु का नहीं। अर्थ के सम्बन्ध में विधि और निषेध का यह नियम शब्दशक्ति के स्वभाव के कारण है।

तन्त्रार्थस्य विधेयत्वे निषेधस्य विपर्यये ।

समाप्तौ नेष्यनेष्यस्य विपर्यासप्रसंगतः ॥५॥

वाक्य में यदि तन्त्र का अर्थ प्रधान हो तथा उसमें त्रिदास निषेध किया जा रहा हो उसका अर्थ अप्रधान हो तो वहाँ उस शब्द का तन्त्र के साथ समान करना ठीक नहीं होता। क्योंकि ऐसा करने से वाक्यार्थ में उलट फेर की सम्भावना होने लगती है।

यश्चैकवाक्ये स्तूतृत्वैवोक्तो यद्वेदमादिभिः ।

तच्छब्देन परामर्शो न तयोत्पपद्यते ॥६॥

एक ही वाक्य में त्रिम अर्थ का कर्त्ता के रूप में कथन हो अथवा जो उदम् आदि सर्वनाम पदों में अभिहित किया गया हो उनके परामर्श के लिये तत्पद का प्रयोग करना उपयुक्त नहीं होता क्योंकि तत्पद से उसका परामर्श नहीं हो पाता।

यतोऽप्यक्षापमागोऽर्थः स तेन्यः प्रतिपद्यते ।

न चासौ तत्परामर्शसहित्पुनरसम्बन्धान् ॥७॥

क्योंकि उनके द्वारा त्रिम अर्थ का निषेध होना है वह प्रत्यक्ष होना है जब वह अर्थ तन्त्रशब्द के परामर्श का विषय इसलिए नहीं बन सकता कि तन्त्र शब्द में परोक्ष का ही परामर्श होता है, प्रत्यक्ष का नहीं, और इस प्रकार उन अर्थ का तन्त्र पदार्थ के साथ कोई सम्बन्ध नहीं बनता। इसलिये यहाँ कहना ठीक है कि वह अर्थ तन्त्र पद के परामर्श को नहीं कर सकता।

अनुक्तयं परामृश्यं प्रयोगो यत्र यतदोः ।

निरन्तरः पुनस्तत्र तयोत्पिननं दुष्यति ॥८॥

'यतद्विजिन' आदि स्थलों में जहाँ सर्वनाम ने परामर्श किये जाने योग्य अर्थ को बिना कहे यत् और तत् का प्रयोग बिना किसी व्यवधान के कर दिया जाता है वहाँ उनका पुनः कथन शक्य नहीं होता।

तयोनिरन्तरोपात्तेष्विदमेतददत्सु च ।

तयोस्तेषां च नापेक्षा तेष्वसस्त्विव शास्यति ॥९॥

इसी प्रकार 'इदम् एतद्, और अदम् सर्वनामों का यत् और तत् के साथ बिना किसी व्यवधान के मिला कर प्रयोग किया गया हो तो भी यत् में तत् और तत् में यत् की आवाजा के उच्च प्रकार गान्त नहीं होनी जैसा उनके न रहने पर अर्थात् यत् तत् के प्रयोग में अन्य सर्वनामों के योग में आवाजा की पूर्ति नहीं हो पाती।

उदाहरणज्ञातं यत् तत्सार्थसमुद्भवम् ।

तस्य विद्वन्मात्रमस्माभिरयं विन्तरनोरतिः ॥१०॥

यत् और तत् के इदम् आदि की मिलावट के जलग-अलग तथा दोनों को मिलाकर अर्थात् यत् शब्द के स्वतन्त्र रूप में उदम् आदि शब्दों के माहुर्य से, तत् शब्द के स्वतन्त्र रूप में इदम् आदि के माहुर्य में, तथा दोनों के सम्मिलित रूप में इदम् आदि के माहुर्य में मिलने

उदाहरण सम्भव होने है मैंने उनका दिग्दर्शनमात्र कराया है । क्योंकि हम यहाँ इसका वहन विस्तार नहीं करना चाहते ।

पदमेकमनेकं वा यद् विधेयार्थतां गतम् ।

न तत्समासमन्येन न चाप्यन्योन्यमर्हति ॥११॥

वाक्य में प्राधान्य की विवक्षा में जिस पद का अर्थ विधेय है चाहे वह एक हो या अनेक, अन्य विधेयार्थक पद के साथ उसका समास नहीं हो सकता । वाक्य में प्रयुक्त विधेयार्थक अनेक पदों में भी परस्पर समास नहीं हो सकता ।

लोहितस्तक्षक इति समासोऽत्रापि नैष्यते ।

लोहित्यस्य विधावृत्तन्यायात्तस्याप्रवृत्तितः ॥१२॥

स्वरूपमाप्रस्योक्तौ तु लोहित्वाच्चभिचारतः ।

उष्णोऽग्निरतिवत् पशो न चास्त्यन्यस्तदत्यये ॥१३॥

'लोहितस्तक्षक' (रक्त वर्ण का तक्षक मर्प) यहाँ भी समास द्रष्ट नहीं है । उक्त न्याय से तक्षक के साथ लोहित भी विधेय ही है क्योंकि जिस प्रकार तक्षक शब्द से मर्पत्व आति की प्रतीति होती है उसी प्रकार लोहित से गुण-विशेष की । इस प्रकार दोनों पद विधेयार्थक ही हैं । इनमें परस्पर समास नहीं हो सकता । यदि तक्षक पद स्वरूप मात्र का बोध कराता है ऐसा मानें तो भी लोहितपद से गुण की अभिव्यक्ति होने से वहाँ उष्णोऽग्नि की तरह समास द्रष्ट नहीं । यहाँ पर उल्लिखित दोनो पशो के अनिरिक्त समास-विधायक कोई तीसरा पद भी संभव नहीं । तदत्यये में अभिप्राय 'उक्त दोनों पशो के अस्वीकार करने पर' से है ।

विनोत्कार्यापकरण्यं स्वदन्तेर्ज्या न जातुचिन् ।

तदयमेव कवयोऽलंकारान् पर्युपासते ॥१४॥

अर्थ का यदि उत्कर्ष और अपकर्ष न हो तो रचना में रस नहीं आता अर्थात् कोई भी रचना महदय के अस्वाद का विषय तभी होती है जब वहाँ अर्थ का उत्कर्ष या अपकर्ष होता है । इसीलिये अर्थान् अर्थ के उत्कर्ष और अपकर्ष के लिये ही कविगण अलंकारों की योजना करते हैं ।

ती विधेयानुवाचत्वविवक्षेकनिवन्धनी ।

सा समासेऽस्तमायातीत्यसृत् प्रतिपादिनम् ॥१५॥

रचना में उत्कर्ष और अपकर्ष के आधान का एक मात्र निमित्त विधेय और अनुवाच के विनोप्य विनोपणो में प्रधान गौण भाव की विवक्षा है । पदों को विधेय या अनुवाच बनाने की यह विवक्षा समासयुक्त पदावली में लुप्त हो जाती है, बनी नहीं रहती । इस बात को मैंने बार बार कहा है ।

अतएव च बंदर्भो रीतिरेकं च द्रष्टव्ये ।

यतः समाससंस्पशंस्तत्र नैवोपपद्यते ॥१६॥

इमीलिये काव्य में एकमात्र बंदर्भो रीति को ही प्रदास्त माना गया है क्योंकि उसमें समास का स्पर्श तक ठीक नहीं समझा जाता ।

सम्बन्धमात्रमर्थात् समासो ह्यधबोधयेत् ।

नोत्कर्षमपकर्षं वा वाक्यात्तमपमप्यदः ॥१७॥

समान मे अर्थ-वस्तुओं के अन्वयरूप सम्बन्ध मात्र का बोध होता है। उनके उत्कर्ष और अपकर्ष का नहीं। वाक्य मे तो सम्बन्ध रूप अन्वय एवं उत्कर्षाधिकरण दोनों का बोध होता है।

समान के विषय मे एक दूसरे प्रकार के नियम का प्रतिपादन करते हैं :—

किन्तु प्रवृत्तिरेतस्य रसानभिव्यक्त्यपेक्षया।

शान्तशृङ्गारकरुणान्तरेण प्रशस्यते ॥१८॥

रचना में समान का प्रयोग रसों की अभिव्यक्ति के अनुरूप ही होना है। यदि समान रचना हो है तो शान्त शृंगार एवं करुण रस सम्बन्धी रचनाओं को छोड़कर शेष मे समान का प्रयोग किया जा सकता है।

रसानभिव्यक्ति के हेतुओं का कथन करते हैं :—

पतः समाप्तो वृत्तं च वृत्तपः काव्यस्तथा।

वाचिकाभिनयात्मत्वाद्रसानभिव्यक्तिहेतवः ॥१९॥

क्योंकि नतुरपादि ममाम, वमन्तिलकादि छन्द, वैशिकी आदि वृत्तिया, तथा ध्वनि-विकार रूप काकृतियाँ, ये वाचिकाभिनय के अंग होने के कारण अनुभाव के रूप में रसानभिव्यक्ति के हेतु माने गये हैं। इस प्रकार समान भी कथानक और वृत्तियों के समान रसनिष्पत्ति का मायक तत्व है। किन्तु सर्वत्र नहीं अपितु शान्त शृंगार और करुण को छोड़ कर ही।

स चार्थान्तावधिः कार्यो नाधिरुो गद्यताम्रितः।

गद्ये हि वृत्तिवैकल्ये न्यूना तद्व्यक्तिहेतुना ॥२०॥

रचना में समान अधिक से अधिक श्लोक के आधे भाग तक होना चाहिए इससे अधिक नहीं। क्योंकि उससे अधिक होने पर रचना गद्य प्रतीत होने लगती है। गद्य में छन्द के अभाव के कारण रस की अभिव्यक्ति कराने की क्षमता पद्य की अपेक्षा कम होती है।

ममाम के विषय में एक अन्य नियम का निरूपण करते हैं :—

तस्याच्छिन्नः पदार्थानां सम्बन्धश्चेत् परस्परम्।

न विच्छेदोऽन्तरा कार्यो रसभङ्गकरो हि सः ॥२१॥

यदि पदों के ममाम करने से उनके पदार्थों का सम्बन्ध परस्पर नियत रूप से बना रहता है तो उनमें हटान् ममाम का विच्छेद नहीं करना चाहिए अर्थात् ऐसे पदों में समान अवश्य कर देना चाहिए। अन्यथा उनसे रसभंग होता है।

अब क्रिया के विषय में व्यवस्था देते हैं :—

यत्रैककर्तृकानेका प्राधान्येतरभाक् क्रिया।

तत्रास्यातेन वाच्याया शत्राद्यंतरपरा पुनः ॥२२॥

जहाँ पर अनेक क्रियाओं का सम्बन्ध एक ही कर्ता से हो तो उनमें से एक प्रधान और अन्य गौण होती हैं। वहाँ पर प्रधान क्रिया का उल्लेख अलकारों में तथा अन्य क्रियाओं का सत् आदि वृद्धन् प्रत्ययों के द्वारा ही होना चाहिए।

कारणद्वयमेवेष्टं बहुलप्रहर्षं न तु।

अशक्यनिश्चयो हृष्यो विषयस्तस्य नेतरः ॥२५॥

वाक्य में पदों के उद्देश्य विधेयभाव का कथन समानादि वृत्ति से सम्भव नहीं। अतः

पदों में समास न होने के दो ही कारण माने जाते हैं इनमें निहित परस्पर के प्रधान्य एवं अग्र-धान्य का न बहा जाना तथा 'समर्थः पदविधिः' इस पाणिनीय सूत्र में समर्थपद का ग्रहण । 'विशेषण विशेष्येण बहुलम्' इस पाणिनीय सूत्र में प्रयुक्त बहुल शब्द के ग्रहण का नमानाभाव का कारण नहीं मानना चाहिए । क्योंकि बहुलग्रहण का अर्थ नियम की अनक्यता है, समास की विधि या निषेध नहीं ।

प्रकरणकावचादिसत्तो यस्यार्थोऽर्थान्तरं प्रकाशयति ।

इष्टार्थमङ्गभीतेः शब्दो न समासमर्हति सः ॥२५॥

जिस शब्द का अर्थ प्रवरण, ध्वनिविकार रूप काकृ आदि की महायत्ना से अन्य व्यं की प्रतीति कराता है उसमें समास नहीं होता क्योंकि ऐसा करने में अभीष्ट अर्थ की प्रतीति में बाधा होने का भय बना रहता है ।

यत्रोत्कर्षोऽपकर्षो वा विशेष्यस्य विशेषणात् ।

तदेव वा विषेय स्यात् समासस्तत्र नेष्यते ॥२६॥

जहाँ पर वाक्य में विशेषण की अपेक्षा विशेष्य का उत्कर्ष या अपकर्ष होना है वही विशेष्य होता है और वहाँ पर समास नहीं किया जाता ।

अन्यत्र त्वयंसम्बन्धमात्रे यवतुमभीप्सिते ।

कामत्तारस्तदर्थं हि समर्थग्रहणं मतम् ॥२७॥

अन्यत्र जहाँ पर शब्द का अर्थ के साथ केवल सम्बन्ध बताना ही अभीष्ट है उत्कर्ष या अपकर्ष नहीं, वहाँ इच्छानुसार समास किया जा सकता है और नहीं भी । इसलिए 'समर्थः पदविधिः' सूत्र में समर्थ पद का ग्रहण किया है ।

न तु सापेक्षताद्यन्यदोषजातनिवृत्तये ।

पिनोः स्वतेव वन्द्यत्वे सा हि न्यायेन सिध्यति ॥२८॥

समर्थग्रहण, सापेक्षतादिरूप अन्य दोष समूहों की निवृत्ति के लिए नहीं हुआ है । माता-पिता स्वयं ही वन्द्य होते हैं किन्तु उमका विधान भी इस प्रकार से न्याय सिद्ध है । आशय यह है कि माता पिता की वन्दना करनी चाहिए इस वाक्य के बहने पर जिस प्रकार नित्य-माहर्षय के कारण अपने ही माता पिता का ग्रहण होता है । उसी प्रकार समर्थ होने पर ही शब्दों का परस्पर समास होता है, पुनः सूत्र में समर्थग्रहण क्यों किया । अतः नित्य माहर्षय होने पर भी माता पिता के उल्लेख के समास ही समर्थ सूत्र में समर्थ पद का ग्रहण भी न्यायोचित ही है ।

काव्यकाञ्चनकपाश्ममानिना कन्तकेन निजकाव्यलक्ष्मणि ।

यस्य सर्वनिरवद्यतोदिता श्लोक एष स निदर्शितो मया ॥२९॥

वक्रोक्ति जीवितकार वृत्तक ने, अपने को काव्य रूपी सोने की बगैरी समझते हुए अपनी काव्य शास्त्रीय श्रुति वक्रोक्तिजीवित में 'संरम्भः करिकोट' आदि जिस श्लोक को काव्य का सर्वथा दोष रहित उदाहरण कहा है उसी श्लोक में दोष का निदर्शन मैंने उक्त रीति से किया है ।

अर्थस्य तदतद्भावो विवक्षामाप्रतो भवेत् ।

यत्र प्रथमभेदोऽर्थं न तत्रोद्भाव्यते बर्षः ॥३०॥

यथा विशेषकालस्य शीलादिप्रत्ययेषु च ।

कर्तुंश्च फलवत्तायां तेन ते नोपदर्शिताः ॥३१॥

जहाँ पर अर्थवस्तु की सत्ता या उनका अभाव विवक्षाधीन हो वहाँ पर विद्वान् लोग प्रक्रमभेद दोष की उद्भावना नहीं करते । जैसे काल विमोष-भूत एव भविष्यन् के अद्यतन, अनद्यतन, प्रत्यक्ष एवं परोक्ष आदि भेद विवक्षाधीन होते हैं । तथा तच्छील एव तत्साध्यकारि आदि अर्थों में किये गये प्रत्ययों में एव उन स्थलों में जहाँ क्रिया के फल का भागी वर्त्ता होना है, अर्थ की सत्ता या उसके अभाव के विवक्षाधीन होने के कारण प्रक्रमभेद दोष नहीं होता ।

३—क्रम भेद दोष—

परामृश्यमनुक्त्वं परामर्शोऽस्य यस्तदा ।

स दोषो बध्यमागार्यसंविन्तावक्षमो हि सः ॥३२॥

जिसका परामर्श होना हो उनके पूर्ववत् बधन के बिना ही तत् आदि सर्वनामों का जो प्रयोग कर दिया जाता है वह दोष ही है क्योंकि परामृश्य अर्थ के बाद में बड़े जाने में तत् आदि सर्वनाम पद उनका बोध कराने में नमर्थ नहीं होते ।

उक्तिस्वरूपावच्छेदफलो यत्रेतिरिष्यते ।

न सन्नतस्मात्प्राक् किंचिदुक्तेरन्यत् पदं बदेत् ॥३३॥

उपाधिभावात् स्वां शक्ति सः पूर्वनादधाति हि ।

नच स्वहृपावच्छेदः पदस्यान्यस्य सम्मतः ॥३४॥

जहाँ पर इति पद का प्रयोग किसी उक्ति का अलग करके बोध कराने के लिए किया गया हो वहाँ इति शब्द के पूर्व उम वक्तव्य वन्तु के बोधक के अतिरिक्त अन्य किसी शब्द का प्रयोग नहीं करना चाहिए । इति प्रभृति शब्दों के उपाधि होने से उनकी अपनी बोधकता-शक्ति पूर्व की उक्ति के बोध कराने में ही निहित रहती है । क्योंकि इनके द्वारा उनसे अन्य पद के अर्थ का अलग करके बोध कराना संभव नहीं ।

इतिनैवेतरेषामप्यव्ययानां गतिः समा ।

ज्ञेयेत्यमेवभादीनां तज्जातीयार्ययोगिनाम् ॥३५॥

यतस्ते चादय इव ध्रूयन्ते पदनन्तरम् ।

तदर्थमेवावच्छिन्न्युरसामञ्जस्यमन्यथा ॥३६॥

'इत्थम्' 'एवम्' आदि अन्य अव्यय भी वूकि इति की ही जातिके हैं और उनी प्रकार के अर्थ से इनका सम्बन्ध होता है अतः वाक्य में इनकी स्थिति भी 'इति' के समान ही समझनी चाहिए । क्योंकि 'च' आदि अव्ययों के समान ही वे भी वाक्य में जिसके बाद प्रयुक्त होते हैं उनी के अर्थ का विशेष रूप में नियमन करते हैं । ऐसा नहीं होने से वाक्य में पदों का सामंजस्य नहीं बनता ।

अयान्तर्यनियमस्तोपामर्थोचितिविज्ञात् ।

अन्यतस्तर्हि तत् कार्यसिद्धेस्ते स्युरपार्यकाः ॥३७॥

वाक्य में 'च' आदि तथा 'इत्थम्' 'एवम्' आदि पदों के प्रयोग सम्बन्धी उक्त आनन्तर्य नियम को यदि अर्थ के औचित्य के आधार पर मानेंगे तो इस वाक्य के दूसरे प्रकार से भी सिद्ध हो जाने के कारण इन अव्ययों का प्रयोग निरर्थक हो जायगा ।

कंश्चिदेव हि केषांचिद् दूरत्पर्यपि संगतिः ।

न जातु सर्वैः सर्वेषामित्येतदभिप्रास्यते ॥३८॥

वागे चल कर उस इम धान को बनाएंगे कि धान में (मनी शब्दों का मनीसे सम्बन्ध नहीं होना अपितु) किन्ही शब्दों का बृद्ध निश्चित शब्दों के साथ ही सम्बन्ध होता है चाहे उनका प्रयोग दूर दूर ही क्यों न हुआ हो ।

४—पीनरक्त्य दोष—

वाच्यात्प्रतीपमानोर्ध्वस्तद्धिदां स्वदतेऽपिहम् ।

रूपकादिरतः श्रेयानलंकारपु नोपमा ॥३९॥

वाच्य की अपेक्षा प्रतीपमान अर्थ उसके समझने वालों को अधिक अच्छा लगता है । अनएव अठकारो मे रूपक आदि जितने अच्छे समझे जाते हैं उतनी उपमा नहीं ।

एकैवालङ्कृतिर्यत्र शाब्दत्वार्थत्वभेदतः ।

द्विरूपते तां मन्यन्ते पुनरक्तिमतिस्फुटाम् ॥४०॥

किसी रचना में एक ही अठकार इव, यथा आदि पदों के द्वारा शाब्दरूप में तथा मद्ग आदि पदों के प्रयोग से अर्थ रूप में प्रलग-प्रलग दो बार जाना है । तो उन पुनरक्ति को अति-स्फुट अर्थात् स्पष्ट दृष्टि से भी प्रतीत होने वालों मानते हैं ।

यस्य तद्रूपताप्यवितः सामप्यदिव जायते ।

तस्योपमा रूपकं वा तदर्थं पीनरक्त्यकृत् ॥४१॥

एक के ऊपर किसी अन्य पदार्थ के आरोप की प्रतीति यदि शब्द के सामर्थ्य से ही हो जाती हो तो उसके लिए उपमा या रूपक का आश्रयण पीनरक्त्य-दोष की सृष्टि है ।

यदर्थं काश्रयो धर्मो यत्र स्यादधिरोपितः ।

उपमानोपमेयत्वं न तपोः शाब्दमिष्यते ॥४२॥

जहाँ पर किसी एक ही पदार्थ पर अधिकत धर्म का कहीं पर आरोप हो तो उन दोनों में उपमानोपमेयभाव का शब्दनः कथन ठीक नहीं होता । वहने का आशय यह है कि उपमेय अम्बुनिधि आदि में नायक आदिरूप उपमान के धर्म हृदय आदि का आरोप लक्षणा के द्वारा होता है वहाँ नायक उपमान एव अम्बुनिधि उपमेय में निहित उपमानोपमेयभाव का कथन शब्दवः दृष्ट नहीं है अपितु उसे गम्यमान ही होना चाहिए ।

समासे चासमासे ज्ञानुप्रासेष्वल्लेष्वपि ।

पदादिवर्णानुप्रासः कवीनामधिकं प्रियः ॥४३॥

क्योंकि समास तथा जहाँ समास नहीं होता अनुप्रास के ऐसे सभी प्रकारों में, शब्दों के प्रथम अक्षरों में अनुप्रास दिखाना कवियों को बहुत अधिक प्रिय होता है ।

धर्मस्तुल्यविभवतोनामेकस्याप्युदितोऽस्तिलान् ।

तानन्वेतीति पर्यायस्तदुक्तिः पीनरक्त्यकृत् ॥४४॥

समान विभक्ति वाले शब्दों में से एक का भी धर्म प्रयुक्त होकर उन सभी में अन्वित ही जाता है । अतः पर्यायवाची पदों के द्वारा उन धर्म का पुनः पुनः कथन पुनरक्ति दोष की ही सृष्टि करता है । यहाँ पर तुल्य विभक्ति नाम में उपमानोपमेय वाचक पदों का ग्रहण किया गया है तथा उसमें पट्टी निर्धारण अर्थ में है ।

यदा किं बहुनोक्तेन क्रियाकारकयोरपि ।

यदौचित्यावगतिस्तत्रान्येषां कथं वा ॥४५॥

(कवियों को निर्देश देने हुए कहा है कि प्रस्तुत रम को अभिव्यक्ति में वाचक पद के प्रयोग के किसी भी प्रकार की महत्व नहीं देना चाहिए) जयवा अधिक बहने से क्या लाभ ? ओवितर से जब क्रिया और कारक पदार्थों तक की प्रतीति हो सकती है तो अन्यो की बात ही क्या ?

सामर्थ्यसिद्धस्यार्थस्य पदार्थो पुनरुक्तता ।

तात्पर्यभेदाच्छब्दस्य द्विवचनितः शाब्दपोष्यते ॥४६॥

अन्य पदार्थ के सामर्थ्य में यदि किसी अर्थ की प्रतीति स्वयं हो जाती हो तो उसके लिए अलग से शब्द का प्रयोग करना पुनरुक्ति दोष है । यहाँ नहीं एक ही शब्द का तात्पर्य-भेद से पुनः बचन भी पुनरुक्ति-दोष ही माना जाता है ।

पौनरुक्त्यमिति द्वेषा गौणमुक्त्यतया स्थितम् ।

तत्र दूषणमेवाद्यमपर भूषणं स्मृतम् ॥४७॥

उक्त रीति से पुनरुक्ति के दो प्रकार होते हैं—आर्थो तथा शाब्दो । इनमें से प्रथम अर्थगत पौनरुक्त्य गौण तथा शब्द गत मूल्य होता है । इन दोनों में प्रथम आर्थो पुनरुक्ति को ही दोष माना गया है, द्वितीय शाब्दो पुनरुक्ति को गणना अलकारों में की जाती है ।

शब्दालंकारनिपुणैर्लाटानुप्राससंज्ञया ।

तच्चोदाहृतमेव प्राग् दूषणं तु धितन्यते ॥४८॥

शब्दालंकारों की रचना में पद्य कवियों ने उन शाब्दो पुनरुक्ति को लाटानुप्रास नामक अलंकार की सजा दी है जिनका उदाहरण पहले दिया जा चुका है । यहाँ पर तो केवल पुनरुक्ति दोष का निरूपण किया जा रहा है ।

प्रकृतिप्रत्ययार्थोऽस्य पदवाच्यार्थ एवच ।

विषयो बहुधा ज्ञेयः स प्रमेणोपदर्शने ॥४९॥

अर्थगत पौनरुक्त्य के भेद, उन्में विषय प्रकृत्यर्थ, प्रत्ययार्थ, पदार्थ, एव वाच्यार्थ आदि के अनुसार अनेक होते हैं जिनका निरूपण यहाँ इसी क्रम में किया जाता है ।

अभिन्न एव पदार्थः प्रकृतेः प्रत्ययस्य च ।

तत्पौनरुक्त्योपहतं पदमादौ विवर्जयेत् ॥५०॥

यहाँ पर प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ अभिन्न अर्थात् एक ही वह शब्द पुनरुक्ति दोष से दूषित होता है । अतः रचना में से सबसे पहले इस प्रकार के पदों को निकाल देना चाहिए ।

विहितस्य बहुब्रीहैः कर्मधारयसङ्ख्या ।

शब्दस्य मत्वर्थोपादेर्व्यक्तं पुनरुक्तता ॥५१॥

ऐसे स्थलों में जहाँ वस्तुतः बहुब्रीहि समास हुआ हो किन्तु कर्मधारय की भी सम्भावना हो तो कर्मधारय की आज्ञाका से उस समस्त पद में मत्वर्थोप प्रत्यय के प्रयोग से जो पुनरुक्ति होगी है वह अत्यन्त स्पष्ट ही है । (क्योंकि वहाँ नामान एव प्रकृति दो वृत्तियों का गौरव होता है)

यस्मिन् यत्तद्विज्ञोत्पत्तिरर्थस्त्वेनैव जातचित्

न तदन्तः समस्येत तद्विद्व्यर्थताभयात् ॥५२॥

जिस पद में एक अर्थ किसी तद्विद्वि से निकल रहा हो तो उस पद का किसी तद्विनाय

वाचक प्रत्ययान्त के साथ नमान कभी नहीं करना चाहिए । क्योंकि ऐसा करने से तद्धित प्रत्यय के व्यंज होने का भय रहता है ।

विशेषणवशादिच्छेद्विशिष्टं यत्र संज्ञितम् ।

युवना तत्र विशेषोक्तिरन्यथा पौनरुक्त्यदृष्टम् ॥५३॥

जहाँ पर विशेषण का प्रयोग विशेष्य की किसी नाम विशेषता को बताने के लिए होता है वही विशेष्य का शब्दतः उपादान शीक होता है अन्यत्र नहीं । अन्यथा वह पुनरक्ति दोष माना जाता है ।

सहृदेव प्रयुक्तेन यत्र साम्याभिधायितः ।

अन्येषामुपामानत्वं सामर्थ्यादथगम्यते ॥५४॥

तत्रामहृत् प्रयोगोऽप्य पौनरुक्त्याय कल्पते ।

वाक्य में जहाँ पर सादृश्यावाचक इव आदि शब्द के एक बार प्रयोग के सामर्थ्य से ही अन्य पदों की उपमानता का आशय हो जाता है वहाँ प्रति उपमान के साथ बार बार इनका प्रयोग पौनरुक्त्य दोष की मृष्टि करता है ।

यद्बद्धव्यभिचारस्य कारकस्याविशेषता ॥५५॥

अर्थस्यानुमितत्पोक्तिर्नात्वेति पुनरुक्तताम् ।

यद्बुधाद्यदभिव्यक्तिस्तदुक्ती नाददीन तन् ॥५६॥

जिन प्रकार नित्य सम्बद्ध कारक का बिना विशेषण के कथन (विशेष रहित कथन) पुनरक्ति दोष का आस्पद नहीं होता उसी प्रकार अनृन्वित अर्थ का शब्दतः कथन भी पुनरक्ति दोष से रहित नहीं होता । यदि अर्थ की अभिव्यक्ति किसी दूसरे अर्थ के सामर्थ्य से सम्भव हो तो उन समर्थ अर्थ की उक्ति होने पर दूसरे का शब्दतः उपादान नहीं करना चाहिए ।

यो यद्बुधोपचारेण यत्सम्बन्धान्वितोऽपि वा

तस्य तद्रूपधार्योऽपि न शाब्दी पौनरुक्त्यतः ॥५७॥

यदि कोई पदार्थ अपने धर्म के द्वारा या अन्य किसी सम्बन्ध से अन्यार्थ में आरोपित होता है तो उसके द्वारा अन्यार्थ का यह आरोपण अर्थगत पौनरुक्त्य का ही प्रकार है शब्दगत का नहीं ।

प्रयुक्तान्तर्गतेरेव यत्र सोऽर्थः प्रतीयते ।

प्रयोगस्तत्र शेषाणां यदानां पौनरुक्त्यदृष्टम् ॥५८॥

किसी वाक्य में अभिलपित या विशिष्ट अर्थ की प्रतीति उसमें प्रयुक्त शब्दोंके द्वारा ही हो जाती है तो उन अर्थ की प्रतीति के लिए अन्य शब्दों का प्रयोग पुनरक्ति ही है ।

कर्तृपङ्क्तिनि रुद्राणां तन् क्रियाणां च नेष्यते ।

वाच्यप्रसाधकनमाङ्गनातामोवित्यादेव तदग्नयेः ॥५९॥

वाक्य के प्रधान कर्ता तथा उसकी क्रिया में नायकत्वम अर्थात् उक्ति उष्ट नहीं होती क्योंकि उनकी प्रतीति का बोध अचित्त से ही हो जाता है ।

दोषद्वयमिदं प्रायः समासत्रिपयं मतम् ।

यतोऽजकरभूषिष्ठा तत्रार्थपरारण्यः ॥६०॥

कृता प्रतीतिविमुक्तं दृश्यन्तेऽनेकथा हि ते ।

समासमत एवाहुः क्वीनां निरर्थं परम् ॥६१॥

उक्त प्रकार के ये दोनों दोष प्रायः ममान में ही होते हैं। क्योंकि एकमात्र लक्षणशाम्बो की लीक पर चलने वाले कवि ही इनका प्रयोग अधिक करने पाते हैं जिन्हें कविता के दार्शनिक स्वरूप का बोध नहीं होता। उन्हींलिए ममान को कवियों की नदने बड़ी कमीटी कहा गया है।

वृत्ताधितरया चोक्ते नान्यभाजि विशेषणे ।

विशेष्योक्तिरप्युक्तैव स्यात् तदव्यभिचारतः ॥६२॥

ममान या वाक्य में यदि ऐसे विशेषण का प्रयोग हो जो उन विशेष्य के अनिश्चित और कहीं प्रयुक्त न होता हो तो वहाँ विशेष्य का कथन ठीक नहीं समझा जाता। क्योंकि विशेषण में ही उसकी नियमित रूप में प्रतीति हो जाती है।

यो यदात्मा तदुक्तैव तन्वार्थस्य गतिर्धतः ।

तेन प्रयोजनाभावे द्वयोक्तिः पुनरुक्तिरुक्त् ॥६३॥

एक वस्तु जिसका स्वरूप इनकी के ममान ही होता है, उसके अर्थ की प्रतीति दूसरी के कथन में ही हो जाना है। इसलिए यदि कोई विशेष्य प्रयोजन न हो या दोनों का एक साथ कथन पुनरुक्ति दोष का विधातक होता है। अथवा चकि उनके कथन का कोई विशेष्य प्रयोजन नहीं अतः दोनों की एक साथ उक्ति दोष ही है।

यो यस्य नियतो धर्मस्तस्य तेन न धमिणा ।

समासः शस्यनेऽन्यार्थस्तत एव हि तद्गतेः ॥६४॥

धर्मोवाचक शब्द का उनमें ही किसी नियत धर्म के वाचक पद के साथ ममान ठीक नहीं समझा जाता। क्योंकि धर्म माधर्म्य आदि के लिए होता है और इन लिए धर्मों से ही धर्म का बोध हो जाता है। प्रयान के बोध होने पर उनके अनुयायी अधिदान का ज्ञान तो बर्थात् हो जाता है।

क्रियाप्रतीतिः करणप्रत्ययाव्यभिचारिणी ।

तदप्रतीती तादात्म्यान् संदानवसिना भवेत् ॥६५॥

यदेतन् त्यागपाकादी क्रियेत्युक्तेनिबन्धनम् ।

तद्व्यविनयद्वशाद्यस्य तदुपनी ताददीत तत् ॥६६॥

वाक्य में क्रिया की प्रतीति करण की प्रतीति से निरत रूप से सम्बन्धित होती है। इसलिए यदि करण की प्रतीति न हो तो उसके नाम क्रिया का अभेद सम्बन्ध होने से क्रिया पूर्ण नहीं हो सकती। चूकि त्याग पाक आदि स्वलो में क्रिया की प्रवृत्ति का निमित्त करण ही होता है इसलिए जिससे जिसकी अभिव्यक्ति अपने आप हो जाती है उसका कथन होने पर इनके का उपादान नहीं किया जाना। अर्थात् क्रिया और करण में से करण का कथन होने पर क्रिया का शब्दतः उपादान ठीक नहीं होता।

प्रयुक्ते चाप्रयुक्ते च यस्मिन्नर्थगतः समा ।

न तन् पदमुपादेयं कविनाऽवकरो हि सः ॥६७॥

जिन शब्द के प्रयोग होने या न होने पर वाक्यार्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता कवि को अपनी रचना में ऐसे पदों का प्रयोग नहीं करना चाहिए। क्योंकि ऐसा पद दोष युक्त माना जाता है।

अन्योन्यादीनकत्वे सत्यन्वयव्यतिरेकयोः ।

उनमोरवितरेकस्य नात्येति पुनरवतनाम् ॥६८॥

अन्वय व्यतिरेक के नियम के अनुसार जिन दो पदार्थों का परस्पर आशेष हो जाता है उनमें से एक का कथन पुनरन्वि का प्रतिबन्धन नहीं करता ।

पुनरवितप्रकारापानिनि दिदमानमोरितम् ।

विदेवन्तु कोहि वास्त्येन शस्योप्यनकरोत्करम् ॥६९॥

पुनरन्वि के प्रयोग का यहाँ दिग्दर्शननात्र किया गया है क्योंकि यह दोनों का समूह है उनका विस्तार पूर्वक विवेचन कौन कर सकता है ।

५—वाच्यवचन दोष—

सर्वनामपरामर्शविषये भोग्यवस्तुनि ।

स्वभाववाच्यतादीष सः वाच्यवचनानिषः ॥७०॥

किसी अर्थ का सर्वनाम के द्वारा परामर्श सम्भव होने पर स्वभावतः कथन करने से जो दोष होता है उसको वाच्यवचन कहते हैं ।

अर्थमेवाद्विभिन्नोऽपि शब्दे सादृश्यमाश्रयः ।

आवृत्तिव्यवहारोऽयं मूलमस्यैवतान्मः ॥७१॥

जहाँ पर अर्थ के भिन्न होने पर भी ध्वनिनाम्ब के वाच्य एक ही शब्द की आवृत्ति मान ली जाती है उनके मूल में अर्थ की एकता का गम बना रहता है ।

तत्प्रयोगेण तेनैव सर्वनाम्ना विनिदिशेत् ।

अर्थहेतुव्यतिष्यती धमिषमौनयात्मकम् ॥७२॥

यदि धर्मों और धर्म दोनों प्रकार के अर्थों का बोध कराना हो तो उपर्युक्त स्थलों में जहाँ शब्द की आवृत्ति की जाती है उनके परामर्शवाची शब्द या उनो शब्द या सर्वनाम से उनका निर्देश करना चाहिए ।

अलंकारव्यवर्त्य ये शब्दास्तदितरोऽपि संरेव ।

व्यग्येताल्पतरैर्यदि तदसौ गृह्येन साधवाप्राप्यः ॥७३॥

किसी अलंकार की व्यंजना करने में जिन शब्दों का प्रयोग हुआ होता है उनमें या उनमें से छोड़े में ही शब्दों से यदि किसी अन्य अलंकार की अतिव्यक्ति होती हो तो वहाँ प्रथम अलंकार को ही ग्रहण करना चाहिए द्वितीय को नहीं । अर्थात् उन्ने ही मुख्य मानना चाहिए क्योंकि दूसरा अलंकार छोड़े में शब्दों के द्वारा अतिव्यक्ति होने में पूर्णतया व्यर्थ नहीं होगा ।

न ह्यस्ति निजे कर्मफलं हृतीनां स कदचनानिषयः ।

येन द्विभेदेनकारेण निविष्येत् वा क्विभिः ॥७४॥

अलंकारों के द्वारा वाच्य की श्रीबुद्धि रूपी क्रिया में अन्ते आप कोई ऐसा वैशिष्ट्य नहीं होता जिनमें एक अलंकार का विधान किया जाय और दूसरे का निषेध । क्वि सीम उनका ग्रहण और परित्याग साधन और गौरव के कारण ही किया करते हैं ।

न चालंकारनिष्येत्पै रसवन्धोदयः क्विः ।

यत्रै केहे तदितिद्विवाग्नरीयकविद्वयः ॥७५॥

काव्य में रस के उपनिबन्धन के लिए उद्यत कवि अलंकार की रचना के लिए प्रयास नहीं करता क्योंकि रस के उपनिबन्धन के माध्यम अलंकारों की रचना का अविनाभाव सम्बन्ध है। अर्थात् उनके साथ अलंकार महजभाव में संप्रथित हो जाते हैं। क्योंकि —

रसस्याङ्गं विभावाद्याः साक्षात्प्रियादकत्वतः ।

तद्विचित्रोक्तिवपुषोऽलंकारास्तु तदाश्रयाः ॥७६॥

विभावादि चूंकि रस की साक्षात् निष्पत्ति कराने हैं अतः उनके अंग माने गये हैं। अलंकारों का स्वरूप उन विभावादि की भगी भणिति है अतः विभावादि के द्वारा अलंकार रस के आश्रय अर्थात् उसकी अनुमिति के हेतु हैं।

तेनैषामप्रधानत्वादायानोद्धरणादयः ।

चाकृतापेक्षार्यस्य कल्प्यन्ते कविना स्वयम् ॥७७॥

रसाश्रय होने से काव्य में अलंकारों का स्थान गौण है। अतः रचना में इनका ग्रहण या परित्याग अर्थ की चाकृता के अनुरूप कवि के द्वारा स्वयं कर लिया जाता है।

अतएव बहुष्वग्येष्वलंकारेषु सत्स्वपि ।

कांश्चिदेव निबध्नाति शक्तिमानपि सत्कविः ॥७८॥

चूंकि काव्य में अलंकारों का स्थान बहुत महत्वपूर्ण नहीं है अतः नाना प्रकार के अलंकारों की रचना में समर्थ होने पर भी उत्तम कवि उनमें से कुछ की ही योजना अपने काव्य में करता है।

यतः सर्वेष्वलंकारेषूपमा जोवितायते ।

सा च प्रतीयमानैव तद्विदां स्वदत्तेतराम् ॥७९॥

यद्यपि उपमा सभी अलंकारों में प्राणमूल अलंकार है तथापि वह भी जब वाच्य न होकर प्रतीयमान होती है तो सहृदयों को अधिक अच्छी लगती है।

रूपकादिरलंकारवर्गो यमक एवहि ।

तत्प्रपञ्चतया प्रोक्तः कैश्चित्तत्त्वार्थदर्शिभिः ॥८०॥

रूपक आदि अलंकारों का समूह वास्तव में यमक ही है अतः वामन प्रभृति कुछ आलंकारिक जो इनके वास्तविक स्वरूप को पहचानते हैं इनका निरूपण उनके भेद-प्रभेद के रूप में ही करते हैं।

यत्रान्धूनातिरिक्तेन सादृश्यं वस्तुनोर्द्रयोः ।

शब्दमात्रेण कथ्येत स शब्दश्लेष इत्यतः ॥८१॥

जहाँ पर दो ऐसी वस्तुओं में जो एक दूसरी से न कम हो न अधिक, सादृश्य का यमन शब्दमात्र से किया जाता है उसे शब्दश्लेष कहते हैं।

स शब्दः कर्तृकर्मादिप्रधानार्थाधिनाकृतः ।

निबद्धो धर्मधर्मार्थोद्विधः परिकीर्तितः ॥८२॥

शब्दश्लेष की रचना कर्ता, कर्म, एवं क्रिया रूप प्रधान अर्थ को आत्ममान करने वाले शब्दों के द्वारा की जाती है। धर्मों और धर्म के वाचक शब्दों से उपनिबद्ध यह श्लेष दो प्रकार का कहा गया है।

इत्थं समासतो ज्ञेयं शब्दश्लेषस्य लक्षणम् ।

अपरस्तु प्रसिद्धत्वादिहास्माभिर्न लक्षितः ॥८३॥

मन्त्रों में शब्दश्लेष का यही लक्षण मनजना चाहिए। इनमें जो अर्थश्लेष है वह अत्यन्त प्रसिद्ध है इसलिए मैंने यहाँ पर उनका लक्षण नहीं किया।

उभयनाम्निलक्षणं वाच्यं विन्विद्विबन्धनम् ।

अन्वयः धर्म एव स्थावृश्लेषद्वयोद्यमः बधेः ॥८४॥

शब्द और अर्थ दोनों प्रकार के श्लेषों की अनिवार्यता के लिये किन्ती न किन्ती निर्मित का आश्रय करना चाहिए। अन्वया यदि का श्लेषालम्बन की योजना का धर्म निरर्थक हो जायगा।

एवोभेकापहृद् एव स्वभावेनैव दीयन्तु ।

समप्रभृत्यनागादसन्तगतस्य विप्रयो हि सः ॥८५॥

जिन प्रकार एक ही शक्ति एक भाग अनेक वस्तुओं का प्रकाशन करता है उसी प्रकार एक ही शब्द जहाँ मन्त्रेण-इह आदि की अपेक्षा न करने हुए स्वभाव में ही अनेक अर्थों का बोध कराना हुआ पाया जाता है वह शब्द तत्र अर्थात् श्लेष का विषय है। अर्थात् एक शब्द में अनेक अर्थ के बोध की शक्ति सिद्धात्मान्त ठीक नहीं। जहाँ इन श्लेषों की श्लेषप्रकाश कर अनेकार्थ के बोध का वास्तविक कारण जानना चाहिए।

शब्दे त्रनिन्दनेकत्व प्रत्यक्ष तस्य भेदतः ।

मादृशविप्रलक्ष्यन्तु लोकेस्तत्त्वमवस्थानि ॥८६॥

ऐसे श्लेषों में शब्द एक ही है वह बात सिद्ध नहीं होती अपितु प्रत्येक अर्थ का बोधक शब्द भिन्न होता है। लोच वर्णानाम्ब के कारण ही अनेक अर्थों में प्रयुक्त उन शब्दों की एक ही मनजने लगती है।

नैवावतावगन्तव्या तस्यानेकार्थद्वयिता ।

नात एव प्रमङ्गस्य एवं शब्दोद्बद्धत्पने ॥८७॥

केवल जन्तु में अर्थात् वर्णानाम्ब में ही यह नहीं मनजना चाहिए कि शब्द में अनेक अर्थ बोध कराने की शक्ति है। अतएव अनेकार्थ बोधक श्लेषों में शब्द मन्त्रेण-इह के बिना ही अनेकार्थ का बोध कराता है उस प्रकार के श्लेष का भाग्य नहीं होता।

न वानिद्वयता युक्त्वा शब्दत्पार्थन्तरं मनिः ।

तत्त्वानैकविप प्रीवनमव्ययानव्ययानरम् ॥८८॥

मन्त्रेण-इह आदि बिना किन्ती मन्त्र-इह के जगवा बिना किन्ती अन्य निमित्त के शब्द अन्य अर्थ का बोध नहीं करा सकता। अन्वय की प्रतीति के प्रयोजक पर दो प्रकार के होते हैं—कहीं इशादि अन्वय तो कहीं मन्त्रादि अन्वय रूप।

तस्मादर्थान्तरव्यक्तिहेतोर्वाः संसद्भवतासति ।

यः श्लेषवन्धनिर्वन्धः बन्धेशायं च बद्धेस्ती ॥८९॥

इसलिये प्रमाणों की अनिवार्यता के किन्ती श्रेणु के विद्यमान न रहने पर यदि का श्लेष की योजना का आग्रह बण्ट कर ही होता है।

सा चेदमन्त्रिण्येव परम्प्रावृत्तिरिधने ।

निद्वयनबन्धोद्भूता न तद्वशास्य जातुचित् ॥९०॥

रचना में शक्ति पूरे पद की ही जनीष्ट होती है पराधी की कदापि नहीं। तथा वह शक्ति किन्ती न किन्ती प्रयोजन-विधि में ही की जाती है।

उपपुनरार्थता हास्य पदस्येव न विद्यते ।

अधुना सूत्रयोगेऽस्य पूर्वस्यार्थस्तिरोभवेत् ॥९१॥

पदांग की आवृत्ति इसलिये ठीक नहीं समझी जाती कि उसकी उपयोगिता पद की आवृत्ति के समान नहीं होती अथवा जिन प्रकार शब्द की आवृत्ति से अर्थ की संगति नहीं बैठायी जाती उसी प्रकार पदांग की आवृत्ति में अर्थ की संगति नहीं बैठायी जाती । क्योंकि वर्तमान में आवृत्त पदार्थ के अर्थ का उपयोग करने पर उसका पहला अर्थ लुप्त हो जाता है ।

अर्थप्रयोगो युगपत्लाघवेनोभयोरपि ।

स्यादयं कामचारो मञ्जेकेनोक्तिद्वयोर्भवेत् ॥९२॥

दो अर्थों की एक साथ अभिव्यक्ति के लाघव के लिये इस प्रकार अर्थश्लेष के प्रयोग की छूट तब दे दी जाती जब एक शब्द से दोनों अर्थों का कथन मिद्धान्त मम्मन होता या सम्भव होता ।

धर्मिसाम्यविदशायां धर्ममात्राभिधायितान् ।

नेष्टः प्रयोगः शब्दानां समासोपमितौ बुधैः ॥९३॥

धर्मों अर्थात् विशेष्यो के परस्पर के सादृश्य को बताने की इच्छा से उनके किसी धर्म के ही वाक्य शब्दों का प्रयोग समान के लिये या उपमा के लिये भी विद्वानों को इष्ट नहीं होता ।

अनुवाद्यमनुत्त्वं न विधेयमुदीरयेत् ।

न दृघलब्धास्पदं किञ्चित् कुत्रचित्प्रतितिष्ठति ॥९४॥

वाक्य में उद्देश्य और विधेय में से उद्देश्य का कथन किये बिना विधेय का कथन नहीं करना चाहिए । क्योंकि कोई भी विधेय वस्तु अपेक्षित आधार के बिना नहीं भी प्रतिष्ठित नहीं होनी (उचित नहीं प्रतीत होनी) ।

विधेयोद्देश्यभावोऽयं रूपरूपकतात्मकः ।

न च तत्र विधेयोक्तिरुद्देश्यान् पूर्वमित्यते ॥९५॥

यह जो उद्देश्य-विधेय भाव है वह रूप्य रूपक-भाव के समान होता है जिनमें मुख्य-चक्रः की तरह रूप्य का पहले एव रूपक का बाद में कथन किया जाता है । वहाँ पर भी उद्देश्य में पहले विधेय का कथन ठीक नहीं समझा जाता ।

पदानामभिसम्बन्धस्यान्यथाभावमात्रतः ।

यत्रानिष्टप्रतीतिः स्याद् रचनां तां परित्यजेत् ॥९६॥

जहाँ पर पदों के पारस्परिक सम्बन्ध के वैपरीत्य के कारण अभिलिखित अर्थ की प्रतीति न होकर ऐसे अर्थ की प्रतीति होती है जो इष्ट नहीं तो उन रचना का सर्वथा परित्याग कर देना चाहिए ।

येन यस्याभिसम्बन्धो दूरस्थेनापि तेन सः ।

पदानामभिसम्बन्धानामानन्तर्यमकारणम् ॥९७॥

इति प्रतीत्योर्विधिसम्बन्धालोच्यैव चचितम् ।

गुणदोषपक्षद्विर्भूताद्वैरोल्ययोस्तयोः ॥९८॥

जिन सब से जिनका सम्बन्ध है वाक्य में भिन्न स्थल पर प्रयुक्त होने पर भी वह उनके

माय मन्बन्धित होकर ही अपने अर्थ की अभिव्यक्ति करता है। उन पदों में जिनमें मनाम नहीं हुआ होता आनन्दार्थ अर्थात् एक पद के नुरल्ल दाद दूसरे का होता अनिवायं नहीं समझा जाता। क्योंकि यहाँ आनन्दार्थ के अभाव में अर्थ की प्रतीति में बाधा नहीं होती।

यह बात उन लोगों के द्वारा कही गई है जिन्होंने पदों के दूर और समीप प्रयुक्त होने पर होने वाली प्रतीति में गुण और दोष को ठीक तरह से नहीं समझा है।

स्वरूपेऽवस्थितिर्येषां शब्दानामिति नेप्यते ।

न तानन्यव्यवहितान् प्रयुञ्जीत विचक्षणः ॥१९॥

जिन शब्दों की अवस्थिति उनी रूप में द्रष्ट नहीं है विद्वान् व्यक्ति को चाहिए कि उनका प्रयोग दूसरे पदों के व्यवधान पूर्वक नहीं करें।

सर्वनामपरामर्शयोग्यत्वायं स्य या पुनः ।

स्वशब्देनाभिधा दोषः स वाच्यावचनाभिधः ॥१००॥

ऐसे अर्थ की अभिव्यक्ति के लिये जिनका परामर्श किसी सर्वनाम के प्रयोग से ही संभव हो स्वशब्द का प्रयोग करना वाच्यावचन नामक दोष ही है।

पर्यायमाप्रनिप्रस्य पदेरुत्सवं वस्तुनः ।

उपमानोपमेयत्वमवाच्यवचनं च तत् ॥१०१॥

एक ही अर्थ के अभिधायक विभिन्न पर्यायवाची शब्दों का उपमानोपमेयभाव से कथन भी अवाच्यवचन नामक दोष है।

उपचारसहैकैव रूपकस्योप्यते क्रिया ।

यथानलस्य दाहादिर्न कार्यादिरसम्भवात् ॥१०२॥

रूपक में जहाँ एक वस्तु पर दूसरी वस्तु का आरोप होता है वहाँ उपचार अर्थात् माधर्म्य केवल क्रियारूपी धर्म में ही हो सकता है अन्य में नहीं। जैसे अग्नि का औपचारिकमन्बन्ध उमकी दाहिका क्रिया को लेकर ही हो सकता है उसके कार्य धूमादि को लेकर नहीं। कहने का अभिप्राय यह है कि आरोप के स्थलों में जहाँ तुल्य धर्म के द्वारा एक वस्तु का दूसरे पर आरोप किया जाता है वहाँ यह तुल्य धर्म धर्मी में होने वाली क्रिया ही हो सकती है उनका कार्य परिणाम या विचार नहीं। अनएव दाहकत्व के माधर्म्य ने विरह आदि पर अग्नि का आरोप तो ठीक है पर अग्नि के कार्य धूम आदि के माधर्म्य ने इस प्रकार का आरोप ठीक नहीं होता।

यद्यप्यर्थावृत्तौ शब्दः श्रेयणाभिदधात्पयम् ।

स्वरूपञ्चार्यैरुवं च तथाप्यस्याभिधा क्रिया ॥१०३॥

तत्परतवाद्भिवभाषा विधाम्यत्यर्थ एव हि ।

भिन्नधर्मतया तेन भिन्नरक्षणपापि च ॥१०४॥

नार्हतो जातुचिदिमौ श्लिष्टमेकं विशेषणम् ।

मा भूदेकात्मतापत्तिदोषोऽज्ञावेतयोरिति ॥१०५॥

यद्यपि प्रयुक्त शब्द वचन ने अपने एवं अर्थ के स्वरूप को ही बतलाता है फिर भी अर्थ का अनिधान ही एक मात्र शब्द की क्रिया है। क्योंकि उनकी विवक्षा अर्थपरक ही होती है। अर्थात् किसी विशेष अर्थ के प्रतिपादन के लिये ही उन शब्द का कथन किया गया होता

है। अतः उस अर्थ के बोध कराने में ही शब्द की विधानि है। इमोलिने भिन्न धर्मों तथा भिन्न श्रेणियों के होने के कारण दोनों का किसी एक शिल्प विशेषण से कथन इनलिये सम्भव नहीं कि इन दोनों शब्द और अर्थ में एक स्वरूप होने का बोध न होने लगे। यही अवाच्यवचन बोध है।

अप्रस्तुतोक्तिसामर्थ्यान् प्रस्तुतं यत्र गम्यते ।

प्रतिबिम्बाद्यथा बिम्ब तस्योक्तिस्तत्र नेप्ये ॥१०६॥

प्रतिबिम्ब को देखकर बिम्ब के ज्ञान के समान जहाँ काव्य में अप्रस्तुत के कथन के मान्य से प्रस्तुत का बोध कराने की इच्छा हो वहाँ प्रस्तुत का कथन अभीष्ट नहीं होता।

प्रस्तुनात् तदव्यस्य प्रतीतिरनिबन्धना ।

न सम्भवत्येव ततस्तदुक्तिस्तत्र शस्यते ॥१०७॥

किन्तु प्रस्तुत से अप्रस्तुत की प्रतीति बिना किसी निमित्त के नहीं होती अतः वहाँ उन निमित्त का कथन आवश्यक समझा जाता है।

यत्रार्थस्योपमानत्वं समासोक्त्येव गम्यते ।

न तत् तत्र पुनर्वाच्यमुक्ती वा शाब्दमस्तु तत् ॥१०८॥

अन्यथा स्वन्यधर्मः कः सम्बन्धोऽन्यस्य वस्तुनः ।

तेन वाच्यत्वमार्यत्वं चेत्यस्य द्वयमप्यस्तत् ॥१०९॥

जहाँ पर किसी अर्थ की उपमानता का ज्ञान समासोक्ति से ही हो जाता है वहाँ या तो उम उपमानता का कथन नहीं होना चाहिए या यदि कथन भी हो तो शब्दन अर्थात् इवादि शब्द के द्वारा ही। अन्यथा एक वस्तु के धर्मों के साथ अन्य वस्तु का सम्बन्ध ही क्या? इनलिये उपमानता की वाच्यता तथा उसका आर्थ अर्थ से ज्ञेय होना—दोनों ही बोधयुक्त हैं।

एकत्रोत्प्रेक्षितत्वेन यत्रार्था बहवो मताः ।

तत्रेवादिः प्रयोक्तव्यः प्रधानादेव नान्यतः ॥११०॥

जहाँ पर एक ही स्थल पर अनेक अर्थों की उत्प्रेक्षा करनी हो वहाँ पर इव आदि का प्रयोग प्रधान के साथ ही करना चाहिए अन्य के साथ नहीं।

परस्वरूपानुवादकफलं फल्यु विशेषणम् ।

अप्रत्यक्षायमाणार्थं स्मृतमप्रतिभोद्भवम् ॥१११॥

तदवाच्यमिति ज्ञेयं वचनं तस्य दूषणम् ।

तद्वस्तुप्रणयार्थं न क्वचित्वाय कल्पते ॥११२॥

जिन विशेषण का प्रयोजन विशेष्य के स्वरूप का पुनः कथनमात्र करना हो, अथवा जो अर्थ प्रयुक्त हुआ हो अथवा जिस से अर्थ का साक्षात्कार सा न हो जाता हो अथवा जिसका प्रयोग कवि की प्रतिभा की कमी के कारण हुआ हो, उसे अवाच्य समझना चाहिए। उस का कथन सर्वथा बोधयुक्त होता है। उससे छन्द की पूर्तिमात्र होती है, किसी का कवित्व सिद्ध नहीं होता।

कथं तर्हि स्वभावोक्तेरलंकारत्वमिष्यते ।

नहि स्वभावमात्रोक्तौ विदोषः क्वचनानयोः ॥११३॥

इन पर प्रश्न यह उठता है कि फिर स्वभावोक्ति को अलंकार कैसे माना जात है।

क्योंकि वस्तु के स्वभाव मात्र के कथन में और इनमें कोई अन्तर नहीं अर्थात् जहाँ तक वस्तु के स्वभावमात्र के कथन का सम्बन्ध है इन दोनों में कोई अन्तर नहीं प्रतीत होता ।

उत्पत्ते वस्तुनस्तावद् द्वैरूप्यमिह विद्यते ।

तत्रैकमत्र सामान्यं पद्विकल्पैकगोचरः ॥११४॥

इसका उत्तर यह है कि जगत में वस्तुओं के दो रूप होने हैं सामान्य और विशिष्ट ।

इनमें में पहला जो सामान्य है उसकी प्रतीति एक मात्र विल्ली में होती है अर्थात् वह अनेक विशिष्टों में ही अन्तर्निहित होता है ।

स एव सर्वशब्दानां विषयः परिकीर्तितः ।

अतएवभिधेयं ते सामान्यं बोधयन्त्यलम् ॥११५॥

वस्तु का वह सामान्य रूप ही सभी प्रकार के शब्दों का विषय कहा गया है । उमोलिये शब्द अपने अर्थ के रूप में सामान्य का ही बोध कराने में समर्थ होते हैं अर्थात् शब्द का अभिधेयायं वस्तु का सामान्य रूप ही होता है ।

विशिष्टमस्य पद्वैरूपं तत्प्रत्यक्षस्य गोचरः ।

स एव सत्कविगिरां गोचरः प्रतिभाभुवाम् ॥११६॥

वस्तु का जो विशिष्ट रूप है वह प्रत्यक्ष का विषय है उसी का निरूपण उत्तम कवियों की प्रतिभा से प्रसून वाणी के द्वारा होता है । अर्थात् उत्तम कवि अपनी जन्मजात प्रतिभा में वस्तु के जिस स्वरूप का निरूपण अपनी कविता में करते हैं वह उसका विशिष्ट स्वरूप ही होता है ।

रसानुगुणशब्दार्थचिन्तास्तिमितचेतसः ।

क्षणं स्वरूपस्पर्शोत्तिपा प्रज्ञैव प्रतिभा कथेः ॥११७॥

कवि जब किसी विषय रस की निष्पत्ति के लिये उसके अनुरूप शब्द और अर्थ के चिन्तन में मग्न हो जाता है तो वाह्य विषयों से विरत हो जाने के कारण उसका मन एक क्षण के लिये स्मित अर्थात् रुक जाता है और उस समय वस्तु के उस विशिष्ट स्वरूप के साक्षात्कार से एक विषय प्रकार की प्रज्ञा उत्पन्न हो जाती है अर्थात् उस वस्तु के विषय में उसे एक नये प्रकार का ज्ञान हो जाता है । वह प्रज्ञा ही कवि की प्रतिभा है ।

सा हि चक्षुर्भंगवतस्तृतीयमिति गीयते ।

येन साक्षात्करोत्येव भावांस्त्रैलोक्यवर्तितः ॥११८॥

कवि की वह प्रतिभा भगवान् शिव के तृतीय नेत्र के समान नहीं गई है जिनमें कवि शिव के ही समान तीनों लोकों में कही भी स्थित किसी भी भाव का साक्षात्कार कर लेता है ।

इत्यादि प्रतिभातत्त्वमस्माभिरपपादितम् ।

शास्त्रे तत्त्वोक्तिकोशाख्ये इति नेह प्रपञ्चितम् ॥११९॥

उक्त प्रकार से प्रतिभातत्त्व का विषय विवेचन करने अपने 'तत्त्वोक्तिकोशा' नामक ग्रन्थ में पहले ही कर दिया है अतः यहाँ पर इसके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं है ।

अर्थस्वभावस्योविनयां सालंकारतया मता ।

यतः साक्षादिवामान्ति तथायोः प्रतिभापिताः ॥१२०॥

अर्थवस्तु के स्वभाव अर्थात् उक्त विशिष्ट स्वरूप का जो कथन है उसी को अलंकार

माना गया है। क्योंकि स्वभावाक्ति अलंकार कवि की प्रतिभा में पदार्थों का ऐसा चित्रण होता है कि वे शास्त्रात् विद्यमान से लगने हैं।

सामान्यस्तु स्वभावो यः सोऽन्यालंकार गोचरः ।

म्लिष्टमर्थमलंकार्तुमन्यथा को हि शक्नुयात् ॥१२१॥

वस्तु का जो सामान्य रूप है वही अन्य अलंकारों का विषय है अन्यथा अव्यक्त अर्थ को अलंकृत करने में कौन समर्थ हो सकता है ? अर्थात् अन्य अलंकारों में अन्यान्य अर्थों को उद्भावना द्वारा जो चमत्कार होता है वह वस्तु के सामान्य स्वभाव का ही चित्रण है।

वस्तुमात्रानुवादस्तु पूरणकफलोमतः ।

अनन्तरोक्तयोरेव पदवान्तर्भावमर्हति ॥१२२॥

यथायोगमय दोषस्तेन पञ्चदश ते मताः ।

रचना में अर्थवस्तु का केवल अनुवाद छन्द की पूर्ति मात्र के लिये किया जाता है जो निमित्त ही दोष है। और जिसका अन्तर्भाव यथावसर पूर्वोक्त पुनर्गति एवं वाच्यावचन नामक दोषों में हो सकता है। इस प्रकार काव्य दोषों की कुल संख्या केवल १५ ही ठीक है।

इतिनाथो व्यवहितः शब्दमात्रेऽवलिष्टते ॥१२३॥

सर्वनामपरामर्शयोऽप्योऽप्यो न भवेत् ततः ।

यथा घटः कृट इति ज्ञेयो यस्त पृथुदरः ॥१२४॥

इतिपद के प्रयोग से जिस अर्थ का निर्धारण हो जाना है वह केवल उसी शब्द में ही निहित रहता है पूरे वाक्य में नहीं। अब वह सर्वनाम के द्वारा परामर्श के योग्य नहीं रह जाता। जैसे, जो घट कृट ऐसा समझा जाता है उसका पेट बड़ा होता है' इस उक्ति में इति के द्वारा घट के वाक्य से विच्छिन्न हो जाने पर पुन यत् और तत् से उनका परामर्श नहीं हो सकता। इसका दूसरा उदाहरण है—

यथा नृपो नृग इति श्वातो यः स महामतिः ।

राजा नृग ऐसा प्रसिद्ध जो है वह बहुत बुद्धिमान था। इस वाक्य में इति के द्वारा नृप पद वाक्य से अलग कर दिया जाता है फिर य और स से उनका पुन परामर्श करना दोष ही है।

ततोऽर्थे एव काव्यरत्ना तत्परामर्शनोचितः

न ध्वनिस्तदभावादिमन्त्रन्वोऽप्येव वयं मतः ॥१२५॥

इसलिये आनन्दवर्धन कृत ध्वनिलक्षणशुद्धिका में काव्यात्मा रूपी अर्थ ही उममें प्रयुक्त इति के द्वारा व्यवच्छेद्य अर्थात् परामर्श के योग्य है ध्वनि नहीं। क्योंकि ध्वनि के साथ इति का सम्बन्ध होने पर फिर ध्वनि के साथ असावादि का सम्बन्ध कैसे बन सकता है।

इदमद्यतनाना च भाविनां चानुशासनम् ।

लेशवः कृतमस्माभिः कविवर्यैश्चिह्नताम् ॥१२६॥

अनौचित्य का यह विवेचन मैंने कविमार्ग पर आस्ट होने के इच्छुक आजकल के तथा आगे आने वाले व्यक्तियों के लिये शास्त्र के रूप में सक्षेपत किया है। कृति व्यक्तिविवेक का मुख्य प्रतिपाद्य विषय यह—अनौचित्य नहीं था इसलिये इसका विवेचन बहुत विस्तार

पूर्वक करता ठीक नहीं समझा गया। यहाँ यह विवेचन केवल दोष-दर्शन मात्र नहीं है अपितु कवियों के लिये मार्ग-दर्शक शास्त्र के रूप में हुआ है।

गमयन्त्यर्थमुत्सेन हि सुप्तिङ्बचनानादयोऽपरान्थान् ।

तेन घ्वनिलक्ष्मविधौ शब्दग्रहणं विफलमेव ॥१२७॥

इति श्री राजानक-महिमभट्टकृत-व्यक्ति-विदेश-संग्रह-वारिषाषां

शब्दानौचित्यविचारो नाम द्वितीयो विमर्शः ॥

सुप् तिङ् और बचन आदि शब्द के अर्थ के द्वारा ही अन्य अर्थ की प्रतीति कराते हैं।

इसलिये घ्वनिकार कृत घ्वनिलक्षण वारिषा में शब्दपद का ग्रहण व्यर्थ में ही किया गया।

(क्योंकि शब्द अर्थान्तर की अभिव्यक्ति वहापि नहीं कर सकता)।

इति श्री ब्रजमोहन चतुर्वेदी द्वारा कृत व्यक्ति विदेश की संग्रहनावारिषाओ भाषानुवाद

का द्वितीय-विमर्श पूर्ण।

अथ तृतीयोविमर्शः

शब्दप्रयोगः कर्तव्यः प्रधानार्थव्यपेक्षया ।

तदग्न्यापेक्षया त्वयदिनं विपरिणामयेत् ॥१॥

वाक्य में शब्द का प्रयोग प्रधान अर्थ को ध्यान में रखकर करना चाहिए । अनन्तर यदि प्रधान की अपेक्षा अन्य अर्थ के साथ उमका सम्बन्ध करना है तो उसे उसके वाच्य अर्थ में हटाकर अन्य अर्थ में परिवर्तित कर देना चाहिए ।

विपरीतमनो दत्स्यादपशब्दः स मां प्रति ।

हेतुध्वनेश्चायमेव प्रयोगपरिणामयोः ॥२॥

यदि ऐसा नहीं किया जाता है तो मैं उसे अपशब्द ही कहूँगा । ध्वनि के प्रयोग एवं नाना अर्थों में उसके विपरिणाम का हेतु यही तथ्य है ।

ध्वनिकाव्य में एक शब्द में अनेक अर्थों की जो प्रतीति मानते हैं वहाँ यह होता है कि शब्द को उसके वाच्य अर्थ से भिन्न अन्य अर्थ में बदल देते हैं । ओर इन प्रकार उस अन्य अर्थ का शब्द के साथ साक्षात् सम्बन्ध मानने लगते हैं ।

परिणामो बहुविधो वाचो लिङ्गादिभेदतः ॥

सच प्रसिद्ध एवेति नास्माभिरिह दर्शितः ॥३॥

शब्द का यह विपरिणाम लिंग जादि भेद से अनेक प्रकार का होता है जो व्याकरणआदि शास्त्रों में अत्यन्त प्रसिद्ध है और इसीलिये हमने उमका विवेचन यहाँ विन्तार पूर्वक नहीं किया है ।

असाधुश्चापराब्दश्च द्विधा शब्दः प्रकीर्तितः ।

तत्रासाधुर्न साध्यो यः प्रकृतिप्रत्ययादिभिः ॥४॥

शब्द के दो प्रकार होने हैं—असाधु और अपराब्द । असाधु शब्द वे हैं जो प्रकृति-प्रत्यय विभाग करके सिद्ध नहीं किये जा सकते । अर्थात् जिन शब्दों की प्रकृति-प्रत्यय-विभाग रूप व्युत्पत्ति नहीं दी जा सकती वे असाधु प्रकार के शब्द हैं ।

शब्दादपेतोऽपशब्दः शब्दनाकरणात्मनः ।

शब्दना हि परामर्शो वाच्यार्थवियोगोऽस्य यः ॥५॥

शब्द का जमाधारण कारण शब्दना अर्थात् उसमें निहित अर्थ-प्रत्याशिका शक्ति है । उसने जो रहित है वह अपराब्द है । शब्दना वह शक्ति है जिसके द्वारा शब्द से अर्थ का परामर्श होना है । कहने का आशय यह है कि ऐसा शब्द जिसमें अर्थ को प्रकट करने की शक्ति निहित नहीं है अपराब्द ही कहलाता है । इस प्रकार अपराब्द भी शब्द का एक प्रकार ही है ।

एवञ्चासाधुशब्दोऽपि नापशब्दत्वमर्हति ।

न सोऽप्यभ्येति साधुत्वं तयोर्वियमभेदतः ॥६॥

इस प्रकार जमाघु शब्द भी अपशब्द नहीं कहा जा सकता । वह साधु भी नहीं है क्योंकि साधु और अमाधु शब्दों के विषय भिन्न भिन्न होने हैं । अर्थात् साधु और अमाधु शब्द के अर्थ एक से नहीं होते ।

सामर्थ्यदिव शब्दस्य विषयेऽवपते सति ।

न प्रयोगोऽस्य न ह्येष स्वनिष्पत्यं प्रवर्तते ॥७॥

यदि किसी शब्द के अर्थ का बोध उसके सामर्थ्य में ही हो जाता है तो उस शब्द के प्रयोग करने की आवश्यकता नहीं होती । क्योंकि ऐसी हालत में वह शब्द अपने प्रयोग के औचित्य की सिद्धि नहीं कर पाता ।

अतएव प्रकृतपर्यमानं तत्र प्रयुज्यते ।

संस्थासाधनकालादेरानुगुणानुपेक्षणः ॥८॥

इसीलिये उक्त स्थलों में शब्द की प्रकृति मात्र का प्रयोग होता है । वचन, वारक एव काल आदि की अनुरूपता की अपेक्षा उसे नहीं होती ।

इयता चापशब्दत्वं न तेषामवकल्पते ।

अप्येषु शब्दनाकर्मकरणत्वात्पापतः ॥९॥

केवल इतने में ही उनके अपशब्द होने की कल्पना नहीं कर ली जाती । क्योंकि उनमें विविध अर्थों का बोध कराने की शक्ति का बिनाश नहीं हो जाता । अर्थात् अर्थ के बोध कराने की सामर्थ्य उनमें विद्यमान होती है ।

असाधुच्यारपाद्यस्तु तत्रार्थमः प्रवर्तते ।

कूपखानकवद्वृत्तः सोऽर्थज्ञानाग्निवर्तने ॥१०॥

वाक्य में प्रयुक्त असाधु शब्दों के उच्चारण से जो अर्थ (पाप) होता है उसका प्रक्षालन उस शब्द के अर्थ का ज्ञान होने पर उन्हीं प्रकार हो जाता है जिन प्रकार बूझा खोदने वालों का मिट्टी और पंक से लिप्त शरीर उमसे निकले हुए जल के प्रक्षालन से स्वच्छ एवं निर्मल हो जाता है ।

अथवाच्यपरिज्ञानमास्तां तत्पठनादपि ।

धारणादपि वा पुंसां श्रुत्तेऽन्यदयः परः ॥११॥

अथवा उन अपशब्दों के पाठ से भी वाक्य या पद के अर्थ का बोध होता हो तो ही उसमें किसी को विप्रतिपत्ति नहीं । क्योंकि किसी भी शब्द से अर्थ का ज्ञान होने पर मनुष्यों का अत्यन्त उत्तुष्ट अन्मुदय होता है ।

यावद्भिरर्थः सम्बन्धः प्राकृष्टवदस्यावधारितः ।

तावत्संबन्धनिराशंसः श्रुतः सन् !कुरुते गतिम् ॥१२॥

इस प्रकार शब्द का उसके अर्थ के साथ सम्बन्ध होता है । यह सम्बन्ध एक शब्द का जितने अर्थों के साथ होता है उच्चारण विषे जाने पर वह शब्द उन सबका बोध कराने लगता है । अर्थों के बोध कराने की उमकी यह गति सम्बन्धित सभी अर्थों तक ही होती है अन्य असम्बन्धित अर्थों का बोध वह नहीं करा सकता ।

ततो पदार्थानुगुणा सामग्रयस्योपलभ्यते ।

स एवार्थो व्यवस्थाप्यः सत्स्वप्न्येष्वबाधितः ॥१३॥

पूर्व निर्धारित सम्बन्ध से बोधित अनेक अर्थों में से जिम अर्थ के अनुरूप प्रकरण, वक्ता एवं बोद्धा आदि सामग्री (उपकरण) उपलब्ध होते हैं उस विशिष्ट स्थान पर उम शब्द का वही अर्थ होता है। अन्य सम्बन्धित अर्थों के विद्यमान होते हुए भी शब्द उसी अर्थ की अभिव्यक्ति कराने में समर्थ होता है अन्य को नहीं।

तेनोभयार्थानुगुणे व्यनक्त्यर्थाविभावपि ।

ययोः सामर्थ्यनः सिध्येदुपमानोपमेयता ॥१४॥

प्रकरणादि वैशिष्ट्य से यदि कोई शब्द एक साथ ही दो अर्थों को व्यक्त करता है तो उन दोनों अर्थों में उपमानोपमेयभाव उमी शब्द के सामर्थ्य से मिट्ट हो जाता है। कहने का आशय यह है कि अपने सम्बन्ध के द्वारा कोई शब्द दो अर्थों की प्रतीति युगपत् कराने लगता है। उन स्थल पर ये दोनों अर्थ वाच्य ही होते हैं और शब्द की दो अर्थों को एक साथ अभिव्यक्त करने की शक्ति से उन दोनों अर्थों में परस्पर उपमानोपमेयभाव स्वन बन जाता है।

इत्यमर्यान्तरे बुद्धि ध्वनिरेवाश्चात्ययम् ।

तन्निबन्धननिर्बन्धो निर्निबन्धन एव सः ॥१५॥

इस प्रकार काव्य में जहाँ कहीं भी अन्य अर्थ की प्रतीति होती है ध्वनि अर्थात् व्यञ्जना से ही होती है। उसके निबन्धन अर्थात् आधार के प्रति आग्रह निराधार ही है आशय यह है कि एक ही शब्द जब अनेक अर्थों की अभिव्यक्ति कराता है तो उनमें से एक जो सकेतग्रह में युक्त होता है वाच्य तथा दूसरा व्यम्न ही होता है जिसकी अभिव्यक्ति व्यञ्जना शक्ति से होती है। उन व्यञ्जना का आधार क्या है यह प्रश्न स्वयं निराधार है।

एवं चात्मन्यधिभेष्ये किमर्थं तत्त्वदर्शिनः ।

याह्यातारोऽप्यधिभिक्षिता मोहात् को वेत्ति वा हितम् ॥१६॥

इस प्रकार ध्वनि-मिद्धान्त को व्यर्थ आलोचना करने वाला व्यक्ति जब स्वयं उपहास का पात्र है तो उसने अपनी कृति (व्यक्तिविवेक) में ध्वनिकार एवं उनके तत्त्वदर्शी टीकाकार (अग्निवगुप्त आदि) का उपहान क्यों किया ? यहाँ यह भी कहा जा सकता है कि व्यक्ति-विवेक ग्रन्थ के कर्ता ने मोह अर्थात् ध्वनि-मिद्धान्त विषयक अपने अज्ञान के कारण ही ऐसा किया है क्योंकि मोहा विष्ट व्यक्ति हितार्हित नहीं जानता।

समाप्तः—

यद्यप्यर्थेषु सर्वेषु प्राक् छव्वः कुरुते मतिम् ।

तथापि तद्व्यवस्थार्यं विशेषणमपेक्षते ॥१७॥

इसका उत्तर देते हुए व्यक्तिविवेककार कहते हैं कि यद्यपि शब्द निश्चित अर्थ बोध कराने में पहले अपने सम्बन्धित सभी अर्थों का ज्ञान करा देना है तथापि उसकी व्यवस्था के बिना विशेषण की अपेक्षा होती है। क्योंकि बिना विशेषण के प्रयोग के कोई भी शब्द किसी अन्य अर्थ की प्रतीति नहीं करा सकता।

तच्चैत् तद्बदनेकार्यं मुह्योर्थः कोऽवतिष्ठताम् ।

यस्तान् प्राकरणिकः पौर्वापर्यगतिः कृतः ॥१८॥

यदि आपकी बात स्वीकार भी कर ले कि शब्द पहले अपने से सम्बन्धित सभी अर्थों की प्रतीति करा देता है तो समस्या हल है कि उनमें से मुख्य अर्थ किसे कहा जाय। यदि यह

कहें कि जो प्राकरणिक है उसे ही मुख्य अर्थ समझना चाहिए तो प्रश्न उठता है कि उनमें जोर अन्य अर्थों में पूर्वापर भाव का ज्ञान कैसे किया जाय । अर्थों के पूर्वापर भाव के ज्ञान के बिना प्राकरणिक अर्थ का निश्चय नहीं किया जा सकता ।

सा चेत् प्रकरणाद्यो हि प्रवृत्तस्तस्य सा पुरः ।

पञ्चादन्वस्य सामर्थ्यगम्या तस्योपमानता ॥१९॥

पूर्वापर भाव को भी यदि प्रकरण से ही हुआ मान लिया जाय तो जो अर्थ प्राकरणिक है उमी का ज्ञान पहले होगा । फिर अन्य अर्थों का । तथा उन अर्थों की उपमानता का बोध अन्य अर्थों के सामर्थ्य से होगा ।

यतो न तावत्तवायं व्यापारो विरतो ध्वनेः ।

व्यापारविरतो हि स्यान्न ततोऽर्णान्तरे मतिः ॥२०॥

शब्द का व्यापार केवल प्राकरणिक अर्थ का मान बराबर ही विरत नहीं हो जाता । क्योंकि व्यापार की समाप्ति ही जाने के अर्णान्त का बोध नहीं हो सकता ।

ध्वनेरनेकार्थस्यापि यथा प्रकरणादिभिः

अनादृत्यैव तच्छक्तिं प्रस्तुतार्थेदिनिश्चयः ॥२१॥

शिवने तद्वदेत्याय नेष्यतोऽर्णान्तरेऽपि किम् ।

नो विरोधोऽन्ये पदय शब्दराशिननिवन्मनः ॥२२॥

जिम प्रकार शब्द के अनेकार्थक होने पर भी समीचीनता के बिना ही प्रकरणों के द्वारा प्रस्तुत अर्थ के निश्चय को मान नहीं है उसी प्रकार बिना किसी शक्ति के शब्द की अर्णान्तर (अप्रस्तुत अर्थ) में गति अनीष्ट क्यों नहीं है ? इस अन्य अर्थ में क्या विशेषता है कि इसकी प्रतीति के लिये शब्द-शक्ति का होना आवश्यक माना गया है ।

विशेषणानुपुष्य चेदर्थान्तरगतोः पदम् ।

यत्स्वदप्यनेकार्थमिष्टमेव विशेष्यवत् ॥२३॥

यदि यह कहे कि शब्द अपने विशेषणों के अद्वैत ही अर्णान्तर की प्रतीति कराता है तो विशेष्य के समान ही विशेषण भी क्या अनेकार्थक इष्ट नहीं ? अतः वह भी अनेकार्थक ही होता है ।

अनेकार्थकमप्यस्य द्युनस्तदवसोपने ।

एवमेवावसायश्चेद्विशेष्येष्वनतिर्न किम् ॥२४॥

यहाँ एक प्रश्न जोर उठता है कि विशेष्य की अनेकार्थता का बोध भी कैसे होता है । यदि यह कहे कि यह यों ही हो जाता है तो विशेष्य में भी विशेषण की न्यायता के बिना अनेकार्थता का ज्ञान कैसे ही क्यों नहीं हो जाता ?

तत एव विशेष्याच्चेद् भवेदन्वोन्वसंश्रयः ।

अयोन्यपरामर्शादिष्वनेऽर्णान्तरे मतिः ॥२५॥

स्यादेवं प्रवृत्तार्थदत्तेन सित्वेन्नायं तथा विना ।

ततोऽनया विमर्शः स्यादन्वयानिप्रतज्यने ॥२६॥

यदि यह कहे कि विशेषण की अनेकार्थता का निश्चय विशेष्य में ही हो जाता है तो अन्योन्वाधय बोध पड़ता है और यदि कहे कि विशेषण जोर विशेष्य दोनों के परामर्श से ही

शब्द से अन्य अर्थ का बोध कराना अभीष्ट है तो अर्थान्तर के ज्ञान के बिना प्रकृत अर्थ की सिद्धि नहीं हो सकती। फिर अर्थान्तर के विमर्श में ही प्रकृत अर्थ की प्रतीति माननी होगी अन्यथा अनिश्चिति बोन होगा।

हम्मन्ते जर्जन्वेऽपि विशेषणविशेष्ययोः ।
अर्थान्तरप्रतीत्यर्थं वाच्यमेव निवन्धनम् ॥२७॥

इसलिये विशेषण और विशेष्य के अनेकार्यक होने पर भी अन्य अर्थ की प्रतीति का हेतु वाच्य को ही मानना चाहिए।

संघटनाप्रतीतिविशेषकावत्सर्गवितादयोत् ।
क्रोधादिविशेषणनिर्णयनद्वितीयादिज वृशानोः ॥२८॥

जिन प्रकार व्यंग्य विशिष्ट रूप में वर्म के रूप में रहने वाले, घम से बहिन का अनुमान होता है उसी प्रकार उन शब्द के अर्थ में जिसमें वर्णों एवं उनकी मधटना (योजना) से विशेषण का आधान हुआ होता है क्रोध आदि विशिष्ट भावों का (अर्थान्तर के रूप में) बोध होता है।

सुस्तिद्धसम्बन्धाद्याः दोषोत्साहादिकान् यथा भावान् ।
गमयन्ति, तद्विधेयादिमर्श एवोक्त्वमम्माभिः ॥२९॥

सुप् विद् आदि विभक्तिया तथा सम्बन्ध आदि कारण जिन प्रकार क्रोध एवं उत्साह आदि भावों की प्रतीति करण है उसे हमने विशेषण-विमर्श बोध के प्रमग में ही कह दिया है।

तदिदं विस्तरत्यास्य तात्पर्यमवधार्यताम् ।
यार्थान्तराभिव्यक्तौ य सामर्थ्यात्वा निवन्धनम् ॥३०॥
संबन्धनिमित्तो नो गमकत्वेन सम्मता ।
अल्पबोध्यस्य हि ज्ञानानुमैकतमाशयम् ॥३१॥

उपर्युक्त समूहो बिनतून विवेचन का निम्नलिखित तात्पर्य समझना चाहिए—

जाप (ध्वनिवादी) को अर्थान्तर (व्यंग्य) की अभिव्यक्ति के लिये (प्रकरणपर्यालोचनादि) जो सामग्री अवैधित होती है, वही सामग्री हम अनुमितिवादियों को गमक (हेतु) के रूप में सम्मत् है। ध्वनि में अर्थान्तर की अभिव्यक्ति का आधार प्रकरणपर्यालोचन माना गया है। अनुमितिवाद ने वही प्रमाणपर्यालोचन जिन अर्थान् हेतु का नाम करता है। फिर वहाँ अनुमिति होने में कोई बाधा नहीं होती। प्रतीति जिनो वस्तु से उससे भिन्न प्रकार की वस्तु का ज्ञान एकमात्र अनुमान के ही आधार पर हो सकता है, जन्पया नहीं।

वाच्यवाचकयोः स्वार्थप्रायान्यप्रतिषेधतः ।
ध्वनेः शश्वदम्बराभावाद् व्यसतेऽद्यानुपपत्तितः ॥३२॥

क्योंकि ध्वनिवादी में वाच्य एवं वाचक के द्वारा अपने अर्थ की अपेक्षा दूसरे अर्थ की प्रदानतया अभिव्यक्ति को ध्वनि कहा है। वाच्य एवं वाचक के द्वारा अपने अर्थ से अर्थान्तर की प्रदानतया अभिव्यक्ति की बात का निषेध यहाँ किया गया है। अभिधा के अनिश्चित ध्वनि नाम की कोई शब्द-शक्ति सम्भव नहीं। व्यञ्जना की भी सिद्धि नहीं हो पाती।

प्राणभूता ध्वनेर्ध्वनिशरितं संव विवेचिता ।
यत्त्वन्पन् तत्र निमनिः प्रायो नास्तीत्युपेक्षितम् ॥३३॥

ध्वनि-विज्ञान का प्राणभूत तत्त्व व्यञ्जना व्यापार ही है। अतः उसी का विवेचन मैंने इस ग्रन्थ में विस्तारपूर्वक किया है। (वस्तु अलंकार एवं रसादि प्रभृति) ध्वनि के जो अन्य

भेद-प्रभेद हैं उनमें मेरा वैमत्य प्रायः नहीं के बराबर है। अतः इन ग्रन्थ में उनकी उपेक्षा कर दी गई है।

प्रायः प्रनीतिर्विध्यरत्तास्वादविदः प्रति ।
सूपकारक्रियेयं मे साकन्यमुपयास्यति ॥३४॥

एक बिलक्षण प्रकार की अनुमति ही रम है। उसके आन्वाद को जानने वाले महदय मामाजिक को ध्यान में रखकर बिया गया मेरा यह प्रयान उसी प्रकार मफलता की प्राप्त होगा जिस प्रकार उत्तम रसोदये के द्वारा तैयार किया हुआ उत्तम भोजन, उसके आस्वाद को जानने वाले व्यक्ति को पाकर, उनके निर्माता के प्रयान को सफल बना देता है।

आधातुं व्युत्पाति मपुणां क्षेमयोगभाजानाम् ।
सस्तु प्रथितनयानां भौमस्यामितगुणस्य तनयानाम् ॥३५॥
श्रीधैर्यस्याङ्गमुवा महाकवेः द्यामलस्य शिष्येण ।
व्यक्तिविवेकी विदधे राजानवमहिमकेनायम् ॥३६॥

श्री धैर्य के पुत्र तथा महाकवि द्यामल के शिष्य राजानव महिमभट्ट ने व्यक्तिविवेक नामक इस ग्रन्थ की रचना अपने इन दाहिनों की ज्ञान वृद्धि के लिए किया है जो मेरे अमित गुणशाली जामाता भीम के पुत्र हैं तथा जो अप्राप्त की प्राप्ति एवं प्राप्त के संरक्षण में नतन सचेष्ट रहने से मद्दिष्टा के भाजन हैं और अपने उत्तम आचार विचार के वारपनिमात्र में सुप्रतिष्ठित हो गये हैं।

इस श्लोक में महिमभट्ट ने अपना पारिवारिक परिचय दिया है। इस श्लोक का विन्मृत विवेचन ग्रन्थ के प्रथम अध्याय में महिमभट्ट के व्यक्तिगत परिचय नामक शीर्षक में देखिए।

प्रतिपाद्य बुद्धपक्षी प्रायः संक्षेपविस्तारी कर्तुः ।
तेन न बहुभाषिणं विद्वद्भिरसूयितव्यं नः ॥३७॥

ग्रन्थकर्ता अपनी कृति में विषय का संक्षेप या विस्तार में द्विवेचन पाठकों की रुचि के अनुरूप ही करता है। यदि पाठक सुदृढ़ हैं तो संक्षेप में अन्यथा विस्तार में ही द्विवेचन करना होता है। इसलिये विद्वानों में मेरी प्रार्थना है कि वे मेरे इस बहुभाषण (विस्तारपूर्वक विवेचन) पर दोष न दें या गुण में दोष के जादिष्कारण रूप अनूया न करें।

अग्यैरनुल्लिखितपूर्वमिदं द्रुवाणो
नूनं स्मृनेविषयतां विदुषामुपेयाम् ।
हासिककारणगवेयणयानवार्थ-
तत्त्वावमशंपरितोपसमोहया वा ॥३८॥

ध्वनिवार के द्वारा उद्भावित व्यक्ति अर्थात् व्यजना के विवेचन में मैंने उन तर्कों एवं युक्तियों का उपग्रहण किया है जिनका उल्लेख आज तक किसी ने नहीं किया। अतः मेरा विश्वास है कि विद्वान् लोग मुझे अवश्य स्मरण करेंगे। चाहे वह स्मरण मेरा उपाह्वान करने के लिए अथवा मेरे द्वारा की गई गवेयणा (समीक्षा) द्वारा उद्भावित नये विषयों के तत्त्व ज्ञान से अपने को परिनुष्ट (तृप्त) करने की इच्छा में ही।

इति श्री ब्रजमोहन चतुर्वेदी द्वारा कृत महिमभट्ट के व्यक्तिविवेक की संग्रहकारिकाओं के भाषानुवाद का तृतीय-विमर्श पूर्ण ।

संग्रन्थावली

(क) संस्कृत-ग्रन्थ

- १ अग्निपुराण : आनन्दाश्रम संस्कृत सीरीज ४१, पूना (१९५७)
- २ अन्नं भट्ट : तर्क-संग्रह, मास्टर खेलाडीलाल, काशी ।
- ३ अभिनवगुप्त : अभिनवभारती (नाट्यशास्त्र की टीका), गायकवाड ओरि-
यण्टल सीरीज, बडोदा, १९५६ ।
- ४ अभिनवगुप्त : ध्वन्यालोक लोचन (टीका), चौखम्भा, काशी ।
- ५ अभिनवगुप्त : ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी, काश्मीर-संस्कृत-ग्रन्था-
वली (६०) धीनगर १९३८ ।
- ६ अप्पय दीक्षित : चित्रमीमामा, काव्यमाला, ३८; बम्बई ।
- ७ अप्पय दीक्षित : कुवलयानन्द, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई ।
- ८ आनन्दवर्धन : ध्वन्यालोक (लोचन तथा बालप्रिया टीकाद्वयोपेत) काशी
संस्कृत सीरीज (चौखम्भा) वाराणसी (१९४०) ।
९. आशाघर भट्ट : त्रिवेणिका गवर्नमेन्ट संस्कृत लायब्रेरी, बनारस (१९२५) ।
- १० कुन्तक : वक्रोक्तिजीविन, एल० मुखोपाध्याय, कलकत्ता ।
- ११ केशवमिश्र : तर्कभाषा : चौखम्भा, वाराणसी (मूलमात्र) ।
- १२ क्षेमेन्द्र : औचित्यविचारचर्चा, चौखम्भा, वाराणसी ।
- १३ क्षेमेन्द्र : कविकण्ठाभरण, काव्यमाला, बम्बई ।
१४. गंगेशोपाध्याय : तत्त्वचिन्तामणि, श्री कामाख्यानाथ तर्कवाणीश सम्पादित ।
१५. गोविन्द ठक्कर : प्रदीप (काव्यप्रकाश टीका), चौखम्भा, वाराणसी ।
१६. जगन्नाथ, पंडित राज : रसगगाधर, काव्यमाला स० सी० १२, बम्बई (१९३६) ।
१७. जयदेव : चन्द्रालोक, चौखम्भा, काशी, (१९५०) ।
- १८ जयरथ : विमर्शिनी (हय्यक जे अलकारमवेस्व की टीका) काव्य-माला, बम्बई ।
१९. जयन्त भट्ट : दीपिका (काव्यप्रकाश टीका) गवर्नमेन्ट संस्कृत लायब्रेरी, बनारस ।
२०. दण्डी : काव्यादर्श, प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर (भ० ओ० इ०) पूना, (१९३८) ।
२१. धनंजय : दशरूपक (धनिककृत अवलोक सहित), चौखम्भा, वाराणसी ।
२२. नागेश : मुहमर्मे प्रकाशिका (रसगंगाधर टीका), चौखम्भा, वाराणसी ।

२३. नागेश : उद्योत, (काव्यप्रकाश की प्रदीप टीका पर टीका) चौखम्भा, बागपती ।
२४. नरेन्द्रनाथ चौधरी : काव्यतरङ्गमनीषा मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।
२५. पानंजल महाभाष्य : (नवाह्निक) निर्णयनागर, दम्बई ।
२६. प्रतिहारैन्दुराज : लघुवृत्ति; म० ओ० ३०; पूना ।
२७. नरत नाट्यशास्त्र : (भाग—१, २, ३) गायकवाड ओ० मी० बड़ौदा ।
२८. भर्तृहरि : वाक्यपदीय, ब्रह्मवाण्ड, चौखम्भा, बागपती ।
२९. भानुदत्त : रममञ्जरी . चौखम्भा, बागी ।
३०. भामह . काव्यालङ्कार, चौखम्भा, बागी ।
३१. भोज : नरन्वरीकण्ठाभरण, द्वाविडेश्वर शास्त्री, बागी ।
३२. भोज : शृंगारप्रकाश, श्री यदुगिरियतिराज सम्पत्कुमार रामानुज मुनि द्वारा मद्रास से प्रकाशित (१९२६) ।
३३. भट्टोद्भट : काव्यालङ्कारनारसंप्रह, म० ओ० ३० पूना ।
३४. मम्मट : काव्यप्रकाश (जलशेकर हृत दालबोधिनी टीकोपेत) पण्ड (मन्वरण) भण्टारकर ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, पूना ।
३५. मल्लिनाथ : तन्त्र (विद्यापर के एरासली की टीका) त्रिवेन्द्रम् ।
३६. महिमनट्ट : व्यक्तिविवेक (रघुक हृत व्याख्यान टीकोपेत) त्रिवेन्द्रम् मम्हृत सीरीज, त्रिवेन्द्रम् ।
३७. महिमनट्ट : व्यक्तिविवेक (व्याख्यान विवृति टीकाद्वयोपेत) बागी मम्हृत सीरीज, १२१ (१९३६) ।
३८. मुकुल भट्ट : अम्बिधा-वृत्ति-मातृका; निर्णयनागर, दम्बई ।
३९. राजशेखर : काव्यमीमांसा . गायकवाड ओरियन्टल, बड़ौदा ।
४०. रुद्रत : काव्यालङ्कार काव्यमाला-२, दम्बई ।
४१. रूपगोस्वामी : उज्ज्वलनीलमणि : निर्णयनागर; दम्बई ।
४२. रघुक : अलङ्कारसर्वस्व, शारदा-भवन, बागी ।
४३. वामन : काव्यालङ्कार सूत्र वृत्ति; (ज्ञानधेनु टिप्पणी सहित) ओरियन्टल बुक एजेंन्सी, पूना (१९२७) ।
४४. विद्यालक्ष : शतपथब्रह्मसामयुक्त, अष्टमे संस्कृत शिरीज, ६५ दम्बई ।
४५. विद्यापर : एकावली, त्रिवेन्द्रम् सं० सी०, त्रिवेन्द्रम् ।
४६. विश्वनाथ : साहित्यदर्पण, चौखम्भा, बागी ।
४७. विश्वनाथ पंचानन : न्यायमिद्वान्तमुक्तावली, निर्णयनागर, दम्बई ।
४८. विष्णुधर्मोत्तरपुराण : श्री वैकुण्ठेश्वर प्रेस, दम्बई ।
४९. शारदातनय : भाव प्रकाशन : गायकवाड ओ० मी०, बड़ौदा ।
५०. श्रीहृष्ट्य भट्ट : वृत्तिदीपिका, गवर्नमेंट संस्कृत लायब्रेरी, बनारस ।
५१. समुद्रदण्ड : (अष्टकाङ्ग-नवम्बटीका) त्रिवेन्द्रम् सं० सी० ४० (१९१५)
५२. हेमचन्द्र : काव्यानुशासन, काव्यमाला-७०; दम्बई ।

(ख) हिन्दी ग्रन्थ

१. कान्तिचन्द्र पाण्डेय : स्वतंत्रकलाशास्त्र, चौखम्भा, वाराणसी ।
२. नगेन्द्र : भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा, नेशनल पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली ।
३. नगेन्द्र : रत्नसिद्धान्त, ने० प० ह०, दिल्ली ।
४. बलदेव उपाध्याय : सञ्चुत साहित्य का इतिहास, शारदा मंदिर, वारासी ।
५. बलदेव उपाध्याय : भारतीय-साहित्य-शास्त्र— भाग १, २; प्रसादपरिषद्, वारासी ।
६. भोलाशंकर व्यास : ध्वनि-संप्रदाय और उसके निद्धान्त; नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ।
७. ब्रजमोहन चतुर्वेदी : शब्द-शक्ति-विमर्श, ज्ञान-भारती, दिल्ली ।
८. राममूर्ति त्रिपाठी : औचित्य-विमर्श, भारतीभंडार, प्रयाग ।
९. रामचन्द्र द्विवेदी : अलंकार-मर्वस्व-मीमांसा, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली ।

(ग) आंग्ल ग्रन्थ

1. Dasgupta & De—History of Sanskrit Literature; University of Calcutta (1947).
2. Dasgupta, S. N —Fundamentals of Indian Art., Bharatiya Vidya Bhavan. Bombay
3. De, S. K —Sanskrit Poetics; Calcutta (1960).
4. De, S. K —Sanskrit Poetics as a study of Aesthetics, Oxford University Press, Bombay.
5. Kane, P. V.—History of Sanskrit Poetics, Moti Lal Banarsi Das, Delhi.
6. Krsnamurthy, K.—Essays in Sanskrit Criticism, Karnatak University, Dharwar.
7. Pandeya, K. C.—Abhinavagupta; Chowkhamba, Varanasi.
8. Pandeya, K. C.—Comparative Aesthetics, Chowkhamba, Varanasi.
9. Raghvan, V.—Some Concepts of Skt. Alankāraśāstra. Adyar Library, Madras.
10. Sankaran—Some Aspects of Literary Criticism, University of Madras.
11. Shastri. K. S.—Highways and Byways of Literary Criticism in Sanskrit K. S. R. Institute, Mylapur, Madras.